वाल्लभ वेदान्त

(निबन्धसंग्रह)

गोस्वामी श्याममनोहर

वाल्लभवेदान्त

वाल्लभ वेदान्त

(निबन्धसंग्रह)

गोस्वामी श्याममनोहर

वा
ल्ल
भ
वे
दा
न्त

वाल्लभवेदान्त
निबन्ध संग्रह

प्रकाशक : श्रीवल्लभाचार्यट्रस्ट, मांडवी-कच्छ

प्रकाशक :
श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, कंसारा बजार, मांडवी,
जि. कच्छ, गुजरात, ३७० ४६५.
☎ (02834) 231463, 224306.
Email: gosharadad1@sancharnet.in

Must Visit:
http://www.pushtimarg.net/

लेखक :
गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी(किशनगढ-पार्ला)

सम्पादक :
गोस्वामी शरद् (मांडवी-कच्छ)

प्रथम संस्करण : वि.सं. २०६३ **प्रति :** १०००

अमूल्य

Copyright: ©2006
Shri Vallabhacharya Trust, Kansara Bazar,
Mandavi-Kutch, Gujarat, 370 465, India.

मुद्रक :
श्रीवल्लभ बुक मेन्युफेक्चरिंग् कं., अहमदाबाद, गुजरात.

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी - कच्छ

◊ सेमिनार :

आयोजित :

१. शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा, गांधीनगर-गुजरात

२. कार्यकारणभावविचार, वडोदरा-गुजरात

३. अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी, पुणे

४. प्रत्यक्षप्रमाण सङ्गोष्ठी, पुणे

५. वार्तापरिचर्चा, हालोल-गुजरात

६. अधिकारपरिचर्चा, हालोल-गुजरात

७. पुष्टिभक्तिमार्गीय साधनाप्रणाली, मुम्बई

८. "कथायां वा" / गुणगान साधना, मुम्बई

९. World Philosophy Conference, Delhi (Cosponsored with Indian Philosophical Congress)

१०. International Conference on World Peace, Ahmedabad (Cosponsored with Uni. of Gujarat)

११. अन्धकारवाद विद्वत्परिचर्चा, पुणे

१२. शरणागति, मुम्बई

१३. सेवा-समर्पण, मुम्बई

आयोज्य : पुष्टिभक्तिसाधनामें प्रतिबन्ध

◊ **आचार्यवंशजोंकेलिये अध्ययनसत्र**

१. तर्कामृतम् - न्यायसिद्धान्तमुक्तावली २. वेदान्तसार

◊ **ग्रन्थप्रकाशन :**

ग्रन्थ	प्रकाशनसहाय
१. प्रवेशिका (गुज.)	१०
२. प्रवेशिका (अंग्रेजी)	निःशुल्क

३. प्रमेयरत्नसंग्रह (गुज.)	
४. शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा (संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी)	२००
५. अन्यख्यातिवादीय विद्वत्सङ्गोष्ठी (संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी)	१५०
६. तत्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणम् (व्रजभाषाटीका) साधारणसंस्करण / राजसंस्करण	५०/७०
७. तत्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत सर्वनिर्णयप्रकरणम् (व्रजभाषाटीका)साधारणसंस्करण / राजसंस्करण	८०/१००
८. वार्तापरिचर्चा	१५
९. पुष्टिविधानम्-१ (पाठावली, व्रजभाषा)	अप्राप्य
१०. पुष्टिविधानम्-१ (पाठावली, गुज.)	२५
११. पुष्टिविधानम्-२ (व्याकरणम्)	१००
१२. पुष्टिविधानम्-३ (व्रजभाषाविवृति)	५०
१३. अधिकारपरिचर्चा (गुज.-हिन्दी-व्रज)	१००
१४. श्रीभागवत महापुराण (गुर्जरभाषानुवाद)	३००
१५. Manual of the Devotional Path of Pushti	65
१६. सेवा और व्रजलीला (व्रजभाषा)	अप्राप्य
१७. श्रीगोपीनाथप्रभुचरण(गुज.-हिन्दी)	२५
१८. Computer CD, www.pushtimarg.net	50
१९. साधनाप्रणाली(गुज.-हिन्दी-अंग्रेजी)	५०
२०. पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद (गुज.-हिन्दी)	नि:शुल्क
२१. रसदृष्टिनी तरफेणमां (गुज.)	नि:शुल्क
२२. कार्यकारणभावमीमांसा विद्वत्सङ्गोष्ठी(संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी)	२००
२३. पुष्टिप्रवेश - १(गुजराती)	१०
२४. पुष्टिविधानम् पादानुक्रमणिका	१०
२५. शरणागति विचारगोष्ठी एक पूरक प्रश्नोत्तरी	नि:शुल्क
२६. Summary of Śuddhādvaita Vāṅgmaya	15

२७. सेवा अने व्रजलीला (गुजराती)	निःशुल्क
२८. विवेकत्रयम् (संस्कृत)	१०
२९. पुष्टिभक्तिमें कथासाधना, सङ्गोष्ठी	५०
३०. पुरुषोत्तमसहस्रनाम-त्रिविधलीलानामावली(गुर्जरानुवाद)	२०
३१. वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह (हिन्दी)	निःशुल्क

सहयोग प्रकाशन

श्रीभागवतसुबोधिनी गुर्जरभाषानुवाद

अनुवादक : गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी(ये पुस्तकें सेट्मेंही दी जायेंगी)

१. दशमस्कन्ध जन्म प्रकरण	
२. दशमस्कन्ध तामस प्रमाण प्रकरण	
३. दशमस्कन्ध तामस प्रमेय प्रकरण	
४. दशमस्कन्ध तामस साधन प्रकरण	
५. दशमस्कन्ध तामस फल प्रकरण	
६. दशमस्कन्ध राजस प्रमाण प्रकरण	
७. दशमस्कन्ध राजस प्रमेय प्रकरण	
८. दशमस्कन्ध राजस साधन प्रकरण	
९. दशमस्कन्ध राजस फल प्रकरण	
१०. दशमस्कन्ध सात्विक प्रमेय-साधन-फल प्रकरण	
११. दशमस्कन्ध गुण प्रकरण	
१२. एकादशस्कन्ध	अनुपलब्ध
१३. तृतीयस्कन्ध अ. १-८	अनुपलब्ध
१४. तृतीयस्कन्ध अ. ९-१९	अनुपलब्ध
१५. तृतीयस्कन्ध अ. २०-समाप्ति पर्यन्त	अनुपलब्ध
१६. द्वितीयस्कन्ध	अनुपलब्ध
१७. श्रीगुसांईजी विरचित दशमस्कन्ध टिप्पणी	

१८. Śrīmad Vallabhācārya, His Philosopohy and Life, Prof. J. G. Shah 100

१९. Śrīmad Vallabhācārya, His Philosopohy and Religion, Prof. J. G. Shah 300

२०. Śrī Vallabhācārya and His Teachings, Dr. Chimanlal Vaidya 100

२१. Doctrines of Vallabhacharya, Ishverbhai S. Amin 100

- गोशाला
- संस्कृत माध्यमसे अध्ययन करते विद्यार्थीओंकेलिये छात्रालय

  संचालन : श्रीवल्लभाचार्य व्रजसंस्कृति विकास ट्रस्ट समिति, गोकुल
- छात्रवृत्ति
- हस्तप्रतसंग्रह - संरक्षण; पुस्तकालय
- यावत्प्राप्य साम्प्रदायिक श्लोकोंकी पादानुक्रमणिका
- Digitalization of the manuscripts
- Catalogus Catalogorum of the manuscripts of Śuddhādvaita - Puṣṭibhakti - Sampradāya.
- Encyclopedic CD ROM comprising of entire original Sanskrit writings of Acharyas along with Vraj, Hindi, Gujarati & English literature written on the base of such writings.

प्रकाशकीय

प्रस्तुत ग्रन्थ ''वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह'' गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला) द्वारा लिखित धर्म-दर्शन विषयक कतिपय प्रमुख निबन्धोंका संग्रह है. धर्म-दर्शनके सुविज्ञ एवं जिज्ञासु पाठकोंकेलिये इस ग्रन्थको प्रकाशित करनेका सुअवसर श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट (मांडवा-कच्छ) को प्राप्त हुवा यह ट्रस्टका परम सौभाग्य है.

इस ग्रन्थकी भूमिका लिखनेका प्रस्ताव परमस्नेही विद्वद्वर्य समादरणीय श्रीपारसनाथ द्विवेदीजी (वाराणसी) के सामने रखने पर न केवल आपने उसे सहर्ष स्वीकार लिया अपितु अस्वस्थ होते हुवे भी विद्वज्जनोचित भूमिका लिखकर उसे शीघ्र उपलब्ध भी करवा दिया. एतदर्थ हम आपके हृदयसे आभारी हैं.

पण्डितप्रवर श्रीपारसनाथजी बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न हैं. केवलाद्वैत वेदान्त सम्प्रदायमें आपकी अनन्य निष्ठा और अधिकार है जो कि निबन्धलेखकके द्वारा तत्तन्निबन्धोंमें प्रसङ्गोपात्त किये गये केवलाद्वैत मतके विमर्शके ग्रन्थकी भूमिकामें आपकेद्वारा किये गये समाधानके प्रयाससे प्रकट होता है. एतद्वारा तत्त्वबोधार्थ आवश्यक वादकी ''वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः'' इस शास्त्रीय परम्पराका ही स्तुत्य अनुसरण निबन्धलेखकी ही तरह आपने भी किया है. आस्तिक शाङ्करवेदान्तादि दर्शनोंके अतिरिक्त जैन-बौद्ध आदि नास्तिक दर्शनोंके भी आप आधिकारिक ज्ञाता हैं यह श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट द्वारा समायोजित विद्वत्सङ्गोष्ठिओंमें आपकेद्वारा प्रस्तुत हुवे विभिन्न निबन्धोंसे और उसमें गहन दार्शनिक विषयों पर हुई चर्चामें आपकी सक्रीय सहभागितासे ज्ञात होता है. आप सम्प्रति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसीमें शास्त्राध्यापनरत हैं. आप इसी तरह अपने ज्ञानका लाभ जिज्ञासु समाजको निरन्तर देते रहें

ऐसी शुभकामनाके साथ आपके प्रति हम पुनः कृतज्ञता प्रकट करते हैं.

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट द्वारा पूर्वप्रकाशित श्रीभागवत, पुष्टिविधानम् आदि अनेक ग्रन्थोंके आवरण चित्रोंकी ही तरह इस ग्रन्थका भी आवरणचित्र तैयार करनेवाले श्रीकिरण ठक्करका सहयोग भी यहां अवश्य स्मरणीय बनता है.

अन्तमें साम्प्रदायिक एवं इतर भी धर्म-दर्शनके जिज्ञासु पाठक इस ग्रन्थसे अवश्य ही लाभान्वित होंगे ऐसे विश्वासके साथ निबन्धलेखकके जन्मदिवस पर इस ग्रन्थपुष्पको आपके करकमलोंमें समर्पित करते हुवे...

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट द्वारा
शरद् गोस्वामी

आषाढ कृष्ण ६
वल्लभाब्द ५२८, वि.सं.२०६३

भूमिका

''वाक्यं वक्तर्यधीनं हि'' इस महाभाष्य वचनके अनुसार कृति कृतिकारके अधीन होती है. प्रमाणप्रमेय जात प्रमाताके अधीन होता है. किसी भी कृतिमें कृतिकार लेखककी आत्मा सन्निहित रहती है. उसका वैशिष्ट्य व्यक्तित्व उसमें व्यक्त रहता है. अत: निबन्ध रचनाकारके व्यक्तित्व वैशिष्ट्य वैदुष्य की चर्चा अत्यावश्यक है. जैसा की गोष्ठियोंमें उनके साथ साधारण वार्तालाप, शास्त्रीयगूढचर्चा आदिसे तथा उनकी उत्कृष्ट कृतियोंके अध्ययनसे प्रतीत हुआ है उसे मैं अवश्य व्यक्त करुंगा, अन्यथा ''गुणाधिके वस्तुनि मौनिता'' रूप दोषका भागी बनूगां.

श्रीगोस्वामीजी महाराज सत्य मृदु सरल शास्त्रानुप्राणित वचनके प्रवक्ता हैं. उनमें साम्प्रदायिक अहंकार प्रपञ्च आदि लेश मात्र भी नहीं है. स्ववेदान्तविरोधिमतवादियोंके निराकरण भाषामें भी मैत्रीभाव झलकता रहता है. सभी शास्त्रोंके अवगाहनजन्य यथार्थज्ञान भण्डारको प्राप्त कर भी वे सहसा प्रकट नहीं होने देते हैं. विद्या-विनय उनका भूषण है. ये सभी गुणगण उनकी कृतिके अध्ययन एवं उनके सकृत् समागमसे स्पष्ट हो जाता है.

ये लेखन, भाषण, चिन्तन, पाठन, व्याख्यान आदि सभी विद्याओमें अति कुशल है. इनकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा विलक्षण है. इन्द्रियोंकी अनुग्राहिका बुद्धि, शास्त्रमहाम्बुधिमें तलान्त प्रविष्ट है. हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, गुजराती भाषामें आप लेखन, भाषण आदिमें कौशल प्राप्त हैं. इनका दिगन्त विश्रान्त यशोराशि अत्यन्त विमल है. ये निष्कलङ्क पूर्ण चन्द्रकी तरह सदा प्रकाशित रहते हैं.

विशेषत: वाल्लभवेदान्तके प्रामाणिक अधिकारी, ज्ञाता, वक्ता, व्याख्याता हैं. किसी विषयकी मीमांसा एवं विवेचन में प्राचीन आर्षपद्धतिके साथ आधुनिक वैज्ञानिक मतरीतिको भी अपनाते हैं तथा समन्वय करते हैं.

सर्वदर्शनविज्ञान पारंगत होने पर भी वाल्लभवेदान्तमें महती निष्ठा है. सर्वस्वरूप सर्वत्र व्याप्त आविर्भावतिरोभावशक्तिमत् परब्रह्म श्रीकृष्णमें अगाधभक्ति है. संसारसे विरक्त स्वाध्यायप्रवचनमें, ग्रन्थप्रणयन आदिमें अहर्निश संलग्नचित्त हैं तथा करुणा मैत्री मुदिता उपेक्षा वृत्तिसे रहते हैं. मैं उनके चरणोमें शतशः नमन करता हूं. उनके गुण अनन्त हैं. यह तो स्वल्प निदर्शन मात्र है.

कृतियां :

आपकी कृतियां अनेक हैं. निबन्ध जिनका संग्रह प्रस्तुत है.

१. सुबोधिनी :श्रीमद्भागवतत पर श्रीमदाचार्यकृत व्याख्याके अनेक भाग प्रकाशित हैं. इन पर आपका महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक विषयस्फोरक सम्पादकीय लेख शतोत्तर पृष्ठमें प्रकाशित है.

२. प्रस्थानरत्नाकर : गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण विरचित इस ग्रन्थ पर शतोत्तर पृष्ठमें सम्पादकीय लेख ग्रन्थसारसंग्रहके रूपमें प्रकाशित है. इसमें वाल्लभसिद्धान्तोंको हिन्दीमें अवगत कराया गया है. पाठभेद टिप्पणी हस्तलिखितच्छाया आदिसे विभूषित किया गया है.

३. अवतारवादावली : गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण विरचित यह ग्रन्थ दो भागमें प्रकाशित है. इस पर आपका पञ्चाशदुत्तर पृष्ठका सारसंग्रह सम्पादकीय लेख प्रकाशित है.

४. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध : श्रीवल्लभाचार्य विरचित इस ग्रन्थपर महत्त्वपूर्ण सम्पादक लेख प्रकाशित है.

५. श्रीबालकृष्णग्रन्थावली : लालूभट्टोपनाम श्रीबालकृष्णभट्ट विरचित इस ग्रन्थ पर सम्पादकीय लेख, वल्लभवेदान्त सिद्धान्त, पाठभेद आदि महत्त्वपूर्ण विषयविभूषित आमुख प्रकाशित है.

६. **वेदान्तधिकरणमाला भावप्रकाशिका सूत्रवृत्ति :** गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण विरचित इस ग्रन्थ पर प्राक्कथनके रूपमें श्रीपुरुषोत्तम कृति वैशिष्ट्य एवं अणुभाष्यके अध्यायानुसार विषयसंग्राहक उत्कृष्ट आलेख प्रकाशित है.

७. **प्रस्थानरत्नाकर शब्दखण्डीय विद्वत् चर्चा :** इस ग्रन्थमें विद्वत् परिसंवादमें आपका उद्घाटन वक्तव्य देखने लायक है. इसी ग्रन्थमें डॉ. श्रीप्रदीप प्र. गोखलेके निबन्धकी चर्चा की गयी है. पृ. ५६७ से उस निबन्धमें शुद्धाद्वैत पर की गयी आपत्तियोंका प्रमाणिक निराकरण आपने किया है. द्रष्टव्य है.

८. **अन्यख्यातिवादीया विद्वत् गोष्ठी :** जो प्रकाशित है में आपका ख्यातिवाद चर्चामें महत्त्वपूर्ण विचारात्मक लेख प्रकाशित है जो अवश्यमेव पठनीय है. यह तत्सम्बद्धविषय प्रकाशक लगभग ३० पृष्ठका प्रबन्ध है. तथा इसी परिसंवादमें आपका **''पश्चिमी दर्शनमें भ्रान्तिविचारकी रूपरेखा''** शीर्षक जो वाल्लभवेदान्तानुसारी विमर्शात्मक है, विस्तृत निबन्ध प्रकाशित है. इसमें पाश्चात्य विद्वानोंके मतमें भ्रमज्ञान सम्बन्धी विचार किया गया है. यह विद्वज्जन द्रष्टव्य है.

९. **श्रीपुरषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार :** गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण विरचित इस ग्रन्थकी भूमिका, संस्कृत व्याख्या एवं उसका विस्तृत हिन्दी भावानुवाद आपने लिखा है. यह ग्रन्थ वल्लभ धर्म-दर्शनमें अतिमहत्त्वपूर्ण है. यह व्याख्या आपने संस्कृतमें लिखी है. इनका संस्कृत भाषामें लेख हिन्दी प्रबन्धोंसे भी उत्कृष्ट होता है. पूर्ण प्रौढ शास्त्रीय संस्कृतमें, उत्कृष्ट शैलीमें इस ग्रन्थकी व्याख्या की गयी है. साथ ही वल्लभवेदान्तके सिद्धान्तोंकी भी व्याख्या स्थान-स्थान पर की गयी है. कहीं-कहीं केवलाद्वैत दर्शनमें अनुपपत्तियां भी प्रदर्शित की गयी हैं.

१०. **श्रीमद्भागवत् दशमस्कन्ध सुबोधिनी पञ्चम तामसफलप्रकरणम्** ग्रन्थमें आचार्यश्रीका सम्पादकीय वाक्यके अतिरिक्त **तामस फल प्रकरणीय लीलाओंको औपनिषद्सन्दर्भ** नामसे लगभग १७० पृष्ठका महत्त्वपूर्ण विद्वतापूर्ण भूमिका

रूपमें प्रबन्ध प्रकाशित है. जिसमें वाल्लभ दर्शनके अनेक पहलुओंको उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्रके अधिकरणोंद्वारा स्पष्ट किया गया है. इस प्रबन्धमें श्रीगोस्वामीजीका अगाध पाण्डित्य देखनेको मिलता है.

इस तरह इनकी अनेक कृतियां प्रसिद्ध हैं. इन कृतियोंसे इनका वैदुष्य शास्त्रोंमें तलान्त प्रवेश, तत्त्वनिष्ठा, शास्त्रनिष्णातता, शास्त्रार्थ तात्पर्यावधारणशैली उत्कृष्ट रूपसे परिलक्षित होती है. विद्वज्जनोंमें इनकी उत्कृष्ट कृतियोंका अतिशय समादर है. न केवल वाल्लभ वेदान्तकेलिए अपितु समस्त लोककेलिए ये कृतियां शारदवैभव विस्तार पूर्वक उपयोगी हैं. उनके जीवनवृत्त एवं कृतियों का विवरण प्रस्तुत है जिससे उनके व्यक्तित्व एवं वैशिष्ट्य प्रकाशित होता है.

जीवनवृत्त :

कृष्णयजुर्वेदान्तर्गत तैत्तिरीयशाखाध्यायी भारद्वाजगोत्रीय तैलंगदेशीय वेल्लनाडु खम्भम्पाटी शुद्धाद्वैतपुष्टिमार्गप्रवर्तक **महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य (जन्म : वि.सं.१-५३५)** के वंशजोंके गृह : प्रथम / ७ में १६ वीं पीढ़ी.

पितामह :

गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजी महाराज (जन्म : चोपासनी(जोधपुर-राजस्थान). गोस्वामी श्रीजीवनलालजी (प्रथम / ६ : मुंबई) महाराजके दत्तकपुत्रतया गोद आये. गादी : मोटी हवेली, भुलेश्वर, मुंबई).

पिता :

गोस्वामी श्री दीक्षितजी/श्री विट्ठलनाथजी महाराज (सात भाई + एक बहनके बीच द्वितीय. जन्म : मुंबई. गोस्वामी श्रीजीवनलालजी (प्रथम/७ : कोटा) महाराजश्रीके पत्नीद्वारा गोद लिये गये. गादी : किशनगढ़-राजस्थान).

पुत्र :

गोस्वामी श्याम मनोहर (चार बहन + दो भाईओंके बीच तृतीय).

जन्मतिथि-जन्मस्थान :

२६ जून, १९४० — मुंबई.

सहधर्मचारिणी :

झालावाडनिवासी 'कविकिंकरो'पनाम श्रीगिरिधारी भट्टकी आत्मजा **श्रीमती लक्ष्मी गोस्वामी.**

विद्यागुरुवर्ग :

(१)श्रीचन्द्रशेखरजी चतुर्वेदी गणितज्योतिष

(२)श्रीकमलापतिजी पञ्चतन्त्र-लघुकौमुदीभ्यादिगणपर्यन्त

(३)श्रीबालकृष्णशास्त्री वेद

(४)गोस्वामी श्रीदीक्षितजी महाराज वाल्लभ धर्म-दर्शन तथा ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य

(५)श्रीकृष्णमाधव झा काव्य-व्याकरण-न्याय

(६)श्रीटी.वी.एस.दीक्षितारजी छान्दोग्य-बृहदारण्यकोपनिषच्छांकरभाष्य

(७)श्रीधर्मदेव जेटली सांख्य-न्याय-शांकरवेदान्त-मीमांसा

(८)श्रीसुब्रह्मण्य शास्त्री भाट्टदीपिका रीडर इन मीमांसा बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय

प्रवृत्ति :

वाल्लभ धर्म तथा दर्शन के ग्रन्थोंका सम्पादन प्रकाशन वितरण अध्ययन अध्यापन एवं प्रवचन.

उपलब्धि :

१. सव्याख्यषोडशग्रन्थ तीन भागोंमें

२. सव्याख्यषड्ग्रन्थाः एक भागमें

३. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध तीन भागोंमें

४. प्रकाशरश्मिसहित ब्रह्मसूत्राणुभाष्य पांच भागोंमें

५. श्रीमद्भागवतसुबोधिनी१. ४-८ खण्ड प्रकाशित

६. वेदान्ताधिकरणमाला-भावप्रकाशिका एक भागमें

७. विविधविवरणोपेत पत्रावलम्बनम्[एक भागमें]

८. प्रस्थानरत्नाकर[एक भागमें]

९. विद्वन्मण्डनम्[एक भागमें]

१०. श्रीबालकृष्णग्रन्थावली[एक भागमें]

११. अवतारवादावली[द्वितीय खण्ड प्रकाशित]

१२. श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारः[एक भागमें]

१३. पुष्टिविधानम्[गुजराती, व्रज तथा संस्कृत संस्करण]

१४. सव्याख्यश्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम्

—**आदि ग्रन्थोंका सम्पादन-प्रकाशन.** इनके अलावा संस्कृत हिन्दी गुजराती अंग्रेज़ी में प्रकाशित लघुनिबन्ध प्रवचन प्रश्नोत्तरी लेख आदि.

१. शुद्धाद्वैतवाद और लीलावाद के सन्दर्भमें व्यक्तिस्वातन्त्रकी मीमांसा :

प्रस्तुत प्रबन्धमें विद्वान् लेखकने शुद्धाद्वैतवाद पर स्वयं पुरुषार्थहीनता अकर्मण्यता तथा ज्ञानेच्छाप्रयत्न पारतन्त्र्य आदि आक्षिप्त दोषोंका निरास किया है. शुद्धाद्वैत वादमें भगवच्छरणागति परमपुरुषार्थ है. वह श्रीभगवदनुग्रहैकलभ्य है. भगवदनुग्रहान्य साधनलभ्य नहीं है. श्रीहरि ही समस्त ब्रह्माण्डके कर्ता कारयिता हैं. यह सभी ब्रह्माण्ड भगवल्लीला है. लीला क्रिडा-रमण है. सत्य है. श्रीहरि आविर्भाव-तिरोभावरूप स्वाभिन्न शक्तिद्वारा स्वयमेव विविध ब्रह्माण्डान्तर्गत जड-चेतन पदार्थोंके रूपमें प्रकट होते हैं. तथा स्वेच्छया तिरोहित होते हैं. यह उनकी लीला है. यह भगवल्लीला भक्तजनोंकेलिए त्रिविध ताप मोचन हेतु है.

श्रीगोस्वामीजीका आशय है—ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति चेतन ब्रह्मसे न मानकर किसी प्रधानादि जडसे मानी जाय तब भी व्यक्ति स्वातन्त्र्य नहीं हो सकता है. जडवादमें अनवस्थादोष भी है. कार्य कारणाधीन ही होता है. स्वतन्त्र नहीं होता है. व्यक्तिके ज्ञानेच्छाप्रयत्न कार्य हैं, तो वह स्वतन्त्र नहीं हो सकता. जडाधीन कार्य होने पर अनेक दोष हैं. तथा कार्यका स्वातन्त्र्य भी नहीं हो सकता है. श्रुतिस्मृतीतिहास सिद्ध चेतन ब्रह्मकारणवाद निर्दोष

है, तदधीन व्यक्तिज्ञानेच्छा बोध है. यही उचित है. दो किनारोंसे नियन्त्रित परतन्त्र नदी क्या स्वतन्त्र नहीं है. भगवदीच्छाधीन प्रवर्त्तित व्यक्ति भी स्वतन्त्र ही है. यदि व्यक्ति निरंकुश स्वतन्त्र हो या जडाधीन हो तो अनिर्मोक्षापत्ति भी होगी.

समस्त ब्रह्माण्ड स्वभावत: कालत: यदृच्छात: प्रवृत्त नहीं है. अबुद्धिपूर्वक भी प्रवृत्त नहीं हो सकता है. श्वेताश्वतर उपनिषद्में

> ''ओं ब्रह्मवादिनो वदन्ति किं कारणं ब्रह्म कुत: स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठा:, अधिष्ठाता: केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्म विदो व्यवस्थाम्. काल: स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनि: पुरुष इति चिन्त्या, संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनिश: सुखदु:खहेतो:. ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्, य: कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येक:'' (१।१-३). ''मायां तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनं तु महेश्वरम्'' (४।१०). ''स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिप:'' (८).

—इत्यादि शतश: श्रुतियां ब्रह्माण्डके ब्रह्मप्रभवत्वमें प्रमाण हैं. अपि च ''जन्माद्यस्य यत:'' सूत्र पर सभी वेदान्तोके आचार्योंका प्रपञ्च चेतनकर्तृकत्वमें ऐक्यमत्य है. भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्य स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं ''अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य अनेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यत: सर्वज्ञात् सर्वशक्ते: कारणात् भवति तद्ब्रह्मेति''.

अत: जडकारणवाद उपपत्ति विहीन है, सदोष है. उसके मानने पर भी व्यक्तिस्वातन्त्र्य सम्भव नहीं है. लेखकने कानूनी नैतिक, धार्मिक और भक्तिमार्गीय प्रकारके स्वातन्त्र्योंका उल्लेख भी किया है. व्यक्ति, सामाजिक-राजकीय कानून (विधि) परतन्त्र है. स्वतन्त्र होने पर दण्डनीय है. नीतित: परतन्त्र है. नीतित: स्वतन्त्रव्यक्ति दोषी है, दण्डनीय है. व्यक्ति धर्मत: परतन्त्र है अन्यथा दण्डार्ह है. जब इन अवस्थाओंमें परतन्त्र रहनेसे भी व्यक्तिमें

अकर्मण्य एवं पुरुषार्थहीनताका दोष नहीं है तो क्या परमेश्वराधीन स्वातन्त्र्य पक्षमें ही उक्त दोष होगा! तस्मात् परमेश्वराधीन व्यक्तिस्वातन्त्र्य ही सर्वपुरुषार्थ साधक है.

भगवल्लीला :

लीलाके सन्दर्भमें श्रीगोस्वामीजीके विचार अनूठे हैं. एकमेवाद्वितीय ब्रह्मकी लीला द्वैतरूपमें उनका प्राकट्य है यह "न प्रयोजनवत्त्वात् लोकवत्तु लीला कैवल्यम्" (ब्र. २।१।३२) इस सूत्र पर महाप्रभु श्रीवल्लचार्यने स्पष्ट प्रतिपादित किया है. रमण एकाकी नहीं हो सकता. रमणेच्छु परमात्मा स्वेच्छयैव द्वैतभावापन्न हुए. उनकी क्रिडा ही लीला है. उनकी क्रिडा ही शरणजिगमिषुकेलिए साधन है. व्यक्ति तो भगवल्लीलाधीन है. वह परम स्वतन्त्र कैसे हो सकता है! किञ्च जीवव्यक्ति तो परमात्माका धारण किया हुआ रूपान्तर ही है.

इस तरह श्रीगोस्वामीजीने अपने इस निबन्धद्वारा आक्षेपका निरास करते हुए व्यक्ति स्वातन्त्र्यके स्वरूपका तथा उसकी उपयोगीता आदिका विस्तृत विचार प्रस्तुत किया है.

शुद्धाद्वैत वादमें विधि-निषेधात्मक वर्णाश्रमानुसारी कर्मोंका त्याग नहीं कहा गया है. लेखकने स्पष्ट शब्दोमें कहा है "अतः भगवल्लीलासे जैसे विरक्त नहीं हुआ जाता वैसे ही कर्मसे भी उदासीन हो नहीं सकता".

वस्तुतः जीव, उसके कर्म, तत्साधन भी तो भगवल्लीलाके घटक हैं. वह लीला भगवदिच्छाधीन है तो बुद्धीच्छा प्रयत्न कर्मादिसे युक्त जीव भी सर्वथा भगवदधीन है. मेरी मति है कि यह भगवत् परतन्त्रता निरङ्कुशस्वतन्त्रतासे लाख गुनी श्रेयस्करी है.

२. वाल्लभवेदान्तके अनुसार भाषाका स्वरूप और कार्यकलाप :

अपने इस महत्त्वपूर्ण निबन्धमें भाषा व्याकरण निरुक्तविद् विद्वान् श्रीगोस्वामीजीने

वैदुष्यपूर्ण प्रकारसे वाल्लभवेदान्तानुसार भाषाके स्वरूप एवं उसके कार्यकलापकी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है. यह निबन्ध विद्वज्जन ग्राह्य है.

उपक्रममें ही शुद्धाद्वैत मतको श्रीमदाचार्य महाप्रभुके तत्त्वार्थदीपनिबन्ध एवं पत्रावलम्बनके आधार पर उन्हींके वाक्योंद्वारा प्रदर्शित किया गया है. सारांश है कि—यह समस्त सृष्टि अद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंश, चिंदंश या आनन्दांश की विविध अभिव्यक्तियां है. अद्भुत कर्मा श्रीहरि स्वयमेव साधनान्तरानपेक्ष कदाचित् आनन्दात्मक नामरूपकर्म धारण कर प्रकट होते हैं. कदाचित् आनन्दांशको तिरोहित कर अनेकविध नामरूपकर्मात्मक प्रपञ्चरूपमें आविर्भूत होते हैं. कदाचित् स्वयमेव सदात्मना उपादानके बिना भी अधिष्ठानरूपेण अनेकविध नामरूपकर्मोंको प्रकट करते हैं.

सच्चिदानन्दरूप परमेश्वर श्रीहरि एकरस होने पर भी स्वेच्छया अनन्तमूर्त्ति बन जाते हैं. जडवर्गोमें चिदानन्दांश तिरोहित हो जाता है. जीव पदार्थोमें आनन्दांश तिरोहित रहता है. आन्दांशसे अन्तर्यामी रूप प्रकट होते हैं. अतः व्यवहारमें जड-जीव-अन्तरात्मा इन तीनों रूपोमें लीला प्रकट करते हैं. इत्यादि सन्दर्भ निबन्धसे ही अवगत करना चाहिए.

इस लीला सृष्टिके अन्तर्गत नामरूप-सृष्टि है. इन दोनोंमें परस्पर प्रकाश-प्रकाश्य भाव है. दोनों परस्पर विलक्षण हैं. नामसृष्टि सूक्ष्म अनन्त है. रूप सृष्टि स्थूल शांत है. नाम सृष्टि बोधरूपा तथा रूप सृष्टि जडरूप विकृतिरूपा होती है. वाच्यभूत रूपसृष्टि तथा वाचकरूपा नामसृष्टि है. इन सृष्टियोंके कर्ता कर्तृम्-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तुं सर्वसमर्थ प्रभु है.

नाम सृष्टि ही भाषाका मूल है. यह पदादि रूपोमें प्रकट होती है. भाषारूप वाणीका मूल नामसृष्टि है. वह वाणी चतुर्धा विभक्त है. परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी. इनमें ''गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयति''. अर्थात् परा, पश्यन्ती और मध्यमा तो गुहा - शरीरके भीतर ही रहती हैं

जो योगिजन वेद्य हैं. चतुर्थ वाणी वैखरीको मनुष्य बोलते हैं.

''**चत्वारि वाक् परिमिता पदानि, तानि विदुर्ब्राह्मणा येमनीषिणः, गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति**'' (ऋक् २।३।२२) उन तीन वाणियोंमें परा वाणी स्वरूप ज्योतिः है. ''**स्वरूपज्योतिरेवान्तः परा वागनपायिनी, तस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्तते**'' (महाभाष्य).

परा वाणी आत्मचैतन्यरूपा ही है. सर्वगत होने पर भी प्राणियोंके मूलाधारचक्रस्था है. वहीं पर अभिव्यक्त होती है. वैयाकरणमूर्धन्य श्रीनागेश भट्टने वैयाकरणसिद्धान्त मञ्जूषा ग्रन्थमें शक्त्याश्रयनिरूपण प्रकरणमें तन्त्रशास्त्रानुसार परा-पश्यन्ती आदि चार वाणियोंका स्पष्ट विवेचन किया है.

> ''एतत् सर्वगतमपि प्राणिनां मूलाधारे संस्कृतपवनचलनेन अभिव्यज्यते. ज्ञातमर्थविवक्षोः पुंसः इच्छया जातेन प्रयत्नेन योगएव मूलाधारस्थ पवनसंस्कारः. तदभिव्यक्तं शब्दब्रह्म स्वप्रतिष्ठया निष्पन्दम् (परावाक्) इति उच्यते''.

अर्थात् यह परावाग् रूप चित्स्वरूप शब्दब्रह्म व्यापक होने पर भी प्राणियोंके मूलाधारचक्रमें ही संस्कृत वायुसंचारसे अभिव्यक्त होती है. ज्ञातार्थ विवक्षु पुरुषकी इच्छा जन्य प्रयत्नका योग ही मूलाधारस्थ पवनसंस्कार है. वह अभिव्यक्त परा वाणी स्वप्रतिष्ठ निष्पन्द ही रहती है.'' यह योगियोंके द्वारा भी अगम्य है. वैयाकरण इसी वाणीको 'शब्दब्रह्म' कहते हैं. भर्तृहरिने कहा है ''**अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्, विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः**''.

मूलाधार चक्र क्या है? मनुष्यका देह षण्णवति (९६) अङ्गुलका होता है. इसमें सार्ध सप्तचत्वारिंशत् (४७॥) अङ्गुल उपर नीचे छोडकर एक अङ्गुल परिमित मध्यभाग 'मूलाधार' कहलाता है. यह मूलाधार देहमध्य कहलाता है ''**पाय्वन्ताद् द्व्ययङ्गुलाद् ऊर्ध्वं लिङ्गाच्च द्व्ययङ्गुलाद् अधः, मध्यमेकाङ्गुलं यच्च देहमध्यं प्रचक्षते**''. यह मूलाधार मूल प्रकृतिस्वरूप कुण्डलिनी

है. यह महदादि तत्त्वोंसे वेष्टित सर्पवत् सुप्त रहती है. इस मूलाधारसे उत्थित पवन ही नाडियोंके द्वारा सर्वकार्य करता है. ''**गुदलिङ्गान्तरे चक्रम् आधाराख्यं चतुर्दलम्, अस्ति कुण्डलिनी ब्रह्मशक्तिराधारपङ्कजे**'' (संजी.रत्ना.१।२।१-४५) ''**देहेऽपि मूलाधारे तु समुदेति समीरणः**'' (प्रपञ्चसार तं.पट.१।९१). एवं परावाणी आत्मस्वरूपज्योति ही है.

इन्हीं अभिप्रायोंसे पूज्य श्रीगोस्वामीवर्यने भी इस निबन्धमें लिखा है ''इन चार प्रकारकी वाणियोंमें प्रथम परा वाणी है. यह चराचर ब्रह्माण्डमें व्याप्त सर्वविध परिच्छेदोंसे रहित सर्वसाक्षिभूत चेतना है. अतएव वाणीका यह आद्यचरण सकल स्व-पर वस्तुओंके प्रकाशनमें समर्थ समष्टिरूपेण परमात्मा ही है. साथ ही साथ उसीके चिदंश होनेके कारण व्यष्टिरूपेण जीवचेतनाके रूपमें भी स्वीकारा गया है''.

पश्यन्ती: ''**तदेव नाभिपर्यन्तम् आगच्छता तेन वायुना अभिव्यक्तं मनो विषयः 'पश्यन्ती'ति उच्यते. एतद्द्वयं सूक्ष्मतम-सूक्ष्मतरम् ईश्वराधिदैवं योगिनां समाधौ निर्विकल्पकज्ञानविषयः इति उच्यते**'' (मञ्जूषा पृ.१४८). अर्थात् वही पराख्य शब्दब्रह्म, मूलाधारस्थ संस्कृत पवन जब नाभि पर्यन्त गमन करता है तो नाभिस्थलमें अभिव्यक्त होकर 'पश्यन्ती' नामसे जाना जाता है. परा एवं पश्यन्ती दोनों ब्रह्मरूप वाणियां योगिजन द्वारा निर्विकल्पक समाधिके विषय हैं.

मध्यमा: ''**ततो हृदयदेशमागच्छता तेन वायुना हृदयदेशे अभिव्यक्तं तत्तदर्थविशेष-तत्तच्छब्दविशेषोल्लेखिन्या बुद्ध्यया विषयीकृता हि हिरण्यगर्भदेवत्या परश्रोत्राग्रहणेन सूक्ष्मा 'मध्यमा वाग्' इति उच्यते**''. अर्थात् वही संस्कृत पवन जब हृदयदेशमें आता है और हृदयदेशमें ही वही ब्रह्म अभिव्यक्त होकर 'मध्यमा वाक्' कहलाता है. इस मध्यमा वाणीका देवता हिरण्यगर्भ है. तथा यह मध्यमा वाक् विशेष शब्दार्थको विषय करने वाली बुद्धिका विषय होती है. यह परश्रोत्रसे अग्राह्य होनेसे सूक्ष्म है.

वाणी की ये तीन अवस्थाएं सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मरूप हैं. इन्हीं तीनोंको ''गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति'' शब्दसे कहा गया है. ये तीनों ही प्रणव रूप हैं.

वैखरी: ''**सैव चास्यपर्यन्तम् आगच्छता तेन वायुना कण्ठदेशं गत्वा मूर्धानम् आहत्य परावृत्य तत्तत्स्थानेषु अभिव्यक्ता पर श्रोत्रेणापि ग्रहणयोग्या विराडधिदेवत्या 'वैखरीवाग्' इति उच्यते**'' (मञ्जूषा तत्रैव). अर्थात् जब वह वायु मुखदेशमें आता है तो सीधे मूर्धासे टकराता है. पर मूर्धामें जानेका द्वार न मिलने पर वहांसे मुखद्वारकी तरफ लौटता है. तब तत्तत् कण्ठ-तालवादि स्थानोंमें वही वाणी अभिव्यक्त होकर 'वैखरी' कहलाती है. यह विराट् देवतावाली है तथा परश्रवणगोचर होती है. यह व्यक्तरूपसे अर्थकी प्रकाशिका होती है. वह वाणीत्रयरूप प्रणव ही व्यानोदानरूप प्राणके साथ वैखरीरूप बन जाता है. अतएव वाक्यपदीयकार श्रीभर्तृहरिने भी कहा है ''**वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्या श्चैतदद्भुतम्, अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्**'' (वाक्यप.१४४).

इस प्रकार चारों वाणियों का विभाग श्रीगोस्वामीजीके प्रकृत निबन्धमें स्पष्ट है. इसी को वाल्लभमतमें 'नामसृष्टि'से अभिहित किया जाता है. यह नामसृष्टि ब्रह्मात्मिका है. यह नामसृष्टि श्रीहरिकी आविर्भावशक्तिका परिणामभूत है. इसका न प्रागभाव है न ध्वंस है. अपितु अविकृतपरिणामी श्रीहरिमें लयकालमें तिरोहित एवं सृष्टिकालमें आविर्भूत होती है.

वर्ण-पद-वाक्य रूपसे त्रिधा विभक्त वाणी है. वर्णमें पद एवं वाक्य तिरोहित रहते हैं. नामसृष्टिका विस्तार वर्ण-पद-वाक्य रूप शब्दतन्मात्राके ही अन्तर्गत है. अतः परिगणित पदार्थोंसे अतिरिक्त पदार्थान्तर प्रसक्ति नहीं होती है.

वर्ण वाचक है ऐसा मीमांसक एवं अद्वैतवेदान्ती कहते हैं. पद वाचक

है यह नैयायिक कहते है. वाक्य ही वाचक है, वर्ण-पद कल्पित हैं ऐसा वैयाकरण कहते हैं. पर वाल्लभ मतमें तीनों ही वाचक हैं.

श्रीगोस्वामिजीके वाक्योंमें ''सभी वर्ण एवं पद भगवद्वाचक होनेसे मूलतः सर्वार्थवाचक होते हैं, जैसा कि कह चुके हैं. तदनुसार जितने भी वर्ण एवं पद होते हैं वे मूलमें तो भगवद्वाचक होते हैं क्योंकि सारे रूपधर भगवान् हैं. अतः सारे वर्ण और पद भगवान्द्वारा धरे गये हैं. अनेकविध रूपोंके वाचक हैं'' (प्रकृत निबन्ध).

इस तरह यह निबन्ध ''वाल्लभ वेदान्तके अनुसार भाषाका स्वरूप एवं कार्य कलाप'' बहुत ही विद्वत्तापूर्ण एवं शोधपूर्ण है. इसके अध्ययनसे विद्वानोंको लाभ होगा तथा भाषाके स्वरूपनिर्धारणमें वाल्लभसम्मत नवीन पन्थाका प्रकाश होगा.

३. चक्षुका चाक्षुष विषयदेशमें प्राप्यप्रकाशकारित्व :

यह महत्त्वपूर्ण निबन्ध विद्वद्ग्राह्य है. इसमें इन्द्रियोंके प्राप्यकारित्व अप्राप्यकारित्व का विमर्श किया गया है. विशेषतः चक्षुरिन्द्रियके सम्बन्धमें विचार प्रस्तुत है. बौद्ध एवं जैन को छोडकर प्रायः सभी दार्शनिक इन्द्रियोंका प्राप्यकारित्व (विषयको प्राप्त कर ज्ञान कराना) स्वीकारते हैं. यह युक्ति संगत है. इन्द्रियां सम्बद्धका ही ग्रहण करती हैं. असम्बद्धग्रहणमें अतिप्रसक्ति है. बौद्धोंने चक्षुके अप्राप्यकारित्वमें तर्क-युक्तियोंका प्रदर्शन किया है. विद्वान् लेखक श्रीगोस्वामीजीने बौद्ध, जैन, सांख्य, अद्वैतवेदान्त, वाल्लभ, न्याय आदि मतोंके शास्त्रीय वचनोंका उद्धरण देकर विस्तारसे इस विषयमें विवेचनाकी है. यह निबन्ध विद्वानोंके द्वारा अवश्य द्रष्टव्य है.

प्राप्यकारित्व पक्षमें दो बातें सामने आती हैं. क्या इन्द्रियां दूर-समीपवर्ती विषयदेशमें गति कर उसे प्राप्त कर ज्ञान कराती हैं, या विषय ही किसी प्रकार इन्द्रियदेशमें आता है तथा उसे प्राप्त कर इन्द्रियां तत्तद्विषयक ज्ञान कराती हैं.

इसमें न्यायादि सभी दार्शनिकोंके मतमें तैजस चक्षुरिन्द्रिय स्वकिरणोंके द्वारा दूरस्थ विषयोंको व्याप्त कर रूपादिका ज्ञान कराती है. श्रोत्रके विषयमें विवाद है. अद्वैत वेदान्त श्रोत्रको आकाश सत्त्वांशसे जन्य मानता है. तथा शब्ददेश तक गमन मानता है. अन्यथा भेरी-मृदंग शब्ददेशमें यदि श्रोत्र गमन न करे अपितु स्वदेशमें समागत शब्दोंका ही ग्रहण करे तो "भेरी-मृदङ्ग शब्दो मया श्रुतः" यह बुद्धि नहीं होनी चाहिए. यह बुद्धि अबाधित होनेसे प्रमा है. कर्ण प्रदेशमें तो शब्दज शब्दन्यायसे शब्दान्तर है. यह कहना भी युक्ति संगत नहीं लगता है कि वायुके द्वारा शब्द कर्ण प्रदेश तक लाया गया, क्योंकि शब्दगुण वायुके द्वारा गुणिको छोड कर अन्यत्र नहीं लाया जा सकता है. गुणमें गति नहीं मानी जाती है. गन्ध, वायुके द्वारा घ्राण प्रदेशमें आता है. किन्तु केवल गन्धगुणका, आश्रय छोडकर, अन्यत्र गमन न्याय विरुद्ध है. गुण यदि गुणीको छोडकर अन्यत्र गमन करे तो वह स्वगत गुणत्वको छोड देगा. अतः वहां पार्थिवांशके साथ ही गन्ध, वायुके द्वारा उपनीत होता है. अदृष्टवशात् पुष्पादिमें पुष्पांश रूप पार्थिवांशकी पूर्ति होती रहती है जिससे पुष्पका नाश नहीं होता है. शब्दके विषयमें ऐसा नहीं कहा जा सकता है. निरवयव व्यापक आकाशका शब्दके साथ गमन युक्तिसंगत नहीं है. अतः शब्दग्रहणकेलिए श्रोत्रेन्द्रियका गमन युक्त है.

चक्षुरिन्द्रिय तो किरणद्वारा दूरस्थ विषयको व्याप्त करती है पर कर्णको तो किरण नहीं है यह कैसे दूरप्रदेशोद्भूतशब्दको प्राप्त करेगा? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि मध्यमपरिमाण इन्द्रियोंकी परिणाम रूप वृत्ति है. वह वृत्तिके द्वारा विषयको व्याप्त करती है. रसनादि इन्द्रियोंमें तो निर्विवाद है कि इन्द्रियदेशमें प्राप्त विषयको ग्रहण कराती है. किन्तु चक्षु एवं श्रोत्र में विवाद है.

वाल्लभ मतमें भी श्रीपुरुषोत्तमचरणके प्रकृत उद्धरणसे स्पष्ट है कि तैजस चक्षुःकिरण दूरस्थ विषयको व्याप्त कर विषयग्रहण कराती है. विषय-इन्द्रियका

कौन सम्बन्ध है इसमें विशेषत: विवाद है. इन्द्रियां भौतिक एवं आहंकारिक हैं यह दो मत हैं. दोनों मतोंके अनुसार स्वसिद्धान्तसम्मत सम्बन्धकी कल्पना की जाती है. असम्बद्धका ग्रहण सम्भव नहीं है. भौतिक हो या आहंकारिक हो चक्षुरिन्द्रिय तैजस है, उसमें प्रकाशत्व सम्भव है. किरण न भी माना जाय तब भी मध्यमपरिणाम पक्षमें उसकी विषयव्याप्तिरूप परिणाम या वृत्ति मानना अनिवार्य है. न्यायमतमें भी मनके परमाणुरूप होने पर भी इन्द्रियोंकी परमाणुरूपता नहीं है. इन्द्रियां अणु हैं. अणुका अर्थ सूक्ष्म होता है. वह द्व्यणुकादिरूप हो सकती है.

प्रकृत निबन्धमें श्रीपुरुषोत्तमचरणके उद्धरण पर विद्वान् श्रीगोस्वामीजीने कुछ अनाग्रहपूर्वक आक्षेप किया है. लेखकका अभिप्राय है कि श्रीपुरुषोत्तमजीने ''केषाञ्चित् प्रक्रिया'' कह कर जिस मतका उल्लेख किया है वही वाल्लभमतमें उपयुक्त है. न्याय, प्रभाकरादि मतका स्वमतमें अनुसरण करना उचित नहीं है.

श्रीपुरुषोत्तमचरणने ''केषाञ्चित् प्रक्रिया'' कह कर जिस मतका उल्लेख किया है वह यह है **''या पुनः आलोकेन मायाकार्य तमो जननप्रतिबन्धे कृते ज्योतिरूप सूर्यदेवतया अण्वात्मकचक्षुषि सन्मुखाव्यवहितदेशस्थपृथुबुध्नोदराकारे विशिष्टरूपे प्रापिते सत्त्वप्रधानबुद्धे अन्तरेव तदाकारता सम्पत्तौ अणुरूपं जीवं प्रति ज्ञानाश्रिताध्यात्मिकघटाभिव्यक्तिरेव चाक्षुषं, दूरस्थगन्धशब्दायस्तु वायुना घ्राणाश्रोत्रसमीपप्रापणे अन्तःसत्त्वात्मकबुद्धेः तदाकारता सम्पत्तौ ज्ञानाश्रिताध्यात्मिक-गन्धशब्दाभिव्यक्तिरेव घ्राणजं श्रावणं च प्रत्यक्षमिति आध्यात्मिकाधिभौतिकयोरभेदात् न बाह्यघटाग्रहणनिबन्धनो दोषः इति केषाञ्चिद् प्रक्रिया''**. इस प्रक्रियाका खण्डन भी श्रीपुरुषोत्तमचरणने अग्रिम पंक्तियोंसे किया है.

इस पर लेखक श्रीगोस्वामीजीने आदरपूर्वक आक्षेप किया है. श्रीगोस्वामीजीका आक्षेप युक्तिसंगत है. विद्वान् लोग विचार करेंगे. किन्तु चक्षुर्देशमें प्रापित विषयका प्रत्यक्ष आध्यात्मिक ही होगा, अधिभौतिक नहीं. यद्यपि दोनोंमें अभेद है फिर भी स्फुटावभास आध्यात्मिकमें नहीं है. विषय देशमें प्रापित

तैजस चक्षुः प्रत्यक्षमें विषयका पुंखानुपुंख स्फुटावभास सम्भव है. अस्तु इस विषयमें गोस्वामीजीका चिन्तन तथा उसमें प्रदत्त युक्तियां भी प्रमाण्यस्पर्शी हैं. यह विचार आधुनिक वैज्ञानिक मतके समीप है.

श्रीगोस्वामीजीका तात्पर्य है कि विषय पर्यन्त चक्षुवृत्ति या चाक्षुष किरणों के गमनमें शास्त्रीय प्रमाण स्पष्ट नहीं है. ''**दिवीव चक्षुराततम्**'' इत्यादि (ऋक्सं.१।५।२२।२०) वचनमें यथा ''**चक्षुर्दिवि आततं पश्यति**'' तथा ''**सूरयो विष्णोः पदं सदा पश्यन्ति**'' इत्यादि वचन भी आकाश एवं तद्ववर्ती विषयोमें चक्षुव्याप्तिमें प्रमाण नहीं हैं. क्योंकि 'दिवि' सप्तमीका अर्थ औपश्लेषिक, व्यापक एवं वैषयिक आधार तीनों पक्षोंमें आकाश चक्षुके साथ उपपन्न नहीं होता है.

मेरे विचारसे चक्षुरश्मियां या उसकी वृत्ति के विषयोंके साथ औपश्लेषिक सम्बन्धमें कोई बाधा नहीं है. औपश्लेषिक अव्याप्यवृत्ति ही माना जाता है. ''दधिमें घृत है'' ऐसे स्थलोंपर अभिव्यापक सप्तमी है. अतः अनन्दाकाशके साथ नायन रश्मियोंका अव्याप्यवृत्ति संयोगादिमें कोई बाधा नहीं है. यदि 'दिवि'का 'चक्षु'के साथ सम्बन्ध न कर 'आतत'के साथ ही सम्बन्ध करते हैं और 'आतत'पदसे नक्षत्रादि ग्रहण करें तब भी ''चक्षुः यथा दिवि आततं नक्षत्रादि पश्यति तथा सूरयः'' ऐसा अर्थ करने पर भी चक्षुका विषय पर्यन्त गमनाभाव नहीं सिद्ध हो पाता है. वहां इस अर्थका अवकाश मिलता है कि चक्षुवृत्ति द्वारा या किरणों द्वारा दिवि आतत नक्षत्रादिको संयुक्त करती है. चक्षुमें करणमें कर्तृत्व विवक्षा सम्भव है. हां, इस अर्थमें गोस्वामीजीके सम्मत अर्थका भी अवकाश मिल जाता है. अलोक किरणों द्वारा चक्षुर्देशमें विषय प्राप्ति हो सकती है. पर उक्त वाक्यके द्वारा कोई एक पक्षको प्रमाणित नहीं किया जा सकता है. विषयदेशमें चक्षुर्गमन युक्तिसिद्ध भी है.

पूज्य लेखक श्रीगोस्वामीजीने दूसरी बात उठायी है कि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्योंने चक्षुरिन्द्रियकी तरह रूपतन्मात्राको भी तैजस माना है. ऐसी दशामें क्या

विनिगमना है कि चक्षुः विषयपर्यन्त गमन करे रूप तन्मात्रा चक्षुर्देश पर्यन्त गमन करे, तैजसत्व तो उभयत्र है!

इस पर कहा जा सकता है कि वस्तुओंका स्वभाव विशेष होता है. रूपतन्मात्रा तैजस होने पर भी गमन नहीं करती चक्षुरिन्द्रिय गमन करती है. यह स्वभावादेव है. चक्षुरिन्द्रिय रश्मिवाली है. रूपतन्मात्रा रश्मिमान् नहीं है. रश्मिवाला मानने पर भी चक्षुरिन्द्रियका प्रेरक मन है, मन का प्रेरक अन्तर्यामी है. वहां वैसा नहीं है. यदि कहें कि अन्तर्यामी तो विषय मध्य रहकर अन्तर्यमन करता है. रूपतन्मात्राको भी अन्तर्यामी बाह्य प्रकाशके माध्यमसे चक्षुर्देश पर्यन्त प्रेषण कर सकता है. इस पर तर्क है कि रूपतन्मात्राएं यदि धर्मीको छोडकर विषयदेशमें प्राप्त होने लगे तो रूपी वस्तु नीरूप हो जायेगा. चक्षुर्गमन पक्षमें यह दोष नहीं है. चाक्षुष किरणें दण्डायमान होकर विषय व्याप्त करती है. अर्थात् सूर्यरश्मियोंकी तरह सूर्यसे पृथक् होकर ही रश्मियां विषयको व्याप्त करती हैं. वैसे चक्षुकी वृत्ति या रश्मि चक्षुसे सम्बद्ध होकर ही विषयव्याप्ति करती है. रूपतन्मात्रा गमनके पक्षमें यह सम्भव नहीं है. यदि सम्भव हो तब भी दूरत्व-समीपत्वकी प्रतीति नहीं होगी. क्योंकि चाक्षुषवृत्तिके साथ मन-बुद्धि सम्बन्ध है, चक्षुर्देश पर्यन्त आगमनके पूर्व रूपतन्मात्राके दण्डायमान रश्मियोंके साथ नहीं. अतः रूपतन्मात्रा बाह्य लोकके द्वारा चक्षुदेशागमन पक्ष क्लिष्ट प्रतीत होता है.

इस पक्षमें ''**दृशे विश्वाय सूर्यम्**'' ऋग्का प्रमाण भी दृग्के उपकारकत्व अर्थमें प्रमाण हो सकता है. सूर्यकी रश्मियां विषय संस्कारक एवं चक्षुरिन्द्रिय उभय संस्कारक हैं. अतएव वाक्यपदीयकार भर्तृहरिने ब्रह्मकाण्डमें ८० वें श्लोकमें कहा है ''**चक्षुषः प्राप्यकारित्वे तेजसातु द्वयोरपि, विषयेन्द्रिययोरिष्टः संस्कारः स क्रमोध्वनेः**'' (वाक्यप.१।८०).

इन्द्रिय संस्कारमात्रे तमःस्थ घटकी भी चक्षुषत्वापत्ति होगी. विषय संस्कारमात्र पक्षमें सभीको आलोकस्थ घटका चाक्षुषत्व होने लगेगा.

यदि ''अतपत्ये तायवो यथा नक्षत्राः यन्ति अक्तुभिः सूराय विश्व चक्षसे'' इस ऋग् वाक्यके अनुसार सूर्य रश्मियोंसे अल्प रश्मिवाले सभीका तिरोभाव कहें तो रूपतन्मात्रा भी तेजस है, उसका भी सूर्य प्रकाशमें विलोप प्रसंग होगा. तब उभय पक्ष पराहत होगा. यह सम्भव नहीं है कि तैजस चाक्षुष रश्मि तिरोहित हो, तैजस रूपतन्मात्रा रश्मि या प्रकाश तिरोहित न हो. अतः वस्तुस्वभावानुसार ही कल्पना युक्ति संगत प्रतीत होती है. इस तरह विचार करने पर विषय देशमें चक्षुर्गमन पक्ष भी सूपपन्न प्रतीत होता है. अस्तु मान्य विद्वत् शिरोमणि श्रीगोस्वामीजीका तर्क स्तुत्य है. विद्वज्जन इस पर विचार करें इसीलिए उन्होंने इस पक्षको उठाया है.

४. तमस्के विभिन्न स्वरूप और उनकी अनुभूतियों के बारेमें कुछ पुरः स्फुर्तिक विचार :

तमस्के सम्बन्धमें प्रायः सभी शास्त्रोंमें विचार आया है. पिछली विचारगोष्ठीमें इस विषय पर तत्तद्दर्शनानुसार विद्वानोंका विचार सम्पन्न हुआ था. शास्त्रोंमें तथा विद्वद्गोष्ठियोंमें तमस्के भौतिक रूपका विचार प्रसिद्ध है. तमस्को कोई भाव, कोई अभाव, कोई रूपमात्र, कोई कृष्णज्ञान मात्र आदि मानता है. ये सभी पक्ष प्रस्तुत हुए हैं. पर तमस्के अधिदैव, अध्यात्म आदि रूपोंपर शास्त्रमें विचार नहीं है. है भी तो स्वल्पमात्रामें. श्रीगोस्वामीजीने प्रस्तुत निबन्धमें तमस्के प्रत्यक्ष जन्य मानसशास्त्रीय परा भौतिक, आध्यात्मिक, अधिदैविक आदि स्वरूपोंका पाण्डित्य पूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है. अतः इस प्रबन्धका महत्त्व विशेषरूपसे बढ जाता है. तमस् सम्बन्धी उक्त प्रकारके वाल्लभ सम्मत विचार प्रस्तुत कर तदनुसार ही सिद्धान्त निश्चित किया गया है. आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिसे तमस्के स्वरूपका विश्लेषण कर उसे वाल्लभ सिद्धान्तानुसार सिद्ध किया गया है. साथ ही तमस्की अद्वैतसम्मत अनिर्वचनीयताका भी खण्डन श्रुतियुक्तिसे किया गया है. तमस्की सत्यता और ब्रह्मरूपता सिद्ध की गयी है. यहां अतिसंक्षिप्त निबन्धसार प्रस्तुत किया जाता है.

तमस्का आधिदैविक रूप ''**न असद् आसीद् नो सद् तदानीम्...**''

(ऋ.सं.१०।१२९/१।३) का उद्धरण देकर लेखकने शङ्करवेदान्ताभिमत 'तमस्'शब्दार्थ अविद्या जो मिथ्या अनिवर्चनीय है का वाल्लभ युक्तियोंसे खण्डन किया है. तथा तमस्का आधिदैविक रूप निर्विकल्पक समाधि अवस्थाकी तरह योगनिद्रा माना गया है. 'योगनिद्रा' शब्दका प्रयोग दुर्गासप्तशतीमें श्रीविष्णुसुषुप्ति रूपमें आया है. ''**योगनिद्रां यदा विष्णु र्जगदेकार्णवी कृते, आस्तीर्य शेषमभजत् कल्पान्ते भगवान् प्रभुः**''. इसीको गीतामें 'योगमाया' शब्दसे भी कहा है. ''**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः**''. यह निर्विकल्प समाधिवत् योगनिद्रा भावरूप है. यह तमस्का आधिदैविक रूप ब्रह्म ही है. महाप्रभुने स्पष्ट कहा है ''**तम आसीदिति तमोऽपि ब्रह्मैव सुप्तत्वेन साम्यात्**'' (भाग.सुबो.२।९।३२).

सृष्टिके आदिमें ''तम आसीत्'' इस वचनकी व्याख्या सुबोधिनीके अनुसार 'तमस्' शब्दसे ब्रह्म ही वाच्य है. प्रलयोत्तर कालमें भी ''अव्यक्तम् अक्षरे तमसि, तमः परे देवे एकी भवति'' इस वचनके अनुसार अव्यक्त अक्षरमें (काल - कर्म - स्वभाव - प्रकृति पुरुष में) तथा अक्षर तममें, तम पर देवमें एकीभूत होता है. यह 'तमस्' शब्दसे भी उक्त पञ्चविध अक्षरब्रह्मकी अवस्थाविशेष ही है जिसका परब्रह्मसे एकीभाव बताया गया है. अतः तमस्का आधिदैविक रूप योगनिद्रा है. वह ब्रह्म रूप ही है.

यद्यपि प्रकृत निबधमें 'तमस्' शब्द वाच्य मायाका एवं उसकी अनिर्वचनीयत्व एवं मिथ्यात्व का खण्डन वल्लभ मतानुसार किया गया है. तथापि शाङ्कर मतमें समाधान एवं मिथ्यात्वानिवर्चनीयत्व की रक्षा करते हुए उद्धृत श्रुति-स्मृतियोंका व्याख्यान सर्वथा सम्भव हो सकता है. किन्तु इस भूमिकामें उसकी चर्चा करना अप्रासङ्गिक है. पूज्य गोस्वामीजी न केवल वाल्लभमतविशेषज्ञ हैं अपितु शाङ्करमतके भी विशेषज्ञ हैं. स्वयं इस निबन्धमें शङ्करोक्तिको स्वानुकूलार्थमें उद्धृत किया है. मिथ्यात्वके ज्ञाननिवर्त्यत्वादि लक्षणोंको स्वमतमें अनुकूल बताया है. वस्तुतः यह निबन्ध विद्वानोंके सामने अभूतपूर्व प्रस्तुति है.

प्रमाण प्रदर्शनानन्तर निबन्धकार स्वयमेव कहते हैं ''एतावता सिद्ध

होता है कि तमस्का कोई एक आधिदैविक या अलौकिक स्वरूप भी है जिसे भगवान्की योगनिद्रा माना गया है'' इत्यादि. ''तथा निष्कर्षतया अनेकविध नामरूपकर्मों पृथक् प्रविभाजन या प्रकाशन अथवा उसमें रमण जैसे सच्चिदानन्द ब्रह्ममें सृष्ट होता है, वैसे उनके अप्रकाशन या विभागविलोपन द्वारा सच्चिदानन्दब्रह्मका पुनः आत्मीकरण अनुभवातीत आधिदैविक तमस् माना गया है''.

तमस्का आध्यात्मिक रूप

विद्वान् श्रीगोस्वामीजीने श्रुति-स्मृति-युक्तियोंसे भगवान्की द्वादश शक्तियोंके अन्तर्गत व्यमोहिका माया शक्ति या अविद्या को तमस्का आध्यात्मिक स्वरूप माना है. इसका विस्तृत विवेचन निबन्धमें द्रष्टव्य है.

तमस्का आधिभौतिक स्वरूप :

अनेक श्रुतियोंके उदाहरण देकर श्रीगोस्वामीजीने यह सिद्ध किया है कि तमस्का आधिभौतिक स्वरूप भी है. वह भगवान्की ही प्रकाशवत् सृष्टि है. अन्तर्यामि ब्रह्माणके अनुसार अन्तर्यामी परमेश्वर तमस्-प्रकाश दोनोंसे अविदित, दोनोंके भीतर रहकर दोनोंका अन्तर्यमन करता है. अतएव तमस् अभावरूप नहीं है. वह प्रभुकी भाव सृष्टि है. तो क्या प्रकाशमें अन्धकार और अन्धकारमें प्रकाश रह सकता है? हां. ''**नासतो विद्यतेऽभावः**'' के भावपदार्थका अभाव नहीं. सर्वत्र सर्वसम्भव है इस वाल्लभ मतानुसार प्रकाशमें अन्धकारका तिरोभाव एवं अन्धकारमें प्रकाशका तिरोभाव उचित है. ''**आत्मतएव आविर्भाव-तिरोभावौ...आत्मतएवेदं सर्वम्**'' (छान्दो.उप.६।२६।१) के अनुसार भगवान्की बहुभवनेच्छाका ही अनुभावरूप भौतिक तमस् है.

इसके अनन्तर आधुनिक विज्ञान शास्त्रविज्ञ श्रीगोस्वामीजीने आधुनिक विज्ञानके अनुसार तमस्के स्वरूपका विश्लेषण किया है. जो सभी दार्शनिकोंके द्वारा पठनीय एवं ग्राह्य है.

श्रीगोस्वामीजीने आधुनिक वैज्ञानिक मतोंकी तुलनात्मक समीक्षा उपनिषद्

श्रौतवाक्योंसे की है. आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिमें श्रौतवाक्योंकी यह तुलनात्मक प्रामाणिक समीक्षा आचार्यका इस दिशामें सर्वथा नवीन महत्त्वपूर्ण सफल प्रयास है. इस तरहके शोध कार्यकेलिये प्राच्य-प्रतीच्योभयविद् आचार्य श्रीगोस्वामीजीको विद्वत्समाज भूरि-भूरि सम्मान देता है तथा आश रखता है कि इस दिशामें वे विद्वत् समाजकेलिये अग्रसर रहें.

५. ख्यातिवादकी चर्चामें कुछ पुरःस्फुर्तिक विचारबिन्दु :

प्रस्तुत प्रबन्धमें श्रीगोस्वामीजीने ख्याति सम्बन्धी वैज्ञानिक विचार किया है, भ्रान्तिज्ञानका वास्तविक स्वरूप क्या है तथा उसके विषयका वास्तविक स्वरूप क्या है इसका विश्लेषण किया है. भ्रान्तिज्ञानका विषय, सद् असद् सदसद् त्रिकोटिविलक्षण अनिवर्चनीय या चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य हो सकता है, इसका मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया है.

वाल्लभवेदान्तके अनुसार भ्रान्तिज्ञानको अन्यख्यातिके रूपमें समझा जाता है. वाल्लभ मतमें **''नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः''** इस गीतोक्त वचनके अनुसार चतुर्विध अभावोंको नहीं माना जाता है. लोकमें अभावानुभूतियोंको आविर्भाव-तिरोभावके आधार पर समझा जाता है. अतः भ्रान्तिज्ञानका विषय असत् कैसे कहा जा सकता है ? इसी तरह अख्यातिको छोडकर अन्यख्यातियोंको भी अस्वीकार किया गया है. श्रीराजानुजमतसिद्ध अख्यातिको आंशिक रूपसे स्वीकृत किया गया है, न कि सर्वत्र. तात्पर्य यह है कि पूर्ण ज्ञानी—पूर्ण योगी केलिए अख्याति है; क्योंकि उनका ज्ञान यथार्थ है, पर लौकिक दृष्टिसे प्रतिभासमान रजतको शुक्ति नहीं कहा जा सकता है. अतः वहां पुरोवर्ति शुक्तिमें अन्य रजतकी ही ख्याति मान्य है. इन सभी विषयोंका विस्तृत विवेचन प्रमाणपुरःसर प्रकृत निबन्धमें श्रीगोस्वामीजीने किया है.

भ्रम दो प्रकारका होता है : १. निरूपाधिक जैसे शुक्ति-रजतादि २. सोपाधिक जैसे ''पीतः शंख'' इत्यादि. इन दोनोंमें वाल्लभ मतमें प्रथमको तो अन्यख्यातिके रूपमें स्वीकार किया गया है. द्वितीय सोपाधिक भ्रमको भ्रम न मानकर

अन्यथाज्ञानके रूपमें माना गया है. यह ज्ञान भ्रम-प्रमा दोनोंसे विलक्षण है. वाल्लभ वेदान्तमें ही सोपाधिक ज्ञानको भी भ्रमके अन्तर्गत कहीं-कहीं माना गया है. अन्यथा भ्रम-प्रमासे अतिरिक्त अन्य कौनसा ज्ञान होगा. स्मृति तो उसको कह नहीं सकते भ्रम-प्रमा मिश्रित, स्मृति भिन्न किसी ज्ञानमें प्रमाण नहीं है. सोपाधिक भ्रमके विषयमें विद्वान् लेखक श्रीगोस्वामीजीने सुबोधिनीको उद्धृत करते हुए बहुत कुछ विचार उपस्थित किये हैं. निष्कर्ष उन्हींके शब्दोंमें ''निष्कर्षतः वाल्लभ वेदान्तके अनुसार अज्ञान और अन्यथाज्ञान अन्यख्यातिरूप भ्रान्तिके व्यामुग्ध पुरुषगत हेतु द्वय हैं न कि भ्रान्तिके लक्षणोपम स्वरूप''.

विद्वान् लेखकने ख्याति सम्बन्धी प्राचीन विचारोंसे अतिरिक्त आधुनिक भौतिक विज्ञान एवं मनोविज्ञान के अनुसार वैज्ञानिकों एवं मनोवैज्ञानिकों के विचारोंका उल्लेख करते हुए महत्त्वपूर्ण विवेचन किया है. इनके इस विवेचनको अवगत कर दार्शनिकोंको भी अपने सिद्धान्तों पर पुनर्विचार करनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है. जिज्ञासुओं द्वारा प्रकृत निबन्ध अवश्य ही अनुशीलनीय है.

६. श्रीस्वामिनारायणमतीय वेदान्तसिद्धान्त और भक्तिसाधना की विकसन प्रक्रिया — १-२.

ये दोनों निबन्ध पूज्य श्रीगोस्वामीजीके महत्त्वपूर्ण है. जिसमें प्रथम निबन्धमें श्रीस्वामीनारायण सम्प्रदायसिद्ध वेदान्तसिद्धान्तकी समीक्षा की गयी है. तथा द्वितीय निबन्धमें उक्त समीक्षामें उठाये गये कुछ आक्षेपबिन्दुओं पर श्रीश्रुतिप्रकाशदासजीके द्वारा दिये गये समाधानोंकी विद्वतापूर्ण समीक्षा एवं निराकृति प्रस्तुत की गयी है.

उक्त निबन्धोंके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि स्वसिद्धान्तसम्प्रदायमें अटूट श्रद्धाविश्वास रखनेवाले श्रीगोस्वामीजीने उन स्वामिनारायणसम्प्रदायगत विद्वानोंकी आलोचना की है जो स्वसम्प्रदायके मूल ग्रन्थ शिक्षापत्रीके विरुद्ध मतके पोषक हैं.

अधुना कुछ स्वामिनारायण सम्प्रदायवालोंने अपने मतको श्रीरामानुजीय विशिष्टाद्वैतसे पृथक्रूपमें सिद्ध करनेका असफल प्रयास किया है. उनका कथन है कि 'वचनामृत'के अध्ययनसे यह मत रामानुजीय मतसे पृथक् प्रतीत होता है. वचनामृत श्रीस्वामिनारायणजीके ही उपदेश वचनोंका संग्रह है. श्रीगोस्वामीजीका तात्पर्य है कि शिक्षापत्रीमें स्पष्ट है कि श्रीस्वामिनारायण मतमें श्रीरामानुजीय विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त ही माना जायेगा. श्रीभाष्य ही तत्सम्मत भाष्य है. तब श्रीरामानुजीय विशिष्टाद्वैतसे भिन्नताका प्रसङ्ग ही नहीं आता. ऐसी स्थितिमें भक्त्यादि उपदेश प्रयोजनक 'वचनामृत' वचनोंका भी शिक्षापत्रीके अनुसार ही व्याख्यान युक्त है. अन्यथा स्वसिद्धान्त मूलपुरुष वचन निर्मूल होकर अप्रामाणिक हो जायेगा. सभी सम्प्रदायोंमें ऐसा ही देखा जाता है कि कोई भी असाधारण विद्वत्तासम्पन्न विद्वान् व्याख्याकार अपने सम्प्रदायके मूलपुरुषके वचनोंको प्रमाणत्वेन ध्यानमें रखकर ही तदविरोधि युक्तियोंसे, तर्कोंसे व्याख्या उपस्थित करता है. कहीं विपरीत पडने पर भी उसका समन्वय या तात्पर्य वर्णन करता है न कि मूलपुरुषसे विपरीत व्याख्या करता है.

इन सभी वाक्योंके साथ श्रीस्वामिनारायण सम्प्रदाय सिद्ध सिद्धान्तोंका वर्णन प्रकृत निबन्धोंमें किया गया है.

श्रीश्रुतिप्रकाशदासजीके समाधानोंका भी उत्तर उन्हींके सिद्धान्तानुसार श्रीगोस्वामीजीने प्रस्तुत किया है. ये दोनों निबन्ध अतीव महत्त्वपूर्ण हैं. शोधार्थियों, जिज्ञासुओं केलिए सर्वथा उपादेय हैं.

८. धर्मोंकी विविधता और विश्वमें शान्ति :

धार्मिक एवं विद्वान् लेखक श्रीगोस्वामीजीने प्रस्तुत निबन्ध द्वारा विश्वशान्तिका अनुपम सर्वधर्मग्राह्य उपाय प्रस्तुत किया है. विश्वशशन्तिकेलिए कोई एक धर्म मान्य करना अशक्य है. शान्ति तो तभी सम्भव है जब सभी धर्मानुगामी परधर्मसहिष्णु बनें. परधर्मसहिष्णुताका अर्थ स्वधर्मत्यागपूर्वक परधर्म परिग्रह नहीं है अपितु स्वधर्मकी तरह हृदयेन स्वीकार ही है. गीता भी कहती

है **''स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः, स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः''** यद्यपि यह गीतावाक्य वर्णाश्रमधर्मके प्रति कहा गया है तथापि प्रचलित समस्त धर्मोंमें भी इस वाक्यका संचार किया जा सकता है.

लेखकका कथन शतप्रतिशत सत्य है कि विश्वकलहका कारण कोई धर्म या उसकी विविधता नहीं है अपितु एकाधिकारिताका अहंभाव ही कलहका बीज है. अर्थात् मेरा ही धर्म सही है अन्य धर्म शैतानप्रभव है. उसको मिटा देना चाहिए यह भाव विश्वकलहका बीज है.

गोस्वामीजीने हिन्दु, बौद्ध, जैन, ईसाइ, मुसलिम आदि धर्मोंके मूल ग्रन्थोंसे उद्धरण देकर सिद्ध किया है कि सभी धर्मोंमें एकेश्वर वाद, उसकी आज्ञा पालनका विधान एवं दूसरोंको दुःख न देना, अपितु परदुःखप्रहाणेच्छा, परधर्मसहिष्णुता आदि भरे पडे हैं; किन्तु मोहजन्य अहं श्रेष्ठके भावसे कलह होता है. धर्मोंके त्यागसे विश्वशान्ति नहीं है. अपितु परधर्मसहिष्णुता पूर्वक स्वधर्ममें सत्यनिष्ठा ही विश्वशान्तिका मूल है. अनीश्वरवादी बौद्धादि ग्रन्थोंमें भी सर्व शून्यताके उपदेशसे सभी भेदभावोंका निषेध स्वतः सिद्ध होता है. यह निबन्ध विश्वके प्रत्येक जनकेलिए उपादेय है. इसका प्रचार होना चाहिए.

मनुष्य बौद्धिक प्राणी है तथा मनुष्य धार्मिक प्राणी है. ये दोनों बातें हैं. पर विश्वशान्ति तो मनुष्यकी बौद्धिकता एवं धार्मिकता के सामञ्जस्यसे ही सम्भव है. उस सामञ्जस्यका स्वरूप स्वधर्मनिष्ठापूर्वक परधर्मसहिष्णुता ही है. श्रीगोस्वामीजीने उद्यान आदिका दृष्टान्त देकर बडे ही सुन्दर ढंगसे विश्वमें धर्मविविधता विश्वके सौन्दर्यपरिपूर्णताका ही हेतु है यह समझाया है. अनेक पुष्पवृक्षोंसे उद्यान जैसे शोभा पाता है; अनेक भक्ष्य, पेय, लेह्य, चोष्य वस्तुओं से जैसे अन्नभण्डार शोभा पाता है वैसे सभी धर्मोंसे विश्व सुन्दर है. उनका रहना परमावश्यक है. यही ईश्वरीय विधान है. पर दम्भाऽहंकार, मोह, आत्ममानिता सभी कलहका बीज है. यत्न पूर्वक

इसका परित्याग अपेक्षित है. इस प्रबन्धसे विश्वमें शान्तिका उपदेश दिया गया है.

९. ब्रह्म या ब्रह्माण्ड और मनुष्यके अस्तित्वकी खोज(एक वाल्लभदृष्टि) :

मनुष्यमें चिरन्तन कालसे ही ''अनन्त ब्रह्माण्डके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है? मैं कौन हुं? तथा यह विश्व ब्रह्माण्ड कहांसे प्रवृत्त हुआ है? इसका क्या प्रयोजन? इसका कर्ता कौन है?'' इस प्रकारकी जिज्ञासा स्वभावतः देखी जाती रही है. लेखकने प्रथम जिज्ञासाको व्यष्टि पक्ष मानकर आत्मजिज्ञासा शब्दसे कहा है. ब्रह्माण्डके साथ व्यष्टिका सम्बन्ध. दूसरा समष्टि पक्ष है. जिसको 'परमात्मजिज्ञासा' शब्दसे कहा जाता है. ''**किं स्विद् वनं क उ स वृक्ष आसीद् यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः, मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यदध्यतिष्ठत् भुवनानि धारयन्**'' (ऋग्वेद १०।८१।४) अर्थात् वह कौन सा वन था? वह कौन सा वृक्ष था? जिसको काट छांट कर ये आकाश पृथिवी लोक बनाये गये. कभी अपने आपसे पूछकर तो देखो कि इन भुवनोंको धारण करने वाला कहां खडा है? उसका आधार क्या है?'' इस तरह प्रश्नोपस्थापक यह मन्त्र है.

''**ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद् यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षु; मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठत् भुवनानि धारयन्**''. अर्थात् वह वन ब्रह्म था. वह वृक्ष भी ब्रह्म था जिसे काट-छांट कर ये आकाश और पृथिवी लोक बनाए गये हैं. विद्वानों अपने सच्चे मनसे एक रहस्य तुम्हें कहता हूं, इन भुवनोंको धारण करने वाला ब्रह्मपर खडा है. ब्रह्म ही उसका आधार है. इसी तरह श्वेताश्वतरोपनिषद्का वाक्य है ''ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति, किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाताः, जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठा, अधिष्ठिता केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्म विदो व्यवस्थाम्. कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा, भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्याः, संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माऽप्यनीशः सुखदुःख हेतोः. ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्, यः कारणानि निखलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः'' (श्वेता.उप.३).

विद्वान लेखकने उक्त प्रसङ्गमें पुरातन पूरोपीय विचारोंसे लेकर आज तक वाल्लभ वेदान्त सम्बन्धी अवधारणाओंकी तर्कसंगत व्याख्या प्रस्तुत की है. मनुष्य ही आत्मवान् प्राणी है क्योंकि वह बुद्धिमान् विचारशील प्राणी है. मनुष्येतर प्राणियोंमें आत्मा नहीं होती है, वे यन्त्रवद् व्यवहार करते हैं. यूनानी विचारकोंने माना है कि ब्रह्माण्डमें मनुष्य ही अकेला तर्क-विचारशील प्राणी है. भारतीय चिन्तक मनुष्यतामें धार्मिकताको प्रधान मानता है. ''धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः''. बाइबिलके अनुसार सृष्टिमें मनुष्यका निर्माण सृष्टिप्रक्रियाका चरम बिन्दु है. समग्र सृष्टि मनुष्यकेलिए है. इतर प्राणी भी मनुष्यकेलिए है. इन समग्र तथ्योंकी ऐतिहासिक मीमांसा प्रकृत निबन्धमें की गयी है. ''मनुष्य एक विचारशील प्राणी है'' कि जगह यह धारण होती गयी कि ''मनुष्य एक पापशील प्राणी है''. एक शायर की उक्ति है *''जिन्दगी क्या है गुनाहे आदम. जिन्दगी है तो गुनहगार हूं मैं''*. सभी तथ्योंका क्रमशः ऐतिहासिक विचारके बाद लेखकने सबका समाधान शुद्धाद्वैतमें किया है. लेखकके शब्दोंमें ''पुरी सृष्टिमें कहीं कोई पाप - माया शैतान की कारस्तानी नहीं है, कहीं कोई ग्लानि नहीं है. सारी सृष्टि एक सहज लीला है. प्रयोजन रहित है. एकका अनेक रूपोंमें परिणत होना है. स्वयंका स्वयंके साथ एक आंख-मिचौनीका खेल है ...'' इत्यादि पठनीय है.

वाल्लभवेदान्त इस सन्दर्भमें दो महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तसूत्र प्रदान करता है १. ज्ञानदृष्टिसे देखने पर ब्रह्म ही स्वयं जगद्रूपसे हुआ है. प्रेमदृष्टिसे देखना हो तो एकाग्र दृष्टि अपेक्षित है. अतिशय स्नेह दृष्टिसे केवल ब्रह्म ही द्रष्टव्य है अन्य नहीं. २. अगणित आनन्द ब्रह्म है. उसकी प्राप्तिकेलिए चित्तमें भगवत्प्रेम सम्पादित करना पडेगा. प्रेम संवलित चित्तमें भगवान् अतिरोहित हैं. उसे खोजनेकी आवश्यकता नहीं पडेगी. इस तरह यह महत्त्वपूर्ण निबन्ध इस वाल्लभ सिद्धान्तपर पर्यवसित होता है कि ब्रह्माण्ड ब्रह्म परिणाम है. वह भगवल्लीला है. उसमें सर्वत्र ब्रह्म अनुगत है. मनुष्यार्थ ब्रह्माण्ड नहीं है. समस्त जड वर्ग भगवान्की आंशिक अभिव्यक्ति है. सभी जीव भगवदंश है. सारा प्राणी जगत् परमेश्वरके चैतन्यांशसे प्रकाशित हो रहा है. उसीके

आनन्दांशसे जीवित है. उसीकी आनन्दांशकी अनुभूति करता है ''**को ह्येन्यात् कः प्राण्यात् यदेष आनन्दो न स्यात्.**''

१०. सत्यके कतिपय अनूठे आयाम :

प्रकृत निबन्धमें विद्वान लेखक श्रीगोस्वामीजीने सत्य पदार्थगत मतभेदोंकी वैदुष्यपूर्ण समीक्षा की है. सत्य देशकालादि परिच्छेद शून्य पदार्थ है अथवा तत्परिच्छेद सहित? सत्यके साथ अनुभूयमान देशकालादि परिच्छेदक क्या सत्यद्वारा सत्यमें ही परिकल्पित होनेसे सत्य हैं? अथवा स्वयं चेतनमें तदतिरिक्त अन्य सत्य वस्तुका अभाव है? इस तरह सत्यके अर्थमें वैविध्य है. इसी तरह सत्य, भाव, सत्त्व ऋत् सम्यग् इत्यादि पदोंसे बोध्य अर्थोमें एकता है, या विभिन्नता है? इन सभी तथ्योंका शास्त्रीय प्रामाणिक विचार इस प्रबन्धमें किया गया है.

अमरकोषमें ''सत्यं तथ्यं ऋतं सम्यक्'' ऐसा 'सत्य' शब्दका पर्याय दिया गया है. उसकी रम्माश्रयी व्याख्यामें इन पदोंकी व्युत्पत्ति दी गयी है. ''सति साधु = सत्यम्. तथा (सत्ये) साधु तथ्यम्. अर्यते स्म ऋ गतौ क्तः ऋतम्. समञ्जति संगच्छते अञ्चुगतौ क्विन्=सम्यक्''. इससे य॰ सिद्ध होता है कि ये चारों शब्द पर्याय हैं. पर अर्थोमें किञ्चिद् भेद अवश्य है.

वैदिक भाषामें यास्कने ''वषट् ऋत् सत्रा इत्था ऋत'' ये सत्यके पर्याय गिनाये हैं. ''सत्यनामानि उत्तराणि षट्'' (निरुक्त ३।३।१०) इन पर्यायोंमें भी किञ्चिद् भेद अवश्य है. प्रकृत निबन्धमें लेखकने 'सत्य' प्रयोगभेदोंको दिखाकर सत्य एवं प्रज्ञा का स्वरूप एवं परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है. 'सत्य' शब्दार्थ ब्रह्म है. ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' (तैत्ति.उप.२।१). सत्य ज्ञानरूप अपरिच्छिन्न होता है. वह ब्रह्म स्वेच्छयैव स्वसृष्ट पदार्थो मूतामूर्तोमें प्रविष्ट होकर मूर्त एवं अमूर्त हो गया. अतः यह जो कुछ है सत्य है. ''सोऽकामयत्... सत्यमित्याचक्षते'' (तैत्ति.उप.२।६).

लेखकके अनुसार ब्रह्म एवं तदभिन्न निमित्तोपादनक जगत् जो अहिकुण्डलवत् है, सत्य है. उन मूर्तामूर्त रूपोंका ''अथात आदेशो नेति नेति'' के द्वारा निराकरण नहीं है. ''नेति नेति''के द्वारा ब्रह्मकी प्रकृत एतावताका निषेध है. तस्मात्, ब्रह्म एवं तत्परिणामभूत् जगत् सत्य है. दोनोंकी सत्यता एक है.

अद्वैत मतके अनुसार सत्यता त्रिधा है. १. पारमार्थिकी २. व्यावहरिकी ३. प्रातिभासिकी. त्रिकालाबाध्यत्वरूप पहली, ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्वरूप दूसरी, प्रतिभासशरीरमात्रा तीसरी है. सत्यता केवल चिन्मात्र ब्रह्मनिष्ठा ही है. मूर्तामूर्त जड वर्गोमें चिन्मात्रब्रह्मनिष्ठ सत्यता ही भासित होती है. उसे ही व्यवहारापेक्षया व्यावहारिकी कहते हैं. प्रातिभासिकी सत्ता भी शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्य सत्ता ही है, अतिरिक्त नहीं है. एक ही सत्तारूप सत्य-ब्रह्ममें व्यावहारिक-प्रतिभासिक उपाधिवशात् सत्यतामें भेद माना जाता है. संक्षेपशारीरककारने भी स्पष्ट किया है ''आकाशादी सत्यता तावदेका प्रत्यङ्मात्रे सत्यता काचिदन्या'' (संक्षेपशा.१।१७८). अद्वैतवादमें अहिकुण्डलवद् भेदाभेदवाद सम्मत नहीं है. यहां अविकृत परिणामवाद नहीं है. अविकृत भी हो, परिणत भी हो यह बाधित है. सुवर्णकुण्डलमें भी कुण्डलात्मना अवस्थान्तर प्राप्तिरूप विकार है ही. रूपान्तरापत्ति ही विकार है, अवस्थान्तरापत्ति नहीं इसमें प्रमाण नहीं है. ''अथात आदेशो नेति-नेति''के द्वारा प्रकृत एतावत्त्व मूर्तामूर्तका ही प्रतिषेध है. ''अतएव ब्रवीति च भूयः''में सैन्धवधन दृष्टान्तद्वारा चिन्मात्र ब्रह्मस्वरूप निरूपित है. वदतोव्याघात दोषका लेश भी नहीं है. श्रुति ही निषेध करती है तो अद्वैती क्या करे. विरुद्धधर्माधिकरणत्व ब्रह्ममें माननेवाले वाल्लभोंको अद्वैतमें व्याघात कैसे दीख जाता है!

अस्तु यहां अद्वैत प्रतिपादनमें कोई आग्रह या तात्पर्य नहीं है. अहिकुण्डलवत् दृष्टान्तपर स्मृत बातोंकी उपेक्षा न कर हमने कह दिया. अविकृतपरिणामवादमें भी ब्रह्म ही सत्य है. अद्वैतमें भी ब्रह्म ही सत्य है. दोंनोको ब्रह्मकी सत्यतामें लेश मात्र भी सन्देह या विवाद नहीं है. अब रही जगत् सत्यताकी बात. जगत् श्रीहरिका स्वरूप है. स्वयमेव श्रीहरि जगत्रूपसे परिणत हुए

इस सिद्धान्तमें जगत् पारमार्थिक सत्य है. इसमें अद्वैतको कहां विरोध है. जब अद्वैतके अनुसार जगत् भगवत्परिणाम नहीं अपितु विवर्त है, भगवदारोपित मायाका परिणाम है तब तो जगत्की ब्रह्मातिरिक्त सत्यता मानना तथा ब्रह्मवत् पारमार्थिक सत्यता मानना न्यायसंगत नहीं है. पर प्रतीयमान जगत्की सत्यता क्या है इसपर अद्वैतमत कहता है कि वह ब्रह्मसत्यता ही है. जगद्गतत्वेन प्रतिभासित है. इस विवेचनसे तो यही सिद्ध होता है कि जगत्की सत्यता ब्रह्मसत्यता ही है. अतिरिक्त सत्यता नहीं है. जगद्गतत्वेन प्रतिभासित है. यह वाल्लभ एवं अद्वैत दोनों पक्षोंमे अनिराकृत है. जगत् परमेश्वरसे अतिरिक्त नहीं यह वाल्लभ-अद्वैती दोनों कहेंगे. पर जगत् ब्रह्मरूप है ऐसा वाल्लभ कह सकता है पर अद्वैती नहीं कह सकता है. वह कहेगा, जगत्का ब्रह्मसे भेद नहीं है. अर्थात् परमात्मसत्तातिरिक्तसत्ताकत्व जगत्में नहीं है. ''भेदं व्यासेधामो न च अभेदं ब्रूमः''. भला जड जगत्से अभेद कैसा? आखिर जड जगत् एवं तदभिन्ननिमित्तोपादान ब्रह्ममें अभेद मानने वालेको भी अहिकुण्डलवद् भेद भी कहना होगा; या तो यह कहना होगा कि जड जगत्में भगवान्के सदंशके अतिरिक्त होने पर भी चिदंश आनन्दाशं तिरोहित हैं. इस तरह स्वस्वसम्प्रदायकी मान्यता अनुसार स्वस्वमतवादोंका अभ्युपगम है.

प्रसङ्गान्तर होता जा रहा है. विद्वान् लेखक श्रीगोस्वामीजी सकल वेदान्तके धुरंधर पण्डित हैं. उनको सभी तथ्य विदित हैं. ब्रह्ममें जगत् अध्यारोप नहीं माना जाता है. ''तदैक्षत एकोऽहं बहुस्यामिति'' श्रुतिके अनुसार जगत् अविकृत श्रीहरिका परिणाम है ऐसा स्वसिद्धान्तके अनुसार सत्य पदार्थका निर्णय किया है. उनके इस स्तुत्य प्रयासकी जितनी प्रशंसा की जाय अल्प है.

११. नेचर एण्ड फन्क्शन ऑफ माइन्ड (वल्लभवेदान्तके अनुसार)

यह निबन्ध परिसंवाद गोष्ठीमें पठित है. यह शास्त्रीय निबन्ध विद्वद्हृदयावर्जक है. वाल्लभ मतमें माइण्डकी प्रकृति एवं विस्तार एवं स्वरूप क्या है इस पर विस्तृत विचार किया गया है. 'माइण्ड' अंग्रेजी शब्द है. विभिन्न

अर्थोंमें हिन्दीमें भी इसका प्रयोग चलता है. 'माइण्ड' दिमागका वाचक है. ''दिमाग फेल है'' ''दिमागसे काम लो'' ''दिल-दिमाग काम कर रहा है'' ''माइण्ड ठीक नहीं है'' ''हार्ट ठीकसे काम कर रहा है'' ये सभी प्रयोग हिन्दीमें चलते हैं. 'हर्ट' दिलका पर्याय एवं 'माइण्ड' दिमागका वाचक है. संस्कृतमें या वाल्लभ वेदान्तमें 'माइण्ड' अन्त:करणको कहते हैं. ''स्वान्तं दृन्मानसं मन:''के अनुसार हृदय मन: है. ''मन: अन्त:करण-मनोबुद्ध्यादिभेदेन चतुर्धा लक्ष्यते'' (सुबे.३।२६।१४). अत: 'माइण्ड' पदसे अन्त:करणका ग्रहण है. हृदय (मन) अन्त:करणका एक भाग है.

वाल्लभ मतमें नामरूपकर्मात्मक समस्त प्रपञ्च, एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्मके ''एकोऽहं बहुस्याम्'' इति बहुभवनसंकल्प सामर्थ्यसे तत्परिणामरूप माना जाता है. यह अविकृतपरिणाम कहा जाता है. जैसे कटक-कुण्डलादिरूपसे परिणाममान् सुवर्ण सुवर्णत्वेन अविकृत रहता है, आकृत्या च विभिन्न रूपमें परिदृश्यमान रहता है. वह आकृति सुवर्णसे वास्तविक तादात्म्यापन्न है. वाल्लभवेदान्तके तलान्त पाण्डित्य विभूषित श्रीगोस्वामीजीने बहुत ही स्पष्ट शब्दोंमें वाल्लभ सिद्धान्तोंको व्यक्त किया है.

सच्चिदानन्द ब्रह्मकी स्वरूप, कारण एवं कार्य रूप तीन कोटियां हैं. १. सर्वमूल स्वरूप कोटिके अन्तर्गत प्रथम ज्ञान-क्रियारूप धर्मद्वय विशिष्ट एक धर्मी परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण हैं.

२. दूसरी कोटि उसी परब्रह्मकी सत्ता-चेतना और अनन्तता रूप धर्म एवं धर्मी भूत 'अक्षरब्रह्म' नामक है. अक्षर ब्रह्मकी तीन अवान्तर कोटि स्वीकृत हैं: काल, कर्म और स्वभाव. कारणकोटिके अन्तर्गत अठ्ठाईस तत्त्व माने गये हैं: सत्त्वादिगुणत्रयसाम्यावस्था प्रकृति, पुरुष, महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चमहाभूत, दशेन्द्रिय एवं मन.

३. कार्यकोटिके अन्तर्गत जडवर्ग एवं जीववर्ग आते हैं. जड समष्टि-व्यष्टिरूपेण

द्विविध है. जीववर्ग भी समष्टि-व्यष्टि रूपेण द्विविध है.

इन तीनों कोटियोंके परिप्रेक्ष्यमें अन्त:करण (माइण्ड)की क्या स्थिति है. श्रीगोस्वामीजीने स्पष्ट किया है कि 'अन्त:करण' पदवाच्य तत्त्व, कारणकोटि प्रविष्ट पुरुषकी अंशभावापन्न व्यष्टि चेतनाके संघातरूपसे एक विशिष्ट चिदचिद्ग्रन्थिरूप पदार्थ है.

तात्पर्य है कि प्राणीके समस्त क्रियाकलापोंको निष्पन्न करनेवाला अन्त:करण तत्त्व है. वह पुरुषव्यष्टि चैतन्य तथा महदहंकार मनके व्यष्टिभावापन्न कार्यका संघात रूप है. इसलिए उसको चिदचिद्ग्रन्थिरूप कहा जाता है. पाञ्चभौतिक शरीरमें यह अन्त:करण महत्त्वपूर्ण तत्त्व है. तिरोहित चिदानन्दांश अतिरोहित सदंश ब्रह्म, मनः पर्यन्त उपादान परिणामभावको प्राप्त होता है. पुरुषके सान्निध्य होने पर उस जडरूपान्त:करणमें ब्रह्मके चिदंशरूप चैतन्य संक्रान्तिसे वह चेतनवत् व्यवहारोपपादक बनता है. प्रकृत निबन्धमें अन्त:करणके स्वरूपके अनन्तर उसके सभी क्रिया कलापोंकी वाल्लभमतानुसार तात्त्विक मीमांसाकी गयी है. प्रकृत निबन्धसे श्रीगोस्वामीजीके प्रगाढ पाण्डित्यका उत्कर्ष प्रकट होता है.

कार्यकारणभावमीमांसा (वाल्लभवेदान्त तथा बारूक स्पिनोजा मतका तुलनात्मक विमर्श):

''कार्यकारणभाव (विद्वत्परिचर्चा)'' यह ग्रन्थ श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, माण्डवी - कच्छसे प्रकाशित हुआ है. परिसंवादगोष्ठीमें विद्वानोंके द्वारा विविध दर्शनानुसार लिखित एवं पठित निबन्धोंका संग्रह एवं उनके उपर हुए गोष्ठी गत परिसंवादोंका संग्रह है. इसमें पूज्य गोस्वामीजीका उपर्युक्त शीर्षकवाला निबन्ध प्रकाशित है. साथ ही गोस्वामीजीका वाल्लभमतोपस्थान पूर्वक तत्सिद्धान्त तत्त्वदर्शनात्मक प्रारम्भिक वक्तव्य भी प्रकाशित हुआ है.

इस परिसंवाद गोष्ठीमें मैं भी उपस्थित था. सौभाग्यसे पूज्य श्रीगोस्वामीजीका वक्तव्य सुननेका अवसर मिला था. आपके प्रारम्भिक वक्तव्य एवं वाल्लभवेदान्त

तथा स्पिनोजा मतका तुलनात्मक विमर्श इन दोनों प्रबन्धोंका अतिशय महत्त्व है.

श्रीगोस्वामीजीके अनुसार दर्शनकी मुख्य प्रवृत्ति या सोपान त्रिधा प्रकट होते हैं: १. अनुभूति २. व्याख्या और ३. उत्प्रक्षा.

१. अनुभूति लौकिक-अलौकिक उभय विवक्षित है. २. व्याख्या भी दो तरहकी होती हैं: पदव्याख्या तथा पदार्थव्याख्या. ३. उत्प्रेक्षा प्रमाणमूलिका ही ग्राह्य है. यह सभी दर्शनोंमें स्वसिद्धान्तानुसार श्रौतानुग्राहक तर्कद्वारा सम्भव होती है.

कार्यकारण मीमांसामें श्रीगोस्वामीजीकी महत्त्वपूर्ण बात है कि श्रीमद्भागवतके अनुसार **''मार्गास्त्रयो मया प्रोक्ताः नृणां श्रेयो विधित्सया, ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योस्ति कर्हिचित्''** तीन साधन हैं: ज्ञान, कर्म और भक्ति. इनमें श्रीमद्भागवतके अनुसार ही **''निर्विण्णानां ज्ञानयोगः कर्मयोगस्तु कामिनां, न निर्विण्णो नाति सक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धदः''**. विरक्तचेता ज्ञानके, कामासक्त कर्मके तथा जो न विरक्त हैं न कामासक्त हैं वे भक्तियोगके अधिकारी हैं. इसमें ज्ञानयोग ब्रह्मका स्वरूपानुविधायी है. कर्मयोग ब्रह्मकी केवल लीलाका अनुविधायी है. भक्तियोग लीला एवं स्वरूप उभयानुविधायी है. बाल्लभ सम्मत कार्यकारण व्यवस्थाको भक्तिमार्गके दृष्टिकोणसे देखना चाहिये.

''विषयो भगवान् विषयता माया जन्येति न तत्र आसक्तिः कर्तव्या'' ''ब्रह्मरूपं जगद्ज्ञातव्यं ब्रह्म जगतोऽतिरिच्यतेति न तत्रासक्तिः कर्तव्याः'' इस महाप्रभुके वचनानुसार विषय भगवान् है, पर विषयमें आसक्ति नहीं करना चाहिए अपितु भगवान्में ही आसक्ति ठीक है. इसका क्या तात्पर्य है कि विषयोंमें भगवद्रूप तथा भगवद्बुद्धि करनेसे तथा विषयोंमेंसे विषयत्वभावके त्यागनेसे विषयविषयक आसक्ति भी भगवदासक्ति ही हो जाती है. अर्थात् सभी जगद्विषयको भी भगवद् तादात्म्यपन्न तत्सामर्थ्यसे वितत भगवल्लीलारूपमें देखना ही भक्ति है. दूसरी भाषामें कहें तो जगद्में भगवल्लीलात्वानुभूति हि भक्ति है. इसीको 'पुष्टि' कहते हैं.

इस निबन्धमें अविकृतपरिणामवादके उपर विस्तारसे विवेचन किया गया है. आरम्भवादादिकी आलोचनापूर्वक सत्कार्यवादकी व्यापक समीक्षा तथा आविर्भाव-तिरोभावका वास्तविक स्वरूप प्रकट किया गया है.

गोस्वामीजीकी शैली है कि वाल्लभवेदान्तके सिद्धान्तोंकी मीमांसा करते हुए केवलाद्वैत मतकी अग्राह्यता, अनुपपन्नता तथा अप्रामाण्यको भी प्रदर्शित करते चलते हैं. इससे अद्वैतियोंको थोडा कष्ट भले ही हो सकता है पर यह किसी व्याख्याकारका स्वभाव एवं धर्म है कि वह सम्बन्धित सभी पहलुओंपर विचार प्रस्तुत करे. इसमें रागद्वेषकी बात नहीं रहती है. प्रकृत वक्तव्यमें ''मृत्तिका इत्येव सत्यं'' तथा ''ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'' इन श्रौत वचनोंकी अद्‌भुत व्याख्या प्रस्तुत की गयी है. ''मृत्तिका इत्येव सत्यं'' का अर्थ है कि कौन नाम सत्य है, घटका मृद्‌विकार 'धट-शरावादि' नाम सत्य है अथवा 'मृत्तिका' नाम सत्य है. मृत्तिका नाम ही सत्य है, शेष वाचारम्भण है यह अर्थ वाल्लभ मतमें किया गया है.

श्रीगोस्वामीजीके अनुसार कार्य मिथ्या या सत्य है इसका विचार ही इस श्रुतिमें नहीं है. 'वाचारम्भण'का अर्थ है वाग्‌व्यवहार. भला वाग्‌व्यवहार मात्रसे मिथ्यात्व कैसे सिद्ध होगा! श्रीगोस्वामीजीके अनुसार श्रीभगवद्‌पादशङ्कराचार्यने 'मात्र'पदका अध्याहार कर 'वागालम्भनमात्रम्' मिथ्यात्वकी उपपत्ति की है. पर वहां 'मात्र' पदका अध्याहार अनावश्यक प्रतीत होता है.

इसी तरह ''ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यम् स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'' इस वाक्यमें 'तत्' पद आत्मवाची नहीं है अपितु ऐतदात्म्य वाची है. आत्मा त्वमसि नहीं है, अपितु ऐतदात्यं त्वमसि है. ''ऐतदात्म्य तुम हो'' कहने पर यहां अंशांशिका तादात्म्य कहा जा रहा है. इस तरह श्रीगोस्वामीजीने स्वसिद्धान्तमें उक्त श्रुतियोंका अर्थ किया है.

यहां भुमिकामें इन शास्त्रीय विषयोंपर शास्त्रार्थका कोई प्रसङ्ग नहीं

है. न तो श्रीगोस्वामीजी, जो सभी मतोंसे सद्भाव रखने वाले हैं; तथा सभी मतोंकी अच्छाइयोंके पारखी हैं, उनका किसी मत या व्याख्या पर आक्षेपमें तात्पर्य है. उपर्युक्त व्याख्या भी उक्त श्रुतियोंकी संगत है. किन्तु उपर्युक्त व्याख्या सुनकर मुझे कुछ विवक्षा अवश्य होती है जिसको मैं प्रकट करना चाहता हूं. श्रुतिवाक्य कल्पतरुकी तरह है. सभी वेदान्त उन्हीं श्रुतिवचनोको प्रमाणमानकर अपना सिद्धान्त स्थिर करता है.

''वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'' इत्यादि वचनोंका व्याख्यान प्रकृत उपनिषद् शाङ्करभाष्य एवं आरम्भणाधिकरण शाङ्करभाष्य में स्पष्टशब्दोंमें किया गया है. 'वागालम्भनमात्रम्' यह वाक्य उपनिषद्भाष्यमें है. यहां 'मात्र'पद तो स्वभावतो देय है, अध्याहारलभ्य नहीं है. ''मृत्तिकेत्येव सत्यं'' वाक्यमें 'एव'कार अवधाराणार्थक है. अवधारण इतरनिवृत्तिपूर्वक होता है. अन्ययोग व्यवच्छेदकार्थक एवकार है. यथा ''पार्थ एव धनुर्धरः'' यह पार्थातिरिक्तमें धनुर्धरत्वका व्यवच्छेदक वाक्य है. उसी तरह ''मृत्तिका इत्येव सत्यं'' घटशरावादि विकारमें सत्यत्वका व्यवच्छेदक वाक्य है. 'इति' पद घटशरावादि विकारोंमें अनुगत मृत्तिकाका उपस्थापक है. अर्थात् घट-शरावादिमें मृत्तिकाका अनुगमक है. ''घटो मृत्'' ''शरावो मृत्'' इत्यादि रूपेण. स्वतात्पर्य निकालनेकेलिए 'मात्र'पद अध्याहृत नहीं है.

वाल्लभ मत में भी ''तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः'' (२।१।७) सूत्रकी भावप्रकाशिकाब्रह्मसूत्रवृत्तिमें :

> ''अतो यो विकारस्तद्वाचारम्भणं यदारभ्यते तदारम्भणं कृत्यल्युटो बहुलमिति बाहुलकात् कर्मणि ल्युट्. कारणस्यैव नामधेयम्. कारणमेव हि तत्तदर्थक्रियासिद्ध्ययर्थं तेन-तेन नाम्ना व्यवह्रियते इति कारणाद्भिन्नं कार्यम्, नतु स्वेन रूपेण कारणाद् भिन्नम्. कारणरूपेणैव सत्यं न तु रूपान्तरेण''.

इस सन्दर्भ में भी ''कारणरूपेणैव सत्यं न तु रूपान्तरेण'' इसमें रूपान्तरमें सत्यत्वका वारण अवगत होता है. रूपान्तर घट शरावादिमें सत्यत्व

नहीं है यह अर्थ होता है. यह एवकारसे ही सम्भव है.

वाल्लभमतमें कार्यका मिथ्यात्व अभिप्रेत नहीं है. कार्यकारणमें अभेद = तादात्म्य अभिप्रेत है. कार्यकारणमें सर्वथा अभेद = ऐक्य मानने पर कार्यकारणभावानुपपत्ति होगी. 'अनन्यत्व'शब्दसे भेदका निषेध ही अवगत होता है, अभेद बोध नहीं. अन्यथा तदभेद यहीं कहा गया होता. शाङ्कर मतमें भेदका निषेध है, अभेद अभिप्रेत नहीं है. मिथ्यात्वावगम तो तत्त्वबोधात् प्राक् किसको है? शङ्करभाष्यमें ही प्रकृत सूत्रमें लिखा है: ''सर्वव्यवहाराणामेव प्राग् ब्रह्मात्मता विज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः, स्वप्नव्यवहारस्येव प्राक् प्रबोधात्''.

इसी तरह ''ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा'' वाक्यमें भी 'तत्'पद ऐतदात्म्यका बोधक है, वही सत्य है, वही आत्मा है. ''वही तुम हो'' यह अर्थ भी संगत नहीं लगता है. 'एतत्'पदसे प्रकृत सत् गृहीत है, एतत् सद् आत्मा यस्य तत् एतदात्मं सत्यभावः ऐतदात्म्यं सदात्मकता इत्यर्थः. सर्वमिदं प्रपञ्च जातं सद्ब्रह्मात्मकम्. 'तत्' पदसे भी वही प्रकृत सद् विवक्षित है. वही सत्य है. वही सद् एकमेवाद्वितीय आत्मा है. वही तुम हो. यही अर्थ संगत लगता है. अन्यथा सत्तादात्म्य आत्मा होगा. सम्बन्ध कैसे आत्मा हो सकता है. क्या श्वेतकेतु सदात्मा न होकर सत्तादात्म्य है? अंशांशिभाव मानने पर भी अंश आत्मा है न कि अंशाशिभाव आत्मा है. 'तत्' पद प्रकृत बुद्धिस्थका परामर्शक माना जाता है. प्रकृत बुद्धिस्थ तो वाक्यारम्भमें सद् है. न कि ऐतदात्म्य है. अस्तु स्व-स्व सम्प्रदायानुसार ही दार्शनिक समुदाय श्रुत्यर्थ करता है. स्वमत स्थापनसे इतरमतके आक्षेपसे तात्पर्य न होने पर भी उसका आलोचन हो ही जाता है.

इसी तरह तत्त्वमसिका भी अर्थ श्रीगोस्वामीजीने ''तदात्मकोऽसि ब्रह्मात्मकोऽसि'' किया है. यहां 'तत्' पदका तदात्मक अर्थ लक्षणा के बिना सम्पन्न नहीं हो सकता है. अतः 'तत्'पद उसी प्रकृत सत्का जो सत्य है, आत्मा है, बोधक है.

इसी वक्तव्यमें आगे आपने श्रीवल्लभाचार्यका वचन ''**अखण्डाद्वैतभाने तु सर्वं ब्रह्मैव नान्यथा, ज्ञानाद् विकल्पबुद्धिस्तु बाध्यते न स्वरूपतः**'' की व्याख्या की है : ''ब्रह्मात्मैक्यके ज्ञानसे विकल्पबुद्धिका बाध होता है, विकल्पबुद्धिगोचर वस्तुका बाध नहीं होता है. सुवर्ण ग्राहकको कंकण, कर्णाभरण आदि आभूषणोंकी विकल्पबुद्धि नहीं रह जाती है, केवल सुवर्णग्राहिका बुद्धि ही रहती है. परन्तु जिसको सुवर्ण चाहिए उसकेलिए आभूषण बाधित हों ऐसा वल्लभवेदान्त नहीं मानता है''.

यहां थोडा सा विवेचनीय अवश्य लगता है. विकल्प बुद्धि क्या है. ''शब्दज्ञानानुपातीवस्तुशून्योविकल्पः'' इस योगसूत्रके अनुसार विकल्पाख्या वृत्ति शब्दज्ञानानुपातिनी तथा वस्तुविषयसे शून्य होती है. ''राहोः शिरः'' आदि विकल्पबुद्धि है. राहु ही शिर है. यहां जो षष्ठ्यर्थ भेदबुद्धि है वह ''राहोः शिरः''वाक्य घटक ङस् विभक्तिरूप शब्दज्ञानानुपातिनी है तथा विषयवस्तुभेदसे शून्य है. इसी तरह ''पुरुषस्य चैतन्यम्'' इत्यादि बुद्धियां विकल्पबुद्धि कहलाती है. ऐसी दशामें विकल्पबुद्धिका विषय नहीं रहता है. विषयशून्यबुद्धि ही विकल्पबुद्धि है. ''राहोः शिरः''में राहु एवं शिर के ऐक्यज्ञानसे विकल्पबुद्धि बाधित हुई तो उसका कौनसा विषय शेष रह गया जिसका बाध नहीं हुआ. विषयशून्यतामें ही तो विकल्पबुद्धि हुई थी.

प्रकृतमें ब्रह्मात्मैक्यज्ञानसे किस विकल्पबुद्धिका बाध हुआ? ब्रह्म और आत्माके भेदबुद्धिका. यदि विकल्पबुद्धि मात्रका बाध हो तो दोनोंका भेद तो रह ही गया. दोनोंका भेद सत्य ही रहता तो भेदविषयक बुद्धि विकल्पबुद्धि कैसे होती?

सुवर्ण और कंकण में भी सुवर्णसे कंकणादिविकार भिन्न हैं ऐसी विकल्पबुद्धि है. कार्यकारणाभेद बुद्धिसे भेदबुद्धि मात्रकी निवृत्ति हो गयी तो कार्यकारणका भेद तो रह ही गया. ऐसी स्थितिमें कार्यकारणका सत्यभेद मानना होगा जो वाल्लभमतमें भी नहीं माना जाना चाहिए. तस्मात् मेरे

मतसे विकल्पबुद्धि मात्रके बाधसे ही तद्विषयक बाध अवश्य हो जात है क्योंकि तद् बुद्धिमात्रसे विषय प्रतीत होता है. वह बुद्धि तो विषयशून्य ही है. वह बुद्धि तो शब्दज्ञानानुपातिनी थी. अतः विकारबुद्धि यदि विकल्पबुद्धि है, सुवर्णैक्य बुद्धिसे उसका बाध होता है तो विषयकी स्थिति कहांसे होगी.

आगे वाल्लभवेदान्त मर्मज्ञ श्रीस्वामीजीने कितना अनूठा एवं हृदयग्राही तथ्य प्रकट किया है कि—लीलानूभूति ही मोक्ष है. लीलामें प्रकट विषयोंकी अनुभूति मोक्ष नहीं है. प्रकट विषयोंमें भगवल्लीला अनुभूति मोक्ष ही नहीं अपितु मोक्षादपि अधिक है'' ये सभी सन्दर्भ विद्वद्ग्राह्य हैं. इस वक्तव्य प्रबन्धमें श्रीगोस्वामीजीका विचारवैशारद्य, एवं विचारगभीरताका अतिशय प्रकट होता है.

इसी तरह ''वाल्लभमतसे स्पिनोजाके मतके तुलनात्मक विमर्श'' नामक निबन्धके अध्ययनसे भी अधिक नवीन ज्ञान राशि प्रकटित होती है. यह निबन्ध कार्यकारणभाव विद्वत्परिचर्चा ग्रन्थमें प्रकाशित हुआ है. यही नहीं उनके पूर्वोक्त वक्तव्यो पर एवं इस निबन्ध पर भी हुए विद्वानोंके परिसंवाद (आक्षेप समाधान) भी प्रकाशित हैं. अपने वक्तव्यों एवं निबन्ध पर किये गये विद्वानोंके आक्षेपोंका पूज्य गोस्वामीजीने प्रमाणसहित उत्तर दिया है. यह सभी परिसंवाद विद्वानोंद्वारा द्रष्टव्य हैं. उक्त निबन्धमें वाल्लभवेदान्त सम्मत ब्रह्मवाद, विरुद्धधर्माश्रयतावाद, अभिन्ननिमित्तोपादनतावाद, अविकृतपरिणाम-वाद, सत्कारणतावाद, सत्कार्यवाद, कार्यकारणतादात्म्यवाद, अंशांशितादात्म्यवाद, आविर्भावतिरोभाववाद, लीलार्थसृष्टिवाद आदि सभी तत्त्वोंका औपनिषद्वाक्योंद्वारा प्रतिपादन कर उनका स्पिनोजाके सिद्धान्तोंसे समन्वय किया है. श्रीगोस्वामीजीका भाव है कि स्पिनोजाका सिद्धान्त वाल्लभवेदान्तानुसारी है.

यह निबन्ध प्राच्य-प्रतीच्योभयविध दार्शनिकों द्वारा ध्येय है. यही क्यों श्रीगोस्वामीजीके सभी निबन्ध एवं उनके सम्पादकीय लेख ये सभी दर्शनके भण्डारकेलिए अनुपम रत्न हैं.

धर्म दर्शन विज्ञान और कला में रसदृष्टिका पक्ष :

यह आलेख बृहत्काय सारगर्भित है. ''रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्धा आनन्दी भवति'' इस श्रौतवचनसे परमात्मा रसरूप है. रस्यते आस्वाद्यते इति रसः. आस्वाद भोग है, भोग साक्षात्कार है. अर्थात् आनन्दरूप परमात्माका साक्षात्कार आस्वाद है. विद्वान् लेखक श्रीगोस्वामीजीने धर्मादिमें रसदृष्टिका पक्ष प्रकृत प्रबन्धमें प्रतिपादित किया है.

सर्वप्रथम सहज भाषामें धर्मादिकी परिभाषा की गयी है: १. स्थूलके भीतर रहने वाले सूक्ष्मको जाननेकेलिए मानवबुद्धिमें चलते मन्थन (विचार) 'दर्शन' या 'तत्त्वज्ञान' कहलाता है. २. सूक्ष्मज्ञानान्तर सूक्ष्मबुद्धिसांचेमें स्थूलको ढालनेका मन्थन (विचार) 'विज्ञान' कहलाता है. ३. स्थूलान्तर्वर्ती सूक्ष्मकी अनुभूति प्राप्तिकेलिए हृदयकी चहल-पहल धर्म है. ४. सूक्ष्मानुभूतिजन्य अव्यक्त आनन्दको व्यक्त करनेकेलिए हृदयावर्जक सांचेमें स्थूलको ढालनेका व्यापार कला है. इस तरह इन चारोंकी परिभाषाएं की गयी हैं.

तथा, दर्शन सूक्ष्मद्रष्टा प्रकट करना चाहता है. धर्म सूक्ष्मान्तर्गत आनन्द ग्रहीता द्रष्टा प्रकट करना चाहता है. विज्ञान सूक्ष्म बुद्धिके सांचेमें स्थूलको गढने वाला स्रष्टा प्रकट करना चाहता है. कला हृदय सांचेमें स्थूलको गढनेवाला स्रष्टा प्रकट करना चाहती है. इस तरह विद्वान् लेखकने चारोंका विभेद प्रतिपादित किया है. यह विभेद एवं परिभाषाएं लेखककी लोकोत्तर प्रतिभाका परिचायक है.

यह स्थूल सूक्ष्म क्या है इस जिज्ञासा पर श्रीगोस्वामीजीने ''द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चामूर्तञ्च मर्त्यञ्चामर्त्यञ्च स्थितञ्च यच्च सच्च त्यच्च'' (बृहदा.उप.२।३।१) मूर्तत्वामूर्तत्वरूप स्थूलसूक्ष्मत्वादि विरोधिधर्मोंका अधिकरण ब्रह्म ही है. उसीमें सर्वविरोधिधर्म प्रकट हुए हैं.

तो क्या दोनों ही सत्य हैं या इनमेंसे एक मिथ्या है. इस पर

गोस्वामीजीने ''अथात आदेशो नेति-नेति'' श्रौतवाक्यका संचार कर लिखा है कि उक्त दोनों विरोधी धर्मोमेंसे किसीका भी निषेध अभिप्रेत नहीं है. ''न इति, न इति'' इसके द्वारा केवल मूर्त ब्रह्म है या केवल अमूर्त ब्रह्म है इन दोनों बातोंका निषेध होता है. सत् व्यक्त एवं त्यत् अव्यक्त है. इन दोनोंको मिलाकर सत्य प्रकट होता है. सत् + त्यत् = सत्य.

इस तरह हम देखते है कि मूर्तामूर्त अमृतमर्त्यादि विरोधिधर्मोको एक-दूसरेमें जान लेनेकेलिए विचार ही समग्र सत्यताकी खोज है. उसीको धर्म दर्शन कला एवं विज्ञान विभिन्न रूपसे प्रदर्शित करते हैं. एवं विध मूर्तत्वामूर्तविरोधिधर्माधिकरण सत्य ब्रह्मकी अवगतिके विना अर्थात् मूर्तामूर्तरूप समग्र ब्रह्मकी अनुभूतिके विना दर्शन विज्ञान धर्म और कला में रस प्रकट नहीं होता है. इसका तात्पर्य है कि वह ब्रह्म ही रस है. उसीको प्राप्त कर आनन्दवान् हुआ जा सकता है. एसके ज्ञानके विना दर्शन कला आदि फीके हैं. रसरूप परमात्माका अनुभव न तो केवल अद्वैतमें न तो केवल द्वैतमें सम्भव है, अपितु ब्रह्मकी मूर्तामूर्त समग्र रूपसे अनुभूतिमें सम्भव है. यह समग्रताकी अनुभूति वाल्लभमतमें सम्भव हो सकती है.

धर्ममें रस दृष्टि :

''यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'' यह धर्मका लक्षण है. लोकसौख्य तत्साधन प्राप्ति अभ्युदय है. परमार्थभगवत्त्वप्राप्ति निःश्रेयस है. ''एक आत्मा बहुधा स्तूयते एकस्यात्मनो अन्ये देवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति...'' (निघ.नि.७।१।४) इस यास्क वचनके अनुसार नामरूपात्मक द्वैतके भीतर एक सर्वनामा सर्वरूप सर्वकर्मा परमात्माके अद्वैतको मान्य करना ही धर्ममें रसदृष्टि है. रसदृष्टिका अर्थ समग्र परमात्मदृष्टि है. न केवल ऐकान्तिक द्वैत न तो केवल ऐकान्तिक अद्वैत में परमात्माका समग्र रूप सम्भव है.

परमात्माके ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, आनन्द, अनुग्रह आदि सूक्ष्मरूपेण प्रत्येक स्थूलमें विद्यमान हैं. यह तथ्य शास्त्रोंके समीचीन अध्ययनसे अतिरोहित हैं.

दर्शनमें रसदृष्टि :

उपनिषदोंका दर्शन, द्वैत, अद्वैत दोनोंको पारमार्थिक मानकर प्रवृत्त है. आज वैसा नहीं है. हमारा तत्त्वचिन्तन एकाङ्गी हो गया है. सकल द्वैतको मिथ्या मानना भयंकर है. वेदप्रतिपादित विधिनिषेध साधन सामग्री आदिसे पलायनवादका आरम्भ होने लगता है. अतः अति अद्वैतवादकी निष्ठा विश्वस्तरपर विफल है. यह वाद धर्म, अराध्यदेव, साधनाप्रणाली आदिमें निष्ठाका घातक है. ऐसी अद्वैतवादमें तो रसदृष्टि क्या हो सकती है. उसी तरह केवल द्वैतवाद भी विवादका मूल है. उपनिषदोंका चिन्तन द्वैतको मिथ्या मानकर अद्वैतको पुरस्कृत करनेका नहीं था. सर्वानुगत एक तत्त्व अद्वैतको छोडकर द्वैतमात्रकी अवधारणा भी औपनिषद नहीं थी. केवल द्वैत या अद्वैत अर्धसत्य हैं.

उपनिषदोंकी दृढभावना यह है कि एक ही ब्रह्ममें अनेकविध विरोधाभासी गुण रहते हैं. ''अजायमानो बहुधा विजायते'' ''अणोरणीयान् महतो महीयान्'' इत्यादि वचन उदाहरण हैं. अतः अपरिसंख्येय विविध विरोधाभासी रूपोंका विशिष्ट संयोजन ब्रह्म है. तद्दृष्टि ही रसदृष्टि है. सरस रामलीला, कृष्णलीला आदिका द्रष्टा यदि केवलाद्वैतवादी है; जो लीलाको मिथ्या कहता है उसे उसमें रसानुभूति नहीं होगी केवल रसाभास होगा. वहां वह लीलाराम न बनकर आत्माराम बनना चाहता है. परिणाम यह होता है कि न वह आत्माराम बन सकता है न तो लीलाराम ही क्योंकि लीला मिथ्या ही है और आत्मामें एकाकी रमण हो ही नहीं सकता है.

तथ्य तो यह है कि स्वयं अद्वैतस्वरूप परमात्माने अद्वैत निजानन्दसिन्धुमें नामरूपात्मक द्वैतकी अनेक अनन्त परमानन्दरूप लहरें प्रकट की हैं. वही उसकी लीला है. इस उद्भुत लीलामें द्रष्टा जब तादात्म्यभावस्थापित करता है तो वास्तविक रसानुभूति होती है. उपनिषदोंने जड एवं चेतन रूप सृष्टि और आनन्दरूप परमात्मामें अबाधित घनिष्ठ तादात्म्य दिखाया है — ''ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'' (छान्दो.उप.६।८।६).

अर्थात् यह सब कुछ एतदात्मक है. वह आत्मा है. और तुम भी वही एतदात्मक हो. ''अहं ब्रह्मास्मि'' इस साधनावाक्यका भी तात्पर्य अहंकारात्मक जीवात्माके अद्वैतमें न होकर जीवात्मा परमात्माके बीच तादात्म्य परक ही है. तादात्म्य भेदाभेद घटित है.

विज्ञानमें रसदृष्टि :

श्रीगोस्वामीजीका प्रकृत प्रबन्ध विशाल है. यह अपने आपमें एक सुसम्बद्ध ग्रन्थ है. इसका आशय निकाल पाना हमारे जैसे अल्पमतिसे अशक्य है. फिर भी विस्तृत गगनमें पक्षी स्वपक्षवलभर उडान भरता ही है. मैं कुछ वैसा ही प्रयास करता हूं.

विज्ञान अर्थविशिष्ट ज्ञान है. ज्ञानसामान्य ज्ञानका वाचक है. ज्ञानमें जब 'वि' उपसर्गका योग होता है तो वह विशिष्ट ज्ञान कहलाता है. विशिष्ट ज्ञानका अर्थ है कि निश्चित रीतिसे किये गये परीक्षण या निरीक्षण के बाद विशिष्ट निष्कर्ष. उसको सत्य है या मिथ्या इससे तटस्थ होना चाहिए. सत्यासत्यका निष्कर्ष निकालना दर्शनका काम है. पर दर्शनको भी परीक्षण द्वारा निकाले गये वैज्ञानिक निष्कर्षोंका ध्यान अवश्य होना चाहिए.

वैज्ञानिक परीक्षण वस्तुओंकी संश्लेषण - विश्लेषणकी प्रक्रिया है. उसके बिना वस्तुओंके गुणधर्मका ज्ञान अशक्य है. उदाहरणार्थ शरीरकी रचनाके ज्ञानके बिना चीरफाड नहीं हो सकती है. पर उस ज्ञानका उपयोग प्राणीके उपकारमें करना उपयुक्त है. न कि क्रूर हिंसामें.

रसनिष्पत्तिमें साधारणीकरणकी महत्ता अधिक है. साधारणीकरणका तात्पर्य आत्मतुल्य बुद्धि है. सम्प्रति विज्ञान इस साधारणीकरणबुद्धिको दबाता सा प्रकट होता है.

भारतीय दर्शन तो रसदृष्टिको विकसित करनेकेलिए जगतके कण - कणमें

साधारणीकरणका उपदेश देता है. ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'' (छान्दो.उप.३।१४।१). सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि आत्मबुद्धि रखने पर हिंसाका कोई स्थान नहीं है. अपने धर्मने भी सर्वत्र हिंसाके निवारक साधारणीकरण या सर्वत्र आत्मदृष्टि केलिए पूजनीय देवी-देवताओंके वाहनके रूपमें विविध पशुओंको निर्धारित किया है. यहां तक कि निष्प्रयोजन पत्र-पुष्पादिको तोडने पर भी सुबोधिनीकार महाप्रभु वल्लभाचार्यने अल्पीयसी हिंसा मानी है ''अल्पीयसी हिंसा'' (सु. ३।१९।१५).

दर्शन तो सभी प्राणियोंमें आत्मास्तित्वको बताता है. पर आधुनिक *सर्जनको* शरीरकी चीरफाड करने पर आत्मा उपलब्ध नहीं होती है. अत: वह अनात्मवादी बनना चाहता है. इसी तरह आधुनिक ब्रह्माण्डविज्ञान भी ब्रह्माण्डमें कहीं भी ईश्वरकी उपलब्धि न होनेसे अनीश्वरवादी बनना चाहता है.

तो क्या ऐसे वैज्ञानिक विश्लेषणसे किसी शास्त्रको असत्य माना जा सकता है जिसमें आत्मा और ईश्वर की सत्ता सर्वत्र बतायी गयी है?

ब्रह्माण्डविज्ञानकी सूक्ष्म समष्टिको भगवद्गीता एवं भागवतपुराण में 'अक्षरब्रह्म' कहा गया है. एक अक्षरब्रह्ममें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड माने गये हैं. जिनका विश्लेषण आधुनिक ब्रह्माण्डमें अभी नहीं हो सका है. श्रौत शास्त्रोंमें जो ''मूर्तञ्चामूर्तञ्च''से रसदृष्टि प्रतिपादित है उस दृष्टिकी आज विज्ञानको अत्यन्त अपेक्षा है. उसके बिना विज्ञानमें रसानुभूति असम्भव है.

कलामें रसदृष्टि :

हृदयके सुन्दर सांचेमें सूक्ष्म या स्थूल को ढालने वाले स्रष्टाको कलाकार कहते हैं. यह गोस्वामीजीकी कलाकारकी परिभाषा वस्तुत: कलात्मक है. जगतका प्रभाव एक कलाकारके संवेदनशील हृदयमें जैसा होता है वैसा संवेदनशून्य मानवके हृदयमें नहीं पडता है. साहित्य शास्त्रके अनुसार कलानन्दानुभूति सहृदय हृदयको ही होती है. अन्यको नहीं. अन्य तो नाट्याभिनयशालामें

खम्भे-दिवारकी तरह संवेदना शून्य होते हैं.

चित्र, मूर्त्ति, काव्य, नृत्य, अभिनय, वाद्य आदि कलाएं हैं. कम् = आनन्दं सद्यः लाति प्रापयति इति कला. जो आनन्दको सद्यः प्राप्त कराये वह कला है.

कला सोद्देश्य है कि निरुद्देश्य है? इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीगोस्वामीजीका सुन्दर उत्तर है ''—वेदान्तके अनुसार यह सृष्टि एक परमेश्वरकी कला है. उसको सोद्देश्य या निरूद्देश्य नहीं कहा जा सकता है. वह तो आनन्दरूप परमात्माकी लीला है. यह सृष्टिकाव्यको कविपरमेश्वरने लीलाके रूपमें प्रकट किया है: ''पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति''.

कला केवल अनुकृति नहीं है अपितु नूतन सृजन् है. कवि भारतीके विषयमें जगत् प्रसिद्ध रसशास्त्र एवं ध्वनिशास्त्र के मर्मज्ञ श्रीमम्मटने काव्यप्रकाश ग्रन्थके मङ्गलाचरणमें अद्भुत बात कही है. ब्रह्माकी सृष्टिसे कवि भारती विलक्षण है. ब्रह्म सृष्टि नियतिकृत नियमसे रहित है, नियति प्रकृति है. उसका नियम पूर्व-पूर्वकल्पानुसारि स्वरूप, देश, काल, फल आश्रय से नियन्त्रित है. किन्तु कविकृति इससे रहित स्वतन्त्र है. करूणादि रस यद्यपि शोकादिस्थायिभाव हैं, पर काव्यमें वर्णित विभावादिसे वे भी आनन्ददायक होते हैं. इसको मम्मटाचार्यने स्वग्रन्थमें स्पष्ट किया है. श्रीगोस्वामीजीने भी प्रकृत निबन्धमें विस्तारसे इसका वर्णन किया है. ब्रह्मकी सृष्टिमें मधुरादि षड् ही रस हैं, वे भी रुचिर ही हैं, ऐसा नहीं है पर कवि भारती शृङ्गारादि नव रसोंसे रुचिर ही है. इस प्रकार व्यङ्ग्यभूत व्यतिरेकालङ्कारसे श्रीमम्मटने कविभारतीकी महत्ता तथा उसके सर्वोत्कर्षका वर्णन किया है. पूज्य श्रीगोस्वामीजीने नवरसोंके रुचिरत्वका विस्तारसे व्याख्यान किया है.

रस क्या है? इसका शास्त्रीय विवेचन, भरत नाट्यशास्त्रके ''विभावानुभावसंचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः'' इस पंक्तिको उद्धृत करते हुए

श्रीगोस्वामीजीने सुन्दर ढंगसे किया है. विभाव आलम्बन और उद्दीपन को कहते हैं. ''विभावयन्ति रत्यादीन् स्थायिभावान् आस्वादयोग्यतोन्मुखताम् आपादयन्तीति विभावाः''. अर्थात् सहृदयमनुष्यके अन्तःकरणमें आनन्दके अङ्कुरस्वरूप रति-हासादि स्थायिभाव विद्यमान रहते हैं. विभाव (आलम्बन एवं उद्दीपन) उसे आस्वादकी योग्यताकी और उन्मुख करते हैं.

आलम्बन नायक-नायिका है उद्दीपन नदी, समुद्र उद्यानादिका वर्णन है.

''अनुभावयन्ति रत्यादीन् स्थायिभावान् आस्वादयोग्यतामाधिक्येन आपादयन्ति ये ते अनुभावाः''. वे शुद्धसात्त्विकभाव शब्दसे भी कहे जाते हैं. स्वेद, रोमाञ्च, वैवर्ण्य, वेपथु आदि आठ अनुभाव गिनाये गये हैं.

''सञ्चारयन्ति रत्यादीन् स्थायिभावान् सामाजिकेषु सहृदयेषु पूर्णतया आस्वादयन्ति ये ते सञ्चारिभावाः''. श्रम, मद, जडता आदि तैंतिस संचारी भाव गिनाये गये हैं. काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थोमें इसका वर्णन विस्तारसे स्पष्टतया किया गया है. श्रीगोस्वामीजीने भी प्रकृत निबन्धमें इसकी विस्तारसे चर्चाकी है. यह निबन्ध सहृदयोंकेलिए अवश्य ही पठनीय है.

''**विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा, रसतामेति रत्यादिस्थायीभावः सचेतसाम्**''. भारत नाट्यसूत्रमें विभावानुभावसंयोगाद् रसनिष्पत्तिमें संयोगके कई विद्वानोंने अनेक अर्थ किये हैं. पर आचार्य अभिनवगुप्तमतानुयायी आचार्य श्रीमम्मटने संयोगका व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव अर्थ किया है. अर्थात् विभावादि व्यञ्जक हैं. सहृदय सामाजिकोंके अन्तःकरण (मन)में अवस्थित रत्यादि स्थायिभाव रसरूपेणाभिव्यङ्ग्य हैं. स्थायिभाव जब व्यक्त होता है तो रसता (आस्वाद्यता)को प्राप्त होता है. केवल रत्यादि आस्वादयोग्य नहीं हैं. साधारणीकृत विभावादिसे वह आस्वादयोग्य होता है. आस्वाद भोगको कहते हैं. भोग साक्षात्कार है.

लोकमें प्रसिद्ध कारण-कार्य जब काव्यकलामें वर्णित होते हैं तो उन्हे विभाव और अनुभाव कहा जाता है. रस भी अलौकिक आनन्द नहीं है अपितु काव्यगत विभावादिके द्वारा शब्दके माध्यमसे अभिव्यक्त आनन्द विशेषको ही रस कहते हैं. इस प्रसङ्गको विद्वान् लेखक श्रीगोस्वामीजीने अपनी यशस्वी लेखनीद्वारा अद्भुत् ढंगसे व्यक्त किया है.

लेखकका यह भी विचार है कि जैसे उपनिषद्में रसरूप ब्रह्मके विषयमें विरुद्धधर्माश्रयता वर्णित है. वैसे ही रसशास्त्रमें भी रसनिष्पत्तिमें भी विरुद्धधर्म विभावादि धर्माश्रयता वर्णित है. अभिनय (प्रकृतानुसार) चार प्रकारके वर्णित हैं: कायिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य.

नाटकमें रामादिके रूपमें मञ्चस्थ कुशल नटको देखकर कौनसी बुद्धि होती है, जिससे लज्जादिके परिहारपूर्वक सहृदय सामाजिकको रससाक्षात्कार होता है, इस पर विद्वान् लेखकने काव्य प्रकाशकारकी पंक्तिका उद्धरण दिया है **''रामएवायम्, अयमेव रामः इति, 'न रामोऽयम्' इत्यौत्तरकालिके बाधे 'रामोऽयम्' इति, रामः स्याद् वा न वाऽयम्''** इति, **'रामसदृशोऽयम्' इति च सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन 'रामोऽयमि'ति प्रतिपत्या''**. अर्थात् ''यह राम ही है'' इस प्रमात्मक बुद्धिसे विलक्षण, ''न रामोऽयम्'' इस प्रकारकी बुद्धिके उत्तर कालमें बाधित होने पर ''अयमेव रामः'' इस विपर्यय (भ्रम) बुद्धिसे भी विलक्षण, ''रामः स्याद् वा न वा'' इस प्रकारकी एकधर्मिक विरुद्धनानाकोटिकज्ञानरूप संशयसे भी विलक्षण, ''रामसदृशोऽयम्'' इत्याकारक सादृश्यबुद्धिसे भी विलक्षण ''रामोऽयम्'' इत्याकारक प्रतीति होती है. यह प्रतीति उक्त सभी बुद्धियोंकी कोटिमें नहीं है. चित्रलिखित अश्वको देखने पर जैसी बुद्धि होती है वैसी ही प्रतीति यहां अपेक्षित है.

इस काव्यप्रकाशकी पंक्ति पर विद्वान् टीकाकारोने बहुत विवेचन किया है. यहां विस्तारसे वर्णन अनावश्यक प्रतीत होता है.

विद्वान् लेखकने रसराज भगवान् शङ्करके स्वरूपमें नवरसोंकी अभिव्यक्तिका सुन्दर वर्णन उपस्थित किया है. तथा नटवर श्रीकृष्णके कंससभाभवनमें उपस्थित होने पर कैसे नवरसोंकी अभिव्यक्ति होती है इसका भी मार्मिक वर्णन किया है. यह सब सहृदय विद्वानोंके द्वारा हृदयेन संग्राह्य है.

नाट्योंमें शृङ्गारादि आठ रस उपयुक्त है. श्रव्य काव्योंमें शांतको मिलाकर नवरस होते हैं. श्रीमहाप्रभु वल्लभाचार्यने भक्तिको भी रसरूपमें वर्णित किया है. उसका विस्तारसे वर्णन प्रकृत प्रबन्ध लेखक श्रीगोस्वामीजीने किया है.

पूज्य श्रीकरपात्रीजी महाराजने भी भक्तिको रस माना है. 'भक्तिरसार्णव' नामक स्वग्रन्थमें उन्होंने इसका साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है. प्रकृत निबन्धमें 'भक्तिरसत्ववाद' ग्रन्थकी पंक्तिका उद्धरण देकर भक्तिरसको भी सिद्ध किया गया है. काव्यप्रकाशादि ग्रन्थोंमें ''देवादिविषयारतिर्भावः'' के अनुसार देवादिविषयक रतिको 'भाव' शब्दसे कहा गया है. भक्तिको रस रूपमें मान्यता नहीं है. अथवा शृङ्गार रसमें ही भक्तिका अन्तर्भाव हो सकता है. पर यह युक्तिसंगत एवं अनुभव गम्य नहीं प्रतीत होता है. अतः भक्तिरस भी एक शृङ्गारादि रसोंसे पृथक् है.

''उपनिषद् ब्रह्मको रस कहता है ''रसो वै सः''. अतः भक्ति एक ऐसी कला है जिससे ब्रह्म रसरूपेण आविर्भूत होता है'' यह पूज्य गोस्वामीजीकी पंक्ति है. इसका साथ ही मैं पूज्यचरण सर्वशास्त्रपारङ्गत विद्वान्, विशेषतः वाल्लभवेदान्ततत्त्वनिष्ठ, परमभक्त, कृपालु मैत्री मुदिता करूणोपेक्षा वृत्तिसे रहते हुए, रागद्वेषादि वृत्तियोंको परित्याग करने वाले समस्त जगतमें श्रीहरिलीलानुभावक श्रीगोस्वामी श्याममनोहरजीके चरणकमलोंमें शतशः नमन करता हूं.

विद्वत् समाज उनके प्रबन्धोंसे लाभान्वित एवं गौरवान्वित है. विद्वत् समाजको उनकी इस तरहकी उत्कृष्ट कृतियोंकी महती अपेक्षा है. यह निबन्ध संग्रह लोकोपकारी एवं विद्वत् समाजका कल्याणकारी होगा ऐसी

मैं कामना करते हुए मैं पूज्य श्रीगोस्वामी श्याममनोहरजीके चरणों कमलोंमें वाक्यपुष्पाञ्जलि समर्पित करता हूं.

विद्वच्चक्रशिरोमणिं श्रुतिवचोव्याख्यानदक्षं सदा
शुद्धाद्वैतमतिं विशुद्धहृदयं लोकोपकारे रतम्।
गोस्वामिप्रमुखं प्रसन्नवदनं ब्राह्मश्रिया सम्भृतम्।
वन्दे श्यामनोहरं बुधवरं श्रीकृष्णपादानुगम्॥१॥
ज्ञात्वा शास्त्रमतं निजप्रतिभया प्राच्यप्रतीच्योभयम्।
येनालोच्य भृशं प्रमाणपटुना गोस्वामिवर्येण तम्
श्रौतं वाल्लभदर्शनं शिवतरं नान्यत् परं निश्चितम्।
वन्दे वल्लभवंशभूषणमहं श्रीश्यामनिष्ठापरम्॥२॥
न द्वैतं न च शाङ्करं श्रुतिमताद्वैतं न बौद्धादिकम्।
शुद्धं ब्रह्म हरिः समं जगदिदं तत् सत्यलीला स्वयम्।
लीलात्वप्रतिपत्तिरत्र यदि सा प्रेष्ठा च मोक्षादपि
पुष्टिः साधनमुत्तमं ह्यभिमतं यस्यानतः तं सदा॥३॥
शुद्धाद्वैतहरिः स्वयं परिणतः लीलापटुः स्वेच्छया
नानारूपतया तथाप्यविकृतः शक्तिश्रिया संयुतः
धर्माणां स विरोधिनां च जगतामाधारभूतः परः
प्रेष्ठो यस्य तदीय पुण्यचरणौ वन्द्यौ समस्तै र्जनैः॥४॥

धृततिलकललाटः शुभ्रवस्त्रोपवीतः
स्मितमुखसुविशालप्रासरद्ब्राह्मतेजाः।
वरतिलक इवासौ शारदाभाललग्नः।
जयति जगति विद्यामूर्त्ति गोस्वामिवर्यः॥५॥

वैज्ञानिके साम्प्रतिके मतेऽपि
समन्वयं बाल्लभदर्शनस्य
युक्त्या प्रकृर्वन् श्रुतिवाक्यजातैः।
आचार्यवर्यो भगवत् प्रतिष्ठः॥६॥

पदे प्रमाणे गहने हि वाक्ये
समेऽपि शास्त्रेऽप्रतिरुद्धबुद्धिः।
तत्त्वं विचिन्वन् सुतलप्रतिष्ठः।
जयत्ययं श्रीप्रतिभाविशेषः॥७॥

श्रीशरद् गोस्वामीजीके चरणकमलोंमें शतशः प्रणाम है जिन्होंने मुझे इस पुण्यमय ज्ञानमय कार्य करनेका अवसर प्रदान किया. आप सकृत् दर्शनसे ही चिरपरिचित लगते हैं. अपने सद्व्यवहार एवं मधुरवाणीसे सर्वजनचित्तावर्जक हैं. इनकी आचार्य गोस्वामी श्रीश्याममनोहरजीमें महती श्रद्धा, आस्था, विश्वास एवं आदरका भाव रहता है. इन दोनों विभूतियोंके योगसे वाल्लभवेदान्तशास्त्रका व्याख्यानसे, गोष्ठीसे, ग्रन्थप्रणयनसे, ग्रन्थप्रकाशनसे, ग्रन्थोंके पाठसंशोधन टिप्पणी हिन्दी भाषानुवादादिसे बहुत उत्कर्ष हुआ है, होता है तथा होता रहेगा. मैंने उनकी गोष्ठियोंमें भाग लेकर यह सब प्रत्यक्ष किया है. गोस्वामीश्याममनोहरजीके सम्पादित मूलतः लिखित अनूदित व्याख्यात वेदान्तग्रन्थोंका तथा स्वतन्त्र स्वोपज्ञ रचित निबन्धोंका संग्रह तो मेरे पास भी विद्यमान है. मैंने उनके अध्ययनसे बहुत कुछ सीखा है. अतः यह सब अर्थवाद नहीं है अपितु स्वभावोक्ति है. मैं पुनः अपनेको भाग्यशाली एवं प्रभुकृपाका भाजन समझता हूं कि पूज्य श्रीगोस्वामीने मुझे कुछ लिखनेका अवसर दिया.

श्रीमद्वाल्लभवाङ्मयमहाम्भोधौ नदीष्णः स्वयम्।
विद्यावंशसमुन्नतौ धृतमतिर्विद्वत्प्रियः प्रीतिमान्।
श्रीकृष्णाङ्घ्रि सरोरुहामृतरसास्वादैकचित्तः सुधीः।
श्रीगोस्वामिशरद् सदा विजयते श्रीशारदैर्वैभवैः ॥१॥

तरुणतरणि कल्पः ध्वान्तराशेर्विभेत्ता
कविबुधसहितः सद्वृन्दकञ्जप्रभासी
उदयमुपगतोऽसौ वाल्लभानां प्रदीपः
इह जयति शरद्गोस्वामिवर्यः प्रपन्नः ॥२॥

पारसनाथ द्विवेदी
(वाराणसी)

अनुक्रमणिका

दर्शन :

१. भारतीय दर्शनके विकासमें प्रस्तावित विभिन्न योजनाबद्धता-ओंकी रूपरेखा (इन चौखटोंमें वाल्लभदर्शनका स्थान) १

२. वाल्लभ वेदान्तके अनुसार भाषाका स्वरूप और कार्यकलाप ४०

३. चक्षुका चाक्षुषविषयदेशमें प्राप्यप्रकाशकारित्व ७३

४. तमस्के विभिन्न स्वरूप और उनकी अनुभूतिओं के बारेमें कुछ पुरःस्फूर्तिक विचार (वाल्लभ दृष्टिकोणसे) ११९

५. ख्यातिवादकी चर्चामें कुछ पुरःस्फूर्तिक विचारबिन्दु १६७

६. सत्यके कतिपय अनूठे आयाम ('सत्य'पर्यायवाचक पदोंके अर्थ और व्युत्पत्तिके सन्दर्भमें प्रकट होते) २०६

७. अन्तःकरणका स्वभाव और कार्यकलाप (नेचर एन्ड फंक्शन् ऑफ माइन्ड) (वाल्लभवेदान्तके अनुसार) २२०

८. कार्यकारणभावमीमांसा (वाल्लभ वेदान्त तथा बारुक स्पिनोझा के मतका तुलनात्मक विमर्श) २३८

धर्म :

९. शुद्धाद्वैतवाद और लीलावाद के सन्दर्भमें व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी मीमांसा २७९

१०. धर्मोंकी विविधता और विश्वमें शान्ति ३०४

११. स्वामीनारायण मतीय वेदान्तसिद्धान्त और भक्तिसाधना की विकसनप्रक्रिया-१ ३३२

१२. स्वामीनारायण मतीय वेदान्तसिद्धान्त और भक्तिसाधना की विकसनप्रक्रिया-२ ३५५
१३. ब्रह्म या ब्रह्माण्ड और मनुष्यके अस्तित्वकी खोज ४३१
१४. धर्म दर्शन विज्ञान और कलामें रसदृष्टिका पक्ष ४५८

॥ श्रीवल्लभो विजयते जगदेकबन्धुः ॥

भारतीय दर्शनके विकासमें प्रस्तावित विभिन्न योजनाबद्धताओंकी रूपरेखा

(इन चौखटोंमें वाल्लभ दर्शनका स्थान)

उपक्रम :

विभिन्न विचारधाराओंकी विकासरेखाको मापनेका मानदण्ड केवल कालिक पौर्वापर्य ही नहीं होता. इसी तरह सभी तरहकी विचारधाराओंके द्वारा प्रस्तावित प्रत्ययोंकी विकासरेखाको हेगेलिअन वाद विसंवाद और संवाद की क्रमिकतामें भी माप लेना सर्वदा सम्भव नहीं हो पाता. तत्तद् विचारकोंके आध्यात्मिक धार्मिक आर्थिक सामाजिक या राजनैतिक आदि परिवेशोंके प्रभावों और आवश्यकताओं की अनेकविधता विभिन्न दार्शनिक प्रत्ययोंके विकासकी रेखाको पर्याप्त जटिल बना देती है. पूर्वकालीन प्रत्ययोंके कारणीभूत कार्यीभूत अंगीभूत अंगभूत निरास्यभूत अथवा निरासकीभूत अपरकालीन प्रत्ययोंके विचारार्थ ये प्रभाव और आवश्यकता तत्तद् विचारकोंको उकसाते हुए पाये जाते हैं.

इन दार्शनिक प्रत्ययोंकें परस्पर जन्यजनकादिभाव भी सर्वत्र पदार्थशास्त्रीय या ज्ञानशास्त्रीय क्रमिकताका अनुसरण करते ही हों ऐसा अनिवार्य नहीं होता. ज्ञानमीमांसकीय प्रत्ययोंको पदार्थमीमांसकीय प्रत्ययोंके बोधक-हेतुतया स्वीकारना आवश्यक होना चाहिये था. दर्शनेतिहास, परन्तु, इसकी गवाही सार्वदिक तथ्यके रूपमें नहीं देता. उदाहरणतया जगत्कर्ता ईश्वरका प्रत्यय भारतीय दर्शनोंमें पहलेसे विद्यमान या स्वीकृत रहा ही होगा; परन्तु, यह सहज सम्भव लगता है कि ऐसे ईश्वरके शब्दैकगम्य होनेकी अथवा अनुमितिगम्य भी होनेकी धारणा, चार्वाक बौद्ध या जैन सदृश अनीश्वरवादी दर्शनोंके द्वारा की गई आलोचनाओंके प्रत्याख्यानार्थ

ही प्रकट हुई होंगी. अतः सिद्ध होता है कि जगत्कर्ता ईश्वरका पदार्थमीमांसकीय प्रत्यय पूर्वसिद्ध हो सकता है और इस ऐसे प्रत्ययका शब्दैकसिद्ध या अनुमितिसिद्ध होना ''मेयार्थैव मानसिद्धिः'' हो कर उत्तरकालिक प्रत्यय भी हो सकता है. यों ''मानाधीना मेयसिद्धिः''के मानदण्डकी ऐतिहासिक अवहेलनाद्वारा ही यह शक्य हुवा होना चाहिये.

तत्तन्मतोंमें स्वीकृत प्रमाकरणोंके प्रामाण्यका प्रत्यय एक अंगीरूप प्रत्यय होता है; और, प्रमाणोंका प्रामाण्य स्वतः होता है या परतः यह तो प्रामाण्यांगभूत प्रत्यय होता है. पुनः दर्शनेतिहास ही इसकी सच्ची गवाही दे पायेगा कि अंगीभूत तत्तत् प्रमाणोंके प्रामाण्यके प्रत्यय क्या पूर्वकालिक नहीं थे? क्या प्रामाण्यघटक तदंगभूत स्वतस्त्व या परतस्त्व के प्रत्यय उत्तरकालिक विकास नहीं थे? अर्थात् अंगीभूत प्रामाण्यप्रत्यय पहलेसे सिद्धवत्तया स्वीकृत था और तद्घटक अंगभूत प्रत्यय बादमें विचारी गई उपपत्ति थी! स्पष्ट है कि घटक अंगोंके पूर्ववर्ती होनेके नियमकी अवहेलनाद्वारा ही यह सम्भव हो पाया.

अतः मानवीय चिन्तनप्रणालीमें रहे इस लचीलेपनको कि यहां तार्किक क्रमोंका अनुसरण, राजाज्ञा अथवा किन्हीं अकाट्य तर्कोंके नियमोंके बन्धनमें बंध कर नहीं किया जाता है, ऐसा एक बार स्वीकार लेनेपर अनुभवतः तर्कतः या कालतः व्यौत्क्रमिक विकास भी सम्भव हो ही सकता है, यह तथ्य प्रकट हो जाता है. इस सन्दर्भमें सर्वथा अविस्मरणीय तथ्य यही है कि भारतीय दर्शनका विकास चाहे योजनाबद्ध रीतिसे हुवा हो या न हुवा हो परन्तु उसके विकासकी प्रक्रियामें अनेकविध योजनाबद्धता कथञ्चित् प्रकट तो हुयी ही हैं, इस तथ्यको भुलाया नहीं जाना चाहिए. संक्षेपमें बस इतना ही हमारे इस निबन्धका प्रतिपाद्यसार है.

इस संक्षिप्त प्राथमिक स्पष्टीकरणके साथ पूर्वकालमें भी जो भारतप्रभव

विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओंको योजनाबद्ध करनेके प्रयास हुवे, उनपर भी थोड़ा-बहुत ध्यानाकर्षण उचित ही होगा.

प्रथमदृष्टि :

विक्रमके पांचवें शतकके अन्तमें षड्दर्शनसमुच्चयकार श्रीहरिभद्रसूरीकी **''दर्शनानि षडेवात्र मूलभेदव्यपेक्षया देवतातत्त्वभेदेन ज्ञातव्यानि मनीषिभिः. बौद्धं नैयायिकं सांख्यं जैनं वैशेषिकं तथा जैमिनीयञ्च नामानि दर्शनानाम् अमूनि अहो''**[१]. जैसी उक्तिके वशाद् एक अनालोचित केवल परिगणनैकमूल अन्यथा निर्मूल धारणा बहुप्रचारित हो गयी कि भारतीय दर्शनोंके छह प्रकार होते हैं! इन मतभेदोंकी परिगणनामें चार्वाक तथा वेदान्त दर्शनोंके जैसी महत्त्वपूर्ण विचारधाराओंका अन्तर्भाव किसमें स्वीकारना यह ज्ञात न हो पानेके कारण न जाने कब एक दूसरी धारणा बहुप्रचारित हो गयी कि इस देशमें छह आस्तिक, अर्थात् वेदप्रामाण्यवादी दर्शन हुवे हैं; और, छह ही नास्तिक, अर्थात् वेदाप्रामाण्यवादी दर्शन हुवे हैं[२]. ऐसी धारणा, परन्तु, न तो सुस्पष्ट लगती है और न उपपन्न ही. क्योंकि बौद्धागमीय ब्रह्मजालसुत्तान्तर्गत मिच्छादिट्ठिठानानि प्रकरणमें जिन बासठ तथाकथित मिथ्यादृष्टिओंका निरूपण किया गया है[३], उनका इन बारह तरहकी दार्शनिक विचारधाराओंमें अन्तर्भाव या समावेश कहां-कैसे शक्य हो सकता है इस बारेमें यह वर्गीकरण मौन है. अतः न तो यह योजना सर्वग्राहिणी लगती है और न सुस्पष्ट ही.

वाल्लभ दर्शनका स्थान :

फिरभी इस योजनाकी चौखटमें वाल्लभ दर्शन छह आस्तिक दर्शनान्तर्गत वेदान्तदर्शनकी एक शाखा है. इस अन्तर्भावको जान लेना एक अच्छी ही बात होगी.

द्वितीयदृष्टि :

इसके बजाय तो उक्त ब्रह्मजालसुत्तमें वर्णित धारणाओंमेंसे केवल

मतपरिगणनार्थ प्रयुक्त संख्याओंकी उपेक्षा भी कर दें तो भी कुछ स्थूल वर्गीकृत धारणाओंको इस तरह सोचा जा सकता है :—

१.शाश्वतवाद / अशाश्वतवाद / अंशतः शाश्वतवाद
२.अनन्तवाद / अन्तवाद / अन्तानन्तवाद या अंशतो अनन्तवाद
३.उत्तरानर्हप्रश्न(=अमराविक्षेप)वाद / उत्तरार्हप्रश्नवाद / अंशतो उत्तरानर्हप्रश्नवाद
४.निर्हेतुकोत्पत्ति(=स्वभावोत्पत्ति)वाद / सहेतुकोत्पत्तिवाद/ अंशतो निर्हेतुकोत्पत्तिवाद
५.मरणोत्तरसञ्ज्ञीवाद / मरणोत्तरासञ्ज्ञीवाद / मरणोत्तर नैव-सञ्ज्ञी-नासञ्ज्ञीवाद
६.दैहिकात्मोच्छेदवाद / विदेहमुक्तिवाद / जीवन्मुक्तिवाद.[४]

इस तरह वर्गीकृत धारणाओंके अवलोकन करनेपर यह सुस्पष्ट होता है कि ढाई हजार वर्षपूर्व भी, भगवान् बुद्धके अनुसार उनके कालमें जो मिथ्यादृष्टियां थी, उनकी परिगणनामें भगवान्ने किसी तरहकी योजनाबद्धताको खोजनेका एक नितान्त मननीय प्रयास किया था.

वाल्लभ दर्शनका स्थान :

इस चौखटमें वाल्लभ दर्शनके जिज्ञास्य स्थानतया हम प्रथमत्रयीके अन्तर्गत देख सकते हैं कि (१)ब्रह्मके स्वरूपके विचारसे यह दर्शन शाश्वतवादी होनेपर भी भगवल्लीलाके विचारसे जागतिक नामरूपकर्मोंकी अंशतः अशाश्वतता अर्थात् अंशिभूत-सच्चिदानन्द-ब्रह्मदृष्ट्या शाश्वतता तथा सदंशभूतनामरूपकर्मदृष्ट्या अशाश्वतता स्वीकारी गयी है. (२)यही द्वितीयत्रयीके बारेमें भी स्पष्ट है. इसी तरह तृतीयत्रयीके बारेमें भी कहा जा सकता है कि (३)ब्रह्मस्वरूप इदमित्थतया उत्तरानर्ह होनेपर भी सर्वथा उत्तरानर्ह नहीं होता. चतुर्थत्रयीके बारेमें भी प्रायः वही

तथ्य दृष्टिगत होता है कि (४)ब्रह्मकी जडजीवान्तर्यामितया प्रकट होनेकी लीला निर्हेतुक होनेपर भी लीलामें जो कुछ प्रकट होता है वह सहेतुक ही होता है. पञ्चमत्रयीके बारेमें ज्ञातव्य है कि (५)वहां चतुर्थ विकल्पाश्रयणके बजाय वाल्लभ दर्शन तृतीय विकल्पको ही आश्रयणीय मानेगा कि मरणोत्तर जीवात्मा अंशतः संज्ञी और अंशतो असंज्ञी होती है. षष्ठत्रयीमें वाल्लभ दर्शन (६)दैहिकात्मोच्छेदको देहात्मसंघातोच्छेदके रूपमें स्वीकारनेके बावजूद विदेहमुक्तिवादमें भी तथा जीवन्मुक्तिवादमें भी अपनी सहमति दरसाता है ही.

तृतीयदृष्टि :

इसके अलावा स्वयं बौद्धोंके जो दार्शनिक प्रस्थानभेद विभिन्न संगतिओंके कारण भगवान् बुद्धके पांचसौ-छहसौ वर्षमें प्रकट हुवे, यथा —

१.सर्वास्तित्ववाद
२.बाह्यार्थानुमेयवाद
३.बाह्यार्थशून्यवाद अर्थात् विज्ञप्तिमात्रास्तित्ववाद
४.बाह्याभ्यन्तरशून्यवाद

ये अवान्तर प्रभेद भी स्वयं दर्शनशास्त्रीय दृष्टिओंको योजनाबद्धतया एक चिन्तनप्रणालीके रूपमें विकसानेकी रीतिकी एक अनजानी पर गहरी सूझबूझ लगती है. इसमें भी पुनः हीनयानी चिन्तनको विनेयाधिकारक उपदेश और महायानी चिन्तनको विनीताधिकारक उपदेश माननेकी कल्पना भी किसी योजनाबद्धताका ही सुस्पष्ट संकेत करती सी लगती है.

इन्हें यथाव्याख्यात रूपोंमें न ले कर एक सामान्य योजनाके रूपमें निहारनेपर इन प्रभेदोंमें बौद्धेतर वैचारिक दृष्टिओंका भी समावेश या अन्तर्भाव सहज सम्भव बन जाता है. यथा सर्वास्तित्ववादके अन्तर्गत जैन न्याय-वैशेशिक सांख्य-योग जैमिनिदर्शन के अलावा बादरायणीय

प्रस्थानोंके अन्तर्गत भी कई सारे वेदान्तसम्प्रदायों का अन्तर्भाव सोचा जा सकता है. इसी तरह बाह्यार्थशून्यवादके अन्तर्गत प्रत्यभिज्ञादर्शन तथा शांकर वेदान्त का अन्तर्भाव सहज ही समझमें आ सके ऐसा तथ्य लगता है. शून्यवाद वैसे बौद्धोंका ही अपना चिन्तन माना जाता है परन्तु शून्यवादके निरूपणमें स्वमतनिरूपण तथा परमतनिराकरण में प्रकट होते शैलीभेदपर लक्ष्य करनेपर कुछ और भी चित्र उभरता है. क्योंकि स्वमतनिरूपणमें शून्यवादिओंके ''अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैः अप्रपञ्चितं निर्विकल्पम् अनानार्थम् एतत् तत्त्वस्य लक्षणम्'' -''न सन्नासन्न सदसन्नचाप्यनुभयात्मकं चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाः विदुः''[५] उद्गारोंके अनुसार शून्यका जो स्वरूप सामने आता है तदनुरूप ही केवलाद्वैतवादिओंका स्वयंप्रकाश अवाच्य निर्गुण-निर्धर्मक-निर्विशेष द्वैतविवर्जित ब्रह्मको भी सुखेन सोचा जा सकता है. क्योंकि —

अस्ति नास्त्यस्तिनास्तीति नास्ति-नास्तीति वा पुनः।
चलस्थिरोभयाभावैर् आवृणोत्येव बालिशः॥
कोट्यस् चतस्र एतास्तु ग्रहैर् यासां सदावृतः।
भगवानाभिर् अस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक्॥

स भगवान् आभिः 'अस्ति'-'नास्ती'त्यादिकोटिभिः चतस्रभिरपि अस्पृष्टो 'अस्ती'त्यादिकल्पनाविवर्जितः, इत्येतद् येन मुनिना दृष्टो ज्ञातो वेदान्तेषु औपनिषदः पुरुषः स सर्वदृक् परमार्थपण्डितः इति अर्थः.[६]

इस तरह शून्य तथा निर्विशेष ब्रह्म के बीच बौद्धागमगम्य अथवा वेदैकगम्य होनेके अलावा और कोई स्पष्ट अन्तर सामने नहीं आ पाता. अतः चतुर्थ दृष्टिमें केवलाद्वैतवादका अन्तर्भाव सोचा जा सकता है.

जहां तक परमतके निराकरणका प्रश्न है तो दोनों ही शून्यवादी

तथा केवलाद्वैतवादी व्यावहारिक प्रत्ययोंकी भी अनिर्वचनीयतापर भार तो देते ही हैं. केवलाद्वैतवादी वेदान्तमें खण्डनखण्डखाद्य और तत्त्वप्रदीपिका चित्सुखी ने केवल ''सत्त्वासत्त्वाभ्याम् अनिर्वचनीयता'' के संयमको निभानेके बजाय प्राचीन न्यायाभिमत षोड़श पदार्थोंके बारेमें ''स्वरूपतो लक्षणानिर्वचनीयता'' पर्यन्त जो पार्ष्णिग्राहिता[७] प्रकट की है वह प्रासंगिकोंका ही अनुसरण है. क्योंकि इन और ऐसे अन्य ग्रन्थोंमें भी व्यवहारको अनिरुक्त ही रख कर निभानेका आग्रह ''अस्तीति वदतो ब्रूमो नास्ति सर्वं विचारतो, नास्तीति वदतो ब्रूमः सर्वमस्त्यविचारतो, यथा-यथा समारोपाः जायन्ते तत्त्वयोगिनः तथा-तथा समारोपा हन्यन्ते तत्त्वयोगिना''[८] कहनेवाले माध्यमिकोंका अनुसरण ही लगता है. इस सन्दर्भमें चन्द्रकीर्तिके ''अतो वयमपि आरोपतो व्यवहारसत्ये स्थित्वा व्यवहारार्थं विनेयजनानुरोधेन 'शून्यम्' इत्यपि ब्रूमो 'अशून्यम्' इत्यपि, 'नैव शून्यं नाशून्यम्' इत्यपि ब्रूमः''[९] उद्गारको भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यके ''न शून्यं नच अशून्यम् अद्वैतकत्वात् कथं सर्ववेदान्तसिद्धिं ब्रवीमि''[१०] वचनोंसे तुलना करनेपर यह बात उभर कर सामने आ ही जाती है. अतः केवलाद्वैतवेदान्तका अन्तर्भाव शून्यवादमें सोचनेपर कोई आपत्तिजनक बात प्रतीत नहीं होती. निष्कर्षतः केवल बाह्यार्थानुमेयवाद केवल ऐसी धारणा मानी जा सकती है जो केवल बौद्धोंकी अपनी ही सिद्ध हो पाती है. क्योंकि प्रत्यक्षके अन्तर्गत निर्विकल्प और सविकल्प के प्रभेदके बावजूद विकल्पोंको भ्रम या प्रमा रूपी प्रत्यक्षसे गम्य ही अन्योंने स्वीकारा है. एतावता यह सिद्ध होता है कि परवर्ती बौद्ध दर्शनके विभिन्न प्रस्थानोंके विकासको लक्ष्यगत करनेपर बौद्धेतर दर्शनोंके भी विकासकी योजना प्रारूपतया प्रस्तावित हो रही थी.

वाल्लभ दर्शनका स्थान :

वाल्लभ दर्शनका इस योजनामें स्थान कहां पहचानना चाहिये प्रश्न उठता है तो इसके बारेमें ज्ञातव्य है कि इस योजनामें चारमेंसे अन्तिम बाह्याभ्यन्तरशून्यताका अनुभव योगिजनोंको निर्विकल्प समाधिमें

वाल्लभ दर्शन शक्य मानता होनेपर भी केवल उसी शून्यानुभूतिको प्रमा तथा अन्य अयोगिजनोंको होती बाह्याभ्यन्तर वस्त्वनुभूतियोंको अप्रमा मानने कथमपि उद्यत नहीं है. अतएव तृतीय कल्पको भी अखण्डविज्ञानैकरस ब्रह्मकी दृष्टिसे स्वीकार्य माननेपर भी लौकिक ज्ञानदृष्ट्या ज्ञेयार्थकी बाह्य असत्ता वाल्लभ दर्शनको स्वीकार्य नहीं. द्वितीयदृष्टिके अन्तर्गत प्रत्यक्षानुभूतिके निर्विकल्प तथा सविकल्पक प्रभेदको मान्य रखनेके कारण निर्विकल्पकानुभूति सन्मात्रविषयिणी होती यह स्वीकारनेके बावजूद द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-सम्बन्ध-अभाव-संज्ञादिके विकल्प निर्विकल्पानुभूतिगोचर सन्मात्रवस्तुसे सर्वथा भिन्न ही होते हैं यह स्वीकारने वाल्लभ दर्शन उद्यत न होनेसे विकल्पोंको प्रथमानुभूतिमें प्रत्यक्षग्राह्य न माननेपर भी धारावाहिज्ञानोपम द्वितीयानुभूतिमें प्रत्यक्षग्राह्य भी स्वीकारता ही है, यथार्थवादी चिन्तन होनेके कारण. अतः बौद्धोंके द्वारा परिभाषित रूपमें सर्वास्तित्ववादी न होनेपर वाल्लभ दर्शन सर्वास्तित्ववादकी ही एक अपरविधा मानी जा सकती है.

चतुर्थदृष्टि :

स्वयं जैन दार्शनिकोंने नय-प्रमाण-भेदभिन्न अनेकान्तवादको जब सप्तभंगिमाओंके साथ मंडित किया तब शून्यवादनिरसनीय इन चतुष्कोटिओंको अर्थनयरूपा अग्रिम चार : [१]नैगमनय [२]संग्रहनय [३]व्यवहारनय और [४]ऋजुसूत्रनय कोटिओंमें अन्तर्भावित या समायोजित कर लिया. यहां नैयायिक-वैशेषिकोंका अन्तर्भाव प्रथम नैगमनयमें स्वीकारा गया है. वेदान्ताभिमत अद्वैत(शांकर!)वादके सारे प्रकारोंका अन्तर्भाव संग्रहनयके भीतर सोचा गया है. चार्वाकोंको व्यवहारनयानुगामी माना गया है. और बौद्धोंको 'ऋजुसूत्राकूतप्रवृत्तबुद्धि' माना गया है(११). शब्दनयकी अवशिष्ट तीन : [५]शब्दनय [६]समभिरूढनय और [७]एवंभूतनय कोटियां और इनके साथ जोड़ी दी गयी. स्याद्वादमञ्जरीकार श्रीमल्लिषेणसूरी कहते हैं **''कोई भी चिन्तक अपना अभिप्राय या तो वाच्यभूत अर्थद्वारा या वाचक शब्दद्वारा प्रकट करता है. अतः प्रमाताओंके अभिप्रायवश अर्थनिरूपणमें परायण अर्थनयान्तर्भूत चिन्तक**

होते हैं. शब्दविचारमें प्रवृत्त होनेवाले चिन्तक शब्दादि तीन नयोंमें अन्तर्भूत होते हैं.''[१२]. सुस्पष्ट है कि यह भी भारतीय दर्शनको किसी एक योजनाबद्धतया देखनेकी वैचारिक रीति नहीं थी तो और क्या थी? यहां उल्लेखनीय केवल यही है कि नैयायिकोंका अन्तर्भाव जो नैगमनयके अन्तर्गत और अद्वयवादिओंका अन्तर्भाव जो संग्रहनयके अन्तर्गत किया उसके औचित्यसे सभीका सहमत होना आवश्यक नहीं लगता. इसके अलावा 'शून्य'पदके वाच्यार्थतया किसी तरहकी पञ्चमकोटीका पदार्थ तो स्वयं माध्यमिकोंको ही अभिप्रेत न होनेसे अर्थनयके अन्तर्गत तो नहीं परन्तु शब्दनयके अन्तर्गत पांचवी कोटीमें शून्यताका भी कोई स्थान होना चाहिये था. वह अवशिष्ट तीन कोटिओंमें भी संगृहीत नहीं हो पाया है. तथा स्वयं आर्हतोंके अलावा अवशिष्ट तीन कोटिओंमेसे कमसे कम दो धारणाओंको स्वीकारनेवाले कोई चिन्तक हुवे हों ऐसा खयालमें आता नहीं है. अतः अवशिष्ट तीन धारणाओंमें कमसे कम दो तो रिक्तवर्ग अर्थात् केवल गणनाकीय सम्भावनाओंपर ही आश्रित प्रतीत होती हैं. यथा —

१.स्यादस्ति=अस्तिदर्शन
२.स्यान्नास्ति=नास्तिदर्शन
३.स्यादस्ति च नास्ति=अस्तिनास्तिदर्शन
४.स्यादवक्तव्यं=उभयतोऽनिर्वचनीयदर्शन
५.स्यादस्ति चावक्तव्यं च=ज्ञेयवस्तु-अनिर्वचनीयदर्शन
६.स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च=( )
७.स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च=( )

यहां यह उल्लेखनीय हो जाता है कि इन सप्त भंगिमाओंको ''अस्ति/नास्ति/अस्ति-नास्ति/नास्ति-ननास्ति''के ही केवल विकल्पोंमें सीमित न रखा जाये और एक वैचारिक मॉडलीटि के रूपमें निहारा जाये और विभिन्न दार्शनिक धारणाओंके बीच प्रचलित अन्यान्य विवादोंमें

इन्हें लागू किया जाये तो सहज ही इस योजनाकी व्यापकताका पक्ष उभर कर सामने आ जाता है. उदाहरणतया : देहातिरिक्त आत्मास्तित्व, रूपादिगुणधर्मानुभूत्यतिरिक्त चेतनास्तित्व, कृतकर्मनाशोत्तर पुण्यपापास्तित्व, गुणसंघातिरिक्त द्रव्यास्तित्व, द्रव्यातिरिक्त सामान्यास्तित्व, उपादानकारणाति-रिक्त कार्यास्तित्व, अवयवातिरिक्त अवयव्यस्तित्व, निर्विकल्पज्ञानातिरिक्त विकल्पावगाहिप्रमास्तित्व, वाचकव्यापारातिरिक्त वाच्यवस्त्वस्तित्व आदि अनेकानेक विवादास्पद विषयोंके बारेमें चारों या सातों प्रकारके नयोंके सापेक्ष स्वीकारकी अनेकान्तदृष्टिका अनुमोदन करनेपर इस योजनाकी व्यापकता सहज ही प्रकट हो जाती है. यह इदमित्थतया स्वयं आर्हतोंको मान्य ही हो ऐसे अभिप्रायवश किया गया विधान नहीं है. परन्तु एक सम्भावित योजनाकी रूपरेखाका केवल निदर्शनमात्र है.

वाल्लभ दर्शनका स्थान :

इस योजनाकी प्रयोगान्वितिकी व्यापकताका विचार करते हुवे तथा विस्तारभीतिवश भी केवल दिशानिर्देशके रूपमें इतना सा निरूपण यहां उचित लगता है कि वाल्लभ दर्शन पदार्थमीमांसाके स्तरपर यद्यपि सद्वादी चिन्तन है परन्तु अद्वितीय सद्वस्तुके लीलार्थ प्रकट नाम-रूप-कर्मोंके बीच परस्पर द्वैत/अद्वैत/द्वैताद्वैत/अ(वक्तव्य)-द्वैताद्वैतके चातुर्विध्यमें चतुर्थकोटीरूप तादात्म्यका पक्षपाती बन जाता है.

पञ्चमदृष्टि :

इसके बाद सर्वदर्शनसंग्रहकारने जिस तरहसे अपने ग्रन्थमें भारतप्रभव अन्यान्य दार्शिनिक मान्यताओंकों समायोजित किया है उसमें स्पष्टतया केवलाद्वैत वेदान्तकी दृष्टिसे उन्हें योजनाबद्ध करनेकी एक विलक्षण रूपरेखा खोजी जा सकती है. इसका, सर्वदर्शनसंग्रह की अपनी भूमिकामें श्रीवासुदेव शास्त्री अभ्यंकरने, सुविशदतया निरूपण किया है. यह प्रतिपादन भी सर्वदर्शनसंग्रह ग्रन्थके प्रत्येक अध्येताके लिये अवश्य अध्येतव्य

लगता है. उसका सारांश देना ही, अतः, इस प्रसंगमें उपकारक हो पायेगा. उन्होंने दो तरहसे इस क्रमका प्रतिपादन करना चाहा है. यथा —

१.भारतीय दार्शनिक विचारधाराओंके सर्वप्रथम नास्तिक आस्तिक दो मूलभेद होते हैं —

नास्तिक :

तदन्तर्गत नास्तिक विचारधाराके आध्यक्षिक और तार्किक ऐसे दो प्रभेद होते हैं. इनमें [१]चार्वाक दर्शन आध्यक्षिक दर्शन है. तार्किक-नास्तिकोंके पुनः दो और प्रकार होते हैं : [२]क्षणिकवादी बौद्ध और [३]स्याद्वादी जैन.

आस्तिक :

आस्तिक विचारधाराके भी मूलमें दो प्रभेद होते हैं यथा : सगुणात्मवादी और निर्गुणात्मवादी. इनमें सगुणात्मवादि-ओंके पुनः तार्किक और श्रौत यों दो उपभेद होते हैं.

इनमें तार्किकोंके पुनः दो अवान्तर प्रभेद प्रच्छन्नतार्किक और स्पष्टतार्किक होते हैं. प्रच्छन्नतार्किकोंके दो उपभेद प्रच्छन्नद्वैतवादी और स्पष्टद्वैतवादी होते हैं.

इनमें [४]रामानुज दर्शन सगुणात्मवादी ⊃ प्रच्छन्नतार्किक ⊃ प्रच्छन्नद्वैतवादी है. [५]माध्व दर्शन सगुणात्मवादी ⊃ प्रच्छन्नतार्किक⊃ स्पष्टद्वैतवादी है.

स्पष्टतार्किकोंके अवान्तर प्रभेद भोगसाधनादृष्टवादी और उत्पत्तिसाधनादृष्टवादी होते हैं. इन भोगसाधनादृष्टवादिओंके भी दो अवान्तर भेद विदेहमुक्तिवादी और जीवन्मुक्तिवादी रूपी होते हैं. इनमें विदेहमुक्तिवादिओंके पुनः आत्मभेदवादी और आत्म्यैक्यवादी ऐसे दो उपभेद होते हैं. आत्मभेदवादिओंमें

भी पुनः कर्मानपेक्ष-ईश्वरवादी और कर्मसापेक्ष-ईश्वरवादी ऐसे दो उपभेद होते हैं.

स्पष्टतार्किकोंमें भोगसाधनादृष्टवादी ⊃ विदेहमुक्तिवादी ⊃ आत्मभेदवादी ⊃ कर्मानपेक्ष-ईश्वरवादी [६]नकुलीशपाशुपत होते हैं. जबकि स्पष्टतार्किकोंमें भोगसाधनादृष्टवादी ⊃ विदेहमुक्तिवादी ⊃ आत्मभेदवादी ⊃ कर्मसापेक्षवादी [७]शैव होते हैं. भोगसाधनादृष्टवादी ⊃ विदेहमुक्तिवादी ⊃ आत्म्यैक्यवादी [८]प्रत्यभिज्ञावादी होते हैं. भोगसाधनादृष्टवादी ⊃ जीवन्मुक्तिवादी ⊃ [९]रसेश्वरवादी होते हैं.

सगुणात्मवादी ⊃ तार्किक ⊃ स्पष्टतार्किक ⊃ उत्पत्तिसाधनादृष्टवादिओंके पुनः दो उपभेद होते हैं : शब्दको प्रमाणान्तरतया अस्वीकार करनेवाले [१०]वैशेपिक तथा उसे प्रमाणान्तरतया स्वीकारनेवाले [११]नैयायिक.

आस्तिक ⊃ सगुणतावादी ⊃ श्रौतोंके दो उपभेद वाक्यार्थवेदी [१२]मीमांसक होते हैं और [१३]पदार्थवेदी वैयाकरण होते हैं.

इसी तरह आस्तिक ⊃ निर्गुणात्मवादिओंमें भी तार्किक और श्रौत ऐसे दो उपभेदोंके अन्तर्गत तार्किकोंमें पुनः निरीश्वरवादी [१४]सांख्य होते हैं. जबकि सेश्वरवादी [१५]पातञ्जल होते हैं. आस्तिक ⊃ श्रौत ⊃ निर्गुणात्मवादी [१६]शांकर होते हैं. इस तरह कुल सोलह मतोंकी योजनाबद्धता प्रकट होती है[१३].

२.भारतीय दार्शनिक विचारधाराओंको एक-दूसरे प्रकारसे भी वर्गीकृत किया जा सकता है—

इस विकासरेखाका आरम्भबिन्दु चार्वाक दर्शन है और चरम विकास केवलाद्वैतवाद पर्यन्त सोचा जा सकता है. इस चरमविकासके सोपानपर भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यने क्षेत्रज्ञात्माका

स्वरूप देहसे भिन्न अक्षणिक कूटस्थनित्य निर्विकार विभु प्रत्यक्ष बोधरूप अजड़ शब्दातीत 'ईश्वरा'दिपदवाच्य कर्तृत्व-भोक्तृत्वरहित असंग निर्विशेष स्वीकारा है. अतः देहात्मवादी चार्वाक दर्शनकी तुलनामें बौद्ध दर्शन देहातिरिक्त अनित्य क्षणिक आत्मवादकी स्वीकृतिके वश करीब पड़ता है. आर्हत दर्शन आत्माको परिणामिनित्य माननेके कारण बौद्धोंकी तुलनामें और करीब आता है. रामानुज दर्शन आत्माको कूटस्थ नित्य मानता होनेके कारण और करीब पड़ता है. फिरभी रामानुजोंके मतमें आत्माको शरीरद्वारा विकारी भी माना गया जबकि माध्व वैसा नहीं मानते होनेके कारण कुछ और करीब आते हैं. माध्व मतमें आत्माको अणुपरिमाण माना गया है अतः उनकी तुलनामें माहेश्वर मत, जो उसे विभु मानते हैं निकटतर माने गये हैं. ये माहेश्वरवादी आत्माको दृग्रूप एवं क्रियारूप मानते हैं अतः इनकी तुलनामें केवल दृग्रूपतया आत्माको स्वीकारनेवाले वैशेषिक कुछ और करीब पड़ते हैं. परन्तु वैशेषिक आत्माको अनुमित्येकगम्य मानते हैं अतः इनकी तुलनामें नैयायिक इतरप्रमाणगम्य भी मानते होनेके कारण निकटतर होते हैं. नैयायिक आत्माको स्वरूपेण जड़ मान कर चैतन्यको आत्माके गुणरूपतया स्वीकारना चाहते होनेके कारण आत्माको बोधरूपतया स्वीकारनेवाले मीमांसकोंकी तुलनामें कुछ दूर पड़ते हैं. अंशभेदवशात् किन्तु आत्माको जड़तया स्वीकारनेके कारण इन मीमांसकोंकी तुलनामें पाणिनीयोंका मत आत्माको समग्रतया शब्दात्मक-चैतन्यात्मक स्वीकारता होनेके कारण केवलाद्वैतवादके समीपतर होता है. इनकी भी तुलनामें सांख्योंका मत आत्माको केवल ज्ञानस्वरूपतया स्वीकारनेके कारण और भी अधिक निकट माना जाता है. सांख्य परन्तु ईश्वरको नहीं स्वीकारते अतः सांख्योंकी तुलनामें ईश्वरास्त्वित्व स्वीकारनेवाले पातञ्जल केवलाद्वैतवादके निकटतर हैं[१४].

इस तरह हम देख सकते हैं कि सर्वदर्शनसंग्रह में जो एक विशिष्ट आनुपूर्वीसे ग्रन्थकारने विभिन्न मतोंको संकलित-योजित किया है उसमें ग्रन्थसम्पादक-भूमिकाकार श्रीवासुदेव शास्त्रीजीने एक योजनाबद्धता देखनी चाही है. उल्लेखनीय इसमें यह अवश्य है कि रामानुज-माध्वोंको श्रौत दर्शन न मान कर प्रच्छन्नतार्किक मतके रूपमें प्रस्तुत करना केवल केवलाद्वैतवादी दृष्टिकोण ही लगता है. क्योंकि श्रुतिवचनोंमें तर्कविरोधवश लाक्षणिक/गौण अर्थोंकी कल्पना करनेके कारण यदि प्रच्छन्नतार्किकता आती हो तो ''**यश्चोभयोः समो दोषः परिहारश्च ययोः समो न तत्रैकोऽनुयोज्यः स्याद् तादृगर्थविचारणे**'' न्याय अनुसन्धेय होता है. इसके अलावा सगुणात्मवादिओंके अन्तर्गत भी श्रौत वर्ग जो ''**सगुणात्मवादिनो द्विविधाः तार्किकाः श्रौताः च**'' विधानद्वारा स्वयं भूमिकाकारद्वारा उद्भावित है उसमें रामानुज-माध्वोंका अपरिगणन विस्मयजनक लगता है! इसके अलावा स्वयं मूलकारद्वारा ही उपेक्षित होनेके कारण ब्रह्मनन्दी ब्रह्मदत्त भर्तृप्रपञ्च या भास्कराचार्य सदृश अन्यान्य शंकरपूर्व या समकालिक वेदान्तोंका स्थान इनमेंसे किस वर्गमें अन्तर्हित मानना यह पता न चलनेके कारण उपेक्षाका आरोप तो अप्रासंगिक ही होगा.

वाल्लभ दर्शनका स्थान :

जहां तक वाल्लभ दर्शनका इसमें स्थान कहां हो सकता है ऐसी जिज्ञासाका प्रश्न है तो स्वयं योजनाकार श्रीअभ्यंकर शास्त्रीके अनुसार तो जब रामानुज-माध्वोंका अन्तर्भाव प्रच्छन्नतार्किकोंमें हुवा है तो वाल्लभोंको उससे बेहतर स्थानकी अपेक्षा रखनी नहीं चाहिये. परन्तु उल्लिखित सभी मतोंमें वेदान्तान्तर्गत रामानुज अन्यथा काश्मीरप्रत्यभिज्ञा दर्शन भी वाल्लभ चिन्तनको अपने साथ प्रत्यासन्नतर लगते हैं. ब्रह्मनन्दी ब्रह्मदत्त भर्तृप्रपञ्च भास्कराचार्य अथवा श्रीपतिभगवत्पादाचार्य के स्थान यहां कहीं निर्दिष्ट होते तो वाल्लभ दर्शनको अपना स्थान खोज लेनेमें अधिक सुविधा होती.

षष्ठदृष्टि :

श्रीमधुसूदन सरस्वतीने ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाश और वेदान्तकल्पलतिका ग्रन्थोंमें अन्यान्य मतोंको प्रत्याख्यानार्थ ही केवल संकलित करके प्रस्तुत किया है. इन दोनों ग्रन्थोंमें यद्यपि किसी भी प्रकारका वर्गीकरण तो शब्दशः निरूपणार्थ अभिप्रेत नहीं है तथापि क्रमशः शांकरवेदान्ताभिमत ईश्वरास्तित्व और शांकरवेदान्ताभिमत मोक्ष के बारेमें साम्प्रदायिक जो दृष्टिकोण हो सकता है ऐसे मतविभाग या योजना को कुछ इस तरह प्रकट किया गया है :

ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाश में : वेदोपनिषदोंका प्रमाणतया अस्वीकार करनेवाले और स्वीकारनेवाले यों नास्तिक दर्शन और आस्तिक दर्शन के रूपमें दो प्रभेद दिखलाये हैं. इनमें नास्तिक दर्शनोंमें चार्वाकको अनात्मवादी तथा अनीश्वरवादी माना गया है. बौद्ध दर्शनमें क्षणिक सर्वज्ञविज्ञानसन्तानरूप आत्मा या ईश्वर माने ही गये हैं ऐसा दिखलाया गया. दिगम्बरोंके मतमें देहादिव्यतिरिक्त देहमात्रपरिमाण अविनाशी आत्मारूप अर्हत्को ही परमेश्वरतया स्वीकारा जाना निरूपित हुवा है. जबकि आस्तिक दर्शनोके अन्तर्गत तो सभी चिन्तन वेदोंको प्रमाणतया स्वीकारते हैं और देहातिरिक्त आत्माको नित्य-विभु (सभी वैष्णव और कई शैव वेदान्ती जीवात्माको अणुपरिमाण स्वीकारते हैं इस तथ्यकी उपेक्षा विस्मयजनक प्रतीत होती है!) परन्तु, परमेश्वरको कुछ आस्तिक स्वीकारते हैं और कुछ नहीं, ऐसा प्रतिपादन किया गया है. इन आस्तिक दर्शनोंमें पातञ्जलोंको आत्मवादी तथा ईश्वरवादी माना गया है. इसी तरह नैयायिक-वैशेषिकोंको भी. ईश्वरवादिओंमें पाशुपत पाञ्चरात्र एवं हैरण्यगर्भ क्रमशः शिव विष्णु और हिरण्यगर्भ को परमेश्वरतया स्वीकारते हैं, ऐसा निरूपित किया गया है. सांख्योंको आत्मवादी + अनीश्वरवादी स्वीकारा गया है. (पूर्वमीमांसकोंका उल्लेख करना क्यों भूल गये यह पता नहीं चलता!). ब्रह्मवादी

अर्थात् वेदान्तिओंके मतमें उपनिषद्वेद्य सर्वज्ञ सर्वशक्ति अभिन्ननिमित्तोपादनरूप परमेश्वरके साकार / निराकारतया दो भेद दिखला कर इनमें साकारके चार अवान्तरभेद पुरुष ब्रह्मा विष्णु महेश्वर प्रतिपादित किये हैं. शैव तन्त्रके अनुसार ईश्वरके अन्तर्गत ब्रह्मा विष्णु महादेव को साकार और सदाशिवको निराकार स्वीकारा गया है ऐसा प्रतिपादन किया है. विधान्तरतया नृसिंहतापनीयके अनुसार ओत अनुज्ञाता अनुज्ञ और अविकल्प रूपी ईश्वरभेदोंमें, क्रमशः, पञ्चीकृतमहाभूताभिमानी विराट्का अन्तर्यामी परमात्मा 'ओत' या 'अनिरुद्ध' कहलाता है. अपञ्चीकृतमहाभूताभिमानी जीव 'हिरण्यगर्भ' और उसका अन्तर्यामी 'अनुज्ञाता' कहलाता है, इसे ही 'प्रद्युम्न' नाम्ना भी जाना जाता है. इसी तरह सत्त्वादि गुणत्रयीकी मायारूप उपाधिसे उपहित सर्वबीजरूपको 'संकर्षण' कहा जाता है. इसी संकर्षणकी त्रिगुणात्मिका मायाके एक-एक गुणोंसे अवच्छिन्न ब्रह्मा विष्णु और शिव होते हैं. अन्तमें सर्वोपाधिविनिर्मुक्त अविकल्प वासुदेव परमात्मा मोक्षका अवलम्बन होता है और इसीकी जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति और तुरीय यों चार अवस्था होती हैं, ऐसा प्रतिपादन किया है[१५].

वेदान्तकल्पलतिका में : मोक्षके प्रकारभेदोंकी विवेचनामें चार्वाक विज्ञानवादी माध्यमिक आर्हत काणाद नैयायिक प्राभाकर भाट्ट सांख्य पातञ्जल त्रिदण्डी 'केचित्'नामा (भास्कराचार्य तथा भर्तृप्रपञ्च) पाशुपत वैष्णव तथा हैरण्यगर्भ यों इन मतोंका अनौपनिषद मतोंके रूपमें एक वर्ग दिखलाया गया है; और, दूसरेमें स्वयं केवलाद्वैतवादी वेदान्त सम्प्रदायको औपनिषद दर्शनके रूपमें प्रस्तुत किया गया है[१६].

स्पष्ट है कि यह विभाजन अतीव स्थूल और केवल स्वसम्प्रदायोत्कर्ष

प्रतिपादनार्थ ही है. क्योंकि उपनिषत्तात्पर्यविवेचन भगवद्गीतातात्पर्यविवेचन और ब्रह्मसूत्रतात्पर्यविवेचन के बावजूद, स्वसम्प्रदायाभिप्रेतार्थसे विपरीत होनेके कारण ही केवल वैष्णव और शैव वेदान्त अनौपनिषदिक मत हो जाते हों तो, केवलाद्वैत वेदान्त भी शैव-वैष्णव वेदान्तसे विपरीत होनेके कारण अनौपनिषदिक मत बन जायेगा. इनके अलावा भास्करवेदान्त और भैक्षववेदान्त के बारेमें मौनधारण प्रस्तुत योजनाकी असर्वग्राहिताका ही प्रकट प्रमाण है. अस्तु.

वाल्लभ दर्शनका स्थान :

इस योजनामें निम्बार्क-भास्कर-रामानुज-माध्व-श्रीपतिभगत्पादाचार्य आदि अनेक वेदान्तविचारधाराओंकी उपेक्षा की गयी होनेसे वाल्लभ वेदान्तके लिये कोई प्रदानार्ह स्थान योजनाकारके अनुसार होना अभिलषित नहीं लगता. फिरभी साकारेश्वरवादान्तर्तगत परमेश्वरको अभिन्ननिमित्तोपादान वाल्लभ वेदान्त स्वीकारता ही है. मुक्तिके बारेमें तो अनौपनिषदिक वर्गमें ही अकारण ही योजनाकारके अनुसार वाल्लभ वेदान्तको सोचना पड़ेगा !

सप्तमदृष्टि :

जयपुरस्थ विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदन शर्माने अपने सदसद्वादो ब्रह्मविज्ञानम् नामक ग्रन्थमें [क]सद्वाद [ख]असद्वाद और [ग]सदसद्वाद मौलिक रूपोंमें कृष्णयजुर्वेद सामवेद तथा शुक्लयजुर्वेद के विभिन्न वचनोंमें ही उपलब्ध हो जाते हैं, ऐसा दिखला कर [१]प्रत्यय [२]प्रकृति [३]तादात्म्य [४]अभिकार्य [५]गुण [६]सामञ्जस्य और [७]अक्षर यों सात मूल वर्ग और इन सातों ही वर्गोंके पुनः उल्लिखित सद्-असद्-सदसद् रूपी त्रिविध अवान्तर विकल्पोंद्वारा कुल इक्कीस प्रभेदोंवाली एक योजना समझायी है[१७].

इनके अन्तर्गत अवान्तर प्रभेद इस तरह प्रस्तुत किये गये हैं : [१/क]नित्यविज्ञानाद्वैतवादी ब्राह्मणमत [१/ख]अनित्यविज्ञानाद्वैतवादी श्रमणमत

१/ग आनन्दविज्ञानाद्वैतवादी मध्यस्थमत, २/क ब्रह्माद्वैतवादी अविनाशिमत २/ख कर्मा-द्वैतवादी वैनाशिकमत २/ग द्वैताद्वैतवादी वैनाशिकवदविनाशिमत, ३/क धर्मिप्राधान्य-वादी ब्राह्मणमत ३/ख धर्मप्राधान्यवादी श्रमणमत ३/ग धर्मधर्म्यभेदवादी मध्यस्थमत, ४/क सत्कार्यवादी सांख्यमत ४/ख असत्कार्यवादी वैशेषिक ४/ग मिथ्याकार्यवादी केवलाद्वैतवेदान्ती, ५/क सन्मूलसृष्टिवादी सामवेदीया दृष्टि ५/ख असन्मूलसृष्टिवादी कृष्णयजुर्वेदीया दृष्टि ५/ग सदसन्मूलसृष्टिवादी शुक्लयजुर्वेदीया दृष्टि, ६/क उत्पत्तिनाशशीलप्रकृतिकारणतावादी सांख्य ६/ख प्रागभावकारणतावादी नैयायिक ६/ग विद्याविद्याप्रकृतिवादी वेदान्ती, ७/क गुणत्रयाव्यक्तबीजत्ववादी सांख्यमत ७/ख बले(कर्मे)काव्यक्तबीजत्ववादी वैनाशिकमत ७/ग अक्षरैकाव्यक्त-बीजत्ववादी बादरायणमत (इन्हें यथानिर्दिष्ट क्रमके अनुसार देनेके बजाय प्रस्तुत लेखकने सरल क्रमिकताके अनुसार यहां उद्धृत किया है).

वैसे योजना यह काफी रोचक प्रतीत होती है परन्तु इनमें प्रथम और द्वितीय १-२/क-ख-ग विभागोंमें क्योंकि ज्ञानसन्तती या कर्मसन्तती के प्रवाहमें प्रवाहान्तःपाती कर्म या विज्ञान व्यक्तिओंका श्रमणमतमें तो अद्वैत माना ही नहीं गया है. अतः यह विचारणीय वर्गीकरण बन जाता है. क्योंकि बौद्धोंके सभी सम्प्रदायोंमें व्यक्तिओंमें निष्ठ सामान्य धर्मका अद्वैत तो भ्रान्तिविषय ही माना गया है. इसी तरह प्रवाहकी द्रव्यता अनभिमत होनेसे प्रवाहके स्वरूपका अद्वैत भी वास्तविक सिद्ध नहीं हो पाता. योगाचार तथा माध्यमिक बौद्धोंके मतोंमें अवश्य ही विज्ञानाद्वैत और शून्याद्वैत की चर्चा है किन्तु वह तत्तदतिरिक्त द्वैतके निरसनार्थ ही है नकि विज्ञानैकत्व या शून्यैकत्व के प्रतिपादनार्थ. अतः श्रमणोंको या वैनाशिकोंको अनित्यविज्ञानाद्वैतवादी या कर्माद्वैतवादी मानना कहां तक उपपन्न हो सकता है यह विचारणीय लगता है. रही बात ४/ग विभागमें केवलाद्वैतवादिओंकी तो, वे तो कार्यको सदसद्विलक्षण मानते हैं अतः ऐसी स्थितिमें उन्हें 'सदसद्वादी' कहना कहां तक उचित माना जा सकता है? इसके अलावा इस योजनामें नास्तिकमतोंमें चार्वाक-जैनोंके मतोंका अनुल्लेख, ईश्वरवादी मतोंमें अन्यान्य शैव वैष्णव

दर्शनोंका अनुल्लेख; तथा, वेदान्तमें केवल केवलाद्वैतवेदान्तका ही परिग्रह इस योजनाकी असर्वग्राहिताको प्रकट करता है. अतः इस योजनाके विस्तृत विमर्शार्थ अग्रसर हुवे बिना इसे यहीं उपसंहृत कर देना उपयुक्त होगा. वैसे इस प्रसंगमें यह स्पष्ट कर देनेके लोभका हम संवरण नहीं कर पाते कि इन श्रीमधुसूदन शर्माजीका वेदान्तचिन्तन वाल्लभ वेदान्तके स्थूलरूपमें साथ अत्यधिक सालक्षण्य प्रकट करता है, अनेक सूक्ष्म प्रक्रियाओंमें दोनों मतोंके बीच रही विभिन्नताके बावजूद.

अष्टमदृष्टि :

भारतीय दर्शनकी विकासरेखामें झलकती योजनाबद्धताको खोजनेके जितने भी प्रयास हुवे उनमें १९२५ सालमें प्रकाशित श्रीलक्ष्मीपुरं श्रीनिवासाचार्य प्रणीत प्रमेय-प्रमाण-प्रयोजनरूप काण्डत्रयात्मक मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिक, मेरी जानकारीमें, इस दिशामें सर्वाधिक महत्त्वशाली प्रतीत होता है. ग्रन्थके प्रमेयकाण्डान्तर्गत प्रथम परिच्छेदके चतुर्थ 'सिद्धान्तविचार' नामक प्रकरणमें ग्रन्थकारने इस विषयपर अपने विचार प्रदर्शित किये हैं. ग्रन्थकार कहते हैं—

> प्रामाणिकतया ज्ञात अर्थको 'सिद्धान्त' कहा जाता है. यदि कोई कहे कि सभी सिद्धान्त परस्पर विरोधी तथा तत्तद्व्यक्तिओंके हठाग्रहके अनुरूप प्रस्तुत या प्रस्तावित होते हैं. अतः प्रामाणिकतया ज्ञात किसी पदार्थका स्वीकार ही शक्य नहीं लगता, तो यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि स्वयं इस विधानसे सिद्ध की जाती धारणाको प्रमाणिकतया ज्ञात या प्रामाणिकतया अज्ञात मानना? दोनों ही स्थितिमें कुछ धारणाओंका सिद्धान्त होना सिद्ध हो जाता है. ऐसे सिद्धान्तोंके विविध प्रकारोंमें सर्वप्रथम संख्यैकान्तवाद और संख्यानेकान्तवादके भेदवश दो प्रकार सामने आते हैं. इनमें एकसे लेकर छत्तीस या अधिक भी संख्यैकान्तवाद दिखलायी

देते हैं.

उदाहरणतया : १.सब कुछ शून्य है ऐसा शून्याद्वैतवाद, सब कुछ विज्ञानमात्र है ऐसा विज्ञानाद्वैतवाद, सब कुछ सत् है ऐसा सदद्वैतवाद, सब कुछ केवल शब्दरूप होता है ऐसा शब्दाद्वैतवाद इत्यादि एकत्वसंख्यैकान्तवादके उदाहरण माने जा सकते हैं. २.इसी तरह द्वित्वसंख्यैकान्तवादके उदाहरण सब कुछ नित्य/अनित्य या जड़/चेतन रूप होता है, ऐसी धारणा बनती हैं. ३.सब कुछ ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयान्यतमात्मना त्रिविध होता है, ऐसे मानना त्रित्वसंख्यैकान्तवाद है. ४.मातृ-मान-मिति-मेयात्मना चतुःसंख्यैकान्तवादी भी हो सकते हैं. ५.बौद्ध पञ्चस्कन्धैकान्तवादी होते हैं. ६.जैन भी षड्द्रव्यैकान्तवादी होते हैं. ७.वैशेषिक-नैयायिक सप्त या षोडश पदार्थैकान्तवादी होते हैं. इत्यादि-इत्यादि.

इसी तरह स्वस्वाभिमत तत्त्वोंकी कोई निश्चित संख्या स्वीकारनेके बावजूद कोई चिन्तक सिद्धान्ततया संख्यानेकान्तवादी भी हो सकता है, जिसे अनुभूतिगोचर जगत्को किसी निश्चित संख्यामें इदमित्थतया बांधना स्वयं अनुभूतिविरुद्ध कथा लगती है.

केवल संख्याको मानदण्डतया स्वीकारनेके बजाय अन्य भी मानदण्डोंके आधारपर दर्शनोंकी समीक्षा करनेपर लौकायतिक जैसे बाह्यार्थमात्रसत्तावादी होते हैं, ऐसे ही योगाचार-बौद्ध आन्तरमात्रसत्तावादी होते हैं. कापिल बाह्याभ्यन्तर उभयसत्तावादी होते हैं.

कुछ चिन्तक शरीरान्तःस्थित पुरुषोंमें अन्यतम पुरुष ईश्वरको शरीरान्तःस्थित पुरुषोंसे पृथक् पदार्थ माननेवाले होते हैं, तो

दूसरे उसे पृथक्तया स्वीकार नहीं करते (अर्थात् कुछ उसे कथञ्चित् पृथक् तो कथञ्चिद् अपृथक् भी स्वीकारते ही हैं)*.

कुछ चिन्तक द्रव्यपदार्थवादी होते हैं तो कुछ चिन्तक महासामान्यरूप सदेकपदार्थतामें मानते हैं.

कुछ वस्तुमात्रको गुणसंघाततया माननेवाले केवल गुणैकपदार्थवादी होते है. तो अन्य कुछ गुण और द्रव्यों के भेदको स्वीकार कर गुण-द्रव्यरूप पदार्थद्वैतवादी होते हैं. तीसरे कुछ द्रव्य-गुण-कर्मरूप पदार्थत्रयवादी भी होते हैं.

इसी तरह कुछ विशेषवादी तो कुछ सामान्यवादी, कुछ इन दोनोंके बीच भेद स्वीकारनेवाले तो कुछ इनके बीच ऐक्य स्वीकारनेवाले होते हैं तो तीसरे इन दोनोंके बीच तादात्म्य अर्थात् भेदाभेद (तो अन्य भेदाभेदवैलक्षण्य! भी)* स्वीकारनेवाले होते हैं.

इसी तरह कुछ चिन्तक अनात्मवादी होते हैं, तो अन्य कुछ आत्मवादी, इनमें भी कुछ द्वैतवादी तो कुछ अद्वैतवादी होते हैं.

कुछ जीवैक्यवादी होते हैं तो कुछ ब्रह्मैक्यवादी होते हैं. कुछ ब्रह्म-जीवके बीच भेदवादी होते हैं तो अन्य कुछ अभेदवादी तो अन्य कुछ तादात्म्यवादी भी होते हैं.

इसी तरह भावाभाव कार्यकारण नित्यानित्य मानमेय द्रव्याद्रव्य के बीच भेद/अभेद/भेदाभेद/उभयवैलक्षण्य के आधारपर अनेक प्रकार दर्शनोंके बनते हैं.

---

* कोष्ठान्तर्गत अंश प्रस्तुत लेखकीय संसूचन है.

इसी तरह तत्तत् पदार्थोंके बारेमें सद् असद् सदसद् सदसद्वैलक्षण्य मेंसे कोई एक स्वरूप उपपन्न होता है या नहीं इस विकल्पके कारण सदेकान्त असदेकान्त सदसदेकान्त और उभयवैलक्षण्य के चतुर्धा विकल्प बनते हैं. इनमें नय-प्रमाणके तारतम्यस्वीकारके साथ सभी विकल्पोंको पक्षपातरहित हो कर एक साथ स्वीकारनेवाले अनेकान्तवादी जैन होते हैं. सभी पक्षोंमें से किसी भी पक्षको न स्वीकारनेवाले गौडपाद जैसे वेदान्तीके अलावा उन सभी विकल्पोंका प्रत्याख्यान करनेवाले माध्यमिक बौद्ध भी होते हैं[१८].

मेरे हिसाबसे मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिककारने उक्तानुक्तदुरुक्तके चिन्तनरूप अपने उत्तरदायित्वका भलीभांति निर्वाह करते हुवे अतीव व्यापक तथा प्रमाणिक अनेकविध योजनाओंकी खोज इस तरह करनेका एक व्यवस्थित प्रयास किया है. यह और बात है कि इतने सारे प्रकारोंको प्रस्तावित करना ''कृतमप्यकृतमिव भवति'' जैसी बात लगती है. इसे परन्तु ''स्थितस्य गतिः चिन्तनीया''की मनोवृत्ति रख कर निहारनेपर उतनी असमञ्जस बात नहीं लगेगी जितनी कि भारतीय दार्शनिक चिन्तनके विकासको सर्वथा अयोजनाबद्ध ही मान बैठना. उदाहरणतया 'अच्'प्रत्यहारमें 'एच्'प्रत्याहारके अन्तर्भूत होनेके बावजूद गुणसन्धि और वृद्धिसन्धि के सूत्र पाणिनिको पृथक्-पृथक् बनाने पड़े! वह बोलनेकी प्रक्रियामें संस्कृतभाषामें प्रकट होती अनेकरूपताके वश करना ही पड़ा, ऐसी ही कुछ बात यहां भी स्वीकार लेनी चाहिये.

वाल्लभ दर्शनका स्थान :

स्पष्ट है कि मानमेयरहस्यवार्तिककारके अनुसार : सब कुछ सत् है ऐसा सदद्वैतवादी वाल्लभ वेदान्त है ही. साथ उस सद्रूप ब्रह्मके अद्वैतमें स्वयं उसके सर्वविध नामरूपकर्मात्मना प्रकट होनेके संकल्प एवं सामर्थ्य के कारण द्वित्व प्रकट तो होता है परन्तु यह द्वित्व

एकान्तिक नहीं होता. अतः द्वित्वसंख्यैकान्तवादके उदाहरण सब कुछ नित्य/अनित्य या जड़/चेतन रूप होता है, ऐसी धारणा बनती हैं. यहां अंशतः स्वीकार ही सिद्धान्ताभिमत है. अतएव इस ऐच्छिक द्वैतके विचारवश भगवल्लीलामें सब कुछ मातृ-मान-मिति-मेयात्मना चतुःसंख्याक होता है परन्तु ब्रह्म ही इन सभी रूपोंमें प्रकट हुवा मान्य होनेसे वाल्लभ दर्शन चतुःसंख्यैकान्तवादी नहीं है. अतएव योजनाकारके इस विधान **''इसी तरह स्वस्वाभिमत तत्त्वोंकी कोई निश्चित संख्या स्वीकारनेके बावजूद कोई चिन्तक सिद्धान्ततया संख्यानेकान्तवादी भी हो सकता है, जिसे अनुभूतिगोचर जगत्को किसी निश्चित संख्यामें इदमित्थतया बांधना स्वयं अनुभूतिविरुद्ध कथा लगती है''** इस सन्दर्भमें महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके प्रस्तुत उद्गार मननीय लगते हैं **''अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेः मतम्''-''सर्वैरेव यथा निरूप्यते तथा भगवान् भवति इति तत्र उपपत्तिम् आह 'वाच्यवाचकशक्तये' इति. 'वाच्यो' अर्थः 'वाचकः' शब्दः. उभयत्रापि शक्तयो यस्य. यथैव अर्थं वक्तुम् इच्छति तथैव अर्थो भवति तं प्रति''** (सि.मु.४-५, सुबो.१०।१३।४६). अतएव ब्रह्मबाह्य कुछ भी स्वीकार्य न होनेपर भी लौकिक ज्ञानके सन्दर्भमें ज्ञेयार्थ ज्ञानबाह्य हो सकता है. इसी तरह शरीरान्तःस्थित पुरुषस्वरूपके जिज्ञास्य होनेपर वाल्लभ दर्शन प्रत्येक शरीरमें ब्रह्मके अक्षरस्वरूपके चिदंशतया जीवात्माकी उपस्थिति स्वीकारता है वैसे ही ब्रह्माण्डमूर्ति नारायणके आनन्दांशरूप अन्तर्यामीकी उपस्थिति स्वीकारता ही है. इन दोनोंके बीच भेदाभेदविलक्षण तादात्म्य ही वाल्लभ दर्शन स्वीकारता है. इसी तरह अन्य भी विधाओंके अन्तर्गत वाल्लभ दर्शनका स्थान यहां इस योजनामें सरलतया निर्धारित हो पाता है.

नवमदृष्टि :

इन सभी पूर्वप्रयासोंको दृष्टिगत करनेपर तथा पाश्चात्य दर्शनोंके

भी कुछ वैचारिक उपादानोंको लक्ष्यगत रखनेपर भारतीय दर्शनोंके विकासकी रेखाके कुछ तुलनात्मक पहलु जो सामने आते हैं, उनकी पूर्वभूमिका मैं कुछ इस तरह बांधना चाहता हूं :

भारतीय दर्शनमें जिसे 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष', 'सविकल्पक प्रत्यक्ष / विकल्पाध्यवसाय' और परोक्षापरोक्ष वस्तुविषयक 'प्रत्यय / विकल्पना' कहा जाता है, इनके अनुरूप त्रिविध प्रमाणलक्षणोंके मतभेद भी प्रकट हुवे हैं, लक्षणशः, १.''यथार्थानुभवः प्रमाणं'', २.''अविसंवादिफलप्रवृत्तिजनकं ज्ञानं प्रमाणं'', ३.''अनधिगताबाधितार्थविषयकं ज्ञानं प्रमाणं''. इन्हीं मतभेदोंके समानान्तर पाश्चात्य दर्शनमें भी sensation, perception और conception यों ज्ञानके त्रिविध प्रकार स्वीकारे गये हैं. एतदनुरूप ही sensedata, percept और concept यों ज्ञानके विषयोंके भी तीन प्रकार बनते हैं. साथ ही साथ प्रामाण्यमीमांसामें प्रामाण्यके बारेमें भी त्रिविध लक्षणोंके अनुरूप जो तीन सिद्धान्त या वाद प्रवृत्त हुवे हैं. वे नामशः यों हैं : 1.Theory of Correspondence, 2.Theory of Utility और 3.Theory of Coherence. स्पष्ट है कि ये भी क्रमशः भारतीय त्रिविध प्रमाणलक्षणोंके अनुरूप या समानान्तर ही हैं.

इस सन्दर्भमें यह नितान्त अवधारणीय है कि ज्ञानके इन तीनों स्तरोंको वस्तुप्रमाण वस्तुव्यवहार और वस्तुलक्षणबोध के हेतु अपरिहार्यतया स्वीकारना ही चाहिये. अन्यथा ज्ञानमीमांसा अधूरी रह जाती है. साथ ही साथ इस दृष्टिसे इन तीनोंको निहारनेपर :

Sensedata को सत् (Being) न माननेपर वह सचेतन व्यक्तिमें Sensation जननरूपा अर्थक्रियाके कारकहेतुतया भी सिद्ध नहीं हो पायेगा.

ऐसी स्थितिमें Sensesation को Sensedata का ज्ञापकहेतु भी मानना सम्भव नहीं रह जायेगा. और स्पष्ट है कि यह तो वदतोव्याघात और/अथवा व्यवहरतोव्याघात के बिना शक्य ही नहीं!

जहां तक सविकल्पकप्रत्यक्ष या विकल्पाध्यवसाय प्रश्न है तो वहां पूर्वोक्त सत्के रूपतया अथवा विकल्पतया कुछ गृहीत तो होता ही है. परन्तु ज्ञानके इसी दूसरे स्तरके अनेकविध अवान्तर प्रकारभेद, नामशः, विकल्पाध्यवसाय विकल्पानध्यवसाय विकल्पसंशय विकल्पभ्रान्ति आदि होते हैं. और अतएव वे रूप या विकल्प (Percept) गृह्यमाण देश-कालमें बाह्यार्थतया विद्यमान (Existing) होते हैं या नहीं, यह विभिन्न दर्शनोंके बीच भीषण विवादभूमि बन गयी है. लोकव्यवहार, परन्तु, सर्वथा एतन्मूलक ही होता है और उसे प्रामाणिक मानना या नहीं यह तो विभिन्न दर्शनोंके अपने-अपने सिद्धान्तोंकी कथा है. अर्थात् क्या बाह्यार्थ सत्के जो विकल्प गृहीत होते हैं वे विकल्पाध्यवसायके कारकहेतु होते हैं या नहीं? अथवा क्या विकल्पाध्यवसाय स्वगृह्यमाण विकल्पोंका ज्ञापकहेतु न हो कर केवल विकल्पकल्पना मात्र है?

इसी तरह ज्ञानके तीसरे स्तर परोक्षापरोक्ष वस्तुविषयक प्रत्यय, नाम या विकल्पना अर्थात् Conception और Concept आते हैं. इसे अन्यान्यविध उपलक्षण उपाधि आगन्तुक या स्वाभाविक विशेषण रूप अन्यसाधारण धर्मोंके साथ-साथ अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-असम्भवदोषोंसे रहित लक्षणरूप धर्मोंके भी ग्रहण अथवा निरूपण के रूपमें भी स्वीकारना चाहिये. ये अनितरसाधारणधर्म लोकव्यवहारमें अतीव उपयोगी नहीं होते. क्योंकि, उदाहरणतया, लोकव्यवहारमें 'पक्षी' पदका अर्थ पक्षवान् प्राणीके रूपमें ही सोचा-विचारा जायेगा. ये पक्ष, परन्तु, ऐसे प्राणिओंके अव्याप्यत्यतिव्याप्त्यसम्भव दोषोंसे रहित धर्म नहीं हो पाते मशक-मक्षिका आदिमें अतिव्याप्त होनेके कारण. जबकि 'चञ्चुमत्ता' ऐसा धर्म हो सकता है परन्तु इसपर लोकव्यवहार सहसा निर्भर नहीं

हो पाता है. अतः प्रश्न यहां भी अपना सुरसासदृश विकराल मुंह बाये सामने खड़ा ही रहता है कि क्या इन conception और Concept के बीच परस्पर ज्ञापकहेतु और कारकहेतु होनेका सम्बन्ध रहता है या नहीं? क्या इस तरहके प्रत्यय वस्तुतः कहीं वस्तुतादात्म्येन अथवा वस्तुसमवेततया समाश्रित (Subsisting) होते हैं या नहीं? अथवा वस्तुद्रष्टाकी ये कल्पनामात्र होते हैं?

इन प्रश्नोंके उत्तर मतभेदवशात् भिन्न-भिन्न ही मिलेंगे. हर स्थितिमें बाह्यार्थ वस्तुजनित निर्विकल्प प्रत्यक्ष और चेतनाद्वारा उसे किस प्रत्ययके रूपमें अनूदित वर्गीकृत संगृहीत तथा व्याख्यायित किया जाता है, यों इन उभयविध ज्ञानके स्तरोंके पारस्परिक सहयोगके बिना सविकल्पप्रत्यक्ष या विकल्पाध्यवसाय रूप ज्ञानका द्वितीय स्तर प्रकट हो नहीं सकता, इतना तो निश्चयेन कहा जा सकता है.

इनमें निर्विकल्पप्रत्यक्ष और तद्विषयीभूत अर्थके बीच प्रामाण्यके अवधारणार्थ याथार्थ्य; अर्थात्, अनुभूतिका अर्थानतिवर्तित्व होना अर्थात् Theory of Correspondence को अपरिहार्य मानना चाहिये. क्योंकि बाह्यार्थ निर्विकल्पका कारकहेतु (ratio ascendie) होता है और निर्विकल्पकप्रत्यक्ष बाह्यार्थका ज्ञापकहेतु (ratio cogniscendie) होता है. स्पष्ट है कि ऐसी स्थितिमें प्रामाण्यका निकष याथार्थ्य=अर्थानतिवर्तित्व ही हो सकता है.

जहां तक सविकल्पकप्रत्यक्ष अर्थात् विकल्पाध्यवसाय का प्रश्न उठता है तो ऐसे प्रत्यक्षमें यदि फलाविसंवादिप्रवृत्तिजनकता अर्थात् Theory of Utility मान्य न हो तो ऐसे सविकल्पप्रत्यक्षको प्रामाणिक मानने सहसा कोई उद्यत नहीं हो पायेगा.

इसी तरह ज्ञानके तीसरे स्तरपर अर्थात् परोक्षापरोक्ष वस्तुविषयक

ज्ञान या वस्तुप्रत्यय के बारेमें ''अनधिगत-अबाधितार्थविषयकं ज्ञानं प्रमाणं'' लक्षणको कारगर मानना चाहिये. अर्थात् तदनुरूप पाश्चात्य दर्शनमें Theory of Coherence यहां कारगर सिद्ध हो पायेगी. क्योंकि ऐसी स्थितिमें दो प्रत्ययोंके बीच परस्पर अबाधितता/अबाध्यता और प्रत्ययार्थ वस्तुकी अन्यथा अनधिगतता ही प्रत्ययको प्रमाणपदवीपर आरूढ़ होनेका अधिकारी बनाती है.

इस प्राथमिक स्पष्टीकरणके बाद अब यह सुखेन समझा जा सकता है कि ज्ञानके इन तीनों स्तरोंके बारेमें जो अनेकविध वैकल्पिक दृष्टियां चिन्तकोंने अपनायी हैं उनके पाश्चात्य तर्कशास्त्रीय A E I O और U Propositins की तरह पांच प्रकार हो सकते हैं. यथा :—

A = **सभी दृष्टियां प्रामाणिक हैं.**
E = **कोई भी दृष्टि प्रामाणिक नहीं होती.**
I = **कुछ दृष्टियां प्रामाणिक होती हैं.**
O = **कुछ दृष्टियां प्रामाणिक नहीं होती.**
U =**कोई एक ही दृष्टि प्रामाणिक होती है.**

इनमें A विधामे सर्वदृष्टिओंपर अनुग्रह प्रकट होता है. E विधामें सर्वदृष्टिप्रहाण है. I / O विधाओंमें कतिपय दृष्टिओंपर अनुग्रह या कतिपय दृष्टिओंका प्रहाण है. अन्तिम U विधामें किसी एक दृष्टिपर अनुग्रह अथवा किसी एक दृष्टिका प्रहाण प्रकट हो सकता है.

सर्वप्रथम U विधाके मूलमें जो अनुग्रह या प्रहाण रूप दो भेद होते हैं, उनमें प्रहाणके पुनः दो अवान्तर भेद यों सोचे जा सकते हैं कि प्रहाण केवल स्वार्थ या परार्थ भी हो सकता है. उदारणतया गीतोपदिष्ट स्वपरधर्मद्वैतवादके अंगीकारमें परधर्मका स्वार्थ प्रहाण

अभिप्रेत होनेपर भी परार्थ प्रहाण अभिप्रेत नहीं होता. केवल अपने धर्मको सच्चा माननेवालोंके मतमें जबकि परधर्मका परार्थ भी प्रहाण अभिप्रेत होता है. जैसे कि किसी एक किताबके अलावा अन्य किसी भी किताबका अनुसरण किसीको काफिर बना देता होनेसे परार्थ भी प्रहाण अभिप्रेत माना जा सकता है. यहां यह अवधेय है कि पाश्चात्य तर्कशास्त्राभिमत विकल्पके जैसे मृदु और कठोर दो प्रभेद स्वीकारे गये हैं. इन प्रभेदोंके बीच कठोरविकल्पतया [स्वदृष्टि / स्वीयेतरदृष्टि] रूप स्वीयेतरदृष्टिप्रहाण अभिप्रेत होता है. यहां स्वदृष्टि और स्वीयेतरदृष्टि यों दोनों दृष्टियां एक साथ सत्य नहीं हो सकती. इसके विपरीत स्वीयेतर दृष्टिपर अनुग्रहके भी इसी तरह दो उपभेद हो सकते हैं. उदाहरणतया प्रायः एकदेशिमतको अस्वमत मान कर भी वैकल्पिकतया अनिरसनीय मान लिया जाता है. अथवा कभी ऐसा भी होता है कि अन्यमतका अपने मतमें अन्तर्भाव दिखला दिया जाता है. इस तरहके इन दो उपभेदोंको यों समझा सकता है : [1]वैकल्पिकताके अंगीकारवश अनुग्रह [स्वदृष्टि v स्वीयेतरदृष्टि]. यहां द्वितीय मृदुविकल्पतया स्वदृष्टि और स्वीयेतरदृष्टि दोनों ही स्वार्थ-परार्थभेदवश सत्य हो सकती हैं. उदाहरणतया शिवोपासकार्थ शिवका परदेवत्ववाद विष्णूपासकार्थ विष्णुका परदेवत्ववाद यों दोनों ही प्रामाणिक माने जा सकते हैं. [2]एकदेशिताके अंगीकारवश अनुग्रह[स्वदृष्टि =A ⊃ I =स्वीयेतरदृष्टि]. यहां स्वमतमें परमतका अन्तर्भाव जैसे सप्तपदार्थवादिओंने षोडशपदार्थवादिओंके पदार्थोंका सप्त पदार्थोंमें अन्तर्भाव प्रतिपादित कर दिया. यह लगभग वैसी ही स्थिति है जो गौतमसूत्र(१।१।२६)में प्रतिपादित तन्त्रसिद्धान्त और अधिकरणसिद्धान्त के बीच स्वीकारी गयी है.

I और O propositions तो इतरेतरनिषेधमुखतया इतरेतर-अर्थापत्तिमें पर्यवसित होते होनेसे, एक ही बातके केवल विधिमुख या निषेधमुख कहनेके विधागत भेद ही हैं. अतः इस प्रकारकी विवेचनाके

विस्तारमें जाना बहुत आवश्यक नहीं लगता.

A और E विधाओंमें क्रमशः सर्वदृष्टच्यनुग्रह और सर्वदृष्टिप्रहाण निरूपित होता है. इनमें सर्वदृष्टिप्रहाणके जैसे तीन अवान्तर प्रभेद होते हैं वैसे ही तीन ही अवान्तर प्रभेद सर्वदृष्टच्यनुग्रहके .. होते हैं. यों कुल छह प्रभेद होते हैं : [1]तत्त्वाज्ञेयतांगीकृतिमूलक प्रहाण [2]तत्त्वाज्ञाततांगीकृतिमूलक प्रहाण [3]तत्त्वसन्दिग्धतांगीकृतिमूलक प्रहाण [4]परमार्थापरमार्थभेदांगीकृतिमूलक अनुग्रह [5]प्रमाण-नयभेदांगीकृतिमूलक अनुग्रह [6]सर्वात्मतांगीकृतिमूलक अनुग्रह.

अब इन्हें सविवरण इस तरह समझा जा सकता है :

[1]वैसे तो माध्यमिकोंके भी अनेक भेदोपभेद हैं परन्तु शून्यता या तथता चतुष्कोट्यतीत पञ्चमी कोटी है या केवल चतुष्कोटिविर्निमोक अर्थात् चारों कोटियोंका केवल अपोहन या निरसन? इस विषयमें भगवान् बुद्धके अभिप्रायोंका अनुसरण करना हो तो स्वीकारना ही पड़ेगा कि - शून्यता पांचवीं कोई पदार्थकोटि न हो कर केवल चार कोटिओंका शाब्दिक निषेधमात्र है, अर्थात् वह सर्वविध वाच्योंका अपोहन केवल है. जैनोंने जैसे पांचवीं छट्ठी और सातवीं कोटियां भी इस विवादमें प्रस्तावित की उनमेंसे कोई एक कोटी आग्रहिलतया भगवान् बुद्धके समक्ष प्रस्तुत की जाये तो उसका भी निरसन ही भगवान् बुद्धको अभिप्रेत होगा. इसे परवर्ती योगाचार तथा माध्यमिक दोनोंके पूर्वोद्धृत तथा अन्य भी कुछ शून्यतासम्बन्धी उद्गारोंके अवलोकन करनेपर सरलतया समझा जा सकता है **''अस्तीति वदतो ब्रूमो नास्ति सर्वं विचारतो, नास्तीति वदतो ब्रूमः सर्वम् अस्त्यविचारतः. यथा-यथा समारोपाः जायन्ते तत्त्वयोगिनः तथा-तथा समारोपाः हन्यन्ते तत्त्वयोगिना.''**(१९) **''व्यावृत्तिः सर्वदृष्टीनां कल्प्यकल्पनवर्जिता''**(२०) **''यद्यशून्यं भवेत् किञ्चित् स्याच्छून्यमिति किञ्चन, न किञ्चिदस्त्यशून्यं च कुतः शून्यं भविष्यति?**

शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः येषान्तु शून्यतादृष्टिः असाध्यान् तान् बभाषिरे.''(२१) एतावता यह सिद्ध होता है कि निर्बीज असम्प्रज्ञातसमाधि जैसी ग्राह्य-ग्राहक-ग्रहणविवर्जित चित्तकी सभी विकल्पोंसे शून्यावस्था ही विज्ञानवादी तथा माध्यमिकों के मतमें भी शून्यतया अभिप्रेत है नकि चित्तेतर किसी तत्त्वकी किसी भी प्रकारके विकल्पके साथ ज्ञेयता. फिरभी दोनोंके बीच जो मतभेद है वह केवल इतनेसे अंशमें है कि विज्ञानवादी विज्ञानको परमार्थ सत्य मानते हैं जबकि माध्यमिक उसके बारेमें भी शून्यताकी ही दृष्टिका उपदेश देते हैं. अतः यूरोपमें ईमान्युएल कान्टने Thing as it is unknowable और Thing as it appeares is knowable का जैसा तारतम्य प्रतिपादित किया था, वैसा ही कुछ यहां भी मान कर चलना चाहिए. अतएव (क)''द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना लोके संवृतिसत्यं च सत्यञ्च परमार्थतः'' (ख)''संवृतिः परमार्थं च सत्यद्वयमिदं स्थितं बुद्धेः अगोचरः तत्त्वं बुद्धिः संवृतिरुच्यते'' (ग)''प्रतीत्यसमुत्पन्नं वस्तुरूपं 'संवृतिः' उच्यते. तदेव 'लोकसंवृतिसत्यम्' इति अभिधीयते, लोकस्यैव संवृत्या तत् सत्यमिति कृत्वा... सर्वस्य हि प्रतीत्यसमुत्पन्नस्य पदार्थस्य निःस्वभावता पारमार्थिकं रूपम्''(२२) उद्गारोंके आधारपर परमार्थतः अज्ञेयता और व्यवहारतः रूप-विज्ञान-वेदना-संस्कार-संज्ञारूप पञ्चस्कन्धोंमें प्रतीत होती प्रतीत्यसमुत्पा-दता रूपी ज्ञेयताके रूपमें 'तत्त्वाज्ञेयतांगीकृतिमूलक सर्वदृष्टिप्रहाण' इसे कहा जा सकता है.

[३]इससे भिन्नतया किसी बाह्य या आभ्यन्तर तत्त्वको ज्ञेयतया स्वीकारनेके बावजूद इदमित्थतया वाणीके बिना कुछ भी निरूपित नहीं हो पाता है और वाणीसे तो वही निरूपित होता है कि बोलनेकी क्रीड़ाके हेतु हमने जैसे/जिन वाङ्नियमोंको घड़ा होता है. यों ज्ञेयतया कुछ स्वीकार लेनेके बावजूद वस्तुतत्त्वको अवाच्य-अपरिभाष्य अर्थात् लक्षणानर्ह स्वीकारनेवाली विट्गॅन्स्टीनके जैसी दृष्टि अर्थात् लक्षणार्हत्वेन तत्त्वाज्ञाततांगीकृतिमूलक भी एक सर्वदृष्टिप्रहाण हो सकता है.

इसे विज्ञानवादी योगाचारमतके सद्धर्मलंकावतारसूत्र के **''बुद्धचा विवेच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते तस्मादनभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च देशिताः''**[२३] इस प्रसिद्ध वचनके आधारपर भलीभांति समझा जा सकता है. ऐसी दृष्टि तत्त्वोपप्लव वाक्यपदीय खण्डनखण्डखाद्य चित्सुखी आदि ग्रन्थोंमें उपलब्ध होती निरुक्तिविरहताके प्रतिपादनसे सुसंगत लगती है. इसे जैनोंके **''स्याद् अस्ति च अवक्तव्यं च''** शब्दनयान्तर्गत पांचवी कोटीके समान स्वीकारा जा सकता है.

[३]सर्वदृष्टिप्रहाणार्थ यूरोपीय चिन्तनमें ह्यूम जैसोंके द्वारा सन्देहवादी विचारधाराका विक'स जैसा-जितना हुवा वैसी विचारधारा परन्तु यहां भारतमें कोई प्रकट हुयी हो ऐसा कमसे कम मुझे तो ज्ञात नहीं है. अतः इसे रिक्तवर्गतया ही प्रस्तावित करना पड़ता है.

[४]चतुर्थ सर्वदृष्टिप्रहाणको निषेधमुखशैलीमें बोलनेके बजाय विधिमुखशैलीमें बोल कर सर्वदृष्ट्चनुग्रह भी शक्य हो पाता है. अर्थात् परमार्थतः कुछ भी प्रामाणिक नहीं होनेपर भी व्यवहारमें सभी कुछ सम्भव होता है. अतः केवल परमार्थदृष्ट्चा सर्वदृष्टिओंको निराकरणीय माननेपर भी व्यवहारदृष्ट्चा उन्हें मान्य रखनेकी चिन्तनप्रणाली भी केवलाद्वैतवादिओंकी भी दिखलायी देती है. उदाहरणतया विविध देवताओंके परतत्त्वताके विवादमें अथवा स्वयं केवलाद्वैतिओंके अनेकविध भामती विवरण या वार्तिक आदि प्रस्थानोंमें व्यावहारिक स्तरपर परस्पर विरुद्ध मतभेदोंमें सभीको मान्य रखना, इस प्रतिपादनशैलीकी विशेषता है. परवर्ती केवलाद्वैती ग्रन्थकारोंकी ऐसी विचारशैली दिखलायी देती है. गौड़पादकारिका के ये उद्गार **''स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढं परस्परं विरुद्धचन्ते तैरयं न विरुद्धचते''**[२४] में सभी दृष्टिओंके परमार्थदृष्ट्चा निराकरणके साथ-साथ वाचनिक सर्वदृष्ट्चनुग्रह भी प्रकट किया गया है ऐसा स्वीकारा जा सकता है.

"जैसा कि पहले ही इसका निरूपण कर चुके तदनुसार जैनोंने दुर्नयदृष्टि नयदृष्टि और प्रमाणदृष्टि के तारतम्यद्वारा अन्यान्य मतोंको, स्वमतीय अनेकान्तवादसे बाह्यदृष्टितया मिथ्यादृष्टि होनेके कारण अमान्य रखनेके बावजूद उन्हीं मिथ्यादृष्टिओंको पुनः, 'स्यात्' निपातोपन्यासपूर्वक अनेकान्तवादांगतया प्रामाणिकतया भी मान्य रखा है. अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाकार श्रीहेमचन्द्र कहते हैं "सदेव सत् स्यात्सद् इति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीति-नय-प्रमाणैः." (२५) अतः [अनेकान्तवाद = ∧⊃I = सप्तविधनय] ऐसी भी एक शैली सर्वदृष्ट्यनुग्रहकी हो ही सकती है.

[6]इस ऐसे अनेकान्तवादकी तुलनामें उपनिषदोंमें उपलब्ध होती ब्राह्मिकी सर्वात्मतादृष्टि या सर्वरूपतादृष्टि के अन्तरका वैलक्षण्य भलीभांति समझ लेना अत्यावश्यक है.

(क)पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यत् च भव्यं...सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते.
(ख)यत् च किञ्चिद् जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः.
(ग)यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येव अनुपश्यति, सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते, यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैव अभूद् विजानतः, तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वम् अनुपश्यतः.
(घ)एषहि देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः, पूर्वोहि जातः सउ गर्भे अन्तः, स विजायमानः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्मुखाः तिष्ठति विश्वतोमुखः. यद् एकम् अव्यक्तम् अनन्तरूपं विश्वं पुराणं...तदेव अग्निः तद् वायुः तत् सूर्यः तदु चन्द्रमा तदेव शुक्रम्

अमृतं तद् आपः स प्रजापतिः.

(ङ)ब्रह्मवा इदमग्र आसीत् तद् आत्मानमेव अवेद अहं ब्रह्मास्मि इति तस्मात् सर्वम् अभवत्. इदं सर्व यद् अयम् आत्मा.

(च)एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं-रूपं प्रतिरूपो बहिश्च.

(छ)स य एषोऽणिमा ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं स आत्मा तत् त्वम् असि.

(ज)पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते.[२६]

इन औपनिषद वचनोंके आधारपर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण ऐसा निष्कर्ष निकालते हैं कि मूलतः औपनिषद ब्रह्म सजातीय विजातीय स्वगत भेदोंसे रहित एकमेवाद्वितीय होनेके कारण अज्ञेय-अवाच्य होनेपर भी सर्वरूपोंमें ज्ञेयात्मना एवं वाच्यात्मना स्वतः ही प्रकट हुवा है[२७]. अतः पूर्णसे पूर्णका प्राकट्य अपनी पूर्णताको अखण्डतया निभानेवाला होता होनेके कारण ब्रह्म सर्वविध वादोंसे अतीत भी है और सर्वविध वादोंके अनुरूप भी होता है[२८]. ब्रह्मके स्वरूपको नानावादानुरोधि दिखलाते हुवे महाप्रभुका कहना है कि वैदिकदृष्टिसे जो मान्य सिद्धान्त हो अथवा वैदिकदृष्टिसे जो सिद्धान्ताभास हों अथवा वैदिकदृष्टिसे जो मान्यता पाषण्डितापूर्ण हों उन ऐसी सभी धारणाओंके अनुसार भगवान् रूप धारण कर सकते हैं तथा करते होते हैं. अतः स्वयं भगवान्के स्वतः सर्वरूप होनेसे सभी कुछ उपपन्न हो सकता है. अतः जो उसका जैसे निरूपण करना चाहता है उसके प्रति भगवान्का वैसा ही स्वरूप वस्तुतः प्रकट हो जाता है. क्योंकि भगवान्में सर्वविध वाच्यरूपों और वाचकशब्दों के रूपोंमें प्रकट होनेकी सहज शक्ति/सामर्थ्य होती है.[२९] इस ''सर्ववादानवसरत्वे सति नानावादानुरोधिता''[३०]की व्याख्या करते हुवे महाप्रभुने यह भी कहा है कि सृष्टिके उत्पत्ति-स्थिति-नाशके अनेकविध निरूपणोंद्वारा शास्त्र भी यही समझाना चाहते हैं कि मूलतत्त्व

एकमेवाद्वितीय अव्यक्त भी है और अनन्तरूप भी. वह विश्वरूप भी है और विश्वातीत भी. उसके ऐसे स्वरूपकी उपपत्ति दो तरहसे सोची जा सकती है. एक तो उसके सर्वभवनसामर्थ्यका विचार करके — दूसरे उसके विरुद्धधर्माश्रय होनेका विचार करके. क्योंकि अनेकविध वादोंको प्रस्तावित करनेवाले विविध चिन्तक ब्रह्मके ऐसे इन दो पहलुओंको आधारभूत मान कर अपनी-अपनी बात नहीं कहते और वे अपनी ही आंशिक धारणाके अनुसार मूलरूपको परिच्छिन्न बनाना चाहते हैं; अतः, वादिओंकी ऐसी धारणाके सन्दर्भमें ब्रह्मको 'सर्ववादानवसर' कहा जाता है नकि उनके वादोंके सन्दर्भमें. ब्रह्मके किसी एक असकल विशेष पहलुका निरूपण सकलताके दावेके साथ किया जाय तो बात बिगड़ जाती है. अन्यथा वाणीमें दोषान्वेषण अनावश्यक होता है. दूसरे शब्दोंमें इसे यों कहा जा सकता है कि जैनमतमें तो अनेकान्तवादांगभूत 'स्यात्' निपातार्थवती प्रमाणदृष्टिसे रहित अस्तीत्यादि एकान्तदृष्टियां दुर्नयदृष्टितया परार्थ भी हापनीय बन जाती हैं. जबकि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार सर्ववादानवसर ब्रह्म ही सर्ववादानुरोधि बन जाता है और बन सकता होनेसे (जैनोंकी परिभाषाके अनुसार विकलादेश भी) केवल स्वार्थ ही प्रहापनीय होता है अर्थात् परार्थ वह प्रहापनीय नहीं होता. जैनोंके अनुसार स्याद्वादरूपा प्रमाणदृष्टि सकलादेशरूपा होने स्वपरोभयार्थ अनुग्राह्य होती है. जबकि उससे बहिर्भूत दुर्नयदृष्टि स्वपरोभयार्थ प्रहापनीय होती है. वाल्लभ मतमें परन्तु अब्राह्मिकी दृष्टि स्वार्थ प्रहापनीय होनेपर भी परार्थ प्रहापनीया नहीं होती. अतएव जैनोंकी तरह महाप्रभुके मतमें भी ब्रह्मवाद सकलादेश है और अन्य सारे वाद विकलादेश, स्वयं उन्हींके शब्दोंमें कहना हो तो **''एकैको वादो ब्रह्मणः एकैकधर्मप्रतिपादकवाक्य-शेषइति भगवान् तान् सर्वानेव अनुसरति.''**(३१) अर्थात् विकलादेशका भी ब्रह्मदृष्टचा प्रामाण्य सम्भव है — ब्रह्मकी प्रतिपादिका श्रुतिओंके व्याख्यानतया चाहे न भी सम्भव हो!

उदाहरणतया '' 'असंख्यता'का अर्थ — संख्याओंकी इयत्ताका अनिर्धार है'' इस विधानके अनुसार परन्तु कितनी संख्याके बाद संख्याकी इयत्ताकी

अनिर्धारितता वक्ता-श्रोताके बुद्धिमें आरूढ़ होती है? इसे कह पाना मुश्किल बात है. भारतमें गणनाकी अवधि पर या परार्ध पर्यन्त हुयी है. अब trillion संख्या उससे भी दसगुनी अधिक हो तो परार्धके प्रत्ययसे अतीतता और ट्रिलिअनके प्रत्ययसे अतीतता दोनों ही असंख्यताके प्रत्ययके उपलक्षण बनेंगे. उपलक्षणोंके भिन्न-भिन्न होनेपर भी उपलक्षित असंख्यताके दोनों ही प्रत्यय 'सकल-प्रत्यय' कहे जायेंगे. अतः बात दोनोंकी प्रामाणिक ही माननी पड़ेगी. फिरभी परार्धातीत-संख्याऽनिर्धारवादी, परन्तु, ट्रिलिअनातीतसंख्याऽनिर्धारवादीको अप्रमाणिक मानता हो तो ऐसी धारणाके सन्दर्भमें वह प्रत्यय सत्य नहीं रह जायेगा. फिरभी वाक्यार्थसन्दर्भमें उसे मिथ्या नहीं माना जा सकता. इसी तरह सभी वाद, धारणाओंके सन्दर्भोंमें परिच्छिन्न या विकल होते हों या न होते हों, वाक्यार्थसन्दर्भमें तो प्रामाणिक हो सकते हैं. इस अर्थमें ब्रह्मको 'नानावादानुरोधि' भी माना गया है. महाप्रभुके अनुसार एक-एक वाद ब्रह्मके एक-एक धर्मका प्रतिपादक हो सकता है. अतः ब्रह्मविचारवश सभी वाद प्रामाणिक हो सकते हैं. क्योंकि ब्रह्मके सर्वभवनसमर्थ और विरुद्धधर्माश्रय होनेके सन्दर्भमें सभी वाक्य प्रमाणरूप हो सकते हैं : **''तस्मात् सर्वमेव वाक्यं प्रमाणं यतः सा सरस्वती सर्वतोमुखा''**[३२] महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार ब्रह्मकी इस स्वाभाविकी सर्वभवनसामर्थ्यको प्रमाणविचार प्रमेयविचार साधनविचार और फलविचार के पहलुओंसे देखनेपर इसका स्वरूप सर्वथा सुस्पष्ट हो जाता है. अतः तदर्थ उसकी चर्चाके बिना इस निरूपणका उपसंहार अनुचित होगा.

प्रमाणविचारवश सर्ववाच्य-सर्ववाचकरूपा शक्तियां जब भगवान्में सहज-स्वाभाविकी हों तो, वाचकशब्दोंसे अननुविद्ध ज्ञान तो प्रमाण हो नहीं सकता, अतः सर्वविध ज्ञानोंमें अनुगत शब्दानुवेध सर्वविध ज्ञानोंको ब्राह्मिक सन्दर्भमें प्रामाण्यवाहक बना देता है.

प्रमेयविचारवश भी **''स सर्वं भवति''**[३३] **''ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यम्''**[३४] **''भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं**

ब्रह्ममेतत्''[३५] आदि उपनिषद्वचनोंके आधारपर जब सब कुछ वही बना है तो किसी भी दर्शनाभिमत प्रमेयको सर्वथा बाधितार्थ माना नहीं जा सकता. क्योंकि भागवतमें आता है कि ''भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः दृश्यैः बुद्ध्यादिभिः द्रष्टा लक्षणैः अनुमापकैः''[३६]. इसकी व्याख्या करते हुवे महाप्रभु कहते हैं कि नैयायिकोंने कर्ताके रूपमें, मीमांसकोंने क्रियाके रूपमें, वेदान्तिओंने आत्माके रूपमें, सांख्योंने करण होनेके रूपमें, अन्योंने ज्ञान होनेके रूपमें, किसीने ज्ञाताके रूपमें, यों सभीने भगवान्के एकैकदेशको अपने-अपने अनुभव और युक्तिओंके आधारपर सिद्ध करना चाहा है. ये सभी रूप भगवान्के लक्षण हो सकते हैं और इनसे अंशतो भगवज्ज्ञान पाया ही जा सकता है.[३७].

इसी तरह साधन और फल के विचारके सन्दर्भमें महाप्रभुका प्रस्तुत वचन अनुसन्धेय है : ''**'स वै नैव रेमे. तस्माद् एकाकी न रमते. स द्वितीयम् ऐच्छत्. स एतावान् आस' इन श्रुतिओंके आधारपर 'एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति...' इस श्रुतिके भी आधारपर यह कहा जा सकता है कि भगवान् उन-उन साधनोंको करा कर उन-उन फलोंकों देते हैं और यह सब कुछ भगवान् निज क्रीडार्थ ही जगत्के रूपमें आविर्भूत हो कर केवल क्रीड़ा ही कर रहे हैं, ऐसा वैदिकोंका निर्णय है. यही बात वेदके दोनों काण्डोंमें प्रतिपादित हुयी है. अन्यथा जीवात्माके साधनफलोंका निरूपण करनेवाली श्रुतिओंको ब्रह्मपर माननेके बजाय जीवपर स्वीकारना पड़ेगा. तब तो श्रुतिप्रतिपाद्य कर्म और ब्रह्म को भी जीवशेषतया स्वीकारना पड़ेगा.**''[३८]

इससे यह सिद्ध होता है कि अनेकान्तवादी विधा और इस विधामें कुछ मौलिक अन्तर है. वहां अनैकान्तिक प्रमाणदृष्टिके अन्तर्गत ऐकान्तिक नयदृष्टिओंको अनुग्राह्य माना गया जबकि अनैकान्तिक प्रमाणदृष्टिसे बहिर्भूत ऐकान्तिक दुर्नयदृष्टिओंको प्रहापनीय मिथ्यादृष्टि माना गया है. इस विधामें, जबकि, ब्राह्मिक दृष्टि न होनेके अपराधवश किसी भी दृष्टिके अनुसार किया जाता तत्त्वनिरूपण अप्रामाणिक नहीं हो सकता

है, अर्थात् वह स्वयं दुर्नय नहीं बन जाता. एतावता सिद्ध होता है कि स्वीयेतर निरूपणको प्रमाणतया न स्वीकारना ही केवल मिथ्यादृष्टि है. क्योंकि वह ब्रह्मकी सर्वभवनसामर्थ्य और विरुद्धधर्माश्रयताका अनंगीकार है. यही सर्वात्मरूप ब्रह्मके पूर्णताको स्वीकारनेवाली पूर्ण ब्राह्मिकी दृष्टि है. अतएव वाल्लभ वेदान्तमें परपक्षनिराकरण केवल वेदतात्पर्यविषयीभूत या तदविषयीभूत पदार्थमीमांसाके रूपमें अनुष्ठेय होता है. यह महाप्रभुके ''वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्, उत्तरं पूर्वसन्देहवारकं परिकीर्तितम् अविरुद्धन्तु यत्त्वस्य प्रमाणं तच्च नान्यथा एतद्विरुद्धं यत्सर्वं न तन्मानं कथञ्चन, अथवा सर्वरूपत्वान्नामलीलाविभेदतः विरुद्धांशपरित्यागात् प्रमाणं सर्वमेव हि''(३९) उद्गारोंका प्रमुख रहस्य है. अर्थात् वेदैकवेद्य ब्रह्मकी सर्वात्मकता / सर्वरूपता ही ब्रह्मकी तरह वाल्लभ चिन्तनको भी विरुद्धधर्माश्रयी बनाती हैं कि कई सारी दृष्टियां वेदाभिप्रायतया मिथ्या होनेपर भी वेदैकवेद्य ब्रह्मस्वरूपके सन्दर्भमें प्रामाणिक हो सकती हैं*.

उद्धरणसंकेत

१.षड्दर्शनसमुच्चय : २-३.

२.द्रष्टव्य : उक्त षड्दर्शनसमुच्चयकी भूमिकामें श्रीदामोदरलाल गोस्वामी.

३.सुत्तपिटकान्तर्गत दीघनिकायके ब्रह्मजालसुत्तमें तृतीय प्रकरण.

४.तत्रैव.

५.मध्यमकशास्त्र : १८।९-अद्वयवज्रसंग्रह : पृष्ठ१९.

६.माण्डुक्यकारिकाशांकरभाष्य : ४।८३-८४.

७.द्रष्टव्य खण्डनखण्डखाद्य.१।८ : ''सुदूरधावनश्रान्ता बाधबुद्धिपरम्परा विनिवृत्ताद्वयाम्नायैः पार्ष्णिग्राहैर्विजीयते''.

८.श्रीमदद्वयवज्रपादकृत अद्वयवज्रसंग्रह : पृष्ठ.६२.

९.प्रसन्नपदा : २२।११.

१०.दशश्लोकी : १०/११?.

११.स्याद्वादमञ्जरी : २८.

१२.तत्रैव.

१३.सर्वदर्शनसंग्रहोपोद्धातपृष्ठ : ८४-८५.
१४.सर्वदर्शनसंग्रहोपाद्धातपृष्ठ : ९०-९१.
१५.ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाशपृष्ठ : १-१०.
१६.वेदान्तकल्पलतिकापृष्ठ : १-६.
१७.सदसद्वादो ब्रह्मविज्ञानपृष्ठ : ०-३.
१८.द्रष्टव्य : मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिकके प्रमेयकाण्डमें प्रथमपरिच्छेदान्तर्गत चतुर्थप्रकरण.
१९.श्रीमदद्वयवज्रपादकृत अद्वयवज्रसंग्रह : पृष्ठ.६२.
२०.सद्धर्मलङ्कावतारसूत्रं : १०।४८३-८४.
२१.मध्यमकशास्त्रं : १३।७-८.
२२.(क)मध्यमकशास्त्रं : २४।८.(ख)बोधिचर्यावतारः : ९।२.(ग)तत्रत्यैव पञ्जिका.
२३.सद्धर्मलंकावतारसूत्र : २।१७५.
२४.माण्डूक्योपनिषत्कारिका : ३।१७.
२५.अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका : २८.
२६.(क)पुरुषसूक्त : १,७. (ख)नारायणसूक्त : १. (ग)ईशावास्योपनिषद् : ६-७. (घ)महानाराणोपानिषद् : १।१।५-७. (ङ)बृहदारण्यकोपनिद् : १।४।१०,४।५।७. (च)कठोनिषद् : २।२।९. (छ)छान्दोग्योपनिद् : ६।८।७. (ज)बृहदारण्यकोपनिषद् : शान्तिपाठ.
२७.पत्रावलम्बन : कारि.१.
२८.तत्त्वार्थदीपनिबन्ध : १।७०.
२९.सुबोधिनी : १०।१३।४३.
३०.तत्त्वार्थदीपनिबन्ध : १।७०.
३१.तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाश : १।७०
३२.तत्रैव : २।१७३.
३३.बृहदारण्यकोपनिषद् : २।४।६.
३४.छान्दोग्योपनिषद् : ६।८।५.
३५.श्वेताश्वतरोपनिषद् : १।१२.

३६.भागवतपुराण : २।२।३५.
३७.सुबोधिनी : २।२।३५.
३८.ब्रह्मसूत्राणुभाष्य : १।१।११.
३९.तत्त्वार्थदीपनिबन्ध : १।८-९.

---

* प्रस्तुत निबन्धमें प्रतिपाद्य विचारबिन्दु, एड्वांस् स्टडी इन संस्कृत, पूणें-विश्वविद्यालयके संमाननीय श्री वी.एन्. झाजीकी प्रेरणावश उनके केन्द्रमें *''नेचर् एंड् फंक्शन् ऑफ माइंड्''* पर आयोजित सेमिनारमें मौखिक चर्चाके रूपमें मैंनें प्रस्तुत किये थे. श्रीझाजीके आग्रहपर पश्चात् पुनः यथोचित संशोधन-परिवर्धनके साथ उक्त केन्द्रको लिखित प्रबन्धके रूपमें भी भेजा दिया था. सो *''ह्युमन् माइंड् एंड् मशीन्''* ग्रन्थमें श्रीसद्गुरु पब्लीकेशन्स् दिल्लीद्वारा सन् २००३ वर्षमें प्रकाशित भी हुवा है. यहां पुनः उसी प्रबन्धमें कुछ अपेक्षित थोड़े-बहोत परिवर्धनके साथ प्रकाशनार्थ उनकी सहमतिपर स्वकृतज्ञतापूर्वक पुनःप्रकाशित किया जा रहा है.

गोस्वामी श्याम मनोहर.

वाल्लभ वेदान्तके अनुसार
भाषाका स्वरूप और कार्यकलाप

[उस प्राणकी तांत वाणी होती है. नाम सारेके सारे उस प्राणके रस्सीकी तरह होते हैं. प्राणकी इन तांत और रस्सी से सब कुछ बंधा हुवा है. यहां सभी कुछ वाणीका विषय होता है (ऐत.उप.२।१।५). इस वाणीके पुष्प-फलकी तरह सत्य(=सत्+त्यत्=प्रकट+अप्रकट) होता है. अतः सत्यके निरूपणमें वाणीके पुष्प और फल प्रकट हो जाते हैं. इसके अलावा वाणीसे अनृत बोलना वाणीकी अपनी जड़ोंको उघाड़ देनेकी तरह होता है. वृक्षोंकी जड़ोंको उघाड़ देनेपर वृक्ष सूख कर स्वयमेव उखड़ जाता है (ऐत.उप.२।३।६).]

'अ'कारोऽस्मीत्येवं ह्यवददिह गीतासु भगवान्
भवेत्को वास्यार्थस्तदुदितमहं नैवमविदम्।
''अकारो वाक् सर्वा'' श्रुतिवचनमालक्ष्य कथया-
म्यवाच्यं वा वन्दे सकलपदवाच्यं तमथवा॥
वचन वाचक वाच्य भिदाश्रितं यदितु निर्वचनं नहि सार्थकम्।
भवति शून्यमिदं निखिलं तदा नमनमेव मदुक्तमपार्थकम्॥
करुणया वरणं हि मुधा न चेत् कथमु जीवकृतं नमनं मुधा?।
समभवत्स हि सर्वमिदं खलु स्वयमतो हि नमस्करवाणि तम्!॥[१]

(१)उपक्रम :

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार यह समग्र सृष्टि सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मके सदंश चिदंश या आनन्दांश की विविध अभिव्यक्तियां हैं. इसे स्पष्ट करनेको उनके 'तत्त्वार्थदीपनिबन्ध' एवं 'पत्रावलम्बन' नामक

ग्रन्थोंमें प्रतिपादित अंशोंका सव्याख्योपपत्तिक भावार्थ प्रस्तुत करना चाहेंगे :

''परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण अद्भुतकर्मा हैं! वे तीन तरहकी क्रीड़ा करते हैं : कभी वे अनेकविध आनन्दात्मक नाम-रूप-कर्म धारण कर स्वयं प्रकट होते हैं, कभी वे आनन्दांशके तिरोधानपूर्वक अनेकविध नाम-रूप-कर्मोंको धारण कर जगदात्मना प्रकट होते हैं; और कभी स्वयं सदात्मना उपादान हुए बिना भी केवल अधिष्ठानरूपेण अनेकविध नाम-रूप-कर्मोंको प्रकट दरसाते हैं.''

''वह एकमेव अद्वितीय सत्+चिद्+आनन्दरूप ब्रह्म स्वरूपतः अविभक्त रहते हुवे भी लीलेच्छया अनेक नाम-रूप-कर्मोंमें अपने-आपको विभक्त करता है. अतः एकरस होनेपर भी वह केवल अपनी अविकुण्ठित इच्छाके अनुरूप अनन्तमूर्ति बन जाता है. केवल इच्छामात्रके वश स्वयं उसके भीतर अनेक ब्रह्मात्मिका अंशरूपा चेतनायें सृष्टिके आदिमें प्रकट होती हैं. अग्निमेंसे, जैसे, तिनके निकल कर ठंडे पड़ जाते हैं, वैसे ही, ये चिदंश ब्रह्मकी इच्छाके वश अपना आनन्दाकार खो देते हैं. इसी तरह सदंशसे सारे जड़रूप भी प्रकट होते हैं. और आनन्दांशमेंसे सभीके भीतर रहते सभीके नियामक अन्तर्यामी भी प्रकट होते हैं. इनमें जड़ पदार्थोंके भीतर चिदंश-आनन्दांश तिरोहित हो जाते हैं और जीव पदार्थोंके भीतर आनन्दांश तिरोहित हो जाता है. अन्तर्यामिरूप आनन्दांशोंके भीतर, परन्तु, आनन्दांश अतिरोहित ही रहता है. अतः व्यवहारमें जड़ जीव और अन्तरात्मा यों तीन रूप लीलामें प्रकट होते हैं.''

''प्रत्येक निर्वचनमें अनिवार्यतया उल्लेखनीय असाधारणधर्म जो ब्रह्मेतरका व्यावर्तक हो ऐसा धर्म सजातीय विजातीय

स्वगत द्वैतवर्जित ब्रह्मके अखण्डाद्वैत स्वरूपके सन्दर्भमें सोचा ही नहीं जा सकता. अतएव किसी प्रकारका निर्वचन भी शक्य नहीं. फिरभी वही ब्रह्म अपने सर्वभवनसामर्थ्य और प्रतिघातानर्ह सत्यसंकल्प के वश लीलया अनेक नाम-रूप-कर्मात्मना प्रकट भी हुवा है. अतएव प्रकट हुवे अनेकविध नाम-रूप-कर्मसम्बन्धी व्यवहारमें निर्वचन सुवच भी बन जाता है.''[२]

इस लीलासृष्टिके अन्तर्गत रूपसृष्टि और नामसृष्टि के परस्पर पार्थक्य और द्योत्यद्योतकभाव को समझाते हुवे महाप्रभु कहते हैं कि रूपसृष्टि और नामसृष्टि परस्पर विलक्षण होती हैं : रूपसृष्टि नामसृष्टिकी अपेक्षया अन्तवती होती है जबकि रूपसृष्टिकी अपेक्षया नामसृष्टि अन्तहीन होती है. रूपसृष्टि स्थूल जबकि नामसृष्टि सूक्ष्म होती है. रूपसृष्टि अपने विकारी उपादान या प्रकृति से प्रकट होनेवाली विकृतिरूपा होती है जबकि नामसृष्टि अविकृता होती है. रूपसृष्टि जड़रूपा होती है जबकि नामसृष्टि बोधरूपा होती है. रूप और नाम के इन परस्पर अतीव विरोधी ध्रुवोंका सामञ्जस्य कैसे बैठ पाता है, इस बारेमें महाप्रभुका कहना है कि ब्रह्म स्वयं नाना वादोंके अनुरोधवश अनेकविध वाच्यभूत रूपसृष्टि तथा वाचकभूत नामसृष्टि को प्रकट करने, न करने, अथवा अन्यथा प्रकट करनेको सर्वसमर्थ होता है. इसलिये जो बात जिस तरह हमें कहनी अभिप्रेत हो तदनुसार तथ्यका स्वरूप भी अवभासित होने लगता है.

यहां 'नामसृष्टि' पदद्वारा अभिहित होते अर्थका, अंग्रेज़ी भाषामें पर्याय कहना हो तो 'मेंटल् इमेज्' (mental image) कहा जा सकता है. यह आन्तर प्रत्यय ही सभी भाषाओंका मूलरूप होता है. यूरोपीय तार्किक-भाववाद (Logical positivism) के साथ सहमत न होनेवाले जन्मानुगतप्रामाण्यशास्त्रके मीमांसक ज्यां पिआजे (Jean

Piaget) ने भाषाव्यवहार न कर पानेवाले शिशुओंके साथ किये वैज्ञानिक प्रयोगोंमें यह पाया कि वर्तुल चतुष्कोण या त्रिकोण आकृतिके प्रभेदोंको, उनसे सम्बन्धित शब्दोंके प्रयोग कर पानेकी सामर्थ्यके विकसित होनेसे पूर्व भी, मानवशिशु भलीभांति पहचान पाते हैं, आन्तरिक प्रत्ययोंके द्वारा. वे कहते हैं "According to Chomsky, logic is not derived from language, but language is based on kernel of reason... I agree that the structures that are availble to a child at the age of fuorteen or sixteen months are the the intellectul basis of upon which language can develop, but I deny that these structures are innate."[3] वैसे तो यह भी कथा अब पुरानी हो गयी है! क्योंकि इसके बाद वैज्ञानिकोंने अपने परीक्षणके अन्तर्गत यह भी पाया कि मानवशिशुके परिवेशका संस्थान (structures) ही नहीं अपितु विकसनकी प्रक्रियामें प्रकट होनेवाली आनुवंशिकताके कारण भी स्वयं मानवशिशुके मस्तिष्कमें ऐसे दर्पणोपम नाड़ीकण (Mirror neurons) होने आवश्यक हैं, जो उसे मानवेतर योनिके पशुओंमें भी विद्यमान नाड़ीकणोंकी तुलनामें अधिक चतुर अधिक लचीले और अधिक श्रेष्ठतया विकसित होते हैं. हिन्दुस्तान टाइम्समें "न्यू योर्क टाइम्स्"मेंसे उद्धृत विज्ञानविद् रीज़्ज़ोल्टीके कथनके अनुसार "The human brain has multiple mirror neuron systems that specialise in carrying out and understanding not just the actions of others but their intentions, the social meaning of their behaviour and their emotions... Mirror neurons allwo us to grasp the minds of others not through conceptual reasoning but direct stimulation. By feeling, not by thinking." [4] हिन्दुस्तान टाइम्स्के दिनांक २६।१।०६ के संस्करणमें प्रकाशित एक दूसरे विज्ञानपरीक्षणके वृत्तके अनुसार दक्षिणअमरीकामें ब्राज़ील देशकी ॲमेज़ॉन् नदीके तटपर निवास करते मुन्दुरुकू आदिवासिओंमें किये गये सर्वेक्षणके अनुसार

वाणीसे बोले जाते पदोंके अभावमें भी भूमितिके आकारोंको ये आदिवासी आबालवृद्ध न केवल पृथक् वर्गीकृत रूपमें पहचान पाते अपितु कथंचित् दूसरोंको बता-समझा भी पाते है. एतावता वाल्लभ दृष्टिकोणको अभिमत व्यक्त पदात्मिका वाणीके मूलमें विद्यमान नामसृष्टिकी धारणाकी उपपत्ति इन वैज्ञानिक परीक्षणोंके आधारपर भी सोची जा सकती है.

(२)प्रस्तूयमान धारणाका श्रौत सन्दर्भ :

प्रस्तूयमान वाल्लभ वेदान्तके भाषा या वाणी के आधारभूत श्रौत सन्दर्भतया सविशेषतया तीन श्रुतिवचन अवधारणीय हैं :

१.''सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्, सो अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता'' (तैत्ति.उप.२।१).

२.''चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुः ब्राह्मणा ये मनीषिणः गुहा त्रीणि निहिता पदानि नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति''(ऋक्संहि,२।३।२२).

३.''पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यं... एतावान् अस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पुरूषः. पादो अस्य विश्वा भूतानि त्रिपाद् अस्य अमृतं दिवि. त्रिपाद् ऊर्ध्व उदैत् पुरुषः. पादो अस्य इह अभवत् पुनः. ततो विश्वं व्यक्रामत् साशनानशने अभि''(ऋक्संहि,१०।७।९०).

अर्थात् १.ब्रह्म देशतः कालतः या स्वरूपतः परिच्छिन्न न होनेवाली सत्ता एवं चेतना रूप होता है. अतएव जो उसे अपनी हृदयगुहाके भीतर समाहिततया जान पाता है, वह अपनी सारी कामनाओंको सर्वज्ञानरूप ब्रह्मके साथ पूर्ण कर पाता है. २.वाणीके चार चरण होते हैं जिनमें तीन चरण तो गुहानिहित रहते होनेसे प्रकट नहीं हो पाते, उन्हें तो अपने मनको वशमें लानेवाले और ब्रह्म(वेद)को जाननेवाले ही

जान पाते हैं. परन्तु वाणीका चतुर्थ चरण वह है जो सभी मनुष्य बोल पाते हैं. इन चार प्रकारकी वाणिओंमें प्रथम 'परा वाणी' है. यह चराचर ब्रह्माण्डमें व्याप्त सर्वविध परिच्छेदोंसे रहित सर्वसाक्षिभूत चेतना है. अतएव वाणीका यह आद्य चरण सकल स्वपर वस्तुओंके प्रकाशनमें समर्थ समष्टिरूपेण परमात्मा ही है. साथ ही साथ उसीके चिदंश होनेके कारण व्यष्टिरूपेण जीवात्मचेतनाके रूपमें भी स्वीकारा गया है. वही व्यष्टिरूप जीवचेतना जब वस्तुविशेषके प्रकाशकतया अपना परिच्छिन्न स्वभाव हमारे भीतर प्रकट करने लगे तब उसे अन्तःप्रकाशनरूप 'पश्यन्ती' नामक वाणीका द्वितीय चरणके रूपमें स्वीकारना चाहिये. यह अन्तःप्रकाशन जब बाह्यप्रकाशनके रूपमें उद्यत विवक्षाका रूप धारण कर बाहर अभिव्यक्त होने जाता है, तब ऐसे तृतीय चरणको 'मध्यमा' कहा जाता है. चतुर्थ चरण 'वैखरी' नाम्ना अभिहित हुवा है. इस स्तरपर जो अर्थप्रकाशन आभ्यन्तर था वही अब वक्ताके मुखसे बाहर आ कर श्रोताके लिये श्रवणगोचरार्ह ध्वनिओं या शब्दों के समूहका रूप धारण कर लेता है. ३.भूत वर्तमान और भावी सकल चेतनाचेतन रूपसृष्टिकी अभिव्यक्ति भी इस चतुष्पात् पुरुषके एकपाद मात्रमें परिमिततया प्रकट होती है. अवशिष्ट तीन पाद लोकमें प्रकट अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमयके संघातमें प्रकट नहीं होते हैं.

(३)वाणी या भाषा का मूलस्वरूप एवं मूलकार्यकलाप :

एतावता सिद्ध होता है कि जड़तया प्रतीत होते इस ब्रह्माण्डमें देश-काल-स्वरूपतः अपरिच्छिन्न एक स्वपरप्रकाशरूपा चेतना व्याप्त है और वही हमारी वाणी या भाषा का परममूलरूप शब्दात्मक ब्रह्म है. क्योंकि स्वेतर अर्थके अवभासनमें असमर्थ नाद या ध्वनि, वाणीके रूपमें मान्य नहीं हो पाते. अतः वाणी या भाषा अपने मूलस्वरूपमें तो अपनेसे इतर वस्तुका अनुभव ही है. इसी तरह वाणीका मूल या प्रथम कार्यकलाप तो अपनेसे इतर अर्थको अभिव्यक्त करना या अनुभाव प्रकट करना ही है. यह अनुभाव चेतनाशील प्राणीमें प्रकट

होते बोध भाव या व्यवहार अथवा अबोध अभाव या अव्यवहार रूपी असामर्थ्यका भी अनुभाव हो सकता है. अतएव बृहदारण्यकोपनिषद्में किस और कैसे प्रकाशके आधारपर देहादि संघातोपेत प्राणी अपने विविध कर्मोंको निभा पाते हैं, ऐसी महाराजा जनककी जिज्ञासाके समाधानार्थ महर्षि याज्ञवल्क्यने जिन पञ्चविध स्वपरप्रकाशक तत्त्वोंका निरूपण किया उनमें क्रमशः सूर्य चन्द्र अग्निके बाद आत्मचेतनासे पहले वाणीकी भी गणना मिलती है :

> ''अस्तमिते आदित्ये... चन्द्रमसि... शान्ते अग्नौ किञ्ज्योतिरेव अयं पुरुषः इति वागेव अस्य ज्योतिः भवति. वाचैव अयं ज्योतिषा आस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येति इति. तस्माद् वै यत्र स्वः पाणिः न विर्निज्ञायते अथ यत्र वाग् उच्चरति उपैव तत्र न्येति इति एवम् एतद्''.
>
> (बृह.उप.४।३।५).

कुछ ऋषिओंके श्रोत चिन्तनमें, किन्तु, वाणी या भाषा को केवल चेतनाशील मनुष्य प्राणीका एकाधिकार नहीं माना गया है. क्योंकि कुछ वाणी मनुष्य प्राणीको अवगत हो पाती हैं तो कुछ अन्य वाणी अवगत नहीं भी हो पाती हैं. न केवल सभी चेतनाशील अपितु तथाकथित अचेतन पदार्थोंमें भी वाक् तत्त्वका स्वीकार इस आर्षदृष्टिकी विशेषता है :

> ''सर्पाणां वाक्, वयसां, क्षुद्रस्य सरीसृपस्य, चतुर्थी व्यावहारिकी इति एके. पशुषु तृणवेषु मृगेषु आत्मनि च इति आत्मप्रवादाः. अथा(? त्रा!)पि ब्राह्मणं भवति : 'सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवद्. एष्वेव लोकेषु त्रीणि, पशुषु तुरीयम्. या पृथिव्यां सा अग्नौ सा रथन्तरे. या अन्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये. या दिवि सा आदित्ये सा बृहति सा स्तनयित्नौ.

अथ पशुषु या वाग् अतिरिच्यत तां ब्राह्मणे दधुः. तस्माद् ब्राह्मणाः उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणाम्' इति (मैत्रा.संहि. । ।)'' (निरु.१३।१।८).

एतावता सिद्ध होता है कि मूलमें कुछ देवताओंकी वाणी है जिसे मनुष्य भलीभांति समझ नहीं पाता. दूसरी स्वयं अन्यान्य सचेतनप्राणिओंकी वाणीके जैसी मनुष्योंकी भी वाणी होती है. इसे मनुष्य सुन या समझ पाता है. इस प्रभेदको सरलतया बुद्धिगत करना हो तो व्यष्टिचेतना-व्यष्टिप्राणका आधार लेकर प्रकट होनेवाली वाणी एक और दूसरी व्यष्टिचेतना-व्यष्टिप्राणके माध्यमके बिना भी प्रकट होती वाणी होती है. ऐसा कहनेपर देववाणीके दो उपभेद होंगे : [१]मनुष्यवाणीसदृश वेदवाणी. इसे वेददृष्टा ऋषिओंने स्वयं सुन कर हमें सुनायी और [२]पृथ्वी आप् अग्नि वायु विद्युत् अन्तरिक्ष आदित्य एवं द्युलोक आदिके माध्यमसे प्रकट होती देववाणी.

यहां एक ऐसी शंका उठ सकती है कि ऐतरेयोपनिषद्की एक श्रुतिमें मानवपशु और मानवेतरपशुओंके बीच यह तारतम्य जो माना गया कि मानवपशु स्वयंको विज्ञात वस्तुका विज्ञाततया प्रत्यभिज्ञान और शाब्दिक अभिवदन कर पाता है जबकि मानवेतरपशु कर नहीं पाते : ''पुरुषत्वेन आविस्तर आत्मा सहि प्रविज्ञानेन सम्पन्नो विज्ञातं वदति विज्ञातं पश्यति... इतरेषां पशूनाम् अशनापिपासेएव अभिविज्ञानं न विज्ञातं वदन्ति न विज्ञातं पश्यन्ति'' (ऐत.उप.३।१।१) इस तरह दोनों श्रुतिओंमें परस्पर विरोध प्रकट हो रहा है. इसका समाधान मानवेतर पशुओंमें विज्ञातको पहचान या कह पानेके निषेधके बजाय मानवेतर पशुओंमें अपनी भूख-प्यास आदिके दैहिक व्यापारोंसे जुड़े अपने चारों ओरके परिवेशका अभिविज्ञान मानवपशुसे उत्तम कोटिका होनेपर भी प्रकृष्ट ज्ञानके आधार पर पहचान पाने या वाणीद्वारा प्रकट कर पाने के निषेधमें ही स्वीकारना चाहिये. अर्थात् *''प्रविज्ञानेन विज्ञातं*

न वदन्ति / प्रविज्ञानेन विज्ञातं न पश्यन्ति'' अन्यथा अप्रसक्तप्रतिषेध और प्रत्यक्षविरुद्धता आदि दोष व्याख्यामें प्रकट होंगे.

मुझे स्पष्टभाषिता बरतनी चाहिये कि यद्यपि ऐसी कण्ठोक्त स्वीकृति वाल्लभ वेदान्तके किसी भी मूल या व्याख्यारूप ग्रन्थमें कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुयी फिरभी महाप्रभुद्वारा अभ्युपगत प्रामाण्यके अनुरोधवश इस उपरि उद्धृत वचनोक्त पक्षको वाल्लभ वेदान्तमें सिद्धान्ततया स्वीकारना अतीव आवश्यक लगता है. तदनुसार जिन या जैसी ध्वनिओंको अर्थवाहिका ध्वनिके रूपमें मानवबुद्धि गृहीत नहीं कर पाती, उन ध्वनिओंको भी अमानवीय वाणीके रूपमें सिद्धान्ततः मान्य रखना आवश्यक है. इसे टेलिग्राफिक् मॉर्स् कोड् (Morse Code) के उदाहरणद्वारा भी उपपन्न किया जा सकता है. क्योंकि बिन्दु-रेखाओं (···— = ४ चार) के सदृश विविध ध्वनिविन्यासोंकी शक्ति, वर्णमाला या अंकमाला के जिन अक्षरोंके साथ वाच्य-वाचकभाव सम्बन्धसे जुड़ी होती हैं, वे जिसे अवगत न हों उसके प्रति ध्वनि अर्थवाहिका हो नहीं पाती. फिरभी जो उनक जानकार होते उनके प्रति तो ये ध्वनियां भी पुरुषसम्भाष्य वाणीकी तरह ही अर्थवाहिका बनती देखी ही जाती हैं. अतएव आधुनिक पशुविज्ञान पक्षिविज्ञान जलचरविज्ञान एवं सरिसृपकीटविज्ञान की शाखाओंने इस बारेमें पर्याप्त गवेषणाके बाद यह पाया कि ये प्राणी भी विविध ध्वनिओंको प्रकट करके परस्पर सूचनाओंका तथा मनोभावोंका आदान-प्रदान करते है. निरुक्तोक्त प्रकारसे उपनिषद् तो सर्वात्मवादकी प्राग्धारणाके अवलम्बनद्वारा सर्वत्र आत्मास्तित्वको अंगीकार करते होनेसे पृथ्वी-जल-तेज-वायु-अन्तरीक्ष या आदित्य आदिकी भी भाषा स्वीकारते ही हैं. ये साधारण मनुष्यको समझमे न आती हों तो कहना पड़ेगा कि ''**नहि एषः स्थाणोः अपराधो यद् एनम् अन्धो न पश्यति!**'' कहा जाता है कि अंग्रेज़ीका 'बार्बेरिअन्' पद मूलमें यूनानी वाच्यार्थध्वनि-अनुकरणात्मक (onomatopoeic) 'बार्बरॉस्' पदका तद्भवरूप है. इसका यूनानी लोगोंने ग़ैर-यूनानी लोगोंके लिये

प्रयोग इसीलिये किया, क्योंकि गैरयूनानियोंकी भाषा यूनानी लोगोंको समझमें नहीं आती थी. अतः उन्हें केवल 'बर्-बर्' ध्वनि ही सुनाई पड़ती थी! अस्तु.

(४)दार्शनिक सन्दर्भ :

जैसाकि पाश्चात्य दर्शनोंके विविध प्रस्थानोंमें कुछ चिन्तकोंने प्रत्यक्षानुभूतिगोचर सभी अर्थों (Percepts) को अविश्वसनीय या मिथ्या मान कर बौद्धिक प्रत्ययों (Concepts) को ही विश्वसनीय या पारमार्थिक माना, तो अन्योंने बौद्धिक प्रत्ययोंको प्रत्यक्षानुभूतिका केवल संघात (Consruction) होनेसे अन्तःस्फूर्त चेतना तकको मिथ्या मान कर प्रत्यक्षानुभूतिगोचर बाह्यार्थको ही केवल पारमार्थिक माना. अथवा जैसेकि भारतीय दर्शनोंके अन्तर्गत भी कुछ चिन्तकोंने शब्दाभिव्यंग्य होनेके केवल अपराधवश सविकल्प प्रत्यक्षको अप्रमाण मान[६] लिया. तो अन्य महायानी चिन्तकोंने निर्विकल्प-सविकल्प उभयविध प्रत्यक्षोंको भी बाह्यार्थसंवाद बिना स्वप्नोपम ही मान लिया.[७] यद्यपि यहां भारतवर्षमें ऐसा चिन्तन अन्य अनेक दर्शनप्रस्थानोंने मान्य नहीं रखा, क्योंकि ''मानाधीना मेयसिद्धिः'' का आदर्श मानवीय बुद्धिमें आत्यन्तिक निरूढ़ प्राग्धारणाके रूपमें निहारा जाता रहा. अतः इसके विपरीत सोचनेपर बौद्धिक आत्मघातकी भीति हमें सताती रही होगी! अस्तु जो कोई हेतु हो वह प्रस्तुत विचार्यपरिधिसे बहिर्भूत होनेसे यहां उसका विचार अप्रस्तुत ही होगा.

वाल्लभ वेदान्त, परन्तु, रूप और नाम दोनोंके प्रकट होनेमें एकमात्र सर्वभवनसमर्थ ब्रह्मको कारण मानता होनेसे दोनोंके बीच 'वदति'-'अनुवदति'की तरह 'भवति' और 'अनुभवति' का संवाद मान्य रखता है. परिच्छिन्नज्ञानवान् जीवकी दृष्टिसे *''यद् भवति तद् अनुभवति''* क्रम ही इस सन्दर्भमें मान्य रखा गया है. अन्यथा ब्रह्मकी दृष्टिसे तो *''यदा यथा यद् इच्छति तदा तथा तद् भवति''* क्रम ही मूलसिद्धान्तकथा

है.[८] यह भगवान्के सर्वभवनसामर्थ्य और सत्यसंकल्पशालिता रूप असाधारण ब्रह्मधर्मके कारण उपपन्न होता है. जो ''वही यह सब कुछ बना है'' ''उस एकमेव अद्वितीय ने चाहा कि वह अनेक बन जाये और वह सब कुछ बन गया''[९] जैसे श्रुतिवाक्योंके आधारपर सिद्ध होता है.

(५)भाषाका मूल नामसृष्टि :

अतएव भागवतपुराणमें भी यह प्रतिपादित किया गया है कि देहान्तर्विवरमें प्रकाशरूप वह ब्रह्म ही [क]जीवभावापन्न हो कर हृदयगुहामें [ख]प्राणरूप घोषके साथ प्रविष्ट हो कर पहले [ग]मनोमय सूक्ष्मरूप प्राप्त करता है. बादमें [घ]स्थूल मात्रा स्वर वर्ण आदि रूप धारण कर बाहर प्रकट होता है.[१०]

(६)भाषाके बारेमें महाप्रभुका मत :

इस तरह वाल्लभ वेदान्तकी भाषासम्बन्धी प्राग्धारणाओंका दृष्टिगत कर लेनेपर इस बारेमें उनके विचारोंको स्वयं उनके तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत 'सर्वनिर्णय' प्रकरणगत कारिकाप्रकाश (१५०-१८१) में मिलते प्रतिपादनकी कहीं-कहीं अपेक्षित कुछ व्याख्या और कुछ उपपत्ति के साथ सारानुवाद या भावानुवाद संकलित करना चाहेंगे :

(क)भाषा प्रमाण-प्रमेय उभयरूप होती है : भाषा कभी प्रत्यक्ष-अनुमिति आदि प्रमाणगोचर विषयिका अनुभूतिकी अनुवादरूपा होती है. कभी किन्तु उनसे अगोचर विषयके अवबोधनार्थ प्रमाणरूपा भी होती है. इसके अलावा प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अवधारणीय एक प्रमेयविशेष भी होती है. वेदवाणी भी इसी तरह ब्रह्मके अवबोधार्थ प्रमाणरूपा होती है और ब्रह्मका रूपविशेष होनेके कारण प्रमेयरूपा भी होती है. यही तो भगवान्की नामात्मिका सृष्टि है.

(ख)भाषाकी कारणमीमांसा : रूपप्रपञ्चका निर्माण भगवान् अपने

इन पांच रूपोंद्वारा करते हैं : [१]काल [२]कर्म [३]स्वभाव [४]प्रकृति(=माया) और [५]पुरुष(=भगवदवतारविशेष). नामप्रपञ्चमें, किन्तु, ये रूप प्रयोगमें लाये नहीं जाते. क्योंकि केवल आसन्यरूप सूत्रात्माको ही प्रयोगमें लाया जाता है. क्योंकि प्राणवायुकी शक्तिके साथ वही जीवचेतना (द्रष्ट. ''जीवं=प्राणधारणे''भ्वादिगण : ६००) जब सुषुम्णानाडीद्वारा हमारे शरीरके बाहर प्रकट होती है, तब शब्दब्रह्मतया वह प्रकाशित हो जाती है. इस शब्दब्रह्मके अंश भी ''पूर्णम् अदः पूर्णम् इदं पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते पूर्णस्य पूर्णम् आदाय पूर्णमेव अवशिष्यते'' (ईशा.उप.मंग.) श्रुतिमें प्रतिपादित प्रकारके अनुसार अपनी अंशरूपतामें भी पूर्णता खो नहीं देते प्रत्युत उसे आत्मनिगूढ़ रखते है. वैसे तो रूपसृष्टिको भी ब्रह्मका अविकृत-परिणाम ही माना गया है, पर वह मूल उपादानकारण या समवायिकारण की दृष्टिसे कार्य-कारणभावकी व्यवस्था है. अवान्तर कार्यकारणभावोंमें विकृतपरिणामवाद, आरम्भवाद, संघातवाद; एवं विवर्तवाद के अनुरोधी प्रकारोंके अनुसार भी कार्योत्पत्ति यथायथ शक्य मानी ही गयी है. कारण पदार्थके किसी भी प्रकारसे उत्पन्न होनेवाले कार्य, समवेतपदार्थ या आरोप के उपादान, समवायी या अधिष्ठान रूपी कारणको प्रागभावानुयोगी नहीं माना गया है. न ही किसी भी तरहके कार्यका आत्यन्तिक अभाव या अन्योन्याभाव कारणमें स्वीकारा जाता है. वहां कथञ्चित् विद्यमानका केवल तिरोभाव ही स्वीकारा गया है.[११] यह तो हम निरूपित कर ही चुके हैं कि नामसृष्टि अविकृता होती है. अतः उपर्युदाहृत श्रुतिसे अधिक सुस्पष्ट शब्दोंमें अविकृतपरिणामवादके श्रौत अंगीकारका निदर्शन दुर्लभ है. नामसृष्टिमें वही अभ्युपगत है. अस्तु.

(ग)भाषाके घटक वर्ण पदार्थकी मीमांसा : एक शब्दब्रह्म अनेक रूपोंमें यथा 'अ'कारसे 'अः'कार पर्यन्त षोडश स्वर, 'क'कारसे 'म'कार पर्यन्त पच्चीस स्पर्शरूप व्यञ्जन तथा 'य'कारसे 'ह'कार पर्यन्त अन्तःस्थ और ऊष्मा रूप व्यञ्जन; और, 'क्ष'कार-'ज्ञ'कार आदिको भी ले लेनेपर ५० से अधिक रूप धारण कर लेता है. वैसे इनके अवान्तरभेद

तो अनेक हो सकते हैं. अतएव कहीं ५२, ६३ या ६४ यों अनेक प्रकार शक्य हैं. उदाहरणतया ह्रस्व 'ए'कार ह्रस्व 'ओ'कार तेलगुभाषामें स्वीकारे गये हैं, बंगालीमें 'ऑ'कार, राजस्थानीमें 'अॅ'कार, दाक्षिणत्य भाषाओंमें 'ळ'कार की तरह हिन्दीमें 'ड़'कार 'ढ़'कार, मराठीमें 'ज्ञ'कार, तामिळ-मलायलीमें 'ष्ळ'कार ध्वनियां आधुनिक भारतीय भाषाओंमें प्राचीन मान्य ध्वनियोंसे सर्वथा भिन्न और अधिक हैं. इसी तरह आधुनिक आंग्ल जर्मन फ्रेंच अरबी फारसी आदि भाषाओंके शब्दकोशोंमें भी हमारी भाषाओंमें सर्वथा अश्रुत अनेक अतिरिक्त स्वर और व्यञ्जन भी मिलते हैं ही. यहां तो हमारी मातृकाविद्यामें संकलित स्वर-व्यञ्जनध्वनिओंको ही गिनाया गया है. ये वर्ण सर्वदेश तथा सर्वकाल में व्याप्त रहते हैं. अर्थात् जहां-जब ये प्रकटतया श्रुतिगोचर न होते हों वहां-तब भी विद्यमान तो रहते ही हैं. ये स्वयं भगवान्‌की तरह ही बहुरूप भी होते हैं. जैसे केवल अकारके ही उच्चारणके अट्ठारह प्रकार पाणिनीय व्याकरणमें गिनाये गये है. अतः अनेकरूपवत् वस्तुकी दृष्टिसे तो भगवान्‌के जैसे होते ही हैं.

(घ)भाषामूल नामसृष्टिके साथ रूपसृष्टिका तुलनात्मक स्वरूप : ब्रह्मके सच्चिदानन्द स्वरूपमेंसे प्रकट होते रूपप्रपञ्चमें जैसे सदंशभूत जड़पदार्थमें चिदंश और आनन्दांश तिरोहित रहते हैं; और, चिदंशभूत जीवात्माओंमें आनन्दांश तिरोहित रहता है, वैसे ही नामसृष्टिमें भी वर्णोंमे पद-वाक्य तिरोहित रहते हैं; और, पदमें वाक्य तिरोहित रहता है. रूपसृष्टिके अन्तर्गत जड़ पदार्थ आपेक्षिक अनित्यता लिये हुवे और जीव-ईश्वर पदार्थ आपेक्षिक नित्यता लिये हुवे होते हैं. उसके अननुरूप नामसृष्टिमें वर्ण और पद आपेक्षिक नित्यता लिये हुवे तथा वाक्य आपेक्षिक अनित्यता लिये होते हैं.

(ङ)वर्णों एवं पदों को नित्य माननेपर सिद्धान्तपरिगणित तत्त्वोंमें आधिक्यापत्तिका परिहार : सूक्ष्मभूतरूप शब्द-तन्मात्रा रूपी ध्वनि ही

नामसृष्टिगत वर्णतया मान्य की गयी है. अतः परिगणित तत्त्वोंसे अधिक कोई पदार्थ प्रसक्त नहीं होता. एक प्रश्न यह भी उभरता है कि प्रकृति और प्रत्यय से निष्पन्न होनेवाले पदोंकी नित्यता कैसे उपपन्न हो पायेगी? इस विषयमें समाधान यह है कि पदमें यह प्रकृति-प्रत्ययोंका विभाग ज्ञानार्थ परिकल्पित है स्वाभाविक नहीं.

(च)वैदिक भाषा और लौकिक भाषा का स्वरूपपार्थक्य : यहां यह अवधारणीय है कि यह निरूपण लौकिक वर्ण-पद-वाक्योंके स्वरूपके अभिप्रायवश है. निखिल वैदिक शब्दोंकी समष्टिराशिके प्रतिपाद्य अर्थ सर्वरूप भगवान् होते हैं. इसी तरह वैदिक तत्तद् व्यष्टिभूत वर्ण-पद-वाक्योंके अर्थ भी अनेक तत्तद् रूप धारण करनेवाले भगवान् ही होते हैं. अतः ये तीनों नित्य ही होते हैं. अतएव ब्रह्मवाचक होनेसे सभी वर्ण और पद मूलरूपमें तो सभी/किसीभी लौकिक अर्थके वाचक हो ही सकते हैं. व्यवहारमें, फिरभी, शक्तिसंकोचवश तत्तद् अर्थोंमें वे परिसीमित हो जाते हैं. यह, किन्तु, तत्त्वकथा न रह कर व्यवहारकथा बन जाती है. इसे बादमें विचारेंगे.

(छ)वर्ण पद एवं वाक्य के अन्तर्गत अर्थवत्ता और/अथवा अर्थहीनता का विवेक : कुछ चिन्तकोंका मानना है कि पद ही अर्थवान् होते हैं वर्ण-वाक्य नहीं. अन्योंका कहना है कि वाक्य भी अर्थवान् होते हैं. पर वाल्लभ मत तो यही है कि वर्ण पद और वाक्य तीनों ही अर्थवान् होते हैं.

(ज)सभी वर्ण एवं पद भगवद्वाचक होनेसे मूलतः सर्वार्थवाचक होते हैं : जैसाकि कह चुके तदनुसार जितने भी वर्ण और पद होते हैं वे मूलमें तो भगवद्वाचक ही होते हैं. अतएव सारे वर्ण और पद सभी अर्थोंके वाचक होते है, सारे रूप भगवान्ने धारण किये होनेसे. अतः सारे वर्ण और पद भगवान्द्वारा धरे गये अनेकविध

रूपोंके वाचक होते हैं. अतएव श्रुति कहती है : ''सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते'' (महानारा.उप.३). 'पत्रावलम्बन' नामक ग्रन्थमें महाप्रभुने एक विलक्षण प्रतिपादन यह भी किया है कि प्रत्येक 'घट'-'पट'-'गज'-'वृषभ' आदि पद मूलमें तो तत्तद् नाम-रूप-कर्मविशिष्ट भावाद्वैतके वाचक ही होते हैं. यथा —

> ''घट'-'पटा'दिशब्दाः धर्मवाचकाएव भवितुम् अर्हन्ति, घटत्वादिविशिष्टवाचकाः हि एते इति लोकप्रसिद्धिः. 'घटत्वम्' इति घटगतो धर्मः कश्चिद् यत्सद्भावाद् 'घट'पदवाच्यता धर्मिणः. ''तस्य भावः त्वतलौ'' (पा.सू.५।१।११९) इति त्वो भावप्रत्ययः. 'भावः' इति 'भू'धातोः घञि रूपम्. 'भू'धातुः सत्तायां व्याप्तौ वा. उभयथापि व्यापकस्य सतो वा धर्मस्य (= व्यापकवस्तुवृत्तिघटत्वरूपपदार्थस्य सदुपादानकघटसत्तारूपस्य वा) वाचको भवति. 'घञ्'च स्वार्थे, अन्यथा अनवस्था स्यात्. तथाच घटत्वं नाम सतः व्यापकस्य वा धर्मः इति उक्तं भवति. एवं पटत्वादिष्वपि. तथाच प्रकृत्यर्थः सन् व्यापको वा यदा भवति तदैव प्रत्ययार्थेन सह एकवाक्यता भवति. ततश्च सर्वेषाम् एकार्थता स्यात्. अतः आकृतिविशेषव्यङ्ग्याः धर्माः ते भिन्नाएव, शक्तिसंकोचेन व्यवहारसिद्ध्यर्थम् अङ्गीकर्तव्याः.''
>
> (पत्राव.३०/गद्यांशे)

एतावता सिद्ध होता है कि होता है कि प्रस्थानरत्नाकरकारने जो व्यक्ति या व्यक्तिके अविच्छिन्नप्रवाहमें शक्तिपक्षको उपपन्न माना है वह भी तत्तद् नाम-रूप-कर्मात्मना व्यक्तिभावापन्न ब्रह्मके सदंशके अभिप्रायवश ही समझना चाहिये.

(झ)लोकव्यवहारमें वर्णों और पदों में तत्तद् अर्थोंके वाचक

होनेरूप शक्तिसंकोच : सारे रूप ब्रह्मके रूप होनेपर भी तत्तद्रूपके तत्तन्नाम और तत्तत्कर्म अर्थात् गुणधर्म एवं अर्थक्रिया का संकोच व्यवहारमें लीलार्थ प्रकट हुवा है. वैसे ही तत्तन्नामोंमें तत्तद्रूपोंके वाचक होनेका वृत्तिसंकोच भी प्रकट हुवा होनेसे व्यवहार निर्व्यूढ रहता है. 'वृत्तिसंकोच' पदद्वारा अभिप्रेत यह है कि *''देश-कालके भेदवश यह पद इसी अर्थका वाचक माना जायेगा अन्यका नहीं''* ऐसा नियमविधान. इसमें सर्वप्रथम तो व्यवहार ही नियामक बनता है, बादमें तत्तद् देशमें भाषाके भेदवश व्यवहारानुरोधी कोश और व्याकरण भी व्यवस्थापक बन जाते हैं. यह रूपसृष्टिमें भी सारे रूप और कर्म मूलतः ब्रह्ममेंसे प्रकट होनेवाले ब्रह्मात्मक रूप और कर्म होनेसे परस्पर इतरेतरात्मक तादात्म्यभावापन्न ही होते हैं फिरभी दैशिक कालिक और स्वरूपगत ऐच्छिक भेदवशात् संकुचितभावापन्न बन हो जाते हैं.

(ञ)भाषाघटक वर्ण-पद-वाक्योंकी गौणमुख्यभावपर अवलम्बित अर्थबोधकता : ब्रह्मके अनेकविध देवरूपोंमें, कर्मभेदवश या भक्तिभेदवश, गौण-मुख्यभाव परिवर्तित होता रहता है. वैसे ही वर्ण पद और वाक्यों में भी परस्पर गौणमुख्यभाव उनके अनन्तमूर्ति होनेके कारण परिवर्तित होता रहता है. केवल वर्णोंके अर्थ भी एकाक्षरकोश निघण्टु और व्यवहार द्वारा जाने तो जाते ही हैं. फिरभी जैसे वाक्यार्थकी मुख्यताके अपेक्षावश पदार्थ गौण बन जाता है वैसे ही पदार्थकी मुख्यताके अपेक्षावश वर्णार्थ गौण बन जाता है. अतएव ये परस्पर एक-दूसरेके अर्थसम्प्रषेणरूप व्यापारमें व्यवधानकारी नहीं बन पाते. क्योंकि वाक्यार्थबोधजननके व्यापार या प्रसंग में पद निज अर्थके स्मारकतया या अनुवादकतया द्योतक रहनेपर भी प्रमाणतया वाचक नहीं रह जाते. इसी तरह पदार्थबोधजननके व्यापार या प्रसंग में वर्ण निज अर्थके स्मारकतया या अनुवादकतया द्योतक रहनेपर भी प्रमाणतया अवाचक बन जाते हैं. अतएव यहां ''अवाचक हो जाते हैं'' इस विधानका

यह अर्थ नहीं कि वे अपने-अपने अर्थके स्मारक भी नहीं रह पाते हों. वे स्मारक तो रहते ही हैं. अतएव जहां पदार्थ वर्णार्थसमुदायरूप न हो, उदाहरणतया 'घट' पदका अर्थ 'घ'कारार्थ घण्टा और 'ट'कारार्थ वामन के समुदायार्थ="घण्टावाला वामन" या "घण्टा और वामन के युगल" का वाचक न हो कर मृदादिनिर्मित जलादिधारणयोग्य पात्रविशेषका वहां वाचक होता है. अतः स्वतन्त्रपदके स्वतन्त्र अर्थतया ही वह वाच्य होता है. यह कथा तो भिन्न है. जहां, परन्तु, वह 'भा(भारतीय)ज(जनता)पा(पार्टी)' सदृश वर्णार्थसमुदायरूप होता है वहां यदि पदघटक वर्णोंकि द्वारा संकेतित अर्थकी जानकारी न हो तो समुदित पदार्थका ज्ञान कैसे होगा? इसी तरह पदोंद्वारा संकेतित अर्थोंकि ज्ञानके अभावमें पदसमुदायार्थरूप वाक्यका अर्थ भी कैसे अवगत हो पायेगा? अतः केवल वाक्यके ही अर्थवान् होनेके दुराग्रहवश निघण्टु एकाक्षरकोश और व्यवहार में भी उपलब्ध होते वर्णार्थ या पदार्थ का अपलाप तो शक्य नहीं. इसी तरह वर्ण या पद द्वारा बोधित होते अर्थोंके समुदायके अलावा पदार्थ या वाक्यार्थ यदि भिन्न हों तो वे अशाब्द हो जायेंगे अथवा वर्ण या पद के अर्थोंसे पूर्वबोधितार्थ होनेके कारण पद या वाक्य अवाचक ही सिद्ध होंगे, ऐसी आशंका व्यर्थ है. क्योंकि वाल्लभ मतमें वर्णजन्या वर्णार्थोपस्थिति या पदजन्या पदार्थोपस्थिति पूर्वानुभूतिकी अनुवादरूपा स्मृति जैसे हो सकती है, वैसे ही पदान्तःश्लिष्ट वर्णोंसे या वाक्यान्तःश्लिष्ट पदोंसे पूर्वमें अनधिगतार्थके अवगमकतया प्रमाणरूपा भी हो सकती है. पूर्वाधिगतार्थके वाचक वर्ण या पद, जब पद या वाक्य के अंगतया योजित होते हैं, तब अंगी पद या अंगी वाक्य ही अपूर्वार्थके वाचक हो जाते होनेसे उनके द्वारा प्रमापित अर्थमें अवयवार्थ व्यवधान उत्पन्न नहीं करते. वे केवल स्मारक या अनुवादकमात्र रह जाते हैं. अतः अन्विताभिधानवाद और अभिहितान्वयवाद के अतिवादी दो ध्रुवोंके बीच अर्धजरतीय न्याय ही अधिक उपयुक्त होना चाहिये. इसे अग्रिम विचारबिन्दु बना कर प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा.

(ट)वर्ण या पद सर्वथा अबोधक नहीं बन जाते क्योंकि वाचक न रहनेपर भी स्मारक तो रहते ही हैं : अतएव ''वर्ण या पद अपने-अपने अर्थोंका बोध उत्पन्न करके कृतकृत्य हो जानेके कारण पदार्थ या वाक्यार्थ बोधमें अकिञ्चित्कर बन जायेंगे'', ऐसी आशंका भी व्यर्थ है. क्योंकि पद-वाक्य और वर्ण-पद के बीच जो अवयवावयविभाव झलकता है उसका अपलाप नहीं हो सकता. क्योंकि सभी अवयव (इसे पाश्चात्य अस्तित्ववादी दर्शनकी मुद्रामें कहना हो तो pour sua कह सकते हैं) अपने अवयवी (इसे पाश्चात्य अस्तित्ववादी दर्शनकी मुद्रामें en sua कह सकते हैं) के शेषरूप होनेसे शेषीके लिये होते हैं. अतः वे अपने-अपने अवयवरूप अर्थोंके स्मारक बन कर अपने शेषी/अवयवी पद या वाक्य के अर्थोंके अंगीभूत अर्थोंके बोधनव्यापारमें गौण बन जाते हैं. अवयवरूप वर्णोंको या पदोंको, अपने-अपने अवयवी पद-पदार्थ अथवा वाक्य-वाक्यार्थ के संघातसे या प्रागभावप्रतियोगिरूप कार्यसे अथवा अवयवीसे, आत्यन्तिकतया भिन्न अथवा प्रागभावानुयोगी आरम्भक तो माना नहीं गया है. अतः पद-पदार्थ एवं वाक्य-वाक्यार्थ की आविर्भावरूपा अपूर्वता (पूर्वमें विद्यमान होनेपर भी अनाविर्भूत वस्तुकी आविर्भावरूपा) तो अवश्य अंगीकरणीय होती है. अतः इस निरूपणमें कुछ भी अनुपपत्ति दिखलायी नहीं देती. यह यहां विशेषतया अवधेय है कि वर्ण पद एवं वाक्य के बीच न तो आत्यन्तिक भेद होता है और न आत्यन्तिक अभेद ही. तीनोंके बीच परस्पर भेदसहिष्णु-अभेदरूप तादात्म्य होनेके कारण कहीं-कभी अभेदेन तत्तदर्थबोधनानुकूल क्रियाकारिता प्रकट होती है तो कहीं-कभी भेदेन तत्तदर्थबोधनानुकूल क्रियाकारिता प्रकट होती है. इसमें सर्वसाधारण वाग्व्यवहार और वक्ताकी असाधारण विवक्षा ही नियामक बनते हैं. अतएव विविधवर्णसंयोजन या विविधपदसंयोजन द्वारा वर्ण-पदोंमें तिरोहिततया विद्यमानके आविर्भावकी अपेक्षासे अपूर्व पद-पदार्थ या अपूर्व वाक्य-वाक्यार्थ प्रकट होता है. यही व्यवस्था अवान्तर वाक्य और महावाक्य के बीच भी परस्पर समझ लेनी चाहिये. क्योंकि अवान्तर वाक्य भी महावाक्यके अवयवतया अवगत होनेपर निज वाक्यार्थके

वाचक होनेका मुख्यभाव खो कर स्मारक होनेका गौणभाव अंगीकार कर लेते हैं.

(ठ)अनित्यवाणीके रूपमें अभिमत लौकिक वाक्योंका भी बहुकालावस्थान : वैदिक वर्ण पद या वाक्य तीनों ही नित्य होते हैं, भगवान्के धर्मभूत ज्ञानस्वरूप होनेसे. वैदिक वर्ण हो या पद हो या वाक्य हो तीनोंके वाच्यार्थ तो एकमात्र ब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीहरि ही होते हैं. यही वैदिकोंकी धारणा है : ''वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि द्विजातिभिः तावन्ति हरिनामानि कीर्तितानि न संशयः'' (अनवगत स्रोतसे बहुधा उदाहृत वचन) तथा ''वेदैः च सर्वैः अहमेव वेद्यः''(भग.गीता.१५।१५) ''मां विधत्ते अभिधत्ते मां विकल्प्य अपोह्यते हि अहम्. एतावान् सर्ववेदार्थो शब्द आस्थाय मां भिदां मायामात्रम् अनूद्य अन्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति (भाग.पुरा.११।२१।४३). रूपसृष्टिके अन्तर्गत वस्तुका कालमें अवस्थान क्रियामूलक होता है. इसके विपरीत नामसृष्टिके अन्तर्गत वस्तुका कालमें अवस्थान ज्ञानमूलक होता है. अतः वाक्य या वाक्यार्थ जब सर्वसाधारणतया अप्रतीतिगोचर हो जाते हैं, तब उपलब्ध न हो पानेसे उनके 'नाश' या 'ध्वंस' का अवभास होने लगता है. अन्यथा नामसृष्टि तो आपेक्षिकतया अविकृत होनेसे केवल प्रकट या अप्रकट ही होती है, उत्पन्न या नष्ट नहीं. जहां तक लौकिक वाक्योंका प्रश्न है और उनके बारेमें जो ''बुद्धिपूर्वक शब्दोंको जोड़ कर वाक्यका उच्चारण किया जाता है'' ऐसा प्रयोग होता है, वह बुद्धिसे ही उनके प्राकट्यका सूचक है. अतएव बुद्धिमें अवस्थानकी अवधि पर्यन्त वाक्य या वाक्यार्थ का उच्चारणोत्तर नष्ट हो जाना माना नहीं जा सकता.

(ड)ब्राह्मिक सनातनताके बावजूद लौकिक वाक्योंकी लोकव्यवहार-सापेक्ष अनित्यताके सन्दर्भमें उनके अप्रामाण्यकी मीमांसा : सर्वप्रथम तो वाक्यार्थप्रामाण्यके आधायक ब्रह्मके ज्ञानके अभावमें बुद्धि ज्ञाताकी सीमाओंके

अनुरूप ज्ञेयके गुणधर्मोंका प्रकाशन करनेवाली राजस विकल्पोंकी अवगाहिनी बन जाती है. अतः ऐसे ज्ञानवश प्रकट होनेवाले लौकिक वाक्योंका याथार्थ्यरूप प्रामाण्य केवल व्यावहारिक ही हो सकता है पारमार्थिक नहीं. यहां व्यवहार और परमार्थ का प्रभेद मिथ्या और सत्य के सन्दर्भमें नहीं किन्तु पूर्णसत्य और अर्धसत्य के सन्दर्भमें ही विवक्षित है. इसके अलावा लौकिक वक्ताओंमें भ्रम विप्रलिप्सा प्रमाद करणापाटव आदि सम्भावित दोषोंके कारण वाक्यार्थप्राकट्यकारी ज्ञान ही यदि भ्रान्तिरूप या सन्दिग्ध हो तो तन्मूलक प्रकट होते वाक्यजनित अर्थबोधको भी भ्रान्ति या सन्देहग्रस्त ही मानना पड़ेगा. अर्थात् कभी श्रोताको वक्ताके यथार्थबोधके बारेमें संशयके वश वचनप्रामाण्य भी सन्देहग्रस्त हो जाता है. अतः लौकिक वाक्योंका बाधानर्ह प्रामाण्य माना नहीं गया है. फिरभी वक्ताके सत्यभाषी होनेका श्रोताको, उचित या अनुचित, विश्वास हो तो व्यावहारिक या प्रातिभासिक प्रामाण्यके आधारपर लोकव्यवहार तो निर्व्यूढतया उपपन्न हो ही सकता है. अतएव वाल्लभ मतमें लौकिक वाक्य वेदादिशास्त्रके साथ अविसंवादी होनेपर ही परमार्थतः प्रमाण माने जा सकते हैं, अन्यथा नहीं.

लौकिक और वैदिक वाक्योंके बारेमें प्रामाण्यसन्देह और उसके निराकरणार्थ उपपत्तिओंके समान या असमान कुछ भी होनेपर भी वेदान्तदर्शन लौकिक वाक्योंके द्वारा बोधित होते अर्थके विश्लेषणार्थ व्याख्यानार्थ या मीमांसार्थ प्रवृत्त चिन्तन न हो कर वेदादिशास्त्रोंके वाक्योंद्वारा प्रतिपादित होते अर्थके विश्लेषण व्याख्यान या मीमांसा के लिये प्रवृत्त चिन्तन होनेसे ऐसी धारणापर पक्षपात या अन्धश्रद्धा का आक्षेप लगाया नहीं जा सकता. उदाहरणतया प्रत्यक्षानुभूति अनुमिति लौकिक वाक्यप्रयोग के विश्लेषण या व्याख्यानार्थ चिन्तनमें यदि प्रत्यक्ष अनुमिति या लौकिक वाक्यप्रयोग का प्रामाण्य निःसन्दिग्ध नहीं मानते तो उनके विश्लेषणार्थ या व्याख्यानार्थ प्रवृत्ति भी व्यर्थकालक्षेप ही मानी जायेगी. संगीतके स्वरराग-ताललयके विवेचनार्थ प्रवृत्त आलोचक

श्रावण प्रत्यक्षको सन्दिग्ध या अप्रमाण मान कर प्रवृत्त नहीं हो सकता. नहीं भारतके संविधानको अमान्य करनेवाला संवैधानिक अधिकारकी मांग कर सकता है.

(ढ)अनित्य लौकिक वाक्योंके लयका प्रकार : वाक्य अथवा वाक्यार्थ के ज्ञानके तिरोधानके बाद संस्कारके भी तिरोहित होनेपर, वाक्यार्थका व्यवहारार्थ 'लय' कहो या 'तिरोधान' कहो, घटित हो जाता है. इसे अत्यन्ताभावरूप नाश मान लेनेकी धांधल नहीं करनी चाहिये. हमारी बुद्धिमें वाक्य या वाक्यार्थ के भानके तिरोधानके बाद भी वेदादि शास्त्रोंमें उपलब्ध होते भगवद्वाक्योंका तिरोधान कदापि नहीं होता, क्योंकि देशतः कालतः अवस्थातः स्वतः या परतः भगवान्की बोधरूपताका कभी विप्लव नहीं होता.[१९] ऋषिओंके संस्कार भी शास्त्रोंमें महाप्रलय पर्यन्त चिरस्थायी माने जाते है. अतएव उल्लेखनीय हो जाता है कि यह सारा निरूपण व्यवहारदृष्टिसे ही किया गया है. अन्यथा ब्रह्मदृष्टिसे तो निहारनेपर वस्तुमात्र देश-काल-स्वरूपतः अपरिच्छिन्न ही होती है, विविध नाम-रूप-कर्मोंमें ब्रह्मका ही विलास होनेसे. अतः लौकिक वाक्य भी भगवद्रूप होनेकी दृष्टिसे देश-काल-स्वरूपके त्रिविध परिच्छेदसे रहित ही होते हैं.

(ण)वाक्यार्थबोधमें आकांक्षा योग्यता और आसत्ति उपकारक अंग बनती हैं : तब यह आशंका उठ सकती है कि ''किसी वाक्यकी युक्तायुक्तताका नियामक सिद्ध न हो पानेके कारण तो समूचे वाग्व्यवहारमें अव्यवस्था फैल जायेगी'' यह परन्तु मौलिक ब्रह्माद्वैतसे जुड़ा प्रश्न न हो कर लीलार्थ प्रकट ऐच्छिक द्वैतके सन्दर्भमें ही पूछा और समझाया जा सकता है. क्योंकि ब्रह्मके स्वरूपगत अद्वैतमें कोई अवस्था विशेष-अवस्था नहीं होती तो व्यवस्थाके ही अप्रसक्त होनेसे अव्यवस्थाकी आपत्ति भी अप्रसक्त रहेगी. लीलार्थ अपने सामर्थ्य और संकल्प से प्रकट होनेवाली विविधतामें लीलात्मिका व्यवस्था भी प्रकट हुयी है.

अतः नामलीलामें प्रत्येक अवयवी वाक्यको अपने योग्य अवयवरूप पदोंकी परस्पर आकांक्षापूरकता अन्वययोग्यता और चाक्षुष या श्रावण आसत्ति की लीलात्मिका अपेक्षा रहती है. रूपसृष्टिकी तरह ही नामसृष्टिमें भी यह नियम लागू होता ही है कि योग्य अवयवोंसे अवयवीके घटित होनेपर किसी वस्तुका स्वरूप परिनिष्पन्न हो पाता है. जैसे मिट्टी या काठ का घोड़ा बनाना हो तब भी उसपर सींग नहीं लगाये जाते, ऐसे ही अपनी परिच्छिन्न विवक्षाको भलीभांति प्रकट करनेमें समर्थ योग्य आकांक्षित आसन्न अवयवरूप पदोंके योजनपूर्वक वाक्योच्चारण करनेपर ही वाक्य अर्थवाहक हो पाता है. अर्थात् वाक्यसे अर्थोपस्थितिमें पदजन्य पदार्थोपस्थिति द्वार बनती है और पदोंको आकांक्षित योग्य और आसन्न पदोंका स्मरण होनेसे आकांक्षा आदि अर्थधर्म होनेपर भी श्रोता-वक्ताद्वारा पदधर्मतया मान लिये जाते हैं.

(त)अर्थधर्म आकांक्षा आदि पदधर्मतया कल्पित होनेके कारण केवल व्यावहारिक ही होते हैं : सारे वर्ण पद वाक्य परब्रह्मके शब्दब्रह्मात्मक रूप होनेसे तथा क्योंकि आत्मरमणशील[१२] होनेके कारण परब्रह्म न तो अपने अलावा दूसरे किसी पदार्थकी आकांक्षा रखता है और न कुछ देश-काल-माया आदि कुछ उसके योग्य होनेके कारण उससे अन्वित ही हो सकते हैं. यहां तो सभी कुछ उसके भासित होनेसे अनुभासित होता होता[१३] है. इसी तरह उसके स्वरूपके निर्वाहार्थ भी कोई पदार्थ योग्य हो नहीं सकता. स्वरूपतः उसके एकमेवाद्वितीय होनेके[१४] कारण कोई भी अन्य पदार्थ उसके प्रत्यासन्न हो नहीं सकता. लीलार्थ परन्तु वह स्वयं अनेक नाम-रूप-कर्मोंमें विभक्त हुवा है; अतः, लीलौपयिक व्यवहारमें तत्तद् रूपोंको एवं तत्तत् कर्मोंको अपने अलावा अन्य अपने योग्य रूप एवं योग्य कर्मों की आकांक्षा एवं आसत्ति की अपेक्षा रहती है. अतएव लीलान्तःपाती पदोंमें भी उस आकांक्षा योग्यता एवं आसत्ति की अपेक्षा उठ खड़ी होती है, विशेषतः वृत्तिसंकोचवश प्रकट होती परिसीमित अर्थबोधकताके वश भी ऐसा

हो जाता है. अर्थात् परब्रह्मके स्वरूप या परमार्थ के विचारसे अनपेक्षित होनेपर भी शब्दब्रह्मके लीलात्मक व्यवहारमें ये अपेक्षित हो जाते हैं. अतएव परमार्थदृष्टया तो ब्रह्मज्ञानीके लिये *''जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्यां द्वारि स्थितो गायति मद्रकाणि''* सदृश निरपेक्षपदोंके समूहरूप वाक्य भी ब्रह्मके इन पदार्थभूत रूपवाले कारक एवं क्रियाओंके समूहावलम्बी बोधके जनक हो सकते हैं. प्रत्यक्षतः ही यदि कोई बूढ़ा बैल किसी द्वारपर पादुका और कम्बलपर खड़ा किसी गायनोपम मधुर लगनेवाली ध्वनिके साथ रंभाता और उसके बारेमें किसीको मद्रदेशमें गाये जाते गीतोंके समान बैलका रंभाना लगता हो तो ऐसा वाक्य भी सार्थक क्यों नहीं हो सकता? इस अनाकांक्षित अयोग्य या आसत्ति से रहित पदोंके समूहको वाक्य माननेपर प्रतारक पुरुषके वचनोंको भी प्रमाण मानना पड़ेगा ऐसी आशंकाका निरसन करने महाप्रभु कहते हैं **''दश दाडिमानि' इत्यपि पदार्थनिरूपकत्वाद् वाक्यं प्रमाणम्. 'वह्निना सिञ्चति' इत्यपि 'उष्णजलेन सिञ्चति' इति अर्थो भवति; यथा, 'गङ्गायां घोषः'. प्रतारकवाक्यमेव आसत्त्यादियुक्तमपि बाधितत्वाद् अवाक्यम्. तस्मात् सर्वमेव वाक्यं प्रमाणं यतः सा सरस्वती सर्वतोमुखी.''** (त.दी.नि.प्र.२।१७३). अर्थात् प्रतारक पुरुषके वचन तो आकांक्षा योग्यता एवं आसत्ति की कसौटीपर खरे उतरनेके बावजूद अप्रमाण इसलिये बन जाते हैं क्योंकि वक्ता स्वयं ज्ञान उत्पन्न करनेके बजाय श्रोतामें भ्रान्ति उत्पन्न करना चाहता है. अतः व्याख्याकार गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तम कहते हैं कि **''अबाधित अर्थके बोधक पदोंका समूह होना ही वाक्यको प्रमावचन बनता है''** (तत्रैव).

(थ)शब्दकी विभिन्न वृत्तियां : शक्ति तात्पर्य और गौणी यों तीन वृत्तियां वाल्लभ वेदान्तको मान्य हैं. अन्य वृत्तियोंका यथायथ इनमें अन्तर्भाव ही मान्य किया गया है. इसकी विस्तृत चर्चा 'प्रस्थानरत्नाकर' नामक ग्रन्थमें महाप्रभुके ग्रन्थोंके प्रमुख व्याख्याकार गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरणने की है.

(द)शब्दोंका प्रवर्तक होना वाल्लभ वेदान्तमें मान्य नहीं : विधिवाक्यको सुननेके बाद श्रोतामें प्रकट होती प्रवृत्तिके कारणतया [क]शब्दोंका स्वरूप [ख]अभिप्रायज्ञान [ग]भावना [घ]अभिधा [ङ]आज्ञा या [च]इष्टसाधनताज्ञान यों छह पक्ष विभिन्न चिन्तकोंद्वारा प्रस्तुत किये गये हैं. वाल्लभ वेदान्तको, परन्तु , इनमेंसे एक भी पक्ष मान्य नहीं, क्योंकि 'काकतालीय'न्यायके अनुसार ये पूर्वभावी होनेपर भी अव्यभिचारी हेतु नहीं होते. उदाहरणतया इष्टसाधनताज्ञान आदि तथाकथित हेतुओंमें यदि वस्तुतः प्रवर्तकता होती तो कोई इनके श्रवणके बाद किसी पदार्थ या क्रिया को अनिष्टहेतुतया जान लेनेपर कोई अनिष्ट पदार्थ या कर्म में प्रवृत्त होना ही नहीं चाहिये! परन्तु अनिष्टसाधनताके ज्ञात होनेपर भी विषभक्षणार्थ, युद्धार्थ या पेड़-पहाड़से छलांगा लगा कर आत्मघात करने व्यक्ति उद्यत हो जाते हैं. अतः मानना पड़ता है कि भगवान् अन्तर्यामी होनेके रूपमें हमारे भीतर बिराज कर जब जिसे जहां जैसी जिस फल प्रदान करनेवाली क्रियाके लिये प्रेरित करते हैं, तब वह वहां वैसी उस फलको प्रदान करनेवाली क्रियामें प्रवृत्त हो जाता है. वेदादि शास्त्र भी इष्टानिष्टसाधनोंका स्वरूप ही केवल प्रतिपादित करते हैं. वेदवचन यदि स्वतः ही प्रवर्तक हो पाते तो जगत्में कोई अवैदिक होना ही नहीं चाहिये था. यहां एक आशंका यह उठ सकती है कि शुभ या इष्ट फलके प्रति हमें प्रेरणा प्रदान करनेवाले परमात्माको तो शुभशक्ति माना जा सकता है परन्तु अशुभ फलके लिये प्रेरित करनेवालेको शुभशक्ति कैसे मानना? यहां पुनश्च यह प्रश्न ब्रह्मके स्वरूपदृष्टिसे तो प्रसक्त ही नहीं होता क्योंकि इस सृष्टिमें अनुभूत होते ज्ञानाज्ञान सुन्दरासुन्दर शुभाशुभ सुकृत-दुष्कृत साध्वसाधु सदसत् सुख-दुःख शोक-मोह या स्वर्ग-नर्क आदिके अनेक द्वन्द्व उसके लीलार्थ परिगृहीत रूप हैं :

''सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय... स तपः तप्त्वा
इदं सर्वम् असृजत... सच्च त्यच्च निरुक्तञ्च अनिरुक्तञ्च...

विज्ञानञ्च अविज्ञानञ्च सत्यञ्च अनृतञ्च सत्यम् अभवद्'' (तैत्ति.उप.२।६).

''एष ह्येव एनं साधु कर्म कारयति तं यम् एभ्यो लोकेभ्यः उन्निनीषते. एष ह्येव एनम् असाधु कर्म कारयति तं यम् अधो निनीषते'' (कौषी.उप.३।८).

''द्वया ह प्रजापत्याः देवाश्च असुराश्च.'' ''आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानात्. आनन्दाद्धचेव खलु इमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति.'' (बृह.उप.१।३।१, तैत्ति.उप.३।६)

अतएव ब्रह्मदृष्टिसे तो जब ब्रह्मके सिवा दूसरा कोई है ही नहीं तो अशुभ कर्म करा कर दूसरेको अनिष्ट फल प्रदानकी बात उठ नहीं सकती. जहां तक स्वयंके साथ ऐसी आत्मपीड़क क्रीड़ा करनेके प्रयोजनकी जिज्ञासा हो तो आनन्दके द्वारा आनन्दावस्थामें आनन्दार्थ ली जाती पीड़ा भी आनन्दात्मिका ही होती है, अन्यथा नहीं. यह ज्ञातव्य है. अतः ब्रह्मके अशुभशक्ति होनेक न उठ ही नहीं सकता है.

(७)उपसंहार :

वेदान्तके सभी सम्प्रदाय मूलतः श्रुति स्मृति सूत्र पुराण आदि शास्त्रोंद्वारा प्रतिपाद्य और तदेकगम्य ब्रह्मकी जिज्ञासाके वश उन ब्रह्मप्रतिपादक शास्त्रोंके तात्पर्यविवेचनार्थ प्रवृत्त चिन्तन हैं.[१५] वह ब्रह्म स्वप्रकाश और सर्वसाक्षी माना गया है.[१६] और वाक् तत्त्व भी ब्रह्मके भीतरसे बाहर प्रकट हुवा ब्रह्मका ही एक अन्यतम रूप भागवतपुराणमें स्वीकारा गया है :

''वेदाः ब्रह्मात्मविषयाः त्रिकाण्डविषयाः... शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम् अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत् मया उपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणा अनन्तशक्तिना भूतेषु

घोषरूपेण विसेषु ऊर्णेव लक्ष्यते. यथा ऊर्णनाभिः हृदयाद् ऊर्णाम् उद्वमते मुखाद् आकाशाद् घोषवान् प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा छन्दोमयो अमृतमयः सहस्रपदवीं प्रभुः... विचित्रभाषाविततां... अनन्तपारां बृहतीं सृजति आक्षिपते स्वयम्''.

(भाग.पुरा.११।२१।३५-४०).

यह वाक् तत्त्व भी, अतएव, स्वयं ब्रह्मकी तरह न केवल स्वपरप्रकाशरूप माना गया है अपितु समग्र सृष्टिगत रूप पदार्थ इसी नाम या वाक् तत्त्वके अनुकारितया प्रकट हुवे हैं.[१७].

यूरोपीय दार्शनिक रेने देकार्तेका ''कोजीतो एर्गो सुम्'' विधान अति प्रसिद्ध है. उसने सब कुछ सन्दिग्ध मान कर सन्देहकर्ता या विमर्शकर्ता की सत्ताको निःसन्दिग्ध माना है, क्योंकि सन्देहकी क्रियाको सम्पन्न करनेमात्रसे सन्देहकर्ताकी सत्ता सिद्ध हो जाती है, ऐसी उसकी धारणा है. परन्तु अन्य चिन्तकोंका आक्षेप है कि इस युक्तिमें व्याकरणशास्त्रीय कर्ता और तत्त्वशास्त्रीय कर्ता का घालमेल हो गया है. अब रेने देकार्तेकी इस युक्ति जैसी ही एक उक्ति उपनिषद्में भी मिलती है : ''सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म... असन्नेव स भवति 'असद् ब्रह्म' इति चेद् वेद'' (तैत्ति.उप.२।१-६). अर्थात् देशतः कालतः एवं स्वरूपतः अपरिच्छिन्न सत्ता और चेतना रूप ब्रह्मको जो नकारता है वह तो अपनी ही सत्ताको नकार देता है, उस समष्टिकी एक क्षुद्र व्यष्टि होनेके कारण.

कहा या माना जा सकता है कि यहां भी व्याकरणशास्त्रीय अस्वीकारकर्ता, मानसशास्त्रीय अस्वीकारकर्ता और तत्त्वशास्त्रीय अस्वीकारकर्ता के बीच घालमेल उपनिषद्के विधानमें भी है. इस विषयमें, किन्तु, पृथक्करणीय यह लगता है कि देकार्तेके सर्वग्रासी सन्देहकी अनुभूतिपर अवलम्बित आधारवचनसे सन्देहकर्ताकी सत्ताका विधान करनेवाले निष्कर्षमें

व्याकरणशास्त्रीय कर्ता अनिवार्य होनेपर भी तत्त्वशास्त्रीय कर्ताकी सत्ता अनिवार्य नहीं. इसे *''नदी बहती है''* विधानके आधारपर देखा-समझा जा सकता है. क्योंकि बहते जलको 'नदी' कहते है और जलके बहनेकी क्रियासे अतिरिक्त 'नदी' पदका और कोई कर्ता *''नदी बहती है''* वचनके आधारपर सिद्ध नहीं होता. इस तरह, किन्तु, समष्टिरूप देश-कालापरिच्छिन्न सत्ता और चेतना का अस्वीकार देश-कालपरिच्छिन्न चेतनामें आत्म-अस्वीकृतिके वदतोव्याघात बिना क्या शक्य हो सकता? क्योंकि सर्वप्रथम तो जिसकी सत्ता ही स्वीकार्य न हो वह चेतना हो नहीं सकती. अतः अस्वीकृतिकी चेतनाका सत् होना और चेतना होना स्वतःसिद्ध है, उसे भाषा या वाणी में प्रकट करनेसे भी पूर्व. अतएव चेतनाके पृष्ठलग्नतया सत्ता भी अर्थापत्तिलब्धा है.

एतदर्थ इसमें निहित युक्तिमालापर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा :

[१]ब्रह्म=अपरिच्छिन्न सत्ता-चेतनावद् वस्तु है.

[२]अतः यदि ब्रह्म असद् हो तो अपरिच्छिन्न सत्ता-चेतनावद् वस्तु असद् होगी.

[३]ऐसी स्थितिमें ब्रह्मका अस्वीकार करनेवालेकी सत्ता और चेतना अपरिच्छिन्न नहीं हो सकती.

[४]अतः वह देशतः कालतः स्वरूपतः परिच्छिन्न होगी.

[५]अब ब्रह्मका अस्वीकार करनेवाली परिच्छिन्न चेतनाके परिच्छेदक देश-काल या तो चेतनारूप होंगे या चेतनासे भिन्न.

[६]वे चेतनारूप तो हो नहीं सकते, परिच्छेदक होनेसे, अतः भिन्न ही होंगे.

[७]अब वे यदि परिच्छेदक हों तो वे परिच्छिन्न भी

नहीं हों सकते.

[८]इसी तरह स्वयं असत् हो कर वे चेतनाके परिच्छेदक हो नहीं सकते. अतः उनकी सत्ता अपरिच्छिन्न सत्ता सिद्ध होती है.

[९]अतः अपरिच्छिन्न सत्ताको असत् मानना तर्कव्याहत है.

[१०]अप्रतिभासित सत्ता न तो परिच्छिन्न और न अपरिच्छिन्न ही हो सकती है. अतः उसका चेतनरूप होना आवश्यक है.

[११]अतः सत्ता और चेतना दोनों ही अपरिच्छिन्न होते हैं.

[१२]अतः ब्रह्मका अस्वीकार करनेवाला चेतनावान् पुरुष तो स्वयंकी ही देश-काल-स्वरूपतः परिच्छिन्नता अर्थात् नैयायिकाभिमत चतुर्विध अभाव ही केवल स्वीकार रहा है.

ब्रह्मकी अस्वीकृति अतः उपनिषद्के अनुसार स्वसत्ताकी ही देश काल या स्वरूप के परिच्छेदोंद्वारा प्रयुक्त स्वयंके कालिक(प्रागभाव-प्रध्वंसाभाव) अभावोंकी, दैशिक (अत्यन्ताभाव)अभावकी और स्वरूपकृत (अन्योन्या-भाव) अभावकी ही स्वीकृतिके जैसा वदतोव्याघात है. स्पष्ट है कि इनमें चेतनाके कालिक अभावका प्रतिभास चेतनाके आत्मप्रतिभासनका समकालिक प्रतिभास तो हो नहीं सकता.

इसी तरह भाषा या वाणी की अवाचकता भी भाषा या वाणी के ही आधारपर सिद्ध करनेकी चेष्टा सफल होनेपर वह वाणीको अवाचक नहीं रहने देती और विफल होनेपर वाणी स्वतः स्वपरवाचक तो होती ही है. अतः भाषा या वाणी की स्वपरप्रकाशकता ब्रह्मकी तरह स्वतःसिद्ध होती है.

यहां यह उल्लेख करना आवश्यक लगता है कि ''**नेति-नेति**'' (बृह.उप.२।३।६) सदृश वचनोंके आधारपर केवलाद्वैतवाद सर्वविध वाच्योंके

निषेधोंके अधिष्ठानतया ब्रह्मको अवाच्य मानना चाहता है. इस विषयमें, परन्तु, शुद्धाद्वैतवाद दर्शनकी धारणा भिन्न है. ब्रह्मसूत्रद्वारा प्रदत्त ''प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः'' (ब्र.सू.३।२।२२) निर्णयको वह पूर्वपक्षतया नहीं प्रत्युत सैद्धान्तिक निर्णयतया स्वीकारना चाहता है. क्योंकि पूर्वोक्त विधानके उत्तरार्धरूप ''नहि एतस्माद् इति 'न' इति अन्यत् परम् अस्ति. अथ नामधेयं 'सत्यस्य सत्यम्' इति प्राणाः वै सत्यं तेषाम् एष सत्यम्'' (तत्रैव) के अनुरोधवशात् केवल मूर्त मर्त्य स्थित या यत् के रूपमें; अथवा, केवल अमूर्त अमृत यत् या त्यत् के रूपमें उसे परिच्छिन्न माननेका निषेध ही श्रुतिके अभिप्रायके साथ अधिक संगत लगता है. क्योंकि यदि ब्रह्म सर्वथा अवाच्य ही हो तो ''नेति-नेति'' कहनेके बाद ''अन्यत् परम् अस्ति अथ नामधेयं 'सत्यस्य सत्यम्'' कह कर ''प्राणाः वै सत्यं तेषाम् एष सत्यम्'' कहना सर्वथा वदतोव्याघात ही होगा.

लोजिकल् एटमिज़म्के पुरस्कर्ता बर्ट्रेन्ड् रसेल्ने क्रेते द्वीपके एपिमेनाइद्के *''क्रेते द्वीपवासी सभी मिथ्याभाषी होते हैं''*की तर्ज़पर *''मैं मिथ्याभाषी हूं''* विधानमें प्रकट होते स्वतोव्याघातके निराकरणार्थ एक उपायान्तर सोचा है. वह कहते हैं कि भाषाके द्वारा भाषित होनेवाले अर्थको बोलनेवाली भाषा एक स्तर और दूसरा स्तर स्वयं भाषाके द्वारा भाषाके बारेमें किये गये विधान होते हैं. ऐसे दो स्तर रसेल्ने प्रतिपादित किये हैं.[१८] तदनुसार हम भी *''वाक् अवाचिका होती है''* अथवा *''पारमार्थिक वस्तु अवाच्य होती है''* सदृश विधानोंमें उभरते स्वतोव्याघातोंका निराकरण वाणीके दो स्तर प्रस्तुत मान कर करना चाहें तो भी वाणीकी निज वाच्यार्थाभिधायिका शक्तिका अपलाप शक्य नहीं, न वहां और न यहां. क्योंकि अर्थप्रकाशिकाके स्थानपर भाषाको स्वप्रकाशिका तो मानना पड़ेगा, जो पुनः सदसद्के विकल्पको सह नहीं पाता.

अन्तमें आळवन्दारस्तोत्रकार श्रीयामुनेयाचार्यके एक मनोरम पद्यमें

थोड़ी हेरफेरके साथ प्रस्तुत आलेखपत्रको उपसंहृत करना चाहूंगा :

नमोनमो वाङ्मनासातिभूमये नमोनमो वाङ्मनसैकभूमये।
नमोनमोऽनन्तमहाविभूतये नमोनमस्तेऽस्तु नमोनमस्ते॥

मूलवचन तथा सन्दर्भ :

१. अक्षराणाम् अकारो अस्मि (भग.गीता.१०।३३). अकारो वै सर्वा वाक् (ऐत.उप.२।३।६). यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः (कठोप.२।२३). ब्रह्म वा इदम् अग्रे आसीत् स आत्मानमेव अवेद 'अहं ब्रह्म अस्मि' इति तस्मात् तत् सर्वम् अभवत् (बृह.उप.१।४।१०).

२. नमो भगवते तस्मै कृष्णाय अद्भुतकर्मणे रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः.(त.दी.नि.१।१). अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म ह्यविभक्तं विभक्तिमद् बहु स्यां प्रजायेय इति वीक्षा तस्य ह्यभूत् सती. तदिच्छामात्रतः तस्माद् ब्रह्मभूतांशचेतनाः सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे निराकाराः तदिच्छया विस्फुलिंगाइव अग्नेस्तु सदंशेन जडाअपि आनन्दांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिणः, सच्चिदानन्दरूपेषु पूर्वयोः अन्यलीनता. अतएव निराकाराः पूर्वौ आनन्दलोपतः जडो जीवो अन्तरात्मा इति व्यवहारः त्रिधा मतः (त.दी.नि.१।२६-३०). ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु न वक्तव्यैव कुत्रचिद् वस्तुतो ब्रह्म सर्वं हि व्यवहारस्तु लोकतः (पत्रावलम्ब.१).

३. रूपसृष्ट्यपेक्षया नामसृष्टिः विलक्षणा : अन्तवती रूपसृष्टिः, अनन्ता नामसृष्टिः. स्थूला रूपसृष्टिः सूक्ष्मा नामसृष्टिः. विकृता रूपसृष्टिः कूटस्था=अविकृता नामसृष्टिः. जडरूपा रूपसृष्टिः बोधरूपा नामसृष्टिः. ननु एवं नामसृष्टौ जगद्विलयप्रसंगः तत्र आह नानावादानुरोधाय इति... सर्वैरेव यथा निरूप्यते तथा भगवान् भवतीति. तत्र उपपत्तिम् आह वाच्यवाचकशक्तये इति. वाच्यो अर्थो वाचकः शब्दः, उभयत्रापि शक्तयो यस्य. यथैव अर्थं वक्तुम् इच्छति तथैव अर्थो भवति... (सुबो.१०।१३।४३). द्रष्टव्य : Genetic Epistemology Chapt.2,

pp.31-33 and ibd.pp.47.

४.

५. ये धातुशब्दाः यत्र अर्थे उपदेशे प्रकीर्तिताः तथैव अर्थो वेदराशेः कर्तव्यो न अन्यथा क्वचित्.(पत्रावलम्बनम् : ४).

६. तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढम् अभ्रान्तम् अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना. (धर्मकीर्तिकृत-न्यायविन्दु : १।४-५).

७. प्रत्यक्षबुद्धिः स्वप्नादौ यथा विनापि अर्थेन इति... न सो अर्थो दृश्यते तस्य प्रत्यक्षत्वं कथं मतं? यदाच सा प्रत्यक्षबुद्धिः भवति "इदं मे प्रत्यक्षम्" इति तदा न सो अर्थो युज्यते, मनोविज्ञानेनैव परिच्छेदात् चक्षुर्विज्ञानस्य च तथा निरुद्धत्वादिति कथं तस्य प्रत्यक्षत्वम् इष्टम्? (वसुबन्धुकृत-विंशिका वृत्तिः).

८. सएव इदं सर्वं भवति (बृह.उप.१।४।१०). सदेव, सौम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयं... तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति (छान्दो.उप.६।२।१-३).

९. सदेव, सौम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयं... तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय (छान्दो.उप.६।२।१-३)), तद्धेदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तत् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत 'असौनामा' अयम् 'इदंरूपः' इति. तदिदमपि एतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते 'असौनामा' अयम् 'इदंरूपः' इति सएष इह प्रविष्टः. आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधाने अवहितः स्याद्, (बृह.उप.१।४।७).

१०. सएष जीव विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेन गुहां प्रविष्टः मनोमयं सूक्ष्मम् उपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः.(भाग.पुरा.११।१२।१७).

११. संहतैः उपचितैः अवयवैः गुप्तो अवयवी प्रकटीक्रियते (सुबो.२।१।२४). 'सत्'-शब्देन 'असत्'-शब्देन च ब्रह्मैव उच्यते... अभावास्तु अस्मन्मते तिरोभावातिरिक्ताः न भवन्तीति, तस्यच भगवच्छक्तित्वात्... शक्तिधर्माणामपि तदा उद्गतत्वाभावेन कालस्यापि निरूपणसमयएव तथावचनात् प्रकृतितुल्यत्वेन भगवान् एकएव सिद्धः इति अविवादम् (सुबो.२।९।३२).

१२. देशतः कालतो यो असौ अवस्थातः स्वतो अन्यतो अविप्लुतावबोधात्मा युज्यते अजया कथम्? (भाग.पुरा.३।७।५).

१३. आत्मरतिः आत्मक्रीड (छान्दो.उप.७।२५।२)

१४. तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वम् (श्वेता.उप.६।१४)

१५. एकमेव अद्वितीयम् (छान्दो.उप.६।२।१)

१६. अधीहि भगवो ब्रह्म इति... तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म इति. (तैत्ति.उप.३।१), ब्रह्म ते ब्रवाणि इति. (बृह.उप.२।१।१), ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्. (छान्दो.उप.३।११।५). अथातो ब्रह्मजिज्ञासा जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात् (ब्रह्मसू.१।१।१।२). किं तद् ब्रह्म किम् अध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम अधिभूतं च किय प्रोक्तम् अधिदैवं किम् उच्यते? अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावो अध्यात्मम् उच्यते भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म संज्ञितो अधिभूतं क्षरो भावो पुरुषः च अधिदैवतं अधियज्ञो अहमेव अत्र देहे देहभृतां वर (भग.गीता.८।१-४). वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणां वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैः उदाहृत्य विचार्यन्ते (ब्र.सू.शांक.भा.१।१।२). "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इति... सोऽयम् अनेन चतुर्विधेन विधिना ध्यानपर्यन्ते वेदार्थे नियुज्यते तत्प्रयुक्ता च इयं ब्रह्मजिज्ञासा प्रस्तूयते (ब्र.सू.भास्क.भा.१।१।१). अध्ययनगृहीतस्य स्वाध्यायस्य स्वभावतएव प्रयोजनवदर्थावबोधित्वदर्शनाद् गृहीतात् स्वाध्यायाद् अवगम्यमानान् प्रयोजनवतो अर्थान् आपाततो दृष्ट्वा तत्स्वरूपप्रकारविशेषनिर्णयफलवेदवाक्यविचाररूपमीमांसाश्रवणे अधीतवेदः पुरुषः स्वयमेव प्रवर्तते (ब्र.सू.रामा.भा.१।१।१). द्वापरे सर्वत्र ज्ञाने आकुलीभूते तन्निर्णयाय... तदर्थनिर्णयाय ब्रह्मसूत्राणि चकार... सूत्रेषु येषु सर्वेऽपि निर्णयाः समुदीरिताः शब्दजातस्य सर्वस्य यत्प्रमाणः च निर्णयः एवंविधानि सूत्राणि कृत्वा व्यासो महाशयः... (ब्र.सू.माध्वभा.१।१।१). असंदिग्धेऽपि वेदार्थे स्थूणाखननवद् मतः मीमांसानिर्णयः... तथाच निर्णये येन-केनचिद् वक्तव्ये हरिः स्वयं व्यासो विचारं चिकीर्षुः तत्कर्तव्यतां बोयति ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्येति

व्यासोक्तत्वादपि कर्तव्या (ब्र.सू.वाल्ल.भा.१।१।१).

१७. स्वप्रकाशे सर्वसाक्षिणि. (नृसिंहोत्त.उप.९।६).

१८. वाग् वै ब्रह्म (बृह.उप.१।३।२१), वागेव इदं सर्वम्. नहि अशब्दमिव इह अस्ति (नृसिंहो.उप.८।२), वागेव एतत् सर्वं विज्ञापयति (छान्दो.उप.७।२।१). सर्ववेदमयेन इदम् आत्मना आत्मयोनिना प्रजाः सृज यथापूर्वं याः च मयि अनुशेरते (भाग.पुरा.३।९।४३). सर्वेषान्तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक् वेदशब्देभ्यएव आदौ पृथक्संस्थाः च निर्ममे (मनुस्मृ.१।२१).

१९. द्रष्ट. : ''लॉजिक् एन्ड् नोलेज् एसेस् १९०१-१९५०'' के अन्तर्गत 'द फिलोसोफी ऑफ् लॉजिकल् एटमिज़म्' प्रकरण पृ.२६२-२६४.

चक्षुका चाक्षुषविषयदेशमें प्राप्यप्रकाशकारित्व

(एक वाल्लभ दृष्टिकोण)

''चक्षुर्यत्र न गच्छति'' श्रुतिरिति प्राह प्रमाणं परम्
श्रीकृष्णः स्वयमेत्य द्वापरयुगे चक्षुःप्रकाश्योऽभवत्।
प्राप्याप्राप्य विकाशकत्वविषये वादस्तु यश्चाक्षिणि
मच्चक्षुर्हि वृणातु तत्र स हरिः सन्देहहारी परः ॥

उपक्रम :

इन्द्रियोंके बारेमें, नामतः चक्षु और श्रोत्र के बारेमें, विभिन्न चिन्तनोंमें पर्याप्त मतभेद दृष्टिगोचर होता है कि ये इन्द्रियां विषयदेशमें पहुंच कर अपने विषयोंको प्रकाशित करती हैं या विषयदेशमें पहुंचे बिना ही.

'प्राप्य-प्रकाशकारित्व' पदावलीमें 'प्राप्य' पद ''आप्लृ'=व्याप्तौ'' स्वादिगणपठित धातुके साथ 'प्र'उपसर्गके साथ निष्पन्न होनेसे 'ल्यप्'प्रत्ययान्त प्रयोग है. तदनुसार प्राप्यप्रकाशकारिताको स्वीकारनेपर चक्षुरादिद्वारा प्रकाश्य विषयके देश-कालमें इन इन्द्रियोंका विद्यमान होना अपरिहार्य हो जाता है. विषय और इन्द्रिय के देश और काल में, परन्तु, मात्र सामानाधिकरण्यकी स्वीकृति जितनी छोटी सी कथा इस चर्चामें प्रमुख विवादास्पद मुद्दा नहीं है. क्योंकि उनके बीच परस्पर संयोगरूपा या अन्यादृशी किसी प्रत्यासत्तिके अभावमें ये इन्द्रियां समानदेशकालवर्ती होनेपर भी विषयप्रकाशनमें सक्षम नहीं हो पाती.

यह प्राप्यप्रकाशकारिताकी चर्चा ऐसा लगता है कि न्यायसूत्रकार गौतम ऋषिने ही इदम्प्रथमतया छेड़ी होगी. बादमें बाह्य चिन्तक

बौद्ध-जैनोंके द्वारा इसके प्रत्याख्यानवश यह चर्चा और अधिक जोरशोरसे बढ़ती चली गयी.[१] अतएव *श्लोकवार्तिक* कार श्रीकुमारिल भट्ट भी कहते हैं **"सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना सामान्यं वा विशेषो वा ग्राह्यं नातोऽत्र कल्प्यते"** (श्लो.वा.प्र.सू.८४).

अतः विषय और इन्द्रिय के बीच दो द्रव्योंकी तरह संयोगरूपा प्रत्यासत्ति स्वीकारनी, अथवा वर्णाकृति और दर्पणादि उपाधि की तरह बिम्बप्रतिबिम्बभावरूपा प्रत्यासत्ति स्वीकारनी, अथवा संस्कार और स्मृति की तरह उद्दीपक-उद्दीप्यभावरूपा प्रत्यासत्ति स्वीकारनी, अथवा त्वचा-नासिकादि इन्द्रिय और गन्धस्पर्शादि की तरह ग्राह्य-ग्राहकभावरूपा प्रत्यासत्ति, अथवा घट तथा प्रदीपादि की तरह प्रकाश्य-प्रकाशकभावरूपा अथवा आत्मचेतना और अहंकार की तरह अधिष्ठान-आरोपरूपा इतरेतराध्यासरूपा प्रत्यासक्ति स्वीकारनी? ये सभी मौलिक मुद्दे हैं जो एतद्वियषक विवादको पर्याप्त जटिल बना देते हैं.

साथ हि साथ इस चर्चामें एक दूसरा गम्भीर मुद्दा यह भी उलझा हुवा है कि इन्द्रियोंका संयोग धर्मिभूत विषयके साथ आवश्यक मानना या उस विषयके धर्मभूत जात्याकृति-गुण-क्रिया आदिके साथ भी. क्या इसे संयोग या तत्परम्पराप्रयुक्त बाह्य सम्बन्ध द्वारा शक्य मानना अथवा अन्य ही कोई आभ्यन्तर सम्बन्ध द्वारा शक्य मानना? अर्थात् धर्मी या धर्म के बीच क्या कोई एक ही वास्तविक होता है और अन्य या तो उस अनुभूत वस्तुभूतका ऐन्द्रियक या मानसिक संघात या संयोजन अथवा व्यवहारानुगुण हमारी केवल कल्पना होती है? या फिर दोनों ही वस्तुभूत होते हैं?

पूर्वयौक्तिक कोटिक्रम :

*मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिक*कार श्रीयुत लक्ष्मीपुरं श्रीनिवासाचार्यने अपने इस ग्रन्थरत्नमें इस विवादका संकलन सविस्तर किया है. वे कहते हैं——

''अप्राप्यकारिणी श्रोत्रचक्षुषी इति सौगताः।
चक्षुर्मात्रं विदुर् जैनाः. सर्वे अन्ये प्राप्तिवादिनः॥
एवम् इन्द्रियवृत्तान्ते विकल्पो अत्र निरूपितः।''
(मा.मे.र.श्लो.वा.२६।९)

यह काश्मीरवैभाषिक मतके आचार्य वसुबन्धुके स्वोपज्ञभाष्योपेत *अभिधर्मकोश* में उपलब्ध होते प्रस्तुत वचनके आधारपर भी स्फुट होता ही है —

'' 'चक्षु श्रोत्र और मन अप्राप्त अर्थके प्रकाशक होते हैं. जबकि अन्य तीन घ्राणेन्द्रिय रसनेन्द्रिय और त्वगिन्द्रिय प्राप्त वस्तुओंकी प्रकाशिका होती हैं' अब यदि चक्षुको अप्राप्त विषयका प्रकाशक माना जाये तो दूरवर्ती तथा किसी व्यवधानकी ओटमें रही भी सभी अप्राप्त वस्तुओंका प्रकाशन चक्षुद्वारा हो जाना चाहिये. इस आपत्तिके निराकरणतया यह कहा जा सकता है कि लोहचुम्बक अप्राप्त लोहधातुका आकर्षक होनेपर भी सभी लोहधातुओंको तो अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर लेता.

और वैसे तो प्राप्त विषयोंके प्रकाशनका नियम स्वीकार कर चलें तब भी ऐसी आपत्ति तो उठायी ही जा सकती है कि सभी प्राप्त विषयोंका प्रकाशन कहां होता है? उदाहरणतया नेत्रगत अञ्जन या शलाका आदि कहां नयनगोचर होते हैं?

अतः जैसे घ्राण आदि इन्द्रियां प्राप्त वस्तुओंका प्रकाशन करती होनेपर भी, उनके साथ रहती सभी गन्ध आदिकी प्रकाशिका नहीं हो पाती, इसी तरह चक्षु भी अप्राप्त वस्तुकी प्रकाशिका होनेपर भी सभी अप्राप्त वस्तुओंकी प्रकाशिका न होती हो तो क्या आपत्ति है!''[२]

इस उत्तरप्रत्युत्तरमें प्रतिज्ञात अर्थकी प्रक्रिया या उपपत्ति देनेके बजाय केवल प्रतिबन्दि उत्तर द्वारा आक्षेपनिरसनकी मनोवृत्ति झलकती है. फिरभी बाह्य वस्तुओंको द्रव्य न मान कर रूपगुणकर्मोंका क्षणिक संघात मानना, अथवा उन्हें प्रत्यक्षग्राह्य न मान कर अनुमेय मानना, या उनका आन्तरिक ज्ञाप्तिसे पृथक् अस्तित्व ही न स्वीकारना, अथवा उन्हें सद्-असत्-सदसद्-उभयविलक्षण यों चारों कोटिओंसे विलक्षण संवृतिसन्मात्र मानना यों वैभाषिक सौत्रान्तिक या योगाचार अथवा माध्यमिक किसी भी दृष्टिकोणसे देखा जाये तो प्राप्य वस्तुके ही सिद्ध न होनेसे चक्षु श्रोत्र या मन की प्राप्यप्रकाशकारिता न होना बौद्ध सिद्धान्तसे सुसंगत कथा तो है ही. फिरभी बाह्यद्रव्यास्तित्ववादी नैयायिक-वैशेषिक-भाट्ट-प्राभाकरोंने इस विवादमें चक्षुकी प्राप्यप्रकाशकारिताकी उपपत्ति खोजते हुवे कुछ विशेष प्रक्रियाका भी प्रतिपादन किया है. वह ऐसे कि जो इन्द्रिय जिस द्रव्यसे निर्मित होती वह उस द्रव्यकी या उसके विशेषगुणकी ग्राहिका बन पाती है. ऐसी प्रक्रियाके ऊहके साथ उसकी उपपत्तिके कुछ हेतु भी दिये गये हैं यथा : (क)चक्षुका बाह्येन्द्रिय होना, (ख)प्रदीपप्रभाकी तरह व्यवहितार्थका अप्रकाशक होना; तथा, (ग)चक्षु इन्द्रियका तैजस होना.

यह जैसा कि [१]नैयायिक [२]वैशेषिक [३]भाट्ट एवं [४]प्राभाकरों द्वारा भी कहा गया है तदनुसार उसपर दृष्टिपात कर लेना चाहिये —

> [१]"चक्षु और श्रोत्र अपने विषयोंको पा लेनेके बाद उपलब्धिके हेतु बनते हैं, जनक होनेके साथ स्वविषयोंकी अप्राप्तिमें उपलब्धिके हेतु न बन पानेके कारण. कुम्भकार और मृत्तिका की तरह."
>
> [२]"चक्षु प्राप्त अर्थकी प्रकाशिका होती है, व्यवहित अर्थकी अप्रकाशिका होनेसे प्रदीपकी तरह." — "चक्षु तैजस होती है, परकीय स्पर्शकी व्यञ्जिका न होनेपर भी परकीय रूपकी

व्यञ्जिका होनेसे. प्रदीपकी तरह. अथवा प्रभाकी तरह सोचनेपर स्पर्शके साथ 'परकीय' विशेषणके बिना भी काम चल सकता है.''

[३]''बुद्धि इन्द्रियाधीन हो कर जब कोई ज्ञान उत्पन्न करती है तब उसे 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है. इस प्रक्रियाकी उपपत्तिके हेतु जो या जैसा प्रमाणफलभाव विचारा जाय उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, हर सूरतमें विद्यमान वस्तुका ही उपलम्भ होता होनेसे. उदाहरणतया चाहे इन्द्रियोंको प्रमाण मान कर उनकी अर्थके साथ संगति मानी जाय, अथवा मनकी इन्द्रियोंके साथ सङ्गतिको स्वीकारी जाय, अथवा केवल आत्मा ही से सब कुछ होता हुवा मान लिया जाय, सर्वथा ज्ञानको फल एवं किसी तरहके व्यापारको प्रमाणतया म ..। ही पड़ता है. क्योंकि व्यापारके अभावमें फलरूप ज्ञान उत्पन्न नहीं होता. इन्द्रियोंके साथ सर्वात्मना ग्राह्यार्थका सम्बन्ध तो जुड़ता नहीं है जिससे कि प्राप्यकारी माननेके कारण सर्वार्थबोध क्यों नही होता ऐसा प्रश्न या आक्षेप उठाया जा सकता है. इन्द्रियोंका केवल प्राप्तिरूप सम्बन्ध ही थोड़े स्वीकारा गया है जो ऐसी बात कही जा सके! अन्यथा प्रमाका करण इन्द्रिय होती हैं ऐसा कहने मात्रसे त्वगिन्द्रियसे रूपका ज्ञान भी हो जाना चाहिये था, क्योंकि त्वगिन्द्रियको 'करण' तो माना न. जैसे प्रमाणताकी निष्पत्ति इन्द्रिय और ग्राह्यार्थ की आपसी योग्यतापर निर्भर होती है. इसी तरह प्रमाणफलके बारेमें योग्यता आदि हेतु तो स्वीकारने ही पड़ेंगे. संयोग वैसे उभयनिष्ठ होता है फिरभी उसका अन्यतराश्रित व्यपदेश तो वाग्व्यवहारसिद्ध ही है.''

[४]''यहां एक आशंका होती है कि जो वस्तु दूरदेशमें अवस्थित हो उसकी दूरी ऐसी स्थितिमें प्रतीत होनी नहीं चाहिये क्योंकि जब चक्षुकिरणें वस्तुदेशमें पहुंच ही गयी

हों तो दूरी कहां रह जायेगी? जैसे त्वगिन्द्रिय जब विषयदेशमें पहुंच कर वस्तुका अनुभव प्राप्त करती है, तब वह वस्तु दूरवर्तितया अनुभूत नहीं होनी चाहिये.

इसी तरह सभी संयोग गमनक्रियावश सम्पन्न होते हैं और यह तो समीपतम समीपतर समीप दूर दूरतर और दूरतम के पूर्वापरक्रमके अनुसार ही शक्य होता है. अतः समीप और दूर अवस्थित दो पदार्थोंका एककालमें ग्रहण शक्य नहीं रह पायेगा. इसके समाधानतया यह कहा जा सकता है कि द्रष्टाके कर्मादृष्टवश भोगायतनरूप शरीरकी अपेक्षासे विषयोंकी अनुभूतिरूप जैसा भोग नियत हो तदनुसार दूरदेश अन्तराल और समीप आदि अनेक विषयोंकी एककालिक अनुभूति शक्य है. जहां तक क्रमानुसारिताके परिहारपूर्वक एककालमें होती अनुभूतिका प्रश्न है तो वहां कुछ बातें ज्ञातव्य हैं.

यहां किसी मतके अनुसार बाह्य प्रकाशकिरणें जो सभी बाह्य विषयोंको एक साथ घेरे रहती हैं, उनके साथ चाक्षुष किरणें एकीभूत हो कर एककालमें सभी समीप-दूरवर्ती विषयोंका प्रकाशन कर पाती हैं. ऐसा, परन्तु, होनेपर तो अतिदूरवर्ती व्यवहित विषयोंका भी प्रकाशन शक्य हो जाना चाहिये था.

अतः पूर्वोक्त समाधान कुछ मतोंको अग्राह्य लगता है. परन्तु नयनकिरणोंकी अतिद्रुतगामिताके कारण पूर्वापरक्रम गृहीत नहीं हो पाता ऐसी अन्य कुछ मतोंकी धारणा है.

इसे भी अन्य चिन्तक सन्निकृष्ट वस्तुओंके ग्रहणमें शक्य माननेपर भी हजारों योजनकी दूरीपर अवस्थित विषयोंके बारेमें शक्य नहीं मानते हैं.

इन सारी बातोंके समाधानतया हम तो यही कहना चाहेंगे कि नयनकिरणोंसे एकीभूत बाह्य प्रकाशकी किरणें द्रष्टाके कर्मादृष्टवशात् जो दर्शन शक्य हो उसीका प्रकाशन करती

हैं, अन्योंका नहीं''[३].

इस तरह हमने देखा कि नैयायिक वैशेषिक भाट्ट तथा प्राभाकरों ने चक्षुर्ग्राह्य वस्तुका प्रकाशन विषयदेशमें चक्षुकी प्राप्तिके पूर्वक जो निर्धारित किया उसकी प्रक्रिया तथा उपपत्ति भी समझानेका भरसक प्रयास किया ही है.

आर्हत दर्शनके अनुसार, परन्तु, न्याय-वैशेषिकादिके मतोंका नैगम अर्थात्, प्रस्तुत विचार्यविषय बाह्यार्थके सन्दर्भमें कहना हो तो, 'स्याद् अस्ति'' नयमें अन्तर्भाव स्वीकारा गया है[४]. अतः बाह्यार्थके केवल अस्तित्वकी धारणाका अवलम्बन करनेवाले नयको दुर्नय माना जाता होनेसे तन्मूलक धारणाओंके साथ आर्हतोंका सहमत न हो पाना असहज नहीं माना जा सकता. अतः *न्यायकुमुदचन्द्रोदय* कार श्रीप्रभाचन्द इन युक्तियोंकी जो समीक्षा करते हैं उनका सारानुवाद भी यहां प्रस्तुत करना चाहेंगे :

> [१]''यह 'बाह्येन्द्रिय' किसे कहा जा रहा है? क्या बाह्यार्थके ग्रहणार्थ जो अभिमुख हो उसे अथवा बाह्यदेशमें जो अवस्थित हो उसे?... यदि प्रथम कल्प स्वीकारते हैं तो मनको भी बाह्येन्द्रिय मानना पड़ेगा; क्योंकि वह भी अप्राप्तकारी होनेपर भी बाह्यार्थके ग्रहणार्थ अभिमुख तो होता ही है. दूसरे कल्पको स्वीकारनेपर यह जिज्ञासितव्य हो जाता है कि नयनगोलक या नेत्ररश्मि मेंसे किसे बाह्य देशमें अवस्थित मानना? नयनरश्मिओंको बहिर्देशमें अवस्थित माननेपर क्या उन्हें बहिर्देशमें आश्रित मानना या बहिर्देशमें केवल प्रकाशनक्रियामें प्रवृत्त मानना? नयनरश्मिओंको बाह्य देशमें आश्रित तो स्वयं पूर्वपक्षीने भी माना नहीं है. अतः अपसिद्धान्त हो जाता है. दूसरे कल्प अर्थात् बहिर्देशमें प्रकाशनक्रियामें प्रवृत्त मानना इसलिये

ग्राह्य नहीं लगता क्योंकि स्वयं इस तरहकी नयनरश्मिओंका अस्तित्व ही सन्दिग्ध है. अतः उन रश्मिओंका विषयप्रकाशनार्थ बहिर्देशमें प्रवृत्त होना भी स्वयं असिद्ध हेतु बन जाता है. नयनगोलकोंका तो बहिर्देशमें अवस्थान प्रत्यक्षबाधित ही है. बाह्यार्थके देशसे असम्बद्ध, क्योंकि, शरीरप्रदेशमें ही नयनगोलक प्रत्यक्षतया प्रतीत होते हैं...

[2]इसके अलावा चक्षु अपने गोलक होनेके स्वभावमें या रश्मि होनेके रूपमें यहां धर्मित्वेन अभिप्रेत है? गोलक होनेके स्वभाववश स्वीकारा जाये तो वह प्रत्यक्षसे विरुद्ध ही है. प्रत्यक्ष प्रतीतिके बलपर चक्षु बाह्यार्थदेशसे असम्बद्ध शरीरके प्रदेशमें ही उपलब्ध होती होनेसे. अन्यथा चाक्षुष प्रत्यक्षके कालमें पलकोंके भीतर नयनगोलक गायब हो जाने चाहिये थे. यदि रश्मीरूपतया विवक्षित हो तो रश्मीरूप तो धर्मी ही सिद्ध नहीं; क्योंकि, रश्मीरूप चक्षु किसी भी प्रमाणसे प्रसिद्ध नहीं होती. क्योंकि नयनरश्मिओंके साधक प्रमाण प्रत्यक्ष या अनुमान तो हो सकते नहीं. प्रत्यक्ष तो हो ही नहीं सकता क्योंकि ऐसी नयनरश्मि कहीं बाह्यार्थतया प्रतीत होती नहीं. यदि ऐसी रश्मि प्रत्यक्षतः प्रतीत होती हो तो फिर विवादका कोई विषय भी नहीं रह जाना चाहिये था. नीला रंग नीले रंगके रूपमें दिखलायी देता हो तब किसे विप्रतिपत्ति हो सकती है?

[3]प्रत्यक्षानुभूति इन्द्रियार्थके सन्निकर्षसे जन्य मानी गयी है और बाह्यार्थदेशमें विद्यमान नयनरश्मिओंके साथ दूसरी इन्द्रियोंका सन्निकर्ष तो हो नहीं सकता है कि जिससे वहां उन रश्मिओंका प्रत्यक्ष पैदा हो पाये. अतः अन्ततः अनवस्थादोष भी यहां आ पड़ेगा. प्रत्यक्षदर्शनके अभावमें अनुमानद्वारा भी अतएव इन रश्मिओंकी सिद्धि शक्य नहीं... एतावता रश्मिओंकी सत्ता सिद्ध करनेको जो अनुमान प्रस्तुत किया गया कि 'चक्षु

रश्मिवाली होती हैं तैजस होनेके कारण' उसका भी निरसन हो जाता है... क्योंकि यह रश्मिवत्ता गोलकरूप चक्षुकी अभिप्रेत है या तद्व्यतिरिक्त किसी वस्तुकी? चक्षुर्गोलकसे व्यतिरिक्त किसी वस्तुका रश्मियुक्त होना तो न केवल असिद्ध ही है प्रत्युत ऐसा कहनेसे अपसिद्धान्तका प्रसंग भी आ पड़ता है. गोलकरूप चक्षुको रश्मियुक्त सिद्ध करना हो तो पक्ष ही प्रत्यक्षबाधित हो जाता है क्योंकि नयनगोलकोंमें चमकीली प्रभा कोई दिखलायी नहीं देती.

[४]अब उन रश्मिओंको अदृश्य मान कर चलें तो अनुद्भूतरूपस्पर्शवती होनेके कारण प्रत्यक्षबाधके प्रसंगसे बचा जा सकता था परन्तु ऐसी रश्मि तब रूपप्रकाशक कैसे सिद्ध हो पायेंगी? क्योंकि चक्षु रूपप्रकाशक हो नहीं सकती अनुद्भूतरूपवाली होनेके कारण जलसे संयुक्त अनलकी तरह. ऐसा कोई भी तेजोद्रव्य जिसमें न तो उद्भूत रूप हो और न उद्भूत स्पर्श हो कहीं दिखलायी नहीं देता... बिल्ली आदि जानवरोंकी आंखोंमें प्रत्यक्षतः रश्मियां प्रतीत होती हैं अतः कोई विरोध नहीं, ऐसा कहना हो तो कहो परन्तु जिन जानवरोंकी आंखोंमें रश्मियां दिखलायी न देती हों उनमें रश्मियां कैसे मानी जा सकती है?...

[५]इसके अलावा जो रश्मियुक्त पदार्थ होते हैं उन्हें बाह्यार्थके प्रकाशक होनेमें बाह्यालोककी अपेक्षा नहीं होती जैसे प्रदीपको... अतः जो हेतु एतदर्थ दिया गया कि चक्षु तैजस होनेके कारण रश्मियुक्त होती हैं वह भी सिद्ध नहीं हो पाता... अनुमानतः भी यह बाधित लगता है—जैसे कि चक्षु तैजस नहीं होती चमकीले रूप और स्पर्श से रहित होनेके कारण. जो इस तरह चमकीले रूप और स्पर्श से रहित होते हैं वे तैजस नहीं होते जैसे मृत्पिण्डादि...

[६]चक्षुके द्वारा अन्धकार भी गृहीत होता है अतः उसे

तैजस माना नहीं जा सकता. आलोकसे अन्धकार गृहीत नहीं हो पाता ठीक वैसे ही. अतः तमःप्रकाशक होनेके कारण चक्षुको तैजस् नहीं माना जा सकता...

[७]चक्षुको प्राप्यकारी माननेपर क्या विषय चक्षुके देश तक आता है या चक्षु विषयके देश पर्यन्त जाती है? प्रथम कल्प तो प्रत्यक्षसे बाधित है... द्वितीय कल्पमें भी प्रत्यक्षविरोध दिखलायी देता है क्योंकि प्रत्यक्षतया विषयके प्रति चक्षुका गमन सिद्ध नहीं होता. यहां विरोधी अनुमान भी दिया जा सकता है कि चक्षु स्वयं जा कर बाह्यार्थके साथ सम्बद्ध नहीं होती, इन्द्रिय होनेके कारण त्वचाकी तरह ही.

[८]अतः दृष्टरीतिका अतिक्रमण करके चक्षुके साथ जुड़ी किसी वस्तुका विषयके साथ सम्बन्ध माननेके बजाय प्रतीतिके बलपर विषयसे असम्बद्ध चक्षु ही विषयकी प्रकाशक होती है ऐसे स्वीकारमें क्या आपत्ति है? व्यर्थ ही प्रतीतिका अपलाप करनेसे लाभ क्या!...

[९]विषयदेशमें जा कर चक्षु अर्थको द्योतित करती हो तो... कांच मेघ पारदर्शी वस्त्र स्वच्छ जल स्फटिक आदिके द्वारा व्यवहित वस्तुओंका या तो उपलम्भ नहीं होना चाहिये अथवा इन व्यवधानोंके बावजूद चक्षु उन व्यवहित वस्तुओंतक जाती हो तो व्यवधानरूप पदार्थोंका भान नहीं होना चाहिये, क्योंकि चक्षु वहांसे आगे पहुंच गयी होती है. इन कांच आदि अवयविओंके द्वारा प्रतिबन्ध क्यों नहीं होता? यदि इनके आरपार जानेके कारण चक्षुकी रश्मियां अर्थदेश तक जाती हों तो कमसे कम कांच आदिसे व्यवहितार्थकी उपलब्धिके समय तो व्यवधायक कांच आदि अनुपलम्भ अवश्य ही होना चाहिये...

[१०]इससे यह सिद्ध हुवा कि कमलके शतपत्रोंके वेधमें जैसे क्रमिकता अनुभूत नहीं होती उसी तरह समीपस्थ वृक्षकी

शाखा और दूरस्थ चन्द्रमा के अनुभवमें भी वह दुर्लक्ष्य हो जाती है, यह समाधान भी निरस्त हो जाता है...

"चक्षुको प्राप्यकारी माननेपर चक्षुके विषयके बारेमें संशय या विपर्यास तो होने ही नहीं चाहियें, क्योंकि चक्षुसे गृह्यमाण वस्तुके सामान्य धर्मोंकी तरह विशेष धर्म भी दूर नहीं रह जाते होनेसे उनका सन्निकृष्ट वस्तुकी तरह ग्रहण हो जाना चाहिये... सन्निकृष्ट होनेपर भी चक्षुके द्वारा सामान्य ही गृहीत होता है विशेष नहीं ऐसा तो कहा नहीं जा सकता"[५].

जैनोंके सप्तभंगिमोपेत सिद्धान्तमें शांकरोंका अन्तर्भाव, प्रस्तुत विचार्यविषय बाह्यार्थके सन्दर्भमें सोचना हो तो, स्याद् नास्ति" रूप संग्रहनयमें आर्हतोंद्वारा स्वीकारा गया है. इससे अलग हट कर बौद्धोंका अन्तर्भाव ऋजुसूत्राकूत, अर्थात् प्रस्तुत बाह्यार्थके सन्दर्भमें सोचना हो तो, "स्याद् अवक्तव्यम्" नयमें स्वीकारा गया है[६]. यह यद्यपि अन्तिम माध्यमिकोंके मतके साथ संगत कथा नहीं लगती है. फिरभी योगाचार मतकी दृष्टिसे बौद्धोंका अन्तर्भाव "स्याद् नास्ति" कल्पके अन्तर्गत अधिक सुसंगत लगता है. वैसे "स्याद् अवक्तव्यम्" कल्पको कोटित्रयविनिर्मुक्त माननेके बजाय चतुष्कोटिविनिर्मुक्त मान कर चला जाये तो उसमें माध्यमिक बौद्धोंका अन्तर्भाव भी शक्य हो जायेगा. शांकर वेदान्तमें मिथ्यात्व वैसे तो "सद्भिन्नत्वे सति असद्भिन्नत्वे सति सदसद्भिन्नत्वम्" (अद्वै.सि.मिथ्या.निरु.प्रक.) कोटित्रयविनिर्मोकरूप ही माना गया है. फिरभी शांकर वेदान्तका भी अन्तर्भाव चतुर्थ "स्याद् अवक्तव्यम्" कल्पमें ही अधिक युक्ततर माना जा सकता है. क्योंकि ब्रह्मज्ञानजन्य बाधसे पहले बाह्यार्थग्राही प्रत्यक्षका व्यावहारिक प्रामाण्य माध्यमिक बौद्धोंकी ही तरह शांकर वेदान्तको अभीष्ट है परन्तु बाधज्ञानके बाद तो स्वयं *विवरणप्रमेयसंग्रह* कार भी शून्यताके बारेमें किसी तरहकी विप्रतिपत्ति नहीं देखते हैं : "बाधप्रतियोगित्वसिद्धये तत्प्रतीतिकाले सदसद्वैलक्षण्याङ्गीकारात्. बाधाद् ऊर्ध्वन्तु भवत्येव शून्यत्वं, विनष्टस्य

शून्यतायां कस्यापि अविवादाद्'' (विव.प्रमे.सं.१।७५/डी) अतएव हम देख सकते हैं कि न केवल चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियोंका प्रत्युत अन्तःकरणवृत्तिका भी बाह्य विषयदेशमें गमनपूर्वक व्यावहारिक प्राप्यकारित्व शांकर वेदान्तमें प्रतिपादित किया गया है. एतावता बाह्यार्थकी परमार्थदृष्ट्या शून्यता तथा व्यवहारदृष्ट्या संवृतिसत्योपम व्यावहारिकसत्ता या तदपरपर्यायरूप मिथ्यात्व भी अङ्गीकृत है. तदनुसार शांकर वेदान्तमें अविद्याकल्पित बाह्यार्थदेशमें आविद्यक बाह्यार्थाकाराकारिताको सम्पन्न करने नेत्रवृत्ति तथा अन्तःकरणवृत्ति दोनोंको प्राप्यप्रकाशकारी माना गया है. यह सुतरां ध्यातव्य है कि शांकर वेदान्ताभिमत प्रक्रियामें यहां चमत्कारपूर्ण वैलक्षण्य है. और अतएव बौद्ध मताभिप्रेत प्रक्रियासे यह सर्वथा विपरीत ही सिद्ध होती है. एतदर्थ विवरणप्रमेयसंग्रह तथा वेदान्तपरिभाषा के ये अंश अवलोकनीय हैं—

''सर्वगत चिदात्माको आवृत कर के अवस्थित भावरूपा अविद्या ही जगत्के विविध आकारोंमें परिणत होती है. वहां शरीरके भीतर स्थित 'अन्तःकरणा'ख्य अविद्याका विवर्त धर्माधर्मसे प्रेरित हो कर नेत्रादिके द्वारा बाहर निकल कर यथोचित घट आदि विषयोंमें व्याप्त हो जानेपर घट आदि आकारोंमें आकारित हो जाता है. जैसे लोकमें तलावमें भरा हुवा जल उसकी भींतमें रहे छिद्रोंमेंसे बाहर बह कर नालिओंमें बहता हुवा क्यारिओं तक पहुंच कर उनमें भर जाता है. वे क्यारियां चतुष्कोण हों तो चतुष्कोण, त्रिकोण हों तो त्रिकोण; और वर्तुल हों तो वर्तुल आकार भी जल ग्रहण कर लेता है. यह तथ्य है कि बिलकुल तलावके जलकी ही तरह अन्तःकरण धीमे-धीमे नहीं बहता. वह ऐसी तरह नहीं बहता कि अतिदूरवर्ती चन्द्र नक्षत्र ध्रुव आदि तक पहुंच ही न पाये! वह तो सूर्यकी किरणोंकी तरह तैजस होनेके कारण शीघ्र ही दीर्घप्रभाके आकारमें परिणत हो जाता

है. अतएव किरणोंकी ही तरह सहसा संकुचित भी हो पाता है. सावयव होनेके कारण अन्तःकरण दूधकी तरह अन्यथाभावापन्न भी अर्थात् परिणत हो पाता है. इस परिणतिके वश अन्तःकरण देहके भीतर और घट आदि विषयमें भी भलीभांति व्याप्त हो कर देह, घट; और, उन दोनोंके बीचमें रहे अन्तरालमें भी अविच्छिन्न दण्डायमान हो कर अवस्थित हो जाता है. यहां देहावच्छिन्न अन्तःकरणके भागको 'अहंकारा'ख्य 'कर्ता' कहा जाता है. देह और विषय के बीच दण्डायमान अन्तःकरणके भागको 'वृत्तिज्ञान'भिधा 'क्रिया' कहा जाता है. इसी तरह विषयके व्यापक अन्तःकरणके भागको बाह्यार्थके ज्ञानका कर्म(=विषय) बनानेवाला 'अभिव्यक्तियोग्य' कहा जाता है. इस तरह तीन भागोंवाले अन्तःकरणके अतिशय स्वच्छ होनेके कारण उसमें चैतन्य अभिव्यक्त हो पाता है. यह अभिव्यक्त चैतन्य एक होनेपर भी अपने अभिव्यञ्जक अन्तःकरणरूपी उपाधिके भेदवश तीन तरह निरूपित होता है : कर्तावाले भागमें घिरा चिदंश प्रमाता, क्रियावाले भागमें घिरा चिदंश प्रमाण, विषयगत योग्यताधायक भागमें घिरा चिदंश प्रमिति. यों प्रमाता, प्रमाण और प्रमिति में कोई सांकर्य नहीं हो पाता.''

''ज्ञानेन्द्रियां — घ्राण रसना चक्षु श्रोत्र और त्वचा यों — पञ्चसंख्याक होती हैं. ये सारी अपने-अपने विषयोंसे संयुक्त हो कर ही प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न करती हैं. इनमें घ्राण रसना और त्वचा इन्द्रियां अपने-अपने स्थानोंपर ही रहती हुयी गन्ध रस स्पर्श के उपलम्भ उत्पन्न कर पाती हैं. जबकि चक्षु और श्रोत्र तो स्वतएव विषयदेश पर्यन्त जा कर अपने-अपने विषयोंको गृहीत करते हैं. श्रवणेन्द्रिय भी चक्षुकी ही तरह परिच्छिन्न होनेके कारण भेरी आदिके देश तक पहुंच कर उसके शब्द सुन लेती है''[७].

इस तरह हम देख सकते हैं कि शांकर वेदान्त न केवल चक्षुकी अपितु श्रोत्र और अन्तःकरण, जिसे बौद्ध दर्शनमें 'मन' कहा गया है, यों तीनोंको ही प्राप्यप्रकाशकारी मानता है. वह भी बाह्यार्थकी कल्पितता तथा बाह्यदेशमें व्यावहारिकी विद्यमानता यों परस्पर दोनों विरोधाभासी धारणाओंके समन्वयार्थ कितनी विलक्षण प्रक्रियाके अवलम्बन द्वारा प्रस्तावित यह प्रतिपादन है!

माध्व वेदान्त, परन्तु, इस प्रक्रियाका प्रत्याख्यान करना चाहता है. श्रीमद्वादिराजतीर्थ अपने *विवरणव्रण*में उल्लिखित अन्तःकरणवृत्तिके बाह्य विषयदेशमें गमनकी आलोचना इन शब्दोंमें करते हैं—

"विवरणकारका प्रतिपादन उचित माना जा सकता था यदि घट आदिका अधिष्ठानभूत चैतन्य घटादिज्ञानरूप होता तो, वह तो उपपन्न ही नहीं होता. अतः चैतन्य यदि घटादिज्ञानरूप हो तो यह बताना पड़ेगा कि अनुभवसे विपरीत ऐसी कल्पना करनेका औचित्य क्या है? यदि दृग् और दृश्य के बीच दूसरा कोई सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता होनेसे अध्यासरूप सम्बन्धको शक्य बनाने ऐसी धारणा प्रस्तुत अभीष्ट हो तो क्या घटाकारिका वृत्तिके अध्यास न होनेपर भी उसे घटज्ञान मानना या नहीं? अध्यास न होनेकी स्थितिमें तो पटाकारिका वृत्तिसे भी घटविषयक अज्ञानकी निवृत्ति स्वीकारमें भी कोई बाधा नहीं रह जायेगी. प्रथम कल्पमें यह भी स्पष्ट करना चाहिये कि आध्यासिकी घटाकारिका वृत्तिकी घटज्ञानरूपता कैसी हो सकती है? यह तो कह नहीं सकते कि घटाकारिका होनेके कारण ही, क्योंकि तब तो आवश्यक होनेसे तत्तद्-विषयाकारिका वृत्तिओंको ही तत्तद्-विषयकज्ञान मान लेना पर्याप्त होनेसे विषयाधिष्ठानभूत चैतन्यको भी ज्ञान मानना निरर्थक ही सिद्ध होगा. अन्यथा किसी एक घटको भी अपर घटका ज्ञान माननेमें भी कुछ आपत्तिजनक रह

नहीं जायेगा. इसके अलावा किसी भी तरह विशेष आकारोंसे रहित ऐसे रूप संख्या सामान्य अभाव आदि विषयोंके ज्ञानोंको तो ज्ञान ही माना नहीं जा सकेगा. परोक्षज्ञानद्वारा क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियरूप करणोंके सहकारके बिना ही बाह्यार्थसे असम्बद्ध अन्तःकरण बाह्यार्थका आकारग्रहणार्थ सक्षम न होनेसे ऐसे ज्ञानको ज्ञान मानना शक्य नहीं रह जायेगा. जो अन्तःकरण स्वतः ही निराकार हो वह तो तत्तत्-करणरूपा इन्द्रियोंद्वारा ही तत्तद् इन्द्रियोंसे गम्य विषयोंका आकार किस या कैसी प्रणालीद्वारा ले पायेगा? तलावका जल नालीसे बह कर क्यारीमें पहुंचनेपर क्यारिओंके आकारमें आकारित हो जाता है, उस तरह क्या अन्तःकरण आकारग्रहण कर पायेगा?... तलावमें रही सीढ़ियोंके कारण भला कभी तलावका जल क्यारी तक पहुंच सकता है क्या? वह तो नालीद्वारा ही पहुंच पाता है. एतावता सिद्ध हुवा कि क्यारिओंतक यदि जलको पहुंचाना हो तो तलावके बाहर रही हुयी ही कोई प्रणाली अपरिहार्यतया अपनानी पड़ेगी. अतएव तो अन्तःकरणसे बाह्य चक्षु आदि इन्द्रियरूप पदार्थोंकी आवश्यकता स्वीकारनी ही पड़ती है और वह उचित भी है ही...

एक दूसरी बात यह भी है कि घटाकारिका वृत्ति घटविषयक अज्ञानको तो दूर कर सकती है परन्तु घटसे भिन्न ऐसे चैतन्यके बारेमें जो अज्ञान हो उसे कैसे दूर कर पायेगी? अब यदि कहा जाये कि वही वृत्ति चैतन्यको भी अपना विषय बना लेगी तो यह वृत्ति अपनेमें अनध्यस्त निराकार चैतन्यको कैसे विषय बना पायेगी? उसके उल्लेखपुरःसर बना पायेगी ऐसा कहते हो तो सर्वत्र उसीसे सारे ज्ञान उत्पन्न हो जायेंगे फिर निरर्थक ही अननुभवसिद्ध आकाराध्यासकी कल्पना करनेसे लाभ क्या?

यहां यह भी प्रष्टव्य होता है कि नीरूप चैतन्यके

बारेमें चाक्षुष वृत्ति उत्पन्न कैसे हो सकती है? यदि कहा जाये कि उस घटाकारिका वृत्तिके विषयीभूत घटमें चैतन्यके अनुस्यूत होनेके कारण तो, तब तो उसमें आकाश और गुरुत्व भी अनुस्यूत होते ही हैं, सो उन्हें क्यों वह वृत्ति अपना विषय नहीं बना लेती? जैसे घट-पटके समूहावलम्बी ज्ञानके अनुव्यवसायमें घट और पट दोनों विषय बनते हैं, ठीक उसी तरह 'घट और उसके अधिष्ठानभूत चैतन्य को मैं देख-जान रहा हूं' ऐसा अनुव्यवसाय क्यों होता नहीं?..."[८].

इस तरह हमने देखा कि *विवरणव्रण* कार कैसे अन्तःकरणवृत्तिकी प्राप्यकारिताकी समालोचना करते हैं. वैसे तो न्यायकुमुदचन्द्रोदयकारकी युक्तियोंका भी समाधान प्रस्तुत किये बिना चाक्षुष वृत्तिके बहिर्निष्क्रमणकी कल्पना भी सहसा हृदयारूढ़ नहीं हो पाती है.

दुग्धराशिवत् पानैकगम्य माधुर्यसे भरपूर अपने *तत्त्वामुक्ताकलाप* और उसपर स्वोपज्ञ *सर्वार्थसिद्धि* व्याख्यामें श्रीमान् वेंकटनाथ वेदान्तदेशिकने भी इस विषयपर बौद्ध युक्तियोंकी समालोचना प्रस्तुत की है जिनमें जैन युक्तियोंका भी थोड़ा-बहुत समाधान तो झलकता ही है. फिरभी उसे पूर्ण सन्तोषकारी तो माना नहीं जा सकता है. हम देख चुके हैं कि चक्षुकी अप्राप्यकारिताके बारेमें जैन और बौद्ध दृष्टिकोण एक ही हैं. श्रोत्र इन्द्रियको, परन्तु, जैन चिन्तक प्राप्यकारी मानते हैं और बौद्ध उसे भी मनकी तरह अप्राप्यकारी ही. अतः पूर्वोदाहृत युक्तियोंके विरुद्ध श्रीवेदान्तदेशिककी प्रतियुक्तियोंका विमर्श भी यहां अवधारणीय बन जाता है—

प्राप्यग्राहीन्द्रियत्वाद् विमतम् इतरवत् प्राप्तिरुक्तप्रकारा
वृत्तिं दृष्टेर् न रुन्धे विरलपटनयाद् अम्बुकाचादिरच्छः।
नो चेद् गृह्येत योग्यं सममिह निखिलं निष्फले छादकादौ
स्थैर्ये तद्योग्यभावो नहि गलति समा सन्ततिस्त्वन्मतेऽपि॥

इसकी स्वोपज्ञा *सर्वार्थसिद्धि* व्याख्यामें ग्रन्थकार कहते है कि बाह्य चिन्तकों द्वारा यह जो युक्ति दी जाती है कि इन्द्रियां यदि देहके भीतर हों तो चक्षु और श्रोत्र द्वारा दूरस्थ विषयोंका ग्रहण कैसे उपपन्न हो पायेगा? उसके समाधानतया यह ज्ञातव्य है कि वृत्तिद्वारा सम्बन्ध जुड़ता होनेसे यह शक्य है. यह शंका उठ सकती है कि देहके भीतर भरी रहनेवाली वृत्ति दूरस्थ विषयोंका ग्रहण कैसे कर पायेगी; क्योंकि धर्म कभी धर्मिकि बाहर तो विद्यमान रह नहीं सकता... यद्यपि हैतुकगतिसे हठात्कारके साथ अप्राप्यकारितापर भार देना ही हो तोभी 'दिवीव चक्षुः आततम्' ऐसे आगमिक व्यवहारस्वारस्यमें कोई बाधा दिखलायी नहीं देती होनेसे वृत्तिद्वारा प्राप्ति कही जा सकती है... बाह्य चिन्तकोंका यह कहना कि 'स्वग्राह्य विषयके प्रकाशनार्थ चक्षुवृत्तिका नयनगोलकसे बाहर प्रसरण माननेपर, वह या तो क्रमशः एक-एक विषयका ग्रहण करते हुवे अग्रसर होगी या युगपत् सकल विषयोंका. ये दोनों ही कल्प, परन्तु, दूरस्थ विषयोंकी प्राप्तिके हेतु उपपन्न नहीं हो पाते. अतः मनकी तरह रूपग्राहक चक्षु और शब्दग्राहक श्रोत्र भी अप्राप्यग्राही ही होते हैं'. उनकी इस धारणाके विरोधमें यह प्रत्यनुमान दिया जा सकता है कि 'प्राप्याप्राप्यत्वके विवादका विषय चक्षु अपने विषयको प्राप्त करके ही रूप आदिकी ग्राहिका बन पाती है, इन्द्रिय होनेके कारण त्वगिन्द्रियकी तरह'... जो कुछ इन्द्रियद्वारा गृहीत होता है उस वस्तुका अपनेको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियके साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध तो अवश्य होना ही चाहिये. अन्यथा असम्बद्धका ग्रहण मान लेनेपर तो अव्यवस्था हो जायेगी. यह तो ठीक है कि सभी सम्बद्ध विषयोंका ग्रहण भी इन्द्रियां नहीं करती. अतः वैसी अव्यवस्था तो स्वसम्बद्धार्थग्राहितावादिओंके मतमें भी समानतया आपादित की जा सकती है... परन्तु सूर्योदय होनेके साथ ही उसकी प्रभा जैसे सारी दिशाओंमें व्याप्त हो जाती हैं, वैसे ही उतने ही वेगसे नयनकिरण भी यदि सर्वत्र व्याप्त हो जाती हों तो उसमें विस्मयकी कौन सी बात हो सकती है! कमलके

शतपत्रोंके वेधमें जैसे यौगपद्यका आभास होता है वैसे ही यहां भी शक्य हो सकता है... कुछ लोग जो कहते हैं 'चक्षुसे निष्क्रमण होते ही चक्षुकिरणें चन्द्र-सूर्यके बहुदेशव्यापी बाह्य प्रकाशसे संवलित हो कर एक पृथु अवयवी बन जाती हैं. और इसी सम्बन्धके कारण चक्षुके खुलते ही दूरस्थ विषयका ग्रहण और दूरस्थ तथा समीपस्थ दोनोंका युगपद् ग्रहण भी उपपन्न हो जाता है' यह किन्तु युक्तियुक्त विधान नहीं है, चक्षुसे निष्क्रमणके बाद सौर आदि प्रकाशके साथ संवलनकी कल्पनामें गौरवदोष प्रकट होता है[९].

बौद्ध मतके तर्कोंके निरसनार्थ दिये गये इस समाधानमें *न्यायकुमुदचन्द्रोदय*की भी कतिपय युक्तियोंका समाधान तो उपलब्ध होता है परन्तु फिरभी बहुत सारी युक्तियां अभी अप्रत्याख्यात ही अवशिष्ट हैं. अस्तु.

इस विवादमें सांख्यमतीय ईश्वरकृष्णकी कारिकाओंपर उपलब्ध होती प्राचीनतर, सम्भवतः धारानरेश भोजराजविरचिता *युक्तिदीपिका* व्याख्यामें जो कुछ निरूपित हुवा उसे भी दृष्टिगत कर लेना उपकारक होगा, पूर्वकालिक कोटिक्रमोंके अवधारणार्थ ही. तदनुसार —

> ''बुद्धिकी इन्द्रियां 'बुद्धीन्द्रिय' कहलाती हैं. इनमें बुद्धीन्द्रिय होनेकी बात क्या है? कहा जाता है — शब्द आदि विषयोंकी प्रतिपत्तिमें ये इन्द्रियां द्वाररूप होती हैं. क्योंकि अन्तःकरणकी तो बहिर्वृत्ति हो नहीं सकती. अतः बाह्य शब्द आदि विषयोंके साक्षाद् ग्रहणार्थ वह तो सक्षम हो नहीं पाता. इसलिये श्रोत्र आदि रूप साक्षाद् बाह्य विषयोंके प्रकाशनमें समर्थ कोई कारणान्तर अपेक्षित होता है. अतः वे इन्द्रियां ही एक प्रणाली बन कर अन्तःकरणको विषयग्रहण करवा देती हैं. अतः ठीक ही तो कहा

कि बुद्धिको बाह्य विषयोंकी प्रतिपत्तिमें ये इन्द्रियां द्वारभूत होती हैं अतः इन्हें 'बुद्धीन्द्रियां' कहना उचित है.

बुद्धिके इन करणोंकी किन अर्थोंमें वृत्ति मानी गयी है और उनके लक्षण क्या माने गये हैं? कहा जाता है... शब्द स्पर्श रूप रस तथा गन्ध जो परस्पर भिन्न-भिन्न पांच तरहके विषय होते हैं उनके बारेमें श्रोत्र त्वचा चक्षु जिह्वा और घ्राण इन्द्रियोंद्वारा श्रवण स्पर्शन दर्शन आस्वादन आघ्राण रूपी व्यापारोंको 'वृत्ति' कहा जाता है... यह जो पूछा गया कि उनके लक्षण क्या हैं, उसका उत्तर है : इन इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने विषयोंका आलोचनामात्र अभीष्ट है. 'आलोचन' और 'ग्रहण' ये दोनों पर्यायवाचक पद हैं... अतः ठीक ही तो कहा कि इनकी ग्राहिका ये इन्द्रिय होती हैं. ये इन्द्रियां उन-उन विषयोंकी प्रदीपकी तरह प्रकाशिका नहीं होती. इन्द्रियवृत्ति केवल ग्राहिका होती हैं अर्थात् प्रत्ययरूप नहीं. परन्तु इन ग्रहण, प्रत्यय और प्रकाश में परस्पर प्रभेद क्या होता है? समधानरूपेण यह अवधेय है कि विषयके साथ सम्पर्क होनेपर उन-उन विषयोंके रूपोंको धारण कर पाना ही इन्द्रियवृत्तिओंका ग्रहणरूप व्यापार होता है. बादमें विषय और इन्द्रियवृत्ति का अनुकारी जो निश्चय होता है कि 'यह गाय है, यह श्वेत वर्णकी है; और दौड़ रही है' इसे प्रत्यय समझना चाहिये. विषयके सात सम्पर्क छूट जानेपर श्रोत्र आदि वृत्तिओंमें जो विषयाकार निवृत्त होता है, वह तो वर्तमानकालता है. अतः ग्रहणके अनुभवसे जो संस्काराधान होता है और जिसके कारण त्रैकालिकी स्मृति बन पाती है उसे 'प्रत्यय' कहते हैं. यही इन दोनोंके बीच रही विशेषता है. अब बाह्य जो प्रकाश होता है वह विषयाकाराकारित नहीं होता.

घट आदि विषयोंके संस्कारद्वारा तथा व्यवधायक पार्थिव छायारूप धर्मके अपहरणद्वारा भी प्रकाश व्यञ्जक हो कर चक्षुका उपकारी बन जाता है...

अतः यह उपपन्न होता है कि प्रदीप आदि प्रकाशक होते हैं, श्रोत्र आदि इन्द्रियां ग्राहिका होती हैं और अन्तःकरण व्यवसायक होता है''[१०].

यों वाचस्पति मिश्रसे भी पूर्वकालिक सांख्यकारिकाके व्याख्याता *युक्तिदीपिका* कारने जो यह निरूपण चक्षु और चक्षुर्ग्राह्य विषय के बारेमें किया है, इसके आधारपर इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इनके अनुसार इन्द्रियां केवल ग्राहिका ही होती हैं, प्रकाशिका नहीं. प्रकाश्य-प्रकाशकभाव सम्बन्ध तो वर्णरूपाकृति, तद्वद् वस्तु और सौर आदि ज्योतिष्मान् वस्तुओंके बीच ही माना गया है. अतएव सम्भवतः इन्हीं धारानरेशकृत शैवसिद्धान्तप्रतिपादक *तत्त्वप्रकाश* ग्रन्थ, जिसपर श्रीकुमारस्वामिकृत *तात्पर्यदीपिका* व्याख्या भी उपलब्ध है, उसमें भी —

''मनका व्यापार इच्छारूप होता है. अतएव मनके भीतर ही सङ्कल्प होता है. बुद्धीन्द्रियां पांच होती हैं : श्रोत्र त्वचा दृष्टि जिह्वा और नासिका... इनके ग्राह्य होते हैं : शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध... इन इन्द्रियोंके व्यापार शब्द आदिके ग्रहणरूप होते हैं... इन शब्दादिका ग्रहण शब्दादिके आकारोंको धारण कर लेना है और इसे ही 'इन्द्रियोंका व्यापार' कहा जाता है'' [११].

एतावता देखा जा सकता है कि राजा भोजके अनुसार सांख्य और शैव दोनों ही मतोंमें विषयेन्द्रियके बीच ज्ञानानुकूला प्रत्यासत्ति ग्राह्यग्राहकभावरूपा स्वीकारी गयी है. इस प्रतिपादनशैलिमें विषयेन्द्रियके बीच बिम्ब-प्रतिबिम्बभावरूपा प्रत्यासत्तिके विपरीत विषय वास्तविक

आकारघटक होता है तथा वृत्ति विषयाकाराकारित हो जाती है, ऐसी प्रत्यासत्ति स्वीकारी गयी है. आंग्लभाषामें इसके लिये एक बहुत उपयुक्त पद plasticity उपलब्ध होता है कि जिसके अनुसार कुछ द्रव्योंमे यथायथ अनेकाकारधारणकी क्षमता मानी जाती है. सांख्य और शैव मतोंकी भोजराजकृत व्याख्याके अनुसार इन्द्रियोंमें वैसी ही अनेकाकारधारणक्षमता होती है. अतएव इसीके कारण ही विषय और इन्द्रियों के बीच ग्राह्यग्राहकभावरूपा प्रत्यासत्तिकी कल्पना की गयी है. जहां तक बाह्य प्रकाश विषयाकाराकारित होता है या नहीं इस समस्याके समाधानकी बात है तो स्पष्ट है यह तो सर्वथा तथ्यविपरीत विधान ही है. क्योंकि बाह्य आलोककी रश्मियां यदि विषयाकाराकारित न हो पाती हों तो दर्पणमें प्रतिबिम्ब कैसे प्रकट हो सकता है? क्योंकि अन्धकारवाले प्रकोष्ठमें द्रष्टाके असम्मुखीन दर्पणमें भा दर्पणासम्मुख आलोकवाले प्रकोष्ठान्तरमें विद्यमान वस्तुओंका प्रतिबिम्ब आलोकरश्मिओंके द्वारा प्रकट होता ही है. यह आलोकरश्मिओंके विषयाकाराकारित हुवे बिना कथमपि शक्य नहीं. इसी तरह आधुनिक उपकरण फिल्म-प्रॉजेक्टर्में भी तो पारदर्शी फिल्मके पृष्ठभागसे आलोकरश्मिओंका प्रक्षेपण जब पर्देपर किया जाता है तब अर्थात् सफेद पर्दे तक रंग तथा आकृति को प्रकाशकिरणें अपने साथ ले जाती हैं और परावृत्त हो कर उन्हें पुनः चक्षुर्ग्राह्य भी बनाती हैं. अतः बाह्यालोकरश्मिओंके विषयाकाराकारित न होनेकी कथा तो सर्वथा तथ्यविपरीत ही है.

जहां तक चक्षु इन्द्रियके विषयदेशमें पहुंचे बिना या पहुंच कर विषयको प्रकाशित करनेके विवादके बारेमें वाल्लभ वेदान्तके अभिप्रायका प्रश्न है तो गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरणने *प्रस्थानरत्नाकर* के प्रमाकरणस्वरूपनिरूपक कल्लोलके तृतीय तरंगके; तथा, ब्रह्मसूत्रके द्वितीयाध्यायके चतुर्थपादके सातवें सूत्रके *अणुभाष्यप्रकाश* के आधारपर उनका विमर्श करना चाहेंगे. इस विमर्श करनेसे पहले, परन्तु, स्वयं महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य द्वारा जो कुछ इस विषयमें प्रतिपादित किया गया है, उसे पहले दृष्टिगोचर

कर लेना उपयुक्त होगा. उसके बाद श्रीपुरुषोत्तमचरणकी विशद विवेचनाका अवलोकन प्राप्तावसर चिन्तन होगा.

वाल्लभ दृष्टिकोण :

भागवततृतीयस्कन्धकी सुबोधिनी व्याख्यामें महाप्रभु कहते हैं —

"ज्ञानप्रधान महत् तत्त्वसे क्रियाशक्तिवाला अहंकार समुत्पन्न हुवा. यह तीन तरहका ही उत्पन्न होता है. स्वयं उत्पत्तिकी प्रक्रिया ही यहां भेदिका बन जाती है. क्योंकि मूलप्रकृतिके परिणामरूप ये विकार तीन गुणोंवाले तो होते ही हैं... अहंकार वैकारिक अर्थात् सात्त्विक भी होता है और राजस तामस भी... ऐसे त्रिविध अहंकारसे मन इन्द्रिय और पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति होती है, इनमें पञ्चतन्मात्राओंका भी अन्तर्भाव जान लेना चाहिये... बुद्धितत्त्वकी उत्पत्ति होती है राजस अहंकारसे... यह बुद्धि निर्विषयिका नहीं होती, अतः बुद्धि किसीभी विषयके बारेमें पैदा हो सकती है... मन जैसे इन्द्रियोंका प्रेरक होता है, वैसे ही इन्द्रियोंपर अनुग्रह करना बुद्धिका कार्य है. अतएव बुद्धिद्वारा अनुगृहीत ही इन्द्रियां कुछ भी जान या कर पाती हैं. बुद्धिके तारतम्यवश ही, अतएव, इन्द्रियोंसे पैदा होते ज्ञान और क्रिया में भी तारतम्य प्रकट हो जाता है. यह तो हुवा बुद्धिका कार्यानुसारि लक्षण. बुद्धिका स्वरूपलक्षण 'द्रव्यस्फुरणविज्ञान' माना गया है : घट आदि द्रव्योंके स्फुरण होनेपर शब्द, संस्कार अथवा आलोक द्वारा जो विशिष्ट ज्ञान पैदा होता है वह बुद्धि है. क्योंकि केवल चक्षुसे पैदा होनेवाले ज्ञानमें तारतम्य हो नहीं सकता. स्वतःस्फुरण तो योगज धर्मोंसे भी शक्य होता है, अतः द्रव्यके स्फुरण होनेके बाद जो विज्ञान पैदा होता है उसे ही बुद्धिका स्वरूपलक्षण माना गया है. इन्हें 'तैजस'

कहा गया है, क्योंकि इन्द्रियां चाहे ज्ञानकी करण हों या क्रियाकी, दोंनों तरहकी होती तो हैं राजस ही. ज्ञानकी करण बननेवाली इन्द्रियां सात्त्विक हों और और क्रियाकी करण बननेवाली तामस हों ऐसे नही मान लेना चाहिये... जैसे ज्ञानके मूलमें बुद्धि होती है वैसे ही क्रियाके मूलमें प्राणतत्त्व भी होता है... बुद्धि राजसी होती है सो बुद्धिके द्वारा अनुगृहीत इन्द्रियां सभी राजसी होती हैं... बुद्धिकी तरह प्राण भी सर्वेन्द्रियोंका अनुग्राहक होता है... अब रूपका लक्षण जान लेना चाहिये. वह द्रव्यकी आकृतिके जैसी आकृतिवाला होता है. घट आदि द्रव्योंकी जो भी आकृति होती है वही रूपकी भी होती है. वह जैसे पृथुबुध्नोदराकार होता है, वैसे ही रूप भी होता है. अतएव पटके उदाहरणमें वह आतानवितानात्मक भी होता है. यहां 'द्रव्यके जैसी आकृति' कही जाती होनेसे यह फलित होता है कि द्रव्य रूपके जैसी आकृतिवाला नहीं होता. अर्थात् द्रव्यको उपमेय नहीं कहा जा रहा है. इसके अलावा रूप द्रव्यका गुण भी होता है. प्रतीति परन्तु उसकी होती है सर्वदा उपसर्जनतया ही. शब्द आदि तन्मात्राओंके बारेमें ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनकी तो प्रतीति स्वतन्त्रतया भी शक्य होती है. व्यक्तिकी संस्था ही रूपकी भी संस्था होती है, क्योंकि व्यक्ति वक्र हो तो रूप भी वक्र हो जाता है. रूपवान् द्रव्यके उपविष्ट होनेपर रूप भी उपविष्ट हो जाता है... इसे 'तेजका तेजस्त्व' भी कहा जा सकता है, क्योंकि वह रूपतन्मात्रारूप होता है. अर्थात् उसकी सूक्ष्मावस्था. अब चक्षु वह इन्द्रिय है कि जिसका विषय तेजका कोई विशेष गुण होता है... यहां रूपको तेजका एक विशेष गुण माना गया है''[१२].

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणद्वारा श्रीमद्भागवतव्याख्याके रूपमें दिये गये इस प्रतिपादनके अवलोकन करनेपर जो एक बात स्पष्ट समझमें आती है वह यह कि इन्द्रियग्राह्य रूपतन्मात्रा तथा रूप आदिकी ग्राहिका इन्द्रियां राजस अहंकारके विकाररूपतया उत्पन्न होते हैं. इनमें रूपतन्मात्रा और चक्षुरिन्द्रिय दोनों ही तैजस द्रव्यके विकार हैं. अतः तैजस द्रव्य होनेके कारण चक्षुरिन्द्रियोंकी जैसे किरण हो सकती हैं वैसे ही प्रत्येक रूपवद् द्रव्यकी भी किरणें समानन्यायेन हो सकती हैं. अल्पत्व/बहुत्ववशात् झटिति कहीं प्रतीति सुकर हो और कहीं दुष्कर हो वह अन्य कथा है. इस पक्षके विस्तृत विवेचनसे पहले परन्तु अब गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरणकृत एतद्विषयक विवेचनाको दृष्टिगत कर लेना अति आवश्यक है.

गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण द्वारा प्रस्तुत विवेचना :

तदनुसार सर्वप्रथम *प्रस्थानरत्नाकर* में जो प्रतिपादन उपलब्ध होता है उसे देख लेना उपकारक होगा —

> "इन्द्रिय और विषय के संयोगसे निर्विकल्पक ज्ञान जब प्रकट होता है तब इन्द्रियदेशमें बुद्धिवृत्ति प्रकट हो कर इन्द्रियपर अनुग्रह करती है. उसके बाद ज्ञान सविकल्पक बन पाता है. बुद्धि यदि इन्द्रियोंपर अनुग्रह न करती हो तो सविकल्पक ज्ञान प्रकट नहीं हो पाता. वृत्त्यन्तरवश पूर्ववृत्तिके नाश होनेपर सविकल्पक ज्ञान संस्कारात्मना अवस्थित हो जाता है. इन्हीं संस्कारोंके रूपमें अवस्थित विषयोंका उद्बोधकोंके द्वारा उद्बोधन होनेपर राजस रागादिगुणोंके कारण स्मृतिजनक संस्कार प्रबल हो जाते हैं. पश्चात् तमोगुणोंके बुद्धिमें प्रबल होनेपर स्वोपस्थापित अर्थसे माया वास्तविक विषयाकारको आवृत कर उस मायिक पदार्थके ज्ञानको नयनगोलकके अग्रभागपर जब आरोपित करती है. तब भ्रम पैदा होता है... अतः बुद्धिस्थ गुणोंसे जन्य

बुद्धिकी अवस्थाविशेषरूपा ही वृत्ति होती है... इस वृत्तिके प्राकट्यका क्रम यों समझना चाहिये : हमारे भीतर बिराजमान अन्तर्यामिरूप परमेश्वर जब मनको किसी कार्यके हेतु प्रेरित करता है, तब वह तत्तद् इन्द्रियोंको प्रेरणा देनेको तत्तद् इन्द्रियोंके साथ संयुक्त हो जाता है... बादमें विषयसंसृष्ट इन्द्रियोंमें पहले इन्द्रियावच्छिन्न मनमें निर्विकल्पक ज्ञान पैदा होता है. उसके बाद तत्तद् इन्द्रियदेशमें बुद्धिवृत्ति पैदा होती है. तब बुद्धिके द्वारा भी उन इन्द्रियोंपर अनुग्रह किये जानेपर सविकल्पक ज्ञान पैदा होता है. चाक्षुष ज्ञानमें तो नयनकिरण विषयदेश पर्यन्त गमन करती हैं. जबकि इन्द्रियान्तरोंमें किरण न होनेके कारण इन्द्रियद्वारोंसे ही विषय मन तक पहुंचते हैं. दोनों ही प्रकारके ज्ञानोंमें विषयेन्द्रियोंके बीच घटित होते स्पर्श आदि ही व्यापार बनते हैं. यहां एक ऐसी आशंका उठ सकती कि नयनोंकी किरण स्वीकारनेपर इन्द्रियोंके बारेमें ब्रह्मसूत्र 'अणवश्च' (ब्र.सू.२।४।७) में अभ्युपगत अणुत्वकी धारणा निरस्त हो जायेगी. यह आशंका परन्तु निराधार है, क्योंकि सूर्यमण्डल, चाहे जितना भी महत्परिमाण क्यों न हो, उसकी किरणें जिस विस्तारमें व्याप्त होती हैं उतना तो महत्परिमाण उसका होता नहीं है. और सूर्यका ही कोई क्षुद्र अंश हमारे भीतर नयनरूप इन्द्रियके रूपमें निर्मित हुवा होनेसे उसके किरणोंकी भी कल्पना करनेमें कोई शास्त्रीय बाधक दिखलायी नहीं देता...

अथवा 'गुणाद् वा आलोकवत्' (ब्र.सू.२।३।२५) ब्रह्मसूत्रके अनुसार क्योंकि आलोकको गुणरूप माना गया है अतः तैजस चक्षुके आलोकरूप गुणको विषयदेशमें व्याप्त होनेमें कोई बाधा नहीं होनी चाहिये... अतः नयनकिरणोंके विषयदेश पर्यन्त गमनद्वारा ही चाक्षुष प्रत्यक्षकी

प्रक्रिया उचित लगती है...

कुछ लोगोंका कहना है कि मायाके कार्यरूप तमका आलोकके द्वारा प्रतिबन्ध हो जानेपर ज्योतीरूप सूर्य देवताकी किरणोंद्वारा अव्यवहित सन्मुख देशमें अवस्थित घटका विशिष्ट पृथुबुध्नोदराकार रूप अणुपरिमाण चक्षु तक पहुंचाया जाता है. तब सत्त्वप्रधान बुद्धिके भीतर भी वह आकार सम्पन्न हो जाता है. और तब अणुरूप जीवके प्रति ज्ञानात्मक आध्यात्मिक चाक्षुष घटकी अभिव्यक्ति होती है. दूरस्थ गन्ध या शब्द आदि तो वायुद्वारा घ्राण या श्रवण इन्द्रियों तक पहुंचाये जाते हैं. तब अन्तःसत्त्वात्मिका बुद्धि भी वैसे ही आकारसे सम्पन्न होनेपर ज्ञानात्मक आध्यात्मिक गन्ध-शब्द आदिकी अभिव्यक्ति ही घ्राणज या श्रावण प्रत्यक्षोंके रूपमें घटित होती है. आध्यात्मिक और आधिभौतिक के बीच अभेद होनेके कारण बाह्य घटके अगृहीत रहनेपर भी यह आपत्तिजनक बात नहीं है.

यहां इस विषयमें यह अवधेय है कि सर्वप्रथम तमोजनन विषयदेशमें नहीं प्रत्युत नयनदेशमें भागवतपुराण(११।२८।३-४)में प्रतिपादित किया गया है. ज्योतीरूप सूर्यद्वारा पुरुषचक्षु पर्यन्त विषयरूपका प्रापण भी संगत नहीं. क्योंकि अनेक द्रष्टाओं तक विषयरूपके प्रापणकी कल्पना करनेपर अन्तमें कभी विषय स्वयं नीरूप रह जायेगा... इसके अलावा सांझको सूर्यास्तके बाद सूर्यकिरणोंके अभावमें घट दिखलायी देना भी बन्द हो जाना चाहिये. भागवतपुराणमें वायुके बारेमें 'नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः' (भाग.पुरा.३।२६।२७) जैसा विधान उपलब्ध होता है ऐसा तेजोद्रव्यके बारेमें उपलब्ध न होता होनेसे भी यह धारणा अशाब्द ही है.

इसके अलावा यह भी यहां विचारणीय होता है कि चक्षु पर्यन्त रूपका प्रापण चक्षुमें प्रतिबिम्ब पैदा करनेके

रूपमें ही स्वीकारना पड़ेगा. प्रतिबिम्ब तो मायिक होते हैं वास्तविक नहीं. अतः बुद्धिके भीतर भी उन्हीं मायिक प्रतिबिम्बोंको आकारसमर्पक मानना पड़ेगा. अतः उक्त आध्यात्मिक रूप भी मनोमय होनेसे मायामय ही सिद्ध होगा ऐसा कि जिसकी सत्यता न होनेपर भी केवल अर्थक्रियाकारिता मात्र सोची जा सकती हो'' [१३]

इसी तरह *ब्रह्मसूत्राणुभाष्य* के ''अणवः च'' (ब्र.सू.२।४।७) के प्रकाशमें भी श्रीपुरुषोत्तमचरणने अणुपरिमाण चक्षुरिन्द्रियका कौन सा गुण विषयदेशको प्राप्त करता है कि जिसके कारण उसे प्राप्यप्रकाशकारी मानना इस विषयमें यों समझाया है कि चक्षुके तैजस होनेके कारण उसमें रूपतन्मात्रा गुण ऐसा हो सकता है कि जो विषयदेश पर्यन्त गमन कर सकता है. प्रकाशकार यह भी कहते हैं कि ''यन्न स्पृशन्ति न विदुः मनोबुद्धीन्द्रियासवः'' (भाग.पुरा.६।१६।२३) इस नारदकृत उपदेशमें मन आदिके बारेमें यह कहा गया है कि न वे तो ब्रह्मका स्पर्श कर पाते हैं और न ही ब्रह्मको जान ही पाते हैं. एतावता इतना तो सिद्ध होता ही है कि मन आदि इन्द्रियोंमें स्पर्शपूर्वक ज्ञानजननसामर्थ्य भागवतको अभीष्ट तो है ही. अन्यथा ब्रह्मके बारेमें अप्रसक्तका प्रतिषेध स्वीकारना पड़ेगा. अतः स्पर्शरूप व्यापार ही इनका स्वीकारना चाहिये, इन्हें अणुपरिमाण माना गया होनेसे उस स्पर्शका प्रत्यक्ष चाहे न भी होता हो तब भी. स्वाभाविक रूपमें दूरदेशवर्ती वस्तुका जब चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, तब उस दूरदेशवर्तीकी वस्तुकी चक्षुरिन्द्रियदेशमें प्राप्ति शक्य न होनेपर चक्षुरिन्द्रियकी ही विषयदेशमें प्राप्ति अन्यथानुपपत्तिके बलपर स्वीकारनी पड़ेगी. अन्यथा स्पर्शके बिना भी प्रत्यक्ष उत्पन्न हो सकता है ऐसा गलेपतित होगा.

<u>उक्त विवेचनाका विमर्श</u> :

इस समग्र प्रतिपादनमें कुछ बातें विचारणीय लगती हैं.

सर्वप्रथम तो यह कि श्रुत्यादि शास्त्रोंमें चक्षुकी विषयदेशमें प्राप्तिके बाद स्पर्शकी बात कहीं कण्ठोक्त है या नहीं? अर्थात् श्रौत अर्थापत्तिके बलपर ही यदि यह धारणा स्वीकारी गयी हो तो उसकी अन्यथोपपत्ति शक्य है या नहीं? रामानुज सम्प्रदायके श्रीवेदान्तदेशिकने अवश्य ही **''दिवीव चक्षुः आततम्' ऐसे आगमिक व्यवहारस्वारस्यमें कोई बाधा दिखलायी नहीं देती होनेसे वृत्तिद्वारा प्राप्ति कही जा सकती है.''** (पूर्वोद्धृत) ऐसे विधान द्वारा चाक्षुषवृत्तिकी विषयदेशमें प्राप्यकारिताको श्रुतिप्रमाणमूलकतया प्रस्तुत किया है. इसे श्रीपुरुषोत्तमचरणके शब्दोंमें कहना हो तो सौर आदि बाह्यालोककी तरह नयनकिरणें भी स्वाश्रयाधिकदेशवर्ती गुण होती हैं. अतः स्वग्राह्य वस्तुदेशमें चक्षुर्गुणकी व्याप्ति भी इसी श्रुतिवचनके आधारपर प्रस्तावित की जा सकती है. मुझे परन्तु यहां ऐसा प्रतीत होता है कि **''तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुः आततम्''** (ऋक्संहि.१।५।२२।२०) इस श्रुतिवचनमें 'दिवि' पदके साथ प्रयुक्त सप्तमी विभक्तिको औपश्लेषिक या अभिव्यापक चक्षुके आधारके रूपमें लेना उपपन्न नहीं होता. अर्थात् समग्र नभोविस्तारमें नयनकिरणोंको संयोग सम्बन्धके साथ विस्तृत मानना या समग्र नभोविस्तारमें नयनकिरणोंको अभिव्याप्त मानना ये दोनों ही अतीव क्लिष्टकल्पना लगती है. इसके बजाय ऐसा अर्थ सोचना ऋजुतर लगता है कि नभमें जो कुछ आतत हो, व्याप्त हो; अथवा विद्यमान हो उदा. नक्षत्र, प्रकाश अथवा स्वयं नभोविस्तार को ही चक्षु जैसे देख पाती है, ऐसे ही सूरिगण भी विष्णुके परम पदको सदा देख पाते है.

ऐसा अर्थ न स्वीकारनेपर या तो "यथा दिवि आतं चक्षुः पश्यन्ति"ऐसा अन्वय सोचनेपर चक्षुको 'पश्यन्ति' क्रियापदके कर्मके रूपमें मानना पड़ेगा; अथवा तो "यथा दिवि आतं चक्षुः पश्यति"ऐसा अन्वय सोचनेपर "किं पश्यति?" आकांक्षाकी पूर्ति ही हो नहीं पायेगी. प्रस्तावित अर्थ स्वीकारनेपर, जबकि, **''तरणिः विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृद् असि सूर्यो**

विश्वम् आभासि रोचनम्'' (ऋक्संहि.१।९।५०।४) वचनमें कण्ठोक्त 'विश्वं रोचनम् आभासि' प्रयोगके साथ संवाद भी सिद्ध हो जाता है. 'विश्वं रोचनं'का अर्थ श्रीसायणाचार्य ''रोचमानम् अन्तरिक्षम्'' करते हैं और उसे अथवा तद्वर्ती अन्य पदार्थोको भी यहां 'आततम्' पदसे परामृष्ट मानना उपयुक्त होगा.

यदि ''मोक्षे इच्छा अस्ति'' प्रयोगकी तरह 'दिवि'पदमें भी वैषयिकाधाररूपमें सप्तमी विभक्ति ली जाये तो 'चक्षु'को विशेष्य बना कर 'आततम्'को उसका विशेषण मानना अथवा 'चक्षु'को उद्देश्य मान कर 'आततम्'को उसका विधेय मानना? यदि विशेषणतया स्वीकारते हैं तो पुनः ''यथा दिवि आतत चक्षुः (जनाः पश्यन्ति तथा) सूरयः विष्णोः परमं पदं पश्यन्ति'' अन्वय गलेपतित होता है. यदि 'चक्षु'को उद्देश्य बना कर 'आततम्'को विधेय मानते हैं तो सामान्य जनोंकी चक्षु तो आकाशमें आतत हो कर भी विष्णुके उस परमपदके दर्शनकी कर्त्री तो हो नहीं सकती. अतः ''सूरिगण विष्णुके उस परमपदको सर्वदा देख पाते है जैसे चक्षु आकाशमें आतत=व्याप्त होती है'' ऐसे विचित्र अर्थकी कल्पना करनेपर तो उपमोपमेयभाव ही स्पष्ट नहीं हो पाता.

दूसरी जो बात यहां अवधेय है वह यह कि महाप्रभु चक्षुरिन्द्रियकी तरह ही रूपतन्मात्राको भी तैजस मानते हैं. अतः कोई विनिगमना नहीं रह जाती कि क्यों तैजस होनेके कारण चक्षुरिन्द्रिय ही विषयदेशपर्यन्त धावन करती है और क्यों चक्षुर्ग्राह्य विषयकी रूपतन्मात्रा चक्षुर्देश पर्यन्त आगमन नहीं कर पाती?

तीसरी बात यह भी विचारणीय है कि सूर्यका ही कोई अंशविशेष जब हमारे नयनोंके रूपमें जो प्रकट हुवा है और रूपतन्मात्राके साथ संयुक्त होनेपर तत्तादात्म्यापन्न सूर्यकी किरणें क्यों उस रूपतन्मात्राको नयनदेश तक नहीं पहुंचा देती? क्यों नयनरश्मिओंको रूपतन्मात्राके प्रदेश पर्यन्त गमन करना पड़ता है? श्रुति तो स्पष्ट शब्दोंमें **''उद् उ त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्यम्''** (ऋक्संहि.१।९।५०।१)

विधानद्वारा सप्तरश्मिओंको 'केतवः'=प्रज्ञापक मान कर सभी दृष्टिमान् प्राणिओंको नयनोंद्वारा दर्शनक्रियामें सक्षम बनानेवाले सूर्यदेवका वहन करनेवाली मानती है. मूल सूर्यरश्मियां जिस कार्यको सम्पन्न कर ही रही हों उन्हें अंशभूत नयनरश्मिओंसे करवानेमें क्या लाभ? यदि *युक्तिदीपिका*कारकी तरह ग्राहकोपकरण और प्रकाशकोपकरण का प्रभेद करना यहां अभीष्ट हो तो पुनः *न्यायकुमुदचन्द्रोदय*की युक्तियोंका भी समाधान खोजना पड़ेगा. नयनरश्मिओंको अनुद्भूतरूपस्पर्शवाली माननेके बजाय उद्भूतरूपस्पर्शवाली सूर्यरश्मिओंसे वह कार्य क्यों सम्पन्न होता हुवा न मान लेना? श्रीप्रभाचन्द्रकी इस युक्तिमें पर्याप्त बल है कि जो स्वयं रश्मियुक्त हो उसे बाह्य आलोककी अपेक्षा क्यों होगी? यदि अपर्याप्त रश्मिवाली होनेके कारण बाह्य आलोककी अपेक्षा माननी पड़ती हो तो उसी कारणसे वह वस्तुग्रहणमें भी अक्षम सिद्ध होगी. उदाहरणतया अमावस्याकी रात्रिके अन्धकारमें तारागणोंके मन्दालोकमें बहुधा विषयका स्फुट अवभासन नहीं हो पाता. इसी तरह अन्धकारकी चक्षुर्ग्राह्यता भी अल्परश्मिवत्तासे उपपन्न तो हो सकती है. नयनरश्मिओंकी वही अल्पता परन्तु, जैसाकि श्रुतिमें स्पष्ट शब्दोंमें निरूपित किया गया है, ''**अप त्ये तायवो यथा नक्षत्राः यन्ति अक्तुभिः सूराय विश्वचक्षसे**'' (ऋक्संहि.१।९।५०।२) अर्थात् अल्परश्मिवाले नत्रत्रोंके सारे मन्द प्रकाश सौर प्रकाशमें निवृत्त हो जाते हैं. ऐसे ही नयनोंकी भी अल्परश्मिवत्ता सौर आलोकमें अकिञ्चित्कर हो जानी चाहिये थी. इसके विपरीत "दृशे विश्वाय सूर्यम्" वचनमें स्पष्ट शब्दोंमें सौर आलोकको नयनोंको दर्शनसामर्थ्य प्रदान करनेवाला माना गया है. उल्लिखित वचनके भाष्यमें श्रीसायणाचार्य भी कहते हैं कि ''**विश्वचक्षसे विश्वस्य सर्वस्य प्रकाशकस्य सूराय सूर्यस्य आगमनं दृष्ट्वा तस्कराः नक्षत्राणि च रात्रिभिः सह सूर्यः आगमिष्यति इति भीत्या पलायन्ते**'' (तत्रैव). स्वयं श्रीपुरुषोत्तमचरणने भी ''**चक्षुषो अतैजसत्वात् तैजसत्वपक्षेऽपि प्रौढत्वाभावेन परावृत्त्यभावात्**'' (अवता.प्रति-बिं.वा) इतना तो स्वीकारा ही है. अतः जो नयनरश्मियां परावृत्तिक्षम न हो दर्शनक्षम कैसे हो पायेगी! इसके अलावा अपरावृत्त नयनरश्मिओंका

विषयदेशमें पर्यवसान स्वीकारनेपर नयनगोलकके साथ सम्बन्धविच्छेद भी स्वीकारना पड़ेगा. ऐसी स्थितिमें पुनः विषयावभासन चक्षूरश्मिओंसे अकल्प्य सिद्ध होगा.

अतः इन बातोंका विचार करनेपर जो श्रीपुरुषोत्तमचरणने ''केषाञ्चित् प्रक्रिया''के रूपमें जो विवेचना उद्धृत की है वह वाल्लभ मतमें, मेरी नम्र धारणाके अनुसार, अधिक सुसंगत होनी चाहिये थी, बजाय कि न्यायवैशेषिकादि अनुमानप्रधान चिन्तनोंके द्वारा प्रस्तावित प्राप्यप्रकाशकारिताकी प्रक्रियापर अवलम्बित होनेके.

श्रीपुरुषोत्तमचरणने एक विरोधी युक्ति यह भी दी है कि आलोकको इस प्रक्रियामें जो तमोजननमें प्रतिबन्धरूप स्वीकारा गया है वह श्रीमद्भागवतके ''**यथाहि भानोः उदयो नृचक्षुषां तमो निहन्याद्**'' (भाग.पुरा.११।२८।३४) वचनसे विरुद्ध है. इस बारेमें कहा जा सकता है कि शैत्यनिवारक अग्नि यदि शैत्योत्पत्तिमें प्रतिबन्धक भी होती हो तो कोई आपत्तिजनक बात होनी तो नहीं चाहिये थी. तमोजनन विषयदेशमें नहीं प्रत्युत नयनदेशमें होता है, ऐसा इस वचनद्वारा प्रतिज्ञात देशनियम तो स्वयं ग्रन्थकारद्वारा *अन्धकारवाद* में उद्धृत ''**यद् बाधसे गुहाध्वान्तं प्रदीपप्रभया यथा**'' (भाग.पुरा.१०।५१।२०) वचनमें नयनोंके बजाय गुहाप्रदेशमें ही उसे आरोपित तथा भगवत्स्वरूपालोकसे प्रतिबद्ध भी माना गया होनेसे पुनः विचारणीय ही लगता है. स्वयं श्रीमद्भागवतके ''**यथा घनो अर्कप्रभवो अर्कदर्शितो हि अर्काशभूतस्य च चक्षुषः तमः**'' (भाग.पुरा.१२।४।-३२) वचनमें घनको अमायिक=अर्कप्रभव अमायादर्शित=अर्कदर्शित और अर्काशभूत चक्षुके लिये तमोरूप भी माना है. यह तो स्पष्ट ही है कि घन द्रष्टाके नयनोंमें नहीं प्रत्युत नभोदेशमें ही अवस्थित होता है. अतः मायिक तमोविशेष नयनवर्ती होता है परन्तु एतावता सर्वविध तमस् न तो मायिक ही होते हैं और नियततया नयनगोलकमें अध्यारोपित ही. रही बात सूर्यरश्मिओंद्वारा विषयरूपके नयनपर्यन्त आनयन करनेपर

विषयके नीरूपताकी तो ''दीपः चक्षुः तथा रूपं ज्योतिषो न पृथग् भवेत्'' (भाग.पुरा.१२।४।२४) वचनके अनुसार यह आपत्ति तो रूपतन्मात्रा और चक्षुरिन्द्रिय दोनोंपर समानरूपेण आपादित या निवारित होगी. नयनरश्मियां पलकोंको बन्द करनेपर यदि झटिति पुनरावृत्त हो पाती हों तो रूपतन्मात्रा भी वैसा व्यवहार क्यों नहीं कर पायेंगी?

श्रीपुरुषोत्तमचरणने एक युक्ति यह जो दी है कि सूर्यरश्मिओंद्वारा रूपके नयनपर्यन्त प्रापणकी प्रक्रियामें सूर्यास्तके बाद रूपवद् वस्तुका दर्शन शक्य नहीं रह जायेगा. इस सन्दर्भमें ऋग्वेदकी ''व्युच्छन्ती हि रश्मिभिः विश्वम् आभासि रोचनं तां त्वाम् उषः वसुयवो गीर्भिः'' (ऋक्संहि१।९।४९।४) श्रुतिमें सूर्यके साथ जुड़ी यदि उषा भी सर्व रूपवद् वस्तुओंके प्रदर्शनमें सक्षम होती हो तो सन्ध्या भी उसी सूर्यसे जुड़ी होनेके कारण कुछ काल पर्यन्त तो सूर्यास्तके बाद भी रूपवद् वस्तुका प्रकाशन कर ही सकती है. सूर्योदयके बाद गृहके जिस अन्तःप्रकोष्ठमें सूर्यरश्मियां प्रविष्ट नहीं हो पाती वहां भी सूर्यालोक तो अन्धकारको निवृत्त करता ही है. यही न्याय सूर्योदयसे पूर्व और सूर्यास्तके बाद भी कुछ काल तक प्रकट होनेवाला या रहनेवाला सूर्यालोक प्रत्यक्षसिद्ध ही होनेसे बहुत विचारणीय नहीं लगता.

आदित्यरश्मिओंकी रूपप्रापकताके अशाब्द होनेका विधान भी अंशतो उपर्युद्धृत श्रुतिवचनोंसे भी समाहित तो हो ही जाता है. प्रतिबन्दि उत्तरके रूपमें, परन्तु, यह भी तो कहा ही जा सकता है कि नयनरश्मिओंकी विषयदेशमें प्राप्ति भी किसी निःसंदिग्ध शास्त्रवचनद्वारा सिद्ध होती तो, वह वचन ही उद्धृत करनेसे सारे विवाद शान्त हो सकते थे, ऐसे युक्तिप्रतियुक्तिके परिश्रमकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती!

यह जो श्रीपुरुषोत्तमचरणने कहा कि चक्षु पर्यन्त रूपका प्रापण

चक्षुमें प्रतिबिम्ब पैदा करनेके रूपमें ही स्वीकारना पड़ेगा. इस सन्दर्भमें स्वयं ग्रन्थकारके दो वचन मननीय प्रतीत होते हैं :

१.''प्रतिबिम्बस्तु अदण्डवारितत्वाद् भवति. तेन मायापि प्रत्यायतीति चक्षुषा भूयोज्ञानम् उत्पद्यते.''

२.''किञ्च शलाकाव्यवहितस्थाल्युदके खण्डितमुखावलोकनोत्तरं शलाकायाः तदुकान्तस्तलभागे प्रवेशने मुखम् अखण्डितम् अवलोक्यते; शलाका च अन्तःसिकतादिवत्. तेन अन्तर्जलं मध्यदेशे प्रतिबिम्बोद्भवः इति निश्चीयते. परावृत्य ग्रहणेतु तत् न स्यात्. किम्बहुना पराक्षिण स्वप्रतिबिम्बदर्शनात् स्वाक्षण्यपि तथैव इति निश्चयात्, प्रतिबिम्बोत्तरमेव सर्वस्य चक्षुर्गोचरीभावः इत्यपि सुधीभिः आकलनीयम्.''

(प्रस्था.रत्ना.प्रमा.कल्लो.तृती.तरं. — अवता.वादा.प्रतिबिं.वा.).

ऐसे अभ्युपगमके बाद भी ग्रन्थकार यह कहना कि प्रतिबिम्ब तो मायिक होते हैं वास्तविक नहीं अतः बुद्धिके भीतर भी उन्हीं मायिक प्रतिबिम्बोंको आकारसमर्पक मानना पड़ेगा गम्भीर आक्षेप नहीं लगता. अतः यह जो कहा कि उक्त आध्यात्मिक रूप भी मनोमय होनेसे मायामय ही सिद्ध होगा ऐसा कि जिसकी सत्यता न होनेपर भी केवल अर्थक्रियाकारिता मात्र सोची जा सकती हो. यहां तो वदतोव्याघात दोष हो जाता है. वैसे आधुनिक चक्षुर्विज्ञानके अनुसार नयनगोलकोंके भीतर सम्पन्न होती दर्शनकी प्रक्रियामें वहां नयनगोलकोंमें समुद्भूत विषयप्रतिबिम्बका विषयप्रत्यक्षके साथ किसी भी तरहका कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध नहीं होता. वह प्रतिबिम्ब तो नयनगोलकके बाह्यावरणपर ही घटित होता है. नेत्रोंके अन्तःपटलपर तो विषयसंसृष्ट बाह्यालोकरश्मियोंके परावर्तनके बाद संयोगसम्बन्धवश ही बाह्यविषयका चाक्षुष आभास होता है. वह भी उस नेत्रपटलसे मष्तिष्कके पश्चाद्वर्तिभागमें

अवस्थित चाक्षुषकेन्द्रमें पहुंचनेवाली नाडिकाओंके भलीभांति काम करनेपर ही.

इस सन्दर्भमें अनिर्दिष्टनामा *'केषाञ्चित्*=कुछ लोग' कहते हैं अंशमें उद्धृत विधान कि "**आध्यात्मिक और आधिभौतिक के बीच अभेद होनेके कारण बाह्य घटके अगृहीत रहनेपर भी यह आपत्तिजनक बात नहीं है**" इसमें भी वाल्लभ दृष्टिकोणके अनुसार थोड़ा संशोधन अपेक्षित लगता है. वह यह कि चक्षुर्ग्राह्य वस्तुओंके आधिभौतिक और आध्यात्मिक रूपोंमें एकान्तिक अभेद तो अनवसरपराहत है परन्तु ब्रह्मदृष्टिसे "**सर्वं सर्वमयम्**" (नृसिंहोत्त.ताप.उप.९) वचनोक्त तादात्म्य तो अवश्य ही मान्य होगा ही. यह, परन्तु, लौकिक अनुभूतिका विषय न हो कर ब्रह्मानुभूत्येकगोचर होता है. अतः उस मौलिक तादात्म्यकी भी विवक्षा यहां स्वीकारी नही जा सकती. अतः सम्बन्धमीमांसा यहां सावधानतया करनी पड़ेगी. तदनुसार हम समझ सकते हैं कि बाह्य रूपवद् वस्तुके साथ बाह्यालोकके संयोग होनेपर वहां तादात्म्येन विद्यमान रूपतन्मात्राओके साथ भी बाह्यालोकरश्मिओंका संयुक्ततादात्म्य सम्बन्ध जुड़ता है. अतः वस्तुरूपतन्मात्राकारादिसे आकारित बाह्यरश्मियां परावृत्त हो कर नयनगोलके अन्तःपटलसे, आधुनिक विज्ञानाभिमत भाषाका प्रयोग करना हो तो, संयुक्त होती हैं. तब वे विषयाकाराकारित बाह्य सौर आदि आलोककी रश्मियां चाक्षुष संवेदना उत्पन्न करती हैं. अतः प्रस्थानरत्नाकरोक्त "**तत्र चक्षुषा द्रव्यग्रहे संयोगएव प्रत्यासत्तिः**" (तत्रैव) विधान असम्यक् नहीं परन्तु अपर्याप्त अवश्य लगता है. महाप्रभुने रूपतन्मात्रा और द्रव्य के बीच तादात्म्य स्वीकारा है और द्रव्यग्रहण रूपग्रहणपूर्वक ही शक्य होनेसे यहां संयुक्ततादात्म्यसंयोग सम्बन्ध स्वीकारना अधिक उपयुक्त लगता है.

वैसे *प्रस्थानरत्नाकर* में ग्रन्थकारने १.संयोग २.तादात्म्य ३.संयुक्ततादात्म्य ४.संयुक्तविशेषणतादात्म्य और ५.स्वरूप यों पांच ही सम्बन्ध स्वीकारे हैं. इस चाक्षुषप्रक्रियाकी उपपत्तिके हेतु, परन्तु, यदि इन सम्बन्धोंके

अलावा भी सम्बन्धोंका ऊह करना हो तो किया जाना चाहिये. बाह्यालोकरश्मिओंके साथ अपने धर्मिके संयोगवश रूपतन्मात्रायें तादात्म्यापन्न हो कर उन रश्मिओंसे भी संयुक्ततादात्म्य सम्बन्धवश जुड़ जाती हैं. अपने चक्षुर्ग्राह्य धर्मीमें तादात्म्यसम्बन्धवश वृत्तिमान रूपतन्मात्रा इन रश्मिओंके साथ पुनः तादात्म्यापन्न हो कर नेत्रान्तर्भूत दृष्टिपटलसे संयुक्त होती हैं तब चक्षुरिन्द्रिय द्रव्यग्रहणमें सक्षम हो पाती हैं. यों परम्परासम्बन्धद्वारक यह कार्यकारणभाव मायिक नहीं होता प्रत्युत वास्तविक ही होता है. फिरभी चाक्षुष द्रव्यका आधिभौतिक स्वरूप जड़ होता है जबकि इस चाक्षुष द्रव्यका आध्यात्मिक स्वरूप सदंशभूत जड़ इन्द्रियान्तःकरण और चिदंशभूत जीवात्मा के परस्पर संयोग तथा इतरेतरतादात्म्याध्यास के वश चिदचिद्ग्रन्थिरूप होता है.

प्रस्थानरत्नाकर में चक्षुकी अप्राप्यप्रकाशकारिता और मायाद्वारक प्रतिबिम्बप्रक्रिया के निरसनार्थ श्रीमद्भागवतके **''चक्षुः त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि''** (भाग.पुरा.११।१५।२०) इस वचनके आधारपर तत्तत्प्रतियोगिक संयोगद्वयको हेतुतया स्वीकारा गया है. यह सम्बन्ध आवश्यक नहीं कि साक्षात् संयोगरूप ही हो, क्योंकि प्रदर्शित प्रक्रियाके अनुसार यह त्वष्टृचक्षुस्संयोग त्वष्टृरश्मिसंयोगद्वारक भी हो सकता है, दोनोंके बीच अर्थात् रश्मि-तद्वान्के बीच धर्मधर्मिभावप्रयुक्त तादात्म्य सम्बन्धवशात्. इस तादात्म्यका अनुल्लेख **''सर्वं खलु इदं ब्रह्म''**/**''तत् त्वम् असि''** (छान्दो.उप.३।१४।१ — ६।८।१०) वचनोंमें कार्यकारणभाव और अंशांशिभाव प्रयुक्त रूपभेदका अनुल्लेख जैसे पारस्परिक तादात्म्य सम्बन्धवशात् आपत्तिजनक नहीं होता तद्वत् समझ लेना चाहिये.

निष्कर्ष :

प्रस्तुत विषयके उपसंहार करनेसे पूर्व यही विवक्षित है कि चक्षुको विषयदेशमें पहुंचा कर प्राप्यकारी मानना शास्त्रदृष्ट्या अपरिहार्य नहीं लगता. यह प्रत्यक्ष प्रयोग एवं निरीक्षण से विरुद्ध भी है.

श्रीपुरुषोत्तमचरणका प्राप्यप्रकाशकारित्वपर भार देना सर्वथा उचित ही है. यह चक्षुकिरणोंकी विषयदेशमें प्राप्तिकी कल्पनापर अवलम्बित करनेके बजाय बाह्य आलोककिरणोंकी चक्षुर्देशमें प्राप्तिकल्पना द्वारा अधिक सोपपत्तिक प्रतीत होती है.

यह तो निर्विवाद तथ्य है कि श्रीपुरुषोत्तमचरणके शास्त्रावगाहन तथा आचार्यवाणी के अवगाहनका दशांश भी यदि प्रस्तुत निबन्धकारका होता वह अपने-आपको कृतकृत्य मान कर स्वयंको श्रीपुरुषोत्तमचरणके विधानोंकी आलोचनाका अधिकारी मान लेता! यहां जो विमर्श प्रस्तुत किया गया है वह अपने-आपको इस विषयमें अधिकारी होनेकी अहम्मन्यताके वश नहीं परन्तु स्वयं ग्रन्थकारके **''युक्तिसिद्धस्य यस्य कस्यापि आदरणीयत्वात्''** (अवता.वादा.अन्धका.वा.) उपदेश और आदेश को हृदयारूढ कर के ही. श्रीपुरुषोत्तमचरण प्रस्तुत निबन्धकारके सप्तम पूर्वपुरुष श्रीविट्ठलराय गोस्वामीके विद्यागुरु हैं अतः प्रस्तुत निबन्धकारका भी उनके प्रति औपनिषदिक मनोभाव **''त्वं हि नः पिता यो अस्माकम् अविद्यायाः परं पारं तारयसि''** (प्रश्नोप.६।८) अतीव मनोरूढ है. अतः अपने सहज अज्ञानवश इस निरूपणमें कोई स्खलन हुवा हो तो श्रीपुरुषोत्तमचरण तथा सभी विद्वज्जनों से हार्दिक क्षमाप्रार्थनाके साथ...

उद्धृत वचनोंके सन्दर्भ तथा उनका मूलरूप

[१] ''न अर्थालोकौ ज्ञानस्य निमित्तम् अव्यतिरेकात्' बाह्यो विषयः प्रकाशः च न चक्षुर्ज्ञानस्य साक्षात्कारणं, देशकालादिवत्तु व्यवहितकारणत्वं न निवार्यते. ज्ञानावरणादिक्षयोपसामग्र्याम् आराद् उपकारित्वेन अञ्जनादिवत् चक्षुरुपकारित्वेन च अभ्युपगमात्. कुतः पुनः साक्षात् न कारणत्वम् इति आह 'अव्यतिरेकाद्' व्यतिरेकाभावात्. नहि तद्भावे भावलक्षणो अन्वयएव हेतुफलभावनिश्चयनिमित्तम् अपितु तदभावेऽपि अभावलक्षणो व्यतिरेकोऽपि... योगिनां च अतीतानागतार्थग्रहणे किम् अर्थस्य निमित्तत्वं, निमित्तत्वे च अर्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वाद्

अतीतानागतत्वक्षतिः...'' — ''सन्निकर्षोऽपि यदि योग्यतातिरिक्तः ादिसम्बन्धः तर्हि स चक्षुषो अर्थेन सह नास्ति, अप्राप्यकारित्वात् तस्य. ते हि काचाभ्रस्फटिकादिव्यवहितस्यापि अर्थस्य चक्षुषा उपलब्धिः. अथ प्राप्यकार ः करणत्वाद् वास्यादिवद् इति ब्रूषे तर्हि अयस्कान्ताकर्षणोपलेन लोहासन्निकृष्ट व्यभिचारः. नच संयुक्तसंयोगादिः सन्निकर्षः तत्र कल्पयितुं शक्यते, अतिप्रसङ्गात''' (श्रीहेमचन्द्राचार्यकृतायां प्रमाणमीमांसायां : १।१।२५ — १।१।२९).

[२]''अप्राप्तार्थानि अक्षिमनःश्रोत्राणि, त्रयम् अन्यथा.' यदि अप्राप्तविषयं चक्षुः, कस्माद् न सर्वम् अप्राप्तं पश्यति; दूरं तिरस्कृतं च. कथं तावद् अयस्कान्तो न सर्वम् अप्राप्तम् अयः! प्राप्तविषयेऽपि च एतत् समानं : कस्माद् न सर्वं प्राप्तं पश्यति अञ्जनं शलाकां वा! यथाच घ्राणादीनां हि प्राप्तो विषयो नतु सर्वः, सहभूयान्धाद्यग्रहणाद्, एवं चक्षुषोऽपि अप्र स्यात् नतु सर्वः.''(आचार्यवसुबन्धुकृते अभिधर्मकोशे : १।४३).

[३]''चक्षुःश्रोत्रे प्राप्य स्वविषये कार्यं कुरुतो, जनकत्वे सति तदप्राप्तौ अजनकत्वात्. यद्यद् जनकं सद् यदप्राप्तौ यन्न जनयति तत् तत्प्राप्तावेव तद् जनयति यथा कुम्भजनकः कुम्भकारो मृदोऽप्राप्तौ अकुर्वन् कुम्भं तत्प्राप्तावेव करोति तथाच एतत्''(न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायां : १।१।४).

''प्राप्तप्रकाशकं चक्षुः व्यवहितार्थाप्रकाशकत्वात् प्रदीपवत्'' — ननु चक्षुषः तैजसत्वे किं मानम् इति चेत्, चक्षुः तैजसं परकीयस्पर्शाव्यञ्जकत्वे सति परकीयरूपव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवद्... अथवा प्रभायाः दृष्टान्तत्वसम्भवाद् आद्यं 'परकीये'ति न देयम्'' (प्रशस्तपादकन्दल्यां : साधर्म्यवैधर्म्यप्रकरणे — न्यायमुक्तावल्यां : कारि.४२).

''...बुद्धिः तत्र इन्द्रियाधीना तेन प्रत्यक्षम् अश्नुते. प्रमाणफलभावश्च यथेष्टं परिकल्प्यतां सर्वथापि अनिमित्तत्वं विद्यमानोपलम्भनात्. यद्वा इन्द्रियं प्रमाणं स्यात् तस्य वा अर्थेन सङ्गतिः मनसो वा इन्द्रियैः योगे आत्मना सर्वएव वा. तदा ज्ञानं फलं तत्र व्यापारात् च प्रमाणता. व्यापारो न यदा तेषां तदा न उत्पद्यते फलम्. नच सर्वात्मना अक्षेण सम्बन्धो अर्थस्य विद्यते येन सर्वार्थबोधः स्यात् तत्प्रमाणाभिधायिनाम्. प्राप्तिमात्रं हि सम्बन्धो न इन्द्रियस्य अभ्युपेयते,

मा भूत् कारणमात्रेण त्वचा रूपावधारणम्. यथा प्रमाणनिष्पत्तौ योग्यत्वाद् इन्द्रियार्थयोः नियता सङ्गतिः हेतुः फलेऽपि एवं भविष्यति. योगस्य द्वयाश्रयत्वेऽपि भवति अन्यतराश्रयो व्यपदेशः."(श्लोकवार्तिके प्रत्यक्षसूत्रे : ५८-६५).

"ननु एवं दूरे अर्थः इति सान्तरालग्रहणं न स्यात्, प्राप्तौ सत्यां दूरत्वासम्भवात् प्राप्यकारित्वात् स्पर्शनवत्. किञ्च संयोगस्य गतिनिबन्धनत्वाद् गतिमतां च क्रमेण आसन्नदूरगमनाद् समकालम् आसेदुषां दवीयसां च अर्थानां ग्रहणं न उपपद्यते. उच्यते भोगायतनपेक्षया सान्तरालग्रहणं तावद् उपपन्नम्. समसमयसंवेदने तु केचित् परिहारम् एवं वर्णयन्ति सकलान् अर्थान् प्राप्य युगपदुपस्थितेन बाह्येन तेजसा एकीभूताः ते चाक्षुषाः रश्मयो युगपद् ग्रहणहेतवः इति. तद् अन्ये दूषयन्ति इत्थं प्राप्तौ अभ्युपगम्यमानायां अतिदूरव्यवहितानामपि ग्रहणं दुर्निवारम्. अन्येतु आहुः क्षेपीयस्तया तेषां रश्मीनां कालभेदानवग्रहाद् यौगपद्याभिमानः इति. तद् अपरे न अनुमन्यन्ते अतिसन्निकृष्टेषु वस्तुषु गतिकालभेदः पद्मपत्रशतभेदवत् मा नाम अवसायि. अनेकयोजनसहस्रान्तरितेषु भूमिष्ठेषु अर्थेषु ध्रुवे च सदैव कालभेदानवसायो न बुद्धिम् अनुरञ्जयति. वयन्तु वदामो अदृष्टसापेक्षत्वाद् अदोषः. नयनरश्मिभिः एकीभूतेऽपि बाह्ये तेजसि यावानेव तस्य भागो अदृष्टवशेन उपलब्धिहेतुतया उपात्तः तावानेव उपलब्धये प्रभवति न सर्वम् इति."(प्रकरणपञ्चिकायां: ६।१३४).

[४]द्रष्टव्यं : स्याद्वादमञ्जर्यां : २८.

[५]"किम् इदं बाह्येन्द्रियत्वं नाम? बहिरर्थग्रहणाभिमुख्यं, बहिर्देशावस्थायित्वं... वा स्यात्? तत्र आद्यविकल्पे मनसा अनेकान्तः, तस्य अप्राप्यकारित्वेऽपि बहिरर्थग्रहणाभिमुख्यतो बाह्येन्द्रियत्वसद्भावात्. द्वितीयविकल्पेऽपि रश्मिरूपस्य गोलकस्वभावस्य वा चक्षुषो बहिर्देशे अवस्थायित्वं स्यात्? प्रथमपक्षे किमिदं तत्र तस्य अवस्थायित्वम्—आश्रितत्वं प्रकाशकत्वेन प्रवृत्तिः वा? तत्र आद्यविकल्पे अपसिद्धान्तो, रश्मिरूपस्य चक्षुषो भवता बहिर्देशाश्रितत्वस्य अनभ्युपगमात्, गोलकान्तर्गततेजोद्रव्याश्रया हि रश्मयो भवद्भिः प्रतिज्ञाता. द्वितीयकल्पे तु असिद्धो हेतुः, रश्मिरूपस्य चक्षुषो ग्राहकप्रमाणाभावतः प्रकाशकत्वेनबहिर्देशे तत्प्रवृत्तेः

असिद्धेः... गोलकस्वभावस्य तु चक्षुषो बहिर्देशावस्थायित्वे प्रत्यक्षबाधा, अर्थदेशासम्बद्धस्य शरीरप्रदेशएव प्रत्यक्षतः प्रतीतेः...धर्मित्वेन च अत्र उपात्तं चक्षुः गोलकस्वभावं रश्मिरूपं वा? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षविरोधः अर्थेन असम्बद्धस्य अर्थदेशपरिहारेण शरीरप्रदेशएव गोलकस्वभावस्य चक्षुषः प्रत्यक्षतः प्रतीतेः. अन्यथा तद्रहितत्वेन नयनपक्ष्मप्रदेशस्य उपलम्भः स्यात्. द्वितीयपक्षे तु धर्मिणो असिद्धिः, रश्मिरूपस्य चक्षुषः कुतश्चित् प्रमाणाद् अप्रसिद्धेः. तत्साधकं हि प्रमाणं प्रत्यक्षम् अनुमानं वा स्यात्? न तावत् प्रत्यक्षम्, अर्थवत् तत्र तत्स्वरूपाप्रतीतेः न खलु रश्मयः प्रत्यक्षतः प्रतीयन्ते, विप्रतिपत्त्यभावप्रसंगात्. नहि नीले नीलतया प्रतीयमाने कश्चिद् विप्रतिपद्यते. किञ्च इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं प्रत्यक्षं भवन्मते नच अर्थदेशे विद्यमा ः तै अपरेन्द्रियस्य सन्निकर्षो अस्ति, यतः तत्र प्रत्यक्षम् उत्पद्येत अनवस्थाप्रसंगात्. अनुमानतोऽपि अतएव... एतेन यद् उक्तं रश्मिप्रसाधकम् अनुमानं 'रश्मिवत् चक्षुः तैजसत्वाद्' इति तत् प्रत्याख्यातं... रश्मिवत्ता गोलकरूपस्य चक्षुषः प्रसाध्यते तद्व्यतिरिक्तस्य वा? न तावद् व्यतिरिक्तस्य तस्य असिद्धस्वरूपत्वाद् अपसिद्धान्तप्रसंगात् च. गोलकरूपस्य तु तत्साधने पक्षस्य प्रत्यक्षप्रत्यक्षबाधा, प्रभासुरप्रभारहितस्य गोलकस्य प्रत्यक्षतः प्रतीतेः. अथ अदृश्याः तद्रश्मयः अनुद्भुतरूपस्पर्शयवत्त्वाद् अतो न अस्य प्रत्यक्षबाधा, कथम् एवं रूपप्रकाशकत्वं तस्य स्यात्? तथाहि चक्षुः रूपप्रकाशकं न भवति अनुद्भूतरूपत्वाद् जलसंयुक्तानलवत्. नच अनुद्भूतरूपस्पर्शं तेजोद्रव्यं क्वचित् प्रतीयते... अथ मार्जारादिचक्षुषोः प्रत्यक्षतः प्रतीयन्ते रश्मयः तत् कथं तद्विरोधः? यदि नाम तत्र प्रतीयन्ते अन्यत्र किम् आयातम्?... यद् रश्मिवत् तद् तदर्थप्रकाशने न आलोकापेक्षं यथा प्रदीपः रश्मिवत् च भवद्भिः अभिप्रेतं चक्षुरिति... यदपि 'तैजसत्वाद्' इति साधनम् उक्तं तदपि अयुक्तम् असिद्धत्वात्... अनुमानबाधः च तथाहि चक्षुः तैजसं न भवति भासुररूपोष्णस्पर्शरहितत्वात्. यद्यत् तथाविधं तत्तत् तैजसं न भवति यथा मृत्पिण्डादिः. भासुररूपोष्णस्पर्शरहितं च चक्षुः तस्मात् तैजसं न भवतीति. तथा न तैजसं चक्षुः तमःप्रकाशकत्वात्. यत् पुनः तैजसं न तद् न तमःप्रकाशकं यथा आलोकः. तमःप्रकाशकं च चक्षुः तस्माद् न तैजसम् इति... किञ्च अस्य प्राप्यकारित्वे विषयः चक्षुर्देशम् आगच्छेत् चक्षुः वा विषयदेशम्? तत्र आद्यविकल्पे प्रत्यक्षबाधा... द्वितीयविकल्पेऽपि अध्यक्षविरोधो विषयं प्रति चक्षुषो

गमनाप्रतीतेः. चक्षुः गत्वा न अर्थेन अभिसम्बद्धचते इन्द्रियत्वात् त्वगादिवद् इति अनुमानविरोधः च. तदविशेषेऽपि दृष्टातिक्रमेण कस्यचित् तत्र गत्वा सम्बन्धाभ्युपगमे यथाप्रतीतिः असम्बद्धएव किं न अभ्युपगम्यते? अलं प्रतीत्यपलापेन!... किञ्च चक्षुः गत्वा अर्थं चेद् द्योतयति तर्हि... काचाभ्रपटलस्वच्छोदकस्फटिकाद्यन्तरितार्थानाम् उपलम्भः स्यात् चक्षुषः तत्र गच्छतः काचाद्यवयविना प्रतिबन्धात्? अथ काचादिकं भित्त्वा चक्षूरश्मयो अर्थदेशं गच्छन्ति तर्हि तद्व्यवहितार्थोपलम्भसमये काचादेः अनुपलम्भः... एतेन शाखाचन्द्रमसोः क्रमेण अनुभवेऽपि आशुवृत्त्या उत्पलपत्रशतव्यति-भेदवद् युगपत्प्रतिपत्त्यभिमानो भ्रान्तिनिबन्धनः इति प्रत्याख्यातम्... शरीरापेक्षया चक्षुर्विषयस्य सन्निकृष्टविप्रकृष्टतोपपत्तेः दूरनिकटादिव्यवहारानुपपत्तेः. तथाहि यद् इन्द्रियसन्निकर्षेण प्रतीयते न तत्र दूरनिकटादिव्यवहारो यथा रसादौ, इन्द्रियसन्निकर्षेण प्रतीयते च चक्षुर्विषयः इति. प्राप्यकारित्वे च चक्षुषः गतिविपर्यासानुपपत्तिः, सामान्यवद् विशेषाणामपि सन्निकृष्टानाम् उपलमभ्सम्भवात्. विशेषानुपलब्धिनिमित्तो हि संशयो विपर्यासः च. नच चक्षुषा सन्निकृष्टत्वाविशेषेऽपि सामान्यमेव उपलभ्यते न विशेषः इति अभिधातव्यम्, विशेषाभावात्'' (न्यायकुमुदचन्द्रोदये. १प्रत्यक्षपरिच्छेदे लघीयस्त्रये : १।४).

[६]द्रष्टव्यं : स्याद्वादमञ्जर्यां : २८.

[७]''सर्वगतं चिदात्मानम् आवृत्य स्थिता भावरूपा अविद्या विविधजगदाकारेण विवर्तते. तत्र शरीरमध्ये स्थितो 'अन्तःकरणा'ख्यो अविद्याविवर्तो धर्माधर्मप्रेरितो नेत्रादिद्वारा निर्गत्य यथोचितं घटादिविषयान् व्याप्य तत्तदाकारो भवति. यथा लोके पूर्णतटाकस्थम् उदकं सेतुगतच्छिद्राद् निर्गत्य कुल्याप्रवाहरूपेण केदारान् प्रविश्य चतुष्कोणत्वेन त्रिकोणत्वेन वर्तुलत्वेन वा तत्तत्केदारानुसारि अवतिष्ठते तद्वत्. नहि उदकवद् अन्तःकरणं परिस्यन्दते येन अतिदूरवर्तिचन्द्रनक्षत्रध्रुवादिप्राप्तिः झटति न सिध्येत्. किन्तर्हि? सूर्यरश्मिवत् तैजसत्वाद् दीर्घप्रभाकारेण परिणमते. अतएव रश्मिवत् सहसा सङ्कोचोऽपि उपपन्नः. उपपन्नश्च अन्तःकरणस्य क्षीरादिवत् सावयवत्वात् परिणामः. तच्च परिणतम् अन्तःकरणं देहाभ्यन्तरे घटादौ च सम्यग् व्याप्य देहघटयोः मध्येदेशेऽपि दण्डायमानम् अविच्छिन्नं व्यवतिष्ठते. तत्र

देहावच्छिन्नान्तःकरणभागो 'अहंकारा'ख्यः 'कर्ता' इति उच्यते. देहविषयमध्यवर्तिदण्डायमानः तद्भागो 'वृत्तिज्ञाना'भिधा 'क्रिया' इति उच्यते. विषयव्यापकः तद्भागो विषयस्य ज्ञानकर्मत्वसम्पादकम् 'अभिव्यक्तियोग्यम्' इति उच्यते. तस्य त्रिभागस्य अन्तःकरणस्य अतिस्वच्छत्वात् चैतन्यं तत्र अभिव्यज्यते. तस्य अभिव्यक्तस्य चैतन्यस्य एकत्वेऽपि अभिव्यञ्जकान्तःकरणभेदात् त्रिधा व्यपदेशो भवति : कर्तृभागावच्छिन्नः चिदंशः प्रमाता, क्रियाभागावच्छिन्नः चिदंशः प्रमाणं, विषयगतयोग्यत्वभागावच्छिन्नः चिदंशः प्रमितिरिति प्रमातृप्रमाणप्रमितीनाम् असांकर्यम्.''(विवरणप्रमेयसंग्रहे :१।११३/ए)

''इन्द्रियाणि पञ्च घ्राणरसनचक्षुःश्रोत्रत्वगात्मकानि सर्वाणि च स्वस्वविषयसंयुक्तान्येव प्रत्यक्षज्ञानं जनयन्ति. तत्र घ्राणरसनत्वगात्मकानि इन्द्रियाणि स्वस्थानस्थितान्येव गन्धरसस्पर्शोपलम्भान् जनयन्ति. चक्षुःश्रोत्रेतु स्वतएव विषयदेशं गत्वा स्वस्वविषयं गृह्णीतः, श्रोत्रस्यापि चक्षुरादिवत् परिच्छिन्नतया भेर्यादिदेशगमनसम्भवात्.''(वेदान्तपरिभाषायां: १)

८''किञ्च स्याद् एतद् एवं यदि घटाद्यधिष्ठानचैतन्यस्य घटादिज्ञानत्वं स्यात् तदेव तावद् अनुपपन्नम्. तथाहि चैतन्यस्य घटादिज्ञानत्वं वदन् प्रष्टव्यः : कस्माद् इदम् अनानुभविक कल्प्यते ? दृग्दृश्ययोः सम्बन्धन्तरायोगाद् अध्यासरूपसम्बन्धघटनार्थं चेत् तत्र वक्तव्य : अध्याससम्बन्धविधुरा घटवृत्तिरपि घटज्ञानं भवति न वा ? न तावद् द्वितीयः पटवृत्त्यापि घटाज्ञाननिवृत्त्यापातात्. आद्ये कथं तस्य तज्ज्ञानता ? तदाकारत्वाद् इति चेद् न, तथा सति तवापि आवश्यकत्वात् तत्तदाकारतत्तद्वृत्तेरेव तत्तज्ज्ञात्वसम्भवेन अधिष्ठानचैतन्यस्यापि तज्ज्ञानत्वाङ्गीकारवैयर्थ्यापातात्.घटान्तरस्यापि अपरघटीयत्वापातात् च. आकारविशेषरहितरूपसंख्यासामान्याभावादिज्ञानानां ज्ञानत्वाभावापातात् च. परोक्षज्ञानेन चक्षुरादिकरणसहकाराभावेन अर्थासम्बद्धान्तःकरणस्य तदाकारत्वासम्भवेन परोक्षज्ञानस्य तज्ज्ञानत्वायोगात् च. स्वतो निराकारस्य अन्तःकरणस्य कुल्यादिद्वारा बहिर्निःसृततटाकजलस्य केदारसम्बन्धात् तदाकारइव चक्षुरादिकरणद्वारा बहिर्निर्गतस्य तत्तत्करणसम्बद्धार्थसम्बन्धादेव हि तत्तदाकारः... नहि तटाकान्तर्वर्तिसोपानपरम्परा बाह्यपुरद्वारं जलस्य केदारगमनद्वारं वा किन्तु उभयसम्बन्धिकुल्यैव. तथा अन्तःकरणबाह्यपदार्थसम्बद्धचक्षुरादेरेव त्वयापि द्वारतया उक्तत्वाद् युक्तत्वात्

च... किञ्च घटाकारवृत्त्या घटाविद्या निवर्ततां चैतन्याविद्या कुतो निवर्तेत भिन्नविषयत्वात्? यदिच सैव वृत्तिः चैतन्यमपि विषयीकरोति इति मतं तर्हि किम् इदं वृत्तेः स्वानध्यस्तनिराकारचैतन्यविषयीकरणं नाम? तदुल्लेखः चेत् तर्हि सर्वत्र तनैव तत्तज्ज्ञानत्वसम्भवेन किम् अनानुभविककाराध्यासकल्पनया? किञ्च कथम् इदं नीरूपचैतन्यविषयकत्वं चाक्षुषवृत्तेः? स्वविषयकघटानुस्यूतत्वात् चेत् तर्हि तादृशगगनं गुरुत्वं वा कुतो न विषयः? घटपटसमूहालम्बनज्ञानानुव्यवसायवद् 'घटतदधिष्ठानचैतन्ये अहं जानामि' इति अनुव्यवसायापातात् च..." (श्रीवादिराजयतिकृते विवरणव्रणे : पृ.९०-९१).

[९]"यदि एवम् इन्द्रियाणि देहान्तःस्थानि तदा कथं चक्षुश्श्रोयोः दूरस्थग्राहकत्वम्... वृत्तिद्वारा सम्बन्धाद्... ननु वृत्तिः यदि स्वरूपं देहपरिच्छिन्नत्वात् न दूरस्थे वृत्तिः, धर्मोऽपि न धर्मिणम् अतिवर्तेत... भूतैः सह इति वा चारैः पश्यन्ति इतिवद् वा... यद्यपि अप्राप्यकारित्वं हैतुकगत्या हठात्कारेण वक्तुं शक्यं, तथापि 'दिवीव चक्षुराततम्' इत्याद्यागमिकव्यवहारस्वारस्यबाधाभावाद् वृत्तिद्वारा प्राप्त्युक्तिः... 'सर्वे प्राणाः अनूत्क्रामन्ति' इति श्रुतेः सङ्कोचकाभावात्... तत्र बाह्यैः एवम् उच्यते 'वृत्तिप्रसरणे क्रमयौगपद्यविकल्पायोगाद् दूरस्थविषया प्राप्तिः न भवतीत्यतो यद् रूपग्राहकम् इन्द्रियं तद् अप्राप्यग्राहि यथा मनः' इति. तत्र तावत् प्रत्यनुमानम् आह—प्राप्यग्राहि इन्द्रियत्वाद् विमतम् इतरवत् प्राप्तिः उक्तप्रकारा वत्तिं दृष्टेः न रुन्धे विरलपटनयाद् अम्बुकाचादिः अच्छो नोचेद् गृह्येत योग्यं सममिह निखिलं निष्फले छादकादौ स्थैर्ये तद्योग्यभावो नहि गलति समा सन्ततिः त्वन्मतेऽपि. अतिप्रसंगो असम्बद्धग्रहणे स्यात् समं तु इदं सम्बद्धग्रहणेऽपीति न सद् योग्यान्वितग्रहाद्. गृहीतस्य इष्यते कश्चित् सम्बन्धो अव्यभिचारतो न सम्बद्धस्य सर्वस्य ग्रहणं व्यभिचारतः... ननु उन्मिषितमात्रं चक्षुः चन्द्रं गमयति. नच एकस्मिन् क्षणे तावान् देशो वृत्त्या लंघयितुं क्षमः. क्रमेतु प्रतिपरमाण्ववच्छेदं विलम्ब्य गमानात् प्रतीतिरपि विलम्बेत. दूरासन्नग्रहणकालतारतम्यं च स्यात्. मैवं, उदत्येव सवितरि सकलदिग्व्यापिन्यां प्रभायामिव इन्द्रियवृत्तेः तादृशवेगातिशयस्य अविस्मयनीयतया पद्मपत्रशतवेधनीत्या यौगपद्याभिमानोपपत्तेः... यत्तु कैश्चिद् उच्यते निष्कान्तमात्रमेव चाक्षुषं तेजो बाह्येन बहुदेशव्यापिना चन्द्रसूर्यादिज्योतिषा संवलितं तावत् प्रथिमानम्

अवयविनम् आरभते तेनच सम्बन्धाद् उन्मिषितस्य दूरस्थग्रहणं दूरासन्नयोः युगपद्ग्रहणं च सिद्धचेद् इति तद् अयुक्तं निष्क्रमणकल्पनस्य गुरुत्वाद् अनिष्क्रान्तमेव किं न अवयविनम् आरभेत आन्तरनिष्क्रमणवद् बाह्यप्रवेशोपपत्तेः. अपिच अस्मिन् पक्षे त्रिभुवनविवरव्यापिना तेजसा सह चाक्षुषतेजस्संवलनात् तेन सम्बद्धं सर्वे युगपद् भासेत पश्चाद्भागादिस्थितं च...'' (तत्त्वमुक्ताकलापसर्वार्थसिद्धौ : १।४०).

[१०]''द्विविधानि इन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च... बुद्धेः इन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि. किं पुनः एतानि बुद्धेः इति? उच्यते — शब्दादिविषयप्रतिपत्तौ द्वारम्. कस्मात्? अबहिर्वृत्तित्वात्. अन्तःकरणस्य नास्ति बहिर्वृत्तिः इत्यतो न अलम् एतत् साक्षात् शब्दादीन् अर्थान् प्रतिपत्तुम्. तस्मात् श्रोत्रादिलक्षणं साक्षाद् बाह्यविषयप्रकाशनसमर्थं कारणान्तरम् अपेक्षते. तत्प्रणालिकया तस्य विषयग्रहणम्. तस्माद् युक्तम् उक्तं बुद्धेः बाह्यविषयकप्रतिपत्तौ द्वारभूतत्वाद् बुद्धीन्द्रियाणि इति... 'रूपादिषु पञ्चानाम् आलोचनमात्रम् इष्यते वृत्तिः' 'आलोचनं'=ग्रहणम् इति अनर्थान्तरम्... तत्तु ग्रहणरूपं नतु प्रकाशकं प्रदीपवद् इत्यत्र को हेतुः इति? उज्यते न कारणान्तरप्रसंगात्. यदि प्रदीपवद् इन्द्रियं प्रकाशकं स्यात् तेन तथा प्रकाशितेषु घटादिषु अर्थेषु करणान्तरमार्गणमेव अत्रापि स्यात्... तस्माद् युक्तम् एतद् ग्राहकम् इन्द्रियं नतु प्रदीपवत् प्रकाशकम् इति... ग्रहणप्रकाशानाम् इदानीं को भेदः? उच्यते — विषयसम्पर्कात् ताद्रूप्यापत्तिः इन्द्रियवृत्तिः ग्रहणम्. तथा विषयेन्द्रियवृत्त्यनुकारेण निश्चयो 'गौः अयं शुक्लो धावति' इत्येवमादिः प्रत्ययः. तथा विषयसम्पर्कापगमे श्रोत्रादिवृत्तेः ताद्रूप्यापगमो वर्तमानकालता, ग्रहणस्य अनुभवात्तु संस्काराधानं तत्पूर्विका च स्मृतिः इति त्रिकालविषया प्रत्ययस्य इति अयम् अनयोः विशेषः. बाह्यस्तु प्रकाशो न विषयरूपापन्नः संस्कारात्तु घटादीनां व्यवधानरूपं पार्थिवं छायालक्षणं धर्मम् अपहृत्य व्यञ्जकत्वाय कल्पते, चक्षुषो अनुग्रहाय'' (श्रीभोजराजकृतायां युक्तिदीपिकायां : ३।२६-२८).

[११]''इच्छारूपं हि मनो व्यापारः तस्य भवति सङ्कल्पो बुद्धयक्षाणि श्रोत्रं त्वग् दृग् जिह्वा च नासा च... ग्राह्यास्तेषां शब्दः स्पर्शो रूपं रसश्च गन्धश्च... शब्दादीनां ग्रहणं व्यापारः कीर्तितः क्रमाद् एषाम्... शब्दः आदिः

येषां ते शब्दादयः तेषां ग्रहणं तदाकारभजनम् एषाम् इन्द्रियाणां व्यापारः उक्तः तत्त्वज्ञैः इति अर्थः'' (श्रीभोजराजकृते तत्त्वप्रकाशे : ४।७-९)

[१२]''ज्ञानप्रधानाद् महत्तत्त्वात् क्रियाशक्तिः अहंकारः समुत्पन्नः. सच त्रिविधः. उत्पत्त्यैव तथैव समपद्यत, क्रिया हि भेदिका कारणभूतं गुणत्रयं कार्ये भिन्नतयैव उत्पादितवती... 'वैकारिकः'=सात्त्विकः 'तैजसो'=राजसतामसः च... यतः त्रिविधाद् मनसः इन्द्रियाणां भूतानां च सम्भवः. 'महतां'=तन्मात्राणामपि... बुद्धेः उत्पत्तिम् आह 'तैजसात्तु' इति... 'विकुर्वाणाद्'=राजसाद् बुद्धितत्त्वम् अभूत्... 'सति'=विषये वा, सर्वविषयिकैव बुद्धिः उत्पद्यतइति... यथा इन्द्रियप्रेरकत्वं मनसः तथा इन्द्रियानुग्राहकत्वं बुद्धेः. बुद्धचैव अनुगृहीतानि इन्द्रियाणि पश्यन्ति कुर्वन्ति च. अतएव बुद्धितारतम्येन इन्द्रियज्ञानक्रिययोः तारतम्यम्. एतत् कार्यानुसारि लक्षणं 'द्रव्यस्फुरणविज्ञानम्' इति स्वरूपलक्षणम्. द्रव्यस्य घयादेः स्फुरणे सति शब्देन, संस्कारेण, आलोकेन वा यद् विशिष्टज्ञानं, यस्मात् केवलं चक्षुषा ज्ञाने तारतम्यं न स्यात्. स्वतःस्फुरणं योगजधर्मादिभिरपि भवति अतो द्रव्यस्फुरणएव विज्ञानं बुद्धेः लक्षणम्. 'तैजसानि' इति, ज्ञानकरणकानि क्रियाकरणकानि च उभयविधान्यपि राजसान्येव, नतु ज्ञानकरणकानि सात्त्विकानि क्रियाकरणकानि तामसानि वा... क्रियायां प्राणो मूलं ज्ञाने बुद्धिः... बुद्धिः राजसीति तदनुगृहीतानि इन्द्रियाणि सर्वाणि राजसान्येव... प्राणोऽपि सर्वेन्द्रियानुग्राहकः...रूपस्य लक्षणम् आह 'द्रव्याकृतित्वम्' इति. द्रव्यस्य घटादेः या आकृतिः सैव रूपस्य. पृथुबुध्नोदराकारं रूपमपि आतानवितानात्मकं च. द्रव्यस्येव आकृतिरिति द्रव्यस्यतु न उपमेयत्वम्. अतो रूपस्यैव लक्षणम्. 'गुणता'=सर्वदा उपसर्जनतया प्रतीतिः. न एवं शब्दादिषु स्वतन्त्रतयापि प्रतीयमानत्वात्. व्यक्तेः संस्थैव संस्था यस्य, यदि व्यक्तिः वक्रा भवेद् रूपमपि वक्रं भवेदिति. उपविष्टे रूपवति रूपम् उपविष्टं भवति... 'तेजसश्च तेजस्त्वं' रूपतन्मात्रत्वं सूक्ष्मावस्था इति अर्थः. 'तेजोगुणविशेषो अर्थो यस्य तत् चक्षुः उच्यते'...=तेजोगुणविशेषो रूपम्'' (श्रीवल्लभाचार्यकृतायां भागवतसुबोधिन्यां: ३।२६।२३-४८).

[१३]''यदा विषयेन्द्रियसंयोगात् निर्विकल्पकं तदा इन्द्रियदेशे बुद्धेः वृत्तिः.

तया इन्द्रियानुग्रहे सविकल्पकम्, अननुग्रहेतु न. वृत्त्यन्तरेण पूर्ववृत्तेः नाशे सविकल्पकस्य संस्काररूपेण अवस्थानं, तस्य उद्बोधकैः उद्बोधे मायोपस्थापित-मायिकार्थ-सहकृता स्मृतिः, राजसैः रागादिभिः संस्कारप्राबल्ये मायया विषयावरणपूर्वकं मायिकपदार्थसहि-तस्य ज्ञानस्य गोलकाग्रभागे क्षेपे भ्रमः... अतः दृ[illegible]गजन्या तदवस्था वृत्तिः. सा यदा अनुगृह्णाति तदा वक्ष्यमाणप्रक्रियया सविकल्पकं ज्ञानं जन्यते... तत्र अयं क्रमो : दैवानुकूल्येन अन्तर्यामिणा मनः कार्यार्थं प्रेर्यते, तत् च इन्द्रियप्रेरणाय तत्तदिन्द्रियेण सम्युज्यते. तत्र तत्तदिन्द्रियदेवतानुकूल्ये विषयसंसृष्टैः इन्द्रियैः स्वावच्छिन्ने मनसि पूर्वं निर्विकल्पकम् उत्पाद्यते. तदा इन्द्रिंदेशे बुद्धेः वृत्तिः. ततो बुद्ध्यापि वृत्तिद्वारा तदनुग्रहे सविकल्पकं भवति... चाक्षुषेतु नयनकिरणाः विषयपर्यन्तं गच्छन्ति, इन्द्रियान्तरेतु किरणाभावाद् इन्द्रियेण सह विषयं मनः प्राप्नोति तदा, क्रमेण सहैव वा, निर्विकल्पकं सविकल्पकं च तत्तदिन्द्रियसंसृष्टे मनसि उत्पद्यते. ज्ञानद्वयेऽपि विषयेन्द्रियस्पर्शादिकं व्यापारः... नच नयनकिरणाङ्गीकारे चक्षुषो व्यापकत्वापत्त्या 'अणवः च' (ब्र.सू.२।४।७) इति सूत्रविरोधः शङ्कनीयः, अर्चीरूपाणां किरणानां सूर्यमण्डलाद् भेदस्य 'आदित्यो वा एषः' (महाना.उप.१२।२) इति अनुवाके श्रावणात्. तैः अखिलमेरूत्तरदेशदेशान् व्याप्नुवानस्य आदित्यमण्डलस्य दशसहस्रयोजन-परिमाणस्मरणेन तेषां तत्परिणामाबाधकत्ववत्. सूर्याध्यात्मिकचक्षुषः किरणानामपि तथात्वेन सूत्राविरोधात्... 'गुणाद् वा आलोकवद्' (ब्र.सू.२।३।२५) इति सूत्रे आलोकस्य गुणत्वाङ्गीकारात् तैजसस्य चक्षुषः आलोकरूपगुणव्याप्त्यङ्गीकारेऽपि अदोषः... या पुनः आलोकेन मायाकार्यतमोजननप्रतिबन्धे कृते ज्योतीरूपसूर्यदेवतया अण्वात्मकचक्षुषि सन्मुखाव्यवहित-देशस्थ-पृथुबुध्नोदराकारे विशिष्टरूपे प्रापिते सत्त्वप्रधानबुद्धेः अन्तरेव तदाकारतासम्पत्तौ अणुरूपं जीवं प्रति ज्ञानाश्रिताध्याध्यात्मिक-घटाभिव्यक्तिरेव चाक्षुषं, दूरस्थगन्धशब्दादयोस्तु वायुना घ्राणश्रोत्रसमीपप्रापणे अन्तःसत्त्वात्मकबुद्धेः तदाकारतासम्पत्तौ ज्ञानाश्रिताध्यात्मिकगन्धशब्दाभिव्यक्तिरेव घाणजं श्रावणं च प्रत्यक्षमिति आध्यात्मिकाधिभौतिकयोः अभेदात् न बाह्यघटाग्रहणनिबन्धनो दोषः इति केषाञ्चित् प्रत्यक्षप्रक्रिया. तत्र अलोकेन तमोजननप्रतिबन्धकथनम् अयुक्तं, 'यथाहि भानोः उदयो नृचक्षुषां तमो निहन्याद्' (भाग.पुरा.११।२८।३४) इति एकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्ये तमोनिहन्तृत्वकथनात्. एवं ज्योतीरूपसूर्यदेवतायाः पुरुषचक्षुषि विषयनिष्ठरूपप्रापकत्वकथनमपि तथा, बहुषु

पश्यत्सु तान्-तान् प्रति रूपे प्रापिते विषयस्य नीरूपताप्रसङ्गेन पाश्चात्यानां तददर्शनप्रसङ्गात्... सन्ध्यायाम् अस्तंगते सूर्ये रूपप्रापकदेवतायाः गतत्वात् तदानीं घटाद्यदर्शनापत्तेः च... अतो 'नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः' (भाग.पुरा.३।२६।३७) इतिवद् आदित्यरश्मीनां रूपप्रापकत्वस्य अशब्दगोचरत्वात् सूर्यदेवतायाः रूपप्रापकत्वाङ्गीकारः सर्वथा न युक्तः. किञ्च चक्षुषि रूपप्राप्तिश्च प्रतिबिम्बभवनरूपैव, सातु मायया 'ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत' (भाग.पुरा.२।९।३३) इति वाक्यात्, तस्याः विक्षेपकत्वात् च. एवञ्च बुद्ध्याकारसमसमर्पकत्वपि प्रतिबिम्बस्यैव. आध्यत्मिकरूपमपि मायामयं मनोमयत्वात्. तस्यच न सत्यता — अर्थक्रियाकारित्वमात्रम्.'' (प्रस्थानरत्नाकरीय-प्रत्यक्षप्रमाकरणप्रकरणे).

तमस्के विभिन्न स्वरूप और उनकी अनुभूतिओं के बारेमें

कुछ पुरःस्फूर्तिक विचार (वाल्लभ दृष्टिकोणसे)

(१.उपक्रम)

अनेकतन्त्रकान्तारतमसावृतवर्त्मनि।
मा मा मुक्थाः पर्यटन्तं मां कृष्ण ! त्वं सयुक् सखा ।।

यद्यपि प्रस्तुत विचारगोष्ठीमें विचार्यविषयतया जो अन्धकार या तमस् अभिप्रेत है, वह तो भूतलपर अनुभूत होते सौर चान्द्र आग्नेय या दीपज्योति आदिके चाक्षुष प्रकाशसे विपरीत Emperical darkness अर्थात् चाक्षुष तमस् या अन्धकार ही है. फिर भी Non-emperical, Psychological, Metaphysical, Spiritul या Transcendental अर्थात् प्रत्यक्षागम्य, मानसशास्त्रीय, पराभौतिक, आध्यात्मिक अथवा अलौकिक या आधिदैविक स्वरूप भी अन्धकारके शास्त्रमें उपलब्ध होते ही हैं. अपने वैचारिक क्षितिजसे उन्हें बाहर रख कर अर्थात् उनके सन्दर्भको ओझल होने देनेपर चाक्षुष तमस्के स्वरूपका भी यथावद् आकलन सुकर नहीं रह जाता. अतः सन्दर्भोपात्ततया उनके विमर्शके बाद ही विचार्यविषयके प्रति प्रयाण वाल्लभ विचारसरणीको सुगम बना पाता है.

श्रुत्यादि शास्त्रवचनोंमें अन्धकार या तमस् के अनेक रूप निरूपित हुवे हैं. इन विभिन्न निरूपणोंमें जिस एक तथ्यके सन्दर्भमें एकसूत्रता उपलब्धं होती है, वह तो यही है कि ज्योति या प्रकाश की अनुभूतिसे विपरीत किसी अनुभूतिके प्रकारको या तद्गोचरविषयको 'अन्धकार'

या 'तमस्' कहा जाता है. अब स्वयं ज्योति या प्रकाश के, क्योंकि, अनेक रूप या प्रकार विचारे जा सकते हैं; अतः, तत्तद् ज्योति या तत्तत् प्रकाश के स्वरूपोंसे विरुद्ध स्वभाव प्रकट करनेके कारण अन्धकारके भी अनेक रूप सम्भव हैं ही.

सूर्य, चन्द्र, तारागण, विद्युत्, अग्नि, मणि, बाह्य विषयोंका प्रकाशक बुद्धिजन्य ज्ञान, आन्तर अनुभूतिकी प्रकाशिका वाणी, प्राकृतगुणान्तर्गत मुख्यतया तो सत्त्वगुण परन्तु गौणतया अन्योन्यमिश्रित रजोगुण और तमोगुण भी, आत्मचैतन्य, देवस्वरूप, ब्रह्मचैतन्य आदि अनेकविध प्रकाशरूप तत्त्वोंके स्वपरवस्तुके प्रकाशनरूप व्यापारके विपरीत कहीं आत्यन्तिक अप्रकाशन या कहीं स्वयं इन्हें या इनके द्वारा प्रकाश्य विषयको आवृत करनेवाली उपाधिओंका अन्धकार या तमस् के रूपमें निरूपण उपलब्ध होता है.

(२.आधिदैविक तमस्का स्वरूप)

श्रौतसन्दर्भ : (क)सृष्टिपूर्व तथा (ख)प्रलयोत्तर तमस्के स्वरूप :

(क/१)''न असद् आसीद् नो सद् आसीत् तदानीं! नासीद् रजो नो व्योमा परो यत्! किम् आवरीवः कुह कस्य शर्मन्? अम्भः किम् आसीद् गहनं गभीरं? न मृत्युः आसीद् अमृतं न तर्हि! न रात्र्याः अह्नः आसीत् प्रकेतः! आनीद् अवातं स्वधया तद् एकं, तस्माद् ह अन्यद् न परः किञ्चन आस! तमः आसीत् तमसा गूढम् अग्रे! अप्रकेतं सलिलं सर्वम् आ इदं तुच्छ्येन आभुः अपिहितं यद् आसीत्! तपसः तद् महिना अजायत एकम्!'' (ऋक्संहि.१०।१२९।१-३).

(क/२)''किं तद् आसीत्? तस्मै स ह उवाच 'न सद् न असद् न सदसद्' इति. तस्मात् तमः सञ्जायते.

तमसो भूतादिः, भूतादेः आकाशम्, आकाशाद् वायुः, वायोः अग्निः, अग्नेः आपः, अद्भ्यः पृथिवी, तद् अण्डं समभवद्...(सुबा.उप.१।१).

(ख)''सो अन्ते वैश्वानरो भूत्वा सन्दग्ध्वा सर्वाणि भूतानि, पृथिवी अप्सु प्रलीयते, आपः तेजसि प्रलीयन्ते, तेजो वायौ विलीयते, वायुः आकाशे, आकाशम् इन्द्रियेषु, इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु, तन्मात्राणि भूतादौ विलीयन्ते, भूतादिः महति, महान् अव्यक्ते, अव्यक्तम् अक्षरे, अक्षरं तमसि, तमः परे देवे एकीभवति. परस्ताद् न सत् न असद् न सदसद् इत्येतद् निर्वाणानुशासनम् इति वेदानुशासनम् इति'' (सुबा.उप.२).

(क)शांकर वेदान्तके अनुसार यहां, सृष्टिपूर्व जो ब्रह्म परमार्थतः था ही उससे, यह श्रुत्युक्त तमस् सदसद्विलक्षणरूप अनादि अज्ञान अविद्या या माया होनेके कारण उस परमतत्त्वके कैवल्यको हानि नहीं पहुंचाता है. वाल्लभ वेदान्तके अनुसार, परन्तु—

(१)सद् और असद् के अलावा तीसरी सदसद्विलक्षण मिथ्यात्वरूप कोटि प्रामाणिक न होनेसे यहां अज्ञानरूप तमस् अमान्य ही है.

(२)सुबालोपनिषद्के ''न सद् न असद् न सदसद्'' (उपर्युद्धृत) तथा ''अनादिमत् परं ब्रह्म न 'सत्' तद् न 'असद्' उच्यते'' (भग.गीता.१३।१२)वचनोंमें भी स्वयं परब्रह्मको भी 'सदसद्विलक्षण' कहा गया होनेसे यह सदसद्वैलक्षण्य कथमपि मिथ्या होनेके अभिप्रायवश कहा गया माना नहीं जा सकता है.

(३)''न असद् आसीत् नो सद् आसीत् *तदानीम्*'' वाक्यांशमें सर्वसन्देहवारक 'तदानीं'पदके उपन्यासके कारण;

क्योंकि, जो कोई पदार्थ वह था वह *तब* ही सदसद्विलक्षण था. अर्थात् सृष्टिके बाद वह वैसा नहीं रहा, फलतः शांकर वेदान्ताभिमत ज्ञानावरिका माया या अविद्या सृष्ट्युत्तरकालमें भी सदसद्विलक्षण ही रहती होनेसे, यहां वह प्रतिपादनीय मानी नहीं जा सकती है.

(४) *'स्वधया'*पदमें 'स्व'पद उसी परमार्थ तत्त्वका वाचक है. अतः 'स्वधा' उसकी योगनिद्रा होनेसे उसीके जितनी परमार्थरूप होनेपर भी, उस परमार्थ वस्तुसे द्वितीयतया निरुक्त न हो पानेके कारण उसे 'तमस्' कहना विवक्षित लगता है.

(५)यदि श्रुतिमें **'तुच्छ्येन'** पदके प्रयोगके कारण उसे तुच्छकल्प मानना हो तो—जो वस्तुतः तुच्छ या असद् से विलक्षण हो उसे—असत्सलक्षण मानना पड़ेगा. ऐसा माननेपर तो सुस्पष्ट वदतोव्याघात होगा. इसके अलावा तब सत्से विलक्षण होनेपर भी सत्सदृश भी उसे क्यों नहीं कहा जा सकेगा? और यदि ऐसे कहा-माना जाये तो तुच्छकल्पता अकल्प्य हो जायेगी. क्योंकि स्वयंप्रकाश चैतन्यके अलावा तब प्रमाता तो कोई था नहीं जिसके ज्ञानके सन्दर्भमें वह तमस् उस स्वयंप्रकाश परमचैतन्यको **'आ-अपिहित'**=आवृत कर पाये. सो स्वयंप्रकाश चैतन्यरूप अधिष्ठानमें वह तमस् तदेकप्रतिभास्य होनेके कारण, प्रातिभासिकी सत्ताके अलावा मायाविद्याकी तो अतिरिक्त सत्ता न होनेके कारण भी, स्वयं उसका आवरण तो वह हो ही नहीं सकता. अगतिकतया **'तुच्छ्येन'** पदका तुच्छ ही अर्थ स्वीकारनेपर तो पुनः वदतोव्याघात ही होगा, असद्वैलक्षण्य निरस्त हो जाता होनेसे.

(६)**'सद्'-'असद्'**पदोंको, अतएव, भावाभावार्थक माननेपर तो **''तम आसीत्''** वचन भी स्वतोव्याहत हो जायेगा.

(७)''तमः आसीत् तमसा गूढम् अप्रकेतम्'' अंशपर ध्यान देनेपर यह और समझमें आता है कि जो तमस् था वह तमस् भी तब तमस्त्वेन अवगत तो नहीं था. यह तो बिलकुल निद्राकालीन अज्ञान अथवा ज्ञातृज्ञानज्ञेयविकल्परहित निर्विकल्प समाधि के जैसी ही कोई कथा लगती है. क्योंकि निद्राकालीन अज्ञान स्वयं निद्राकालमें संवेदनाका विषय नहीं बनता परन्तु जागनेपर उसकी ''गाढं मूढो अहम् अस्वाप्सं न किञ्चिद् अवेदिषम्'' ऐसी प्रतीतिजनकता सर्वानुभूतिगोचर बनती है. ऐसी ही कथा निर्विकल्पसमाधिकी भी कही जाती है.

(८)''तपसः तद् महिना अजायत एकम्'' और ''सदेव, सौम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयं... तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय'' (छान्दो.उप.६।२।१-३) यों इन दोनों वचनोंमें 'तपसः'-'ऐक्षत' तथा 'अजायत एकं'-'एकमेवाद्वितीयं...बहु स्यां प्रजायेय' पदोंकी समानाभिप्रायकता निर्विवाद लगती होनेसे भी तदतिरिक्त मायाविद्यारूप कारणान्तरकी हेतुताके अङ्गीकारमें श्रुत्युक्त एकमेवाद्वितीयताका सर्वथा अनादर ही प्रकट होता है.

(९)अतएव इस तमस्को योगनिद्रारूप मान लेनेपर ''आसीद् इदं तमोभूतम् अप्रज्ञातम् अलक्षणम् अप्रतर्क्यम् अविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः. ततः स्वयम्भुः भगवान् अव्यक्तो व्यञ्जयन् इदं महाभूतानि वृत्तौजाः[१] प्रादुरासीत् तमोनुदो योऽसौ अतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मो अव्यक्तः सनातनः सर्वभूतमयो अचिन्त्यः सएव स्वयम् उद्बभौ'' (मनुस्मृ.१।५-७) यहां 'इदं'पदके प्रयोगसे पुरोवस्थित परिदृश्यमान विस्तार ही स्वयम्भु वृत्तौजा अव्यक्त भगवान्में तब प्रसुप्तोपम था ऐसा विवक्षित

१.''अप्रतिहतम् औजः सृष्टिसामर्थ्यं यस्य सः.''कुल्लुकभट्टी.

लगता है. उस प्रसुप्त्युपम तमस्को निवृत्त करके वह सर्वभूतमय सनातन अचिन्त्य तत्त्व स्वयमेव महाभूतादि सकलसृष्टिका अभिव्यञ्जक बना यह कण्ठोक्त अभिगम है. अतः सदसद्विलक्षण मायाविद्यादिसदृश असत्कल्प तत्त्वकी सम्भावनाको यह मनुवचन भी निःशेष कर देता है, क्योंकि शांकर वेदान्तमें अज्ञाननिवृत्तिपूर्विका जगत्सृष्टि स्वीकारी नहीं गयी है.

अतः इस अंशमें शांकर वेदान्तकी तरह ही वाल्लभ वेदान्तमें भी इस प्रसुप्तिकल्प स्वात्मेतरके अज्ञानको ज्ञानप्रतियोगिक केवल अभावके रूपमें देखनेके बजाय भावरूप निर्विकल्पसमाधिवत् स्वीकारा गया है. अतएव महाप्रभु कहते हैं "**'तम आसीद्' इति तमोऽपि ब्रह्मैव, सर्वतः सुप्तत्वेन साम्यात्**" (भाग.सुबो.२।९।३२).

अतः यहां यह अवश्यावधेय हो जाता है कि शांकर वेदान्तमें अज्ञान व्यावहारिक अनुभूतिमें भावरूप होनेपर भी परमार्थतया सदसद्विलक्षण माना गया है. वाल्लभ वेदान्तमें, जबकि, व्यावहारिक अनुभूतिके स्तरपर ही नहीं प्रत्युत भगवच्छक्तिरूप होनेसे पारमार्थिक स्तरपर भी परमात्मगत निर्विकल्पसमाधि या योगनिद्रा के सदृश इस दिव्य तमोरूप स्वात्मेतरके अज्ञानको आत्मरमणके रूपमें माना गया है. इसी तरह जीवगत भी अनेकविध अज्ञानोंको सत्य भावरूप ही माना गया है : "**विद्याविद्ये हरेः शक्तिः माययैव विनिर्मिते ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशता...आत्मनः स्वरूपलाभो विद्यया देहलाभो अविद्यया इति. उभयोः जीवधर्मत्वं व्यावर्तयति 'हरेः शक्ती' इति. तेन भगवदिच्छयैव तयोः आविर्भावातिरोभावयोः हेतुत्वम् इति उक्तम्**" (त.दी.नि.प्र.१।३१)[२].

२.द्रष्ट. : "विद्याविद्ये मम तनू विद्धि उद्धव! शरीरिणां बन्धमोक्षकरी आद्ये मायैव विनिर्मिते, एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते! बन्धो अस्य अविद्यया

(ख)प्रलयोत्तरदशाके निरूपण भी ''अव्यक्तम् अक्षरे, अक्षरं तमसि, तमः परे देवे एकीभवति'' श्रुतिवचन प्रत्यापत्तिके वर्णनार्थ है. यहां 'अक्षर'=काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुष है. सो पञ्चविध अक्षरब्रह्मकी अवस्थाविशेष ही यहां विवक्षित है. सकलविध द्वैतघटित सृष्टिकी स्वप्रत्यापत्ति ही 'तमः'पदवाच्य सृष्ट्यतीत निःष्पन्दावस्था है. और परब्रह्ममें इस अवस्थाका एकीभाव भी दिखलाया ही गया है[३]. अतएव यह भी इस तथ्यका प्रबल प्रमाण माना जाना चाहिये कि यह 'सदसद्वैलक्षण्य' तृतीय मिथ्याकोटिके अर्थमें प्रयुक्त नहीं प्रत्युत जैसा कि भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य पूर्वनिर्दिष्ट भगवद्गीतास्थ ''न 'सत्' तद् न 'असद्' उच्यते'' के भाष्यमें कहते हैं ''सर्वोहि शब्दो अर्थप्रकाशनाय प्रयुक्तः श्रूयमाणः च श्रोतृभिः जातिक्रियागुणसम्बन्धद्वारेण संकेतग्रहणं सव्यपेक्षो [illegible] न्यायति'' (गीता.शांक.भा.१३।१२) तदनुसार ''आभुः'पदनिर्दिष्ट ब्रह्म उस अवस्थामें शब्दसामर्थ्येन अनिरूपणीय होनेके ही अभिप्रायवश उसकी उस अवस्थाको ''तुच्छचेन आ-अपिहितं'' निरूपित किया गया है. अर्थात् इसी हेतुवश उसे 'तमस्' कहा गया है. अतएव ''परस्ताद् न सत् न असद् न सदसद् इत्येतद् निर्वाणानुशासनम् इति वेदानुशासनम् इति'' वाक्यांश भी ऋजु अर्थमें सुसङ्गत हो जाता है.

स्मार्तसन्दर्भ : उल्लिखित तमस्की भगवद्गीता-भागवतपुराणोक्त योगनिद्रारूपता :

(क)''सर्वभूतानि, कौन्तेय!, प्रकृतिं यान्ति मामिकां

अनादिः विद्यया च तथा इतरः... अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते विरुद्धधर्मिणोः तात स्थितयोः एकधर्मिणि... आत्मानम् अन्यं च स वेद विद्वान् अपिप्पलादो, नतु पिप्पालादो, यो अविद्ययायुक् सतु नित्यबद्धो, विद्यामयो यः सतु नित्यमुक्तः''(भाग.पुरा.११।११।३-७).

३.द्रष्ट. : ''ब्रह्मकूटस्थाव्यक्तादिशब्दैर्वाच्यो निरन्तरं... 'आदि'शब्देन 'असत्-तमः'शब्दादयो गृह्यन्ते. तथापि न पुरुषोत्तमाद् भिन्नतया अवस्थितः किन्तु निरन्तरएव''(त.दी.नि.२।१००).

कल्पक्षये, पुनः तानि कल्पादौ विसृजामि अहम्. प्रकृतिं स्वाम् अवष्टभ्य विसृजामि पुनः-पुनः भूतग्रामम् इमं कृत्स्नम् अवशं प्रकृतेः वशात्. नच मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति, धनञ्जय!, उदासीनवद् आसीनम् असक्तं तेषु कर्मसु. मया अध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरं, हेतुना अनेन, कौन्तेय!, जगद् विपरिवर्तते'' (भग.गीता.९।७-१०).

(ख/१)''सएव इदं ससर्ज अग्रे भगवान् आत्ममायया *सदसद्रूपया* (नतु सदसद्विलक्षणया) च असौ गुणमय्या अगुणो विभुः. तया विलसितेषु एषु गुणेषु गुणवानिव अन्तःप्रविष्टः आभाति विज्ञानेन विजृम्भितो, यथाहि अवहितो वह्निः दारुषु एकः स्वयोनिषु नानेव भाति विश्वात्मा भूतेषु च तथा पुमान्. असौ गुणमयैः भावैः भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो भुंक्ते भूतेषु तद्गुणान्. भावयति एष सत्त्वेन लोकान् वै लोकभावनो लीलावतारानुरतो देवतिर्यङ्नरा-दिषु. जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः सम्भूतं षोडशकलम् आदौ लोकसिसृक्षया. यस्य अम्भसि शयानस्य *योगनिद्रां* वितन्वतो नाभिह्रदाम्बुजाद् आसीद् ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः''(भाग.पुरा.१।३-४।३०-२).

(ख/२)''तमोमात्राम् उपादाय प्रतिसंरुद्धविक्रमः कालेन अनुगताशेषः आस्ते तूष्णीं दिनात्यये. तमेव अन्वपीधीयन्ते लोकाः भूरादयः त्रयो, निशायाम् अनुवृत्तायां निर्मुक्तशशिभास्करं त्रिलोक्यां दह्यमानायां शक्त्या संकर्षणाग्निना... तावत् त्रिभुवनं सद्यः कल्पान्तैधितसिन्धवः प्लावयन्ति उत्कटाटोपचण्डवातेरि-तोर्मयः अन्तः स तस्मिन् सलिले आस्ते अनन्तासनो हरिः *योगनिद्रा*निमीलाक्षः''(भाग.पुरा.३।११।२७-३१).

इन शास्त्रवचनोंके पर्यालोचन करनेपर इस तमस्का योगनिद्रा होना स्पष्ट हो जाता है. अतएव यहां योगनिद्राको सदसद्विलक्षण अज्ञानरूपा

मायाके रूपमें श्रीश्रीधरस्वामीने भी नहीं स्वीकारा है जैसा कि ''यस्य 'अम्भसि'=एकार्णवे 'शयानस्य'=विश्रान्तस्य तत्रच 'योगः'=समाधिः तद्रूपां निद्रां विस्तारयतो'' (भावा.दीपि.१।३।२) इस व्याख्यासे सुस्पष्ट ही है. आत्मसमाधिको मायिक माननेपर तो जीवन्मुक्तकी आत्मकैवल्यानुभूतिको भी मिथ्या मानना पड़ेगा! अस्तु, इस विषयमें वाल्लभ वेदान्तका दृष्टिकोण तो महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणकी ''ननु शयनं नाम स्वरूपविस्मरणेन, मायायाः भगवतो वा समीपगमनं, तत् कथं भगवति सम्भवति? इति आशंक्य आह 'योगनिद्राम्' इति. नहि भगवान् शेते वस्तुतो, अस्ति च योगभूतनिद्रा काचित् शक्तिः. साहि जीवानां क्लेशनाशिनी स्वसमीपं च आनयति गुह्यं च प्रकटीकरोति.'' (भाग.सुबो.१।३।२) इस व्याख्यासे सर्वथा सुस्पष्ट ही है. अतएव इस स्पष्टीकृत सन्दर्भमें ही प्रलयनिरूपक वचनके व्याख्यागत पदोंका भी अभिप्राय गृहीत करना चाहिये. जैसा कि महाप्रभु दिखलाते हैं—

> ''अत्र अयं क्रमः : यदा भगवान् शिशयिषुः भवति तदा तमो गृह्णाति पश्चात् च शेते... जगति स्वस्मिन् प्रविष्टेऽपि भगवान् न परिपालनार्थं यत्नं करोति किन्तु तूष्णीमेव तिष्ठति. तस्य तूष्णीम्भावमनु भुवनात्मकाः भूरादयः उज्जटग्रामभित्तयइव तिरोहिताः भवन्ति. तदा अन्धकारे प्रवृत्ते रात्रिः सुतरां प्रवृत्ता भवति. तदा संकर्षणमुखाद् उत्थितो अनलः त्रिलोकीं दहति... तदा तस्मिन् सलिले 'शेषा'परनामा अनन्तो, अन्तःस्थितसर्वलोकानां दुःखहर्ता, योगनिद्रया निमीलिताक्षः... आस्ते.''(भाग.सुबो.३।११।३१).

एतावता सिद्ध होता है कि तमस्का कोई एक आधिदैविक या अलौकिक स्वरूप भी है जिसे भगवान्की योगनिद्रा माना गया है. यह योगनिद्रा ब्रह्मकी सृष्ट्यनुकूला सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाशक्तिके विपरीत प्रलयानुकूला शक्ति होती है. इन दोनों शक्तिओंमेंसे यथेष्ट

शक्तिका उपयोग ब्रह्म अपनी अप्रतिहतेच्छारूपा सत्यसंकल्पशक्तिके द्वारा करता है. ऐसा महाप्रभुकी '' 'श्रिया पुष्ट्या...विद्ययाविद्या शक्त्या मायया च निषेवितम्' — 'विद्या'=ज्ञानरूपा मोक्षदायिनी, 'अविद्या'= बन्धिका... 'शक्तिः'=इच्छाशक्तिः एषा सर्वनियामिका, 'माया'= सर्वभवनसामर्थ्यं व्यामोहिका चेति उभयविधापि परिगृहीता 'च'कारेण... तेन मुख्या द्वादश अवान्तरभेदाः असंख्याताएव भवन्ति'' (भाग.सुबो.१०।३९।-५५) व्याख्याके आधारपर सिद्ध होता है. एतावता ''रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव तद् अस्य रूपं प्रतिचक्षणाय इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते, युक्ता हि अस्य हरयः शता दश इति. अयं वै हरयो अयं वै दश च सहस्राणि च बहूनि च अनन्तानि च तद् एतद् ब्रह्म अपूर्वम् अनपरम् अबाह्यम् अयम् आत्मा सर्वानुभूः इति अनुशासनम्' (बृह.उप.२।५।१९) यह बृहदारण्यकवचन भी ब्रह्मकी आत्मरूपा शक्तिओंकी करणता तथा शक्ति एवं शक्तिमान् के तादात्म्यके निरूपणपरक हो कर सुसङ्गत हो जाता है.

इसे जीवात्मगत अज्ञान/अविद्यारूप तमस्के रूपमें न देखनेका दृढ़ आग्रह वाल्लभ वेदान्त इसलिये भी रखता है, क्योंकि, उपनिषद्में जीवगत अज्ञानकी सृष्टि उत्तरकालिक प्राकट्यके रूपमें निरूपित हुयी है : ''सो अकामयत् 'बहु स्यां प्रजायेय' इति स तपो अतप्यत्. स तपः तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत. यद् इदं किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्. तद् अनुप्रविश्य सत् च त्यत् च अभवत्... विज्ञानं च अविज्ञानं च, सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत्'' (तैत्ति.उप.२।६). यहां अवधेय है कि 'विज्ञान-अविज्ञान'पदोंसे न तो जीव-जड़-सृष्टिकी विवक्षा शांकर वेदान्तके अनुकूल होगी; और न 'अविज्ञान'पदसे मूलाज्ञानके बजाय तूलाज्ञानकी विवक्षा ही शांकर वेदान्तके अनुकूल हो पायेगी. क्योंकि प्रथम कल्पमें जीवचेतनाको सृष्ट माननेपर वह अनित्य सिद्ध होगी और 'अविज्ञान'पदसे जड़सृष्टि माननेपर उसे 'अनृत'से भिन्न मानना पड़ेगा. जबकि शांकर वेदान्तमें जड़ अनृत एकार्थक माने गये हैं.

जड़सृष्टिको व्यावहारिक सत्यतया स्वीकारनेपर और प्रातिभासिक सत्यको अनृत स्वीकारनेपर भी प्रातिभासिक वस्तुओंको भी परमेश्वरसृष्टतया स्वीकारना पड़ेगा. यह सर्वप्रमातृगम्य हो कर उन्हें पुनः व्यावहारिक ही अकामतया सिद्ध कर देगा. अन्यथा प्रातिभासिक वस्तुके बारेमें भी तत्प्रमात्रेकगोचरतारूप प्रतिभासमात्रशरीरताका प्रत्याख्यान ही हो जायेगा. अतः श्रुत्युक्त 'अनृतं च' वचनद्वारा 'मूलाज्ञाना'ख्य पदार्थ भी अनृतत्वेन शांकर वेदान्तमें सङ्गृहीत होना ही चाहिये. इस तरह सृष्टिरूपद्वैतके प्राकट्यमें उस परब्रह्मसे अतिरिक्त अन्य किसीकी हेतुता मान्य नहीं हो पाती. अर्थात् उसके सत्यसंकल्पका अविषय कोई भी सृष्टिगत पदार्थ हो नहीं सकता, यही **''इदं सर्वम् असृजत यद् इदं किञ्च तत् सृष्ट्वा''** पदोंका स्वारसिक अभिप्राय प्रतीत होता है.

निष्कर्षतया अनेकविध नाम-रूप-कर्मोंका पृथक्पृथक् प्रविभाजन या प्रकाशन अथवा उनमें रमण जैसे सच्चिदानन्द ब्रह्ममें सृष्टिरूप होता है, वैसे ही उनके अप्रकाशन या विभागविलोपन द्वारा सच्चिदानन्द ब्रह्मका पुनः आत्मैकरमण अनुभवातीत आधिदैविक तमस् माना गया है.

अतएव त्रिगुणात्मिका प्रकृति भी वाल्लभ वेदान्तके अनुसार एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्मतत्त्वका अपने धर्मिभूत चिदानन्दांशोंके तिरोधानपूर्वक केवल धर्मिभूत सदंशका विलास है. एतदर्थ महाप्रभुके शब्दोंमें इस प्रतिपादनका अवलोकन उपकारी होगा —

> **'' 'सत्त्वं रजस्तमइति निर्गुणस्य गुणाः त्रयः स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीताः मायया विभो.' यथा ऊर्णनाभिः सृष्ट्यर्थम् एकाम् ऊर्णाम् उद्वमते तथा भगवानपि त्रिविधसृष्ट्यर्थं त्रीन् गुणान् उद्वमते... सद्रूपेण निर्गतं 'सत्त्वम्' इति उच्यते. केवलचिद्रूपेण निर्गतं, क्रियाशक्तिप्रधानत्वात् सदानन्दाभावात् च 'रजः' इति उच्यते. आनन्दांशात् च तमः. ते भगवद्रूपाएव**

भगवता सृष्टाः. नच भगवति ते पूर्वस्थिताः, तथा सति ते भगवदात्मकाः न भवेयुः. यथा कार्पासे सूत्रम्. तदेव हि पश्चात् स्वावयवैः पौर्वापर्यम् आपद्यमानं सूत्रताम् आपद्यते. अतएव भगवान् निर्गुणः. ते गुणाः पुनः स्थितिसर्गनिरोधेषु उत्पत्तिस्थितिलयार्थं गृहीताः. तेषामपि गृहणं मायया. एषा हि माया जगत्कर्त्री नतु व्यामोहिका, तद् आह 'विभोः' इति. समर्थस्य जगत्कर्तुः इति अर्थः. साहि तच्छक्तिः सर्वरूपभगवत्सम्बन्धात् सर्वप्रतिकृतिरूपा. सा जगत्करणे करणरूपा. अतः करणांशस्य तदीयत्वात् करणरूपेणैव निर्गताः गुणाइति माययैव गृहीताः''(भाग.सुबो.२।५।१८).

अतः त्रिगुणात्मिका प्रकृतिकी घटक गुणत्रयीके अन्तर्भूत जो तमोगुण स्वीकारा गया है वह भी न तो सदसद्विलक्षण माना जाता है और न अब्रह्मात्मक ही. अतएव ''अजाम् एकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः'' (श्वेता.उप.४।५) श्रुतिवचनमें भी 'लोहित-शुक्ल-कृष्ण' पदोंके द्वारा रजस्-सत्त्व-तमोगुणोंका प्रतिपादन किया गया है. ब्रह्मके धर्मिभूत आनन्दके तिरोहित होनेपर भी धर्मभूत आनन्दमेंसे अपने प्रादुर्भावकी प्रक्रियाको 'कृष्ण'पदवाच्य तमोगुण द्योतित करता है. इसी तरह सत्त्वगुण एवं रजोगुण को भी यथायथ धर्मिभूत सदंश एव धर्मिभूत चिदंश के तिरोहित होनेपर भी धर्मभूत सदंश और चिदंश मेंसे दो प्रादुर्भावविशेष समझना चाहिये. उदयास्तके पूर्व और पश्चात् सूर्यके तिरोहित रहनेपर भी सूर्यप्रकाश कुछ समयके लिये, धर्मिके प्रकट रहे बिना भी, जैसे प्रकट हो जाता है तद्वत्. फिर भी इस प्राकृत गुणत्रयीके वशात् सृष्टिमें प्रकट होनेवाले ज्ञान कर्म कर्ता बुद्धि धृति सुख श्रद्धा आहार यज्ञ तप दान आदिकी जो विविधता अनुभूत होती हैं, उनमें जहां भी तमोगुण प्रधान होता है, वहां ज्ञानका विषय, कर्मका फल, बुद्धिभात कर्तव्य या विषय का स्वरूप, धृति=धारणाका विषय, सुखका स्वरूप, या तो असद्

होता है या असाधु होता है. यह भगवद्गीताके सत्रहवें-अट्ठारहवें अध्यायके अवलोकन करनेपर अवगत होता ही है. भगवान्के वचन ''न तद् अस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः सत्त्वं प्रकृतिजैः मुक्तं यद् एभिः स्यात् त्रिभिः गुणैः'' (भग.गीता.१८।४१) के अवगाहन करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है.

जगत्के उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयार्थ परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके जैसे — ब्रह्मा विष्णु एवं शिव — तीन आधिदैविक रजस्सत्त्वतमोगुणाभिमानी नियामकरूप माने गये हैं; वैसे ही, इनके अनुरूप अक्षरब्रह्ममें भी — कर्म स्वभाव एवं काल — उत्पत्त्यादित्रयीके नियमरूप रजस्सत्त्वतमोगुणानुरूप तीन आध्यात्मिक रूप भी माने गये हैं. अक्षरब्रह्मके अवशिष्ट दो पहलु प्रकृति तथा पुरुष मेंसे प्रकृति, जो उल्लिखित गुणत्रयीकी साम्यावस्था है, उसे त्रिगुणात्मिका माना गया है. इस प्रकृतिमें सत्त्वादि गुणत्रयीके गौणप्राधान्यभाववश प्रत्येक उत्पद्यमान विद्यमान तथा लीयमान वस्तुमें कथञ्चिद् उत्पत्ति, तो कथञ्चित् स्थिति, तो कथञ्चित् लय भी निरन्तर चलता ही रहता है. एतदर्थ महाप्रभुके ये वचन अवलोकनीय हैं :

> ''एवं कालः तथा कर्म स्वभावो हरिरेव सः... सर्वेषां त्रिगुणत्वाद्धि त्रयो भेदाः पृथङ् मताः आधिदैविकम् अध्यात्मम् अधिभूतम् इति स्मृताः... अन्तर्यामी अक्षरं कृष्णो ब्रह्मभेदाः, तथा परे स्वभावकर्मकालाः च रुद्रो ब्रह्मा हरिः... परं ब्रह्मैव त्रिप्रकारेण वर्ततइति त्रयो भेदाः... अक्षरस्य स्वभावकर्मकालाः, रुद्रादयः कृष्णस्य''.
>
> (त.दी.नि.२।११५-१२१).

इस तरह तमस्के आधिदैविक स्वरूपके विवेचनके बाद अब आध्यात्मिक स्वरूपकी विवेचनाके हेतु अग्रसर हुवा जा सकता है.

(३.आध्यात्मिक तमस्का स्वरूप)

श्रौतसन्दर्भ : (क)अज्ञानजन्य तमस् तथा (ख)तमोजन्य अज्ञान की परस्पर जन्यजनकता :

(क)''अस्तमिते आदित्ये, याज्ञवल्क्य!, चन्द्रमसि अस्तमिते, शान्ते अग्नौ, शान्तायां वाचि, किंज्योतिरेव अयं पुरुषः? इति आत्मैव अस्य ज्योतिः भवतीति आत्मनैव अयं ज्योतिषा आस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येति इति'' (बृह.उप.४।३।६).

(ख)''मृत्युः वै तमो ज्योतिः अमृतम्''(बृह.उप.१।३।२८).

(ग)''असुर्याः नाम ते लोकाः अन्धेन तमसा आवृताः तान् ते प्रेत्य अभिगच्छन्ति ये के च आत्महनो जनाः... यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येव अनुपश्यति सर्वभूतेषु च आत्मानं ततो न विजुगुप्सते. यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैव अभूद् विजानतः तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वम् अनुपश्यतः... अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये अविद्याम् उपासते ततो भूयइव तमो ये उ विद्यायां रताः. अन्यदेव आहुः विद्यया अन्यद् आहुः अविद्यया इति शुश्रुम धीराणां ये नः तद् विचचक्षिरे. विद्यां च अविद्यां च यः तद् वेद उभयं सह, अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते'' (ईशा.उप.२।११).

इन श्रुतिवचनोंके अवलोकन करनेपर यह जाना जा सकता है कि सौर चान्द्र आग्नेय तथा वाचिक ज्योतिसे भिन्न कोई एक आत्मचैतन्यरूप ज्योति या प्रकाश भी होता ही है. विविध भूतोंमें अनुगत तथा विद्या-अविद्यामें भी अनुगत इस आत्मैकत्वके अनुभवके बिना या तो मृत्युरूप या फिर आत्मघातरूप अन्धन्तमकी अनुभूति कथञ्चिद् होने लगती है. इसी तरह आत्मैकत्वानुभाववश शोकमोहातिगामी आत्मप्रकाशन

भी शक्य हो ही जाता है. यह आत्मप्रकाश तथा आत्मान्ध्य के मूलकारणतया आत्माके साथ जुड़नेवाली भगवान्की द्वादशशक्तिओंमें अन्तर्भूत अविद्या या व्यामोहिका मायाके कारण आत्मचेतनामें प्रकटी स्वरूपविस्मृति=निजस्वरूपाज्ञान तथा प्राकृत गुणान्तर्गत तमोगुण के बीच परस्पर जन्यजनकभावका चक्र भगवद्गीतामें निरूपित हुवा है.

सर्वप्रथम अज्ञानजन्य तमस् ''तेषामेव अनुकम्पार्थम् अहम् *अज्ञानजं तमो** नाशयामि आत्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता'' (भग.गीता.१०।११) तथा *तमस्तु अज्ञानजं** विद्धि मोहनं सर्वदेहिनां प्रमादालस्यनिद्राभिः तद् निबध्नाति'' (भग.गीता.१४।८) इन वचनोंमें निरूपित हुवा है.

इसी तरह तमोजन्य अज्ञान भी ''कर्मणः सुकृतस्य आहुः सात्त्विकं निर्मलं फलं रजसस्तु फलं दुःखम् *अज्ञानं तमसः फलं*+, सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभएव च *प्रमादमोहौ तमसो भवतो अज्ञानमेव*+ च'' (भग.गीता.१४।१६-१७) इन वचनोंमें निरूपित हुवा हम पाते हैं.

इस विषयमें वाल्लभ वेदान्ताभिमत प्रक्रियाके अनुरोधवश यह कहा जा सकता है कि जहां* तमस्को अज्ञानजन्य कहा जा रहा है वहां अज्ञान भगवान्की द्वादशविध शक्तिओंमें अन्तर्भूत अविद्या या व्यामोहिका मायाकी उपाधिसे जन्य कोई अनुभूतिविशेष है. इसी तरह यहां निरूपित हुवा तमस्का जो जनन है वह प्राकृत तमोगुणका उद्रेक है. इसी तरह जहां+ तमोगुणजन्य अज्ञान कहा जा रहा है वहां अप्राकृत आत्माके साथ जुड़ी प्राकृत गुणत्रयीके अन्तर्गत तमोगुणके उद्रेकवश ज्योतीरूप आत्माके स्वरूपका आवरक अज्ञान विवक्षित है. इन दोनोंका चक्रवत् परस्पर जन्यजनकभाव या एकतरके निरसनवश अन्यतरका निरास आविर्भाव-तिरोभावरूप ही स्वीकारा गया है. अतएव न तो जनन-नाशहेतुक अभावचतुष्टयी और न सदसद्वैलक्षण्यरूप मिथ्यात्व ही वाल्लभ वेदान्तमें अभिमत प्रक्रिया है. यह सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्मोपादानक

सृष्टिमें ब्रह्मकर्तृक नाम-रूप-कर्मोंका वैविध्यपूर्ण प्रकाशन या अप्रकाशन ही केवल है—''ये चैव सात्त्विकाः भावाः राजसाः तामसाः च ये मत्तएव इति तान् विद्धि नतु अहं तेषु ते मयि'' (भग.गीता.७।१२); अतएव, यह न तो निरन्वयनाश है और न त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगितारूप बाध ही. यों तमस्का कुछ आध्यात्मिक स्वरूप भी सिद्ध होता ही है.

निष्कर्षतया तमोगुणरूप उपाधिकी उत्तरोत्तर वृद्धिके वश आत्मचेतनामें प्रमाद आलस्य अज्ञान मोह भ्रान्ति निद्रा मूर्छा मृत्यु अन्धन्तम नरक आदि अनेक रूप आध्यात्मिक तमस्के शास्त्रवचनोंमें निरूपित हुवे हैं. ये अक्षरब्रह्मान्तर्भूत चिदंशसमष्टि चेतनाकी व्यष्टिरूप चेतनामें उसके स्वभाववश घटित नहीं होते. ये घटित होते हैं आनन्दांशके तिरोधानवश चेतनाके साथ भगवान्की व्यामोहिका मायाके जुड़ जानेके प्रभाववश ही. ये पञ्चपर्वा अविद्याके रूपमें औपाधिकतया वहां भासित होते हैं. अतः तमस्का आध्यात्मिक उपरिनिर्दिष्ट स्वरूप आत्मचेतनाके स्वाभाविक गुणधर्मतया नहीं प्रत्युत औपाधिक गुणधर्मतया प्रकट होता है. औपाधिक गुणधर्म सहजस्वभावप्रयुक्त नहीं होते परन्तु एतावता उन्हें मिथ्या, वाल्लभ वेदान्तमें कमसे कम, माना नहीं जाता.

यों आध्यात्मिक तमस्की स्वरूपविवेचनाके बाद अब आधिभौतिक तमस्के विवेचनार्थ प्रवृत्त हुवा जा सकता है.

(४.आधिभौतिक तमस्का स्वरूप)

श्रौतसन्दर्भ : नृचक्षुग्राह्य प्रकाश और उसके तिरोभाववश प्रकट होता तमस् :

(क)''स इत् तमो अवयुनं ततन्वत् सूर्येण वयुनवत् चकार'' (ऋक्संहि.६।२१।३).

(ख)''अहः च कृष्णम्, अहः अर्जुनं च, विवर्तेते रजसी वेद्याभिः, वैश्वानरो जायमानो नराजा अवातिरद् ज्योतिषा अग्निः तमांसि'' (ऋक्संहि.६।९।१).

(ग) ''यः तमसि तिष्ठन् तमसो अन्तरो, यं तमो न वेद. यस्य तमः शरीरं, यः तमो अन्तरो यमयति, एष त आत्मा अन्तर्यामी अमृतः. यः तेजसि तिष्ठन् तेजसो अन्तरो, यं तेजो न वेद. यस्य तेजः शरीरं, यः तेजो अन्तरो यमयति, एष त आत्मा अन्तर्यामी अमृतः''.

(बृह.उप.३।७।१३-१४).

(घ) ''तद् ऐक्षत 'बहु स्यां प्रजायेये'ति तत् तेजो असृजत. तत् तेजः ऐक्षत 'बहु स्यां प्रजायेये'ति तद् अपो असृजत... ता आपः ऐक्षन्त 'बह्व्यः स्याम प्रजायेये'ति ताः अन्नम् असृजत... सेयं देवता ऐक्षत 'हन्त! अहम् इमाः तिस्रो देवताः अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति तासां त्रिवृतम् एकैकां करवाणि' इति... यद् अग्नेः (आदित्यस्य चन्द्रमसो विद्युतो) रोहितं रूपं तेजसः तद्रूपं, यत् शुक्लं तद् अपां, यत् कृष्णं तद् अन्नस्य. अपागाद् अग्नेः अग्नित्वं (आदित्यस्य आदित्यत्वं चन्द्रात् चन्द्रत्वं विद्युतो विद्युत्त्वं) वाचारम्भणं 'विकारो' नामधेयं 'त्रीणि रूपाणि' इत्येव सत्यम्''.

(छान्दो.उप.६।२।३-४।४).

इन श्रुतिवचनोंके आधारपर यह सिद्ध होता है कि तमस्का कोई आधिभौतिक स्वरूप भी निश्चयेन होता ही है. (क)भगवान्ने जैसे सौर प्रकाशको ज्ञानजनक बनाया है उसी तरह तमस् भी भगवान्के द्वारा ही अज्ञानजनक बनाया गया है. (ख)दिन और रात्रि को शुक्ल और कृष्ण बनाया गया है, जो दोनों भूलोकपर और अन्तरिक्षमें चक्रवत् वेद्यतया घूमते रहते हैं. सूर्यकी तरह अग्नि भी किन्तु भूतलपर प्रकट हो कर अपने प्रकाशसे तमस्को निरस्त कर देता है. (ग)तमस् और ज्योति दोनोंके भीतर वह अन्तर्यामी

विद्यमान रहता है, जिसे तमस् और ज्योति जान नहीं पाते परन्तु वे दोनों ही उसके शरीररूप होते हैं. जो इन तमस् और ज्योति दोनोंके भीतर रह कर उनका नियमन करता है वही हमारे भीतर भी रहनेवाला अमृत अन्तर्यामी है. [घ]उस परमात्माने सोचा कि वह अनेकरूप धारण करे सो वह तेज बन कर जल, और जल बन कर, अन्न बन गया. उसने सोचा कि वही इन देवताओंके रूपोंमें प्रकट हो कर प्रस्तुत जीवात्माके रूपमें अनुप्रविष्ट हो कर नामरूपोंका विस्तार करे सो उसने प्रत्येककी त्रिपुटी बना दी. अतएव अग्नि आदित्य चन्द्रमा और विद्युत् में जो रक्तिम प्रकाश है वह तैजस है, जो श्वेत प्रकाश है वह जलीय है और जो कृष्णवर्णी प्रकाश है वह अन्नोपलक्षित पार्थिव प्रकाश होता है. अतः इन अग्नि आदित्य चन्द्रमा या विद्युत् को 'तेज-वायु-पृथिवीके विकार' नामसे पुकारना तो वाग्व्यवहारकी मर्यादा है. वास्तविक नाम तो इनका 'तीन रूप' ही समझना चाहिये.

यहां त्रिवृत्करण या उपलक्षणविधया पञ्चीकरण की वेदान्ताभिमत प्रक्रियाके अनुरोधवश प्रत्येक पाञ्चभौतिक स्थूल तत्त्वमें स्वयंके अलावा अवशिष्ट दो या चार तत्त्व विद्यमान रहते ही हैं. अतः कहीं भी किसीका आत्यन्तिक अभाव या अन्योन्याभाव तो हो ही नहीं सकता है. अतः भगवद्गीतोक्त—"न असतो विद्यते भावो न अभावो विद्यते सतः"(भग.गीता.२।१६) सिद्धान्तके आधारपर भी तेजस् तत्त्वका अभाव ही सिद्ध न हो पानेके कारण अन्धकार या तमस् के तेजोरूप प्रकाशका अत्यन्ताभावरूप होना या तेजोरूप प्रकाशका अन्योन्याभावरूप होना उपपन्न हो नहीं पाता.

निष्कर्षतया किसी तरहके प्रकाशके कहीं-कभी आविर्भाववश, तो किसी तरहके प्रकाशके कहीं-कभी तिरोभावरूप होनेके रूपमें तमस्का एक आधिभौतिक स्वरूप अकामतया मान्य रखना ही पड़ता है. अतएव

''उद्धसत्तडिदम्भोदघटया नष्टभागणे व्योम्नि प्रविष्टतमसा न स्म व्यादृश्यते पदम्'' — ''यथा घनो अर्कप्रभवो अर्कदर्शितो अर्कांशभूतस्य च चक्षुषः तमः'' (भाग.पुरा.३।१७।६ — १२।४।३२) इन भागवतवचनोंमें स्पष्टतया आधिभौतिक मेघघटारूप अन्धकारके वश आधिभौतिक भारूप प्रकाशका आधिभौतिक नाश; तथा, सूर्यरश्मिजन्य घनकी सूर्यप्रकाशदृश्यता तथा सूर्यांशरूप नृचक्षुओंके प्रति सूर्यावरक होनेके रूपमें तमोरूपता जो निरूपित हुयी है वह भी संगत हो जाती है. सूर्यरश्मिजन्य घनोंमें उपादानकारणतया अनुगत होनेसे सूर्यका कथमपि अभाव तो सम्भव ही न होनेसे तिरोभाव ही स्वीकारना उचित होगा. अतः सूर्यप्रकाशका तिरोभाव व्यामोहिका मायाका अवास्तविक मायिक कार्य न होनेसे आधिभौतिक प्रकाशका आधिभौतिक तिरोभावरूप ही आधिभौतिक तमोरूप कार्य ही मानना यहां उचित लगता है. ज्योतिके ये आविर्भाव-तिरोभाव भी ''आत्मतएव आविर्भावतिरोभावौ... आत्मतएव इदं सर्वम्'' (छान्दो.उप.६।२६।१) वचनानुसारी परब्रह्मकी बहुभवनेच्छाके ही एक अनुभावके रूपमें तमस्को भी सिद्ध करते हैं. अस्तु.

अतएव आधुनिक भौतिक विज्ञानके अनुसार भी तमस्का जो स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, उसके साथ प्रस्तुत निरूपणके संवाद या विसंवाद पर भी यत्किञ्चित् दृष्टिपात प्रस्तुत विषयके सम्यग् आकलनार्थ उपकारक हो सकता है.

आधुनिकविज्ञानसन्दर्भ : नृचक्षु द्वारा ग्राह्य प्रकाश और नृचक्षु द्वारा अग्राह्य प्रकाश के तिरोभाववश प्रकट होते अनेकविध तमस् :

आधुनिक विज्ञानके अनुसार नृचक्षुर्ग्राह्य प्रकाशका क्षेत्रविस्तार अत्यल्प माना गया है. जबकि नृचक्षुसे अग्राह्य प्रकाशका क्षेत्रविस्तार बहुत बड़ा माना गया है. एतदर्थ आधुनिक विज्ञानाभिमत एकीकृत इलेक्ट्रोमेग्नेटिक क्षेत्रविस्तारके स्वरूपको दृष्टिगत कर लेना उपकारक होगा :

एकीकृत इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक तरङ्गविस्तारका व्यापकक्षेत्र

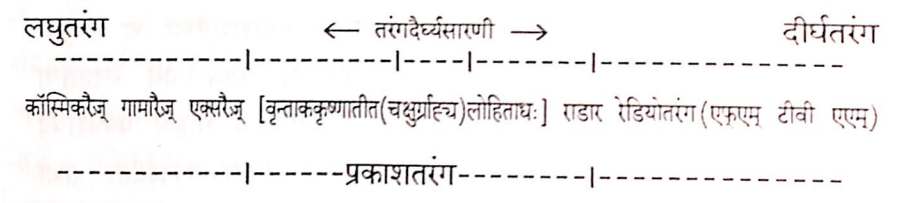

(द्रष्टव्य : फ्रित्जोफ काप्राकृत 'द ताओ फिज़िक्स्' पृ.६०)

इस तरंगदैर्घ्यसारिणीके अवलोकन करनेपर यह सिद्ध हो जाता है कि नृचक्षुर्ग्राह्य प्रकाशका क्षेत्रविस्तार विविध तरंगोंकी किरणोंके क्षेत्रविस्तारकी तुलनामें कितना अल्पतम है! उस प्रकाशके चक्षुर्गृहीत न होनेपर मनुष्यके नयनोंमें स्वाभाविकतया अन्धकार या तमस् की अनुभूति होने लगती है. परन्तु नृचक्षुर्ग्राह्य तमसके साथ ही साथ अन्यान्य तरंगो द्वारा वस्तुका प्रकाशन भी उतना सहज सम्भव है. अतएव मानवीय चक्षुसे जहां तमस् ही गृहीत होता हो वहां भी अब अन्यान्य तरंगोंकी किरणोंसे प्रकाशन अशक्य नहीं रहा है. फलतः तमसावृत होना या न होना भी उन-उन तरंगकिरणोंके ग्राहक नयनोंके अथवा उपकरणोंके सन्दर्भमें ही अब सोचा-कहा जाना चाहिये अन्यथा नहीं. इनके उदाहरणतया नृचक्षु द्वारा ग्राह्य प्रकाशकिरणोंके दैहिक त्वचाके आवरणके भीतर प्रविष्ट न हो पानेकी स्थितिमें भी एक्सरे या ध्वनिकिरणों द्वारा त्वगन्तःप्रवेशनके तथा उनके परावर्तनके वश शरीरान्तःस्थित अंगोपांगोंका प्रदर्शन एवं चित्रण आधुनिक एक्सरे/सोनोग्राफी रूपी उपकरणों द्वारा अतीव सुकर जो हो गया है, उसे ध्यानके बाहर नहीं रखना चाहिये. गहरे सागरतलमें डूबी हुयी वस्तुके इर्दगिर्द नृचक्षुसे तमस् जहां प्रत्यक्षसिद्ध होता है वहां भी ध्वनिकिरणोंके प्रक्षेपण द्वारा अन्तस्तलावस्थित वस्तुका दर्शन एवं चित्रग्रहण सुलभ हो गया है. सन् १८८३ से आरम्भ कर अधुनातन किये गये अनेक प्रयोग-निरीक्षणोंके आधारपर यह भी सिद्ध हुवा है कि चींटी दफ्निआ(जलमक्षिका) मधुमक्षिका काष्ठभक्षी कीट

(wasp) फलमक्षिका तथा अन्य कुछ पक्षी भी नृचक्षु द्वारा अग्राह्य वृन्ताककृष्णातीत ultraviolet किरणोंको देख पाते हैं (दृष्ट. : पी.ई.हॉक्बर्जर्-कृत 'अ हिस्टोरी ऑफ् अल्ट्रावायोलेट् फोटोबायोलोजी फोर् ह्युमन्स्, एनिमल्स् एंड् माइक्रोओर्गनिज़म्' आलेख पृ.५६६).

इन विविध तरंगकिरणोंके बीच न तो आत्यन्तिक आपसी भेद होता है और न आत्यन्तिक अभेद ही. एतावता किसी एक प्रकारकी तरंगकिरणके चक्षुर्गृहीत न हो पानेकी स्थितिमें अनुभूत होते तमस् और दूसरी भी किसी प्रकारकी तरंगकिरणोंसे गृहीत न हो पानेवाले तमस् के बीच भी न तो आत्यन्तिक भेद और न आत्यन्तिक अभेद ही स्वीकारा जा सकेगा. फ्रित्जोफ् काप्रा कहते हैं कि "Today we know that radio waves, light waves or X-rays, are all electromagnetic waves, electric and magnetic fields, differing only in the frequency of their oscillation, and that visible light is only a tiny fraction of the elctromagnetic spectrum" (The Tao Physics p.61). क्योंकि यह सहज सम्भव है कि जिन एक या दो तरहकी तरंगकिरणोंके गृहीत न हो पानेके कारण कहीं तमस् अनुभूत हो रहा हो वहां ही तीसरी प्रकारकी किसी तरंगकिरण द्वारा वस्तुप्रत्यक्ष एवं चित्रग्रहण सर्वथा सुशक ही हो. इन विविध तरंगकिरणोंके प्रभेद इनकी पृथक्-पृथक् तरंग-लंबाईमात्रके आधारपर निर्भर होते हैं. और हम देख सकते हैं कि दृश्य और श्रव्य का प्रभेद भी केवल तरंगोंकी पृथक्-पृथक् लंबाईओंका ही भेद अब रह गया है. और तो और द्रव्य और ऊर्जा के प्रभेद भी अब आपेक्षिक हो गये हैं. स्टीफेन् हॉकिंग अपनी 'ब्रीफ हिस्टरी ऑफ टाइम' ग्रन्थमें कहते हैं कि —

"In this theory, particles no longer had separate, well-defined positions and velocities that could

be observed. Instead, they had a quantum state, which was a combination of position and velocity... Although light is made up of waves, Planck's quantum hypothesis tells us that in some ways it behaves as if it were composed of particles : it can be emitted or absorbed only in packets, or quanta. Equally, Heisenberg's uncertainty principle implies that partlicles behave in some respects like waves: they do not have a definite position but are 'smeared out' certain probabilty distribution. The theory of quantum mechanics is based on an entirely new type of mathematics that no longer describes the real world in terms of particles and waves; it is only the observations of the world that may be described in those terms. There is thus a duality between waves and particles in quantum mechanics: for some purpose it is helpful to think of particles as waves and for other purposes it is better to think of waves as particles." (अ ब्रीफ हिस्टरी ऑफ टाइम् पृ.५९-६१).

न केवल इतना प्रत्युत श्रव्य तरंगोंके द्वारा दृश्यावभासन भी शक्य हो गया है. अतएव प्रकाशाभावके रूपमें तमस्का प्रतिपादन करने जानेपर सर्वप्रथम यह स्पष्टीकरण अनिवार्य हो जाता है कि किस तरहके तरंगकिरणोंकी विवक्षाके वश कैसा प्रकाशाभाव विवक्षित है, क्योंकि एक तरहके तरंगकिरणका जहां अभाव हो वहां अन्य प्रकारके तरंगकिरणका अभाव होना आवश्यक नहीं होता. इसी तरह सभी तरहके तरंगकिरण सभी तरह नयनोंसे या किसी भी एक उपकरणसे

गृहीत हो नहीं पाते. परिणामतया ऐसी स्थितिमें नयनगोचर होते तमस्के साथ-साथ अन्य प्रकारके तरंगकिरणग्राही उपकरणविशेष द्वारा वस्तुप्रकाशन या साक्षात्कार भी शक्य होता ही है. हाल ही में इराक-अमरीकीयुद्धमें अमरीकी सैनिकोंको अन्धेरेमें भी देख पानेके infra-red (लोहिताधः) प्रकाशकिरणग्राही उपनेत्र प्रदान किये जानेके समाचार प्रकाशित हुवे थे. एतावता सिद्ध हो जाता है कि विद्युच्चुम्बकीय व्यापक तरंगक्षेत्रके विस्तारमें न तो सभी तरहके तरंगकिरणोंका अभाव सम्भव है और न द्रष्टा और/अथवा उपकरण से निरपेक्षतया तमस् या प्रकाशन का चाक्षुष अनुभव सम्भव हो पाता है. अतः यहां भी सापेक्षतावादको ही मुखरित होता हुवा हम पाते हैं. पी.ई.हॉक्बर्जर् तो यहां तक कहते हैं कि "One of the more contraversial discoveries is the observation that cell produce, transmit and perceive ultraweak electromagnetic radiation (also called ultraweak photon emission, low-level bioluminescence and bioelctromagnetism).(पूर्वोद्धृत आलेख पृ.५७२). अर्थात् एककोशीय जीवाणु भी अतिक्षीण विद्युच्चुम्बकीय तरंगकिरणोंको प्रकट करते हैं, उन्हें सम्प्रेषित करते हैं तथा उन्हें अनुभूत भी करते हैं. ऐसी स्थितिमें अन्धकारमें अवस्थित किसी प्राणी व्यक्तिका केवल नृचक्षुसे साक्षात्कार शक्य न होनेपर भी अतिक्षीण विद्युच्चुम्बकीय तरंगकिरणग्राही उपकरणविशेष द्वारा साक्षात्कार शक्य होता ही है.

निष्कर्षतया अन्धकारको केवल प्रकाशाभावके रूपमें परिभाषित करना अब आधुनिक विज्ञानाभिमत कथा प्रतीत नहीं होती है.

यहां तमश्चाक्षुष प्रत्यक्षकी प्रक्रियाका भी यतकिञ्चिद् विवेचन, आधुनिक विज्ञानके अनुसार, जान लेना सन्दर्भोपात्त ही होगा. वह भी पुनः ज्योतिश्चाक्षुष प्रत्यक्षकी प्रक्रियाके साथ जुड़ी हुयी बात होनेसे पुनः तदेकसन्दर्भोपात्त ही बन जाती है. प्रकाशतरंगकिरणोंकी विवेचना

करते हुवे Light and Vision ग्रन्थमें सी.जी.म्यूलर् तथा माए रुडोल्फ् कहते हैं :

> "Light waves, unlike water waves, need no medium; they can travel in a vacuum without ever diminishing" (p.46).
>
> "Light passing into the eye remains essentially unchanged, although its path is altered so that it reaches the retina in proper focus. It is at this point that the dramatic conversion takes place, and light is transformed into signals, partly electrical and partly chemical in their nature. Although triggered by light, these signals can no longer be described in terms of light units. In fact, the light is gone–dissipated. It is used up just as the energy of a gun's hammer is used up when it strikes the bullet. At this point, it is important to keep in mind that light *is* energy. Light is not a substance nor a picture, but energy, the ability to do work. The eye harnesses light energy to see by the process of vision just as plants harness light energy to grow by the process known as photosynthesis." (ibd.p.75-76).

अर्थात् जलतरंगोंसे विसदृशतया प्रकाशतरंगोंको किसी माध्यमकी अपेक्षा नहीं रहती; वे शून्यावकाशमें क्षीण हुवे बिना निरन्तर यात्रा कर पाती हैं. नेत्रोंके भीतर प्रवेश करते समय दृष्टिपटल तक केन्द्रित हो कर पहुंच पानेके पथपरिवर्तनके अलावा प्रकाशमें और कोई परिवर्तन

नहीं आता. इस दृष्टिपटल तक पहुंच जानेपर प्रकाशके स्वरूपमें अवश्य ही नाटकीय परिवर्तन घटित हो जाता है कि प्रकाश अब संकेतके रूपमें परिवर्तित हो जाता है, अंशतः वैद्युत और अंशतः रसायनिक स्वरूपमें. इन प्रकाशजन्य संकेतोंका प्रकाशकीय इकाईओंमें निरूपण अब शक्य नहीं रह जाता. वस्तुतस्तु प्रकाश तो व्ययीभूत हो कर तितर-बितर हो जाता है. बन्दूकके भीतर जुड़ी लघुकाय हथौड़ी जैसे गोलीपर आघात कर चुकनेपर कार्यनिवृत्त हो जाती है तद्वत्. यहां एक महत्त्वपूर्ण अवधेय तथ्य यह भी होता है कि प्रकाश एक ऊर्जा है. भूल नहीं जाना चाहिये कि प्रकाश एक ऊर्जारूप पदार्थ ही है, न तो द्रव्यरूप और न चित्ररूप ही. प्रकाशरूप ऊर्जाका नेत्र अधिग्रहण करते हैं, देखनेकी क्रिया सम्पन्न करनेको, ठीक उसी तरह तरह जैसे प्रकाशकणसंश्लेषणकी प्रक्रिया द्वारा वनस्पति आत्माभिवृद्धचर्थ प्रकाशकणोंका अधिग्रहण करती हैं.

यहां, किन्तु, कुछ बाते मुझे दर्शनशास्त्रीय विश्लेषणार्थ विचारणीय प्रतीत होती हैं. सर्वप्रथम तो यह कि प्रकाशको आपेक्षिकतया द्रव्य और/अथवा ऊर्जा अर्थात् उभयरूप या वैकल्पिकतया अन्यतररूप न मान कर केवल ऊर्जारूप भी मान कर चला जाये तब भी विज्ञानको उसकी क्षणिकता या क्षणभंग की प्रक्रिया तो मान्य नहीं है, क्योंकि करोड़ों प्रकाशवर्ष दूरवर्ती ज्योतिष्पिण्डोंसे व्युत्सृष्ट प्रकाश भूलोक तक पहुंचता माना जाता है. अतः नेत्रगोलकके भीतर घटित होते प्रकाशके वैद्युतरसायनिक परिवर्तनमें प्रतीत्यसमुत्पादवादानुसारी प्रक्रिया तो अपना पाना दुष्कर है. आरम्भवादानुसारी प्रक्रियाको स्वीकारनेमें भी सबसे बड़ी बाधा यही सामने आती है कि नेत्रगोलकको मस्तिष्कसे जोड़नेवाली नाड़िओंके भीतर वैद्युतरसायनिक तत्त्व तो पहलेसे ही विद्यमान रहता है. पूर्वोद्धृत पी.ई.हॉक्बर्जर्के "One of the more contraversial discoveries is the observation that cell produce, transmit and perceive ultraweak electromagnetic radiation (also called

ultraweak photon emission, low-level bioluminescence and bioelctromagnetism).(पूर्वोद्धृत आलेख पृ.५७२) विधान द्वारा भी इसकी पुष्टि होती ही है. अतः इन वैद्युतरसायनिक संकेतोंमें प्रकाशके रूपान्तरणकी आरम्भवादी व्याख्या भी शक्य नहीं लगती. प्रकाश तो चक्षुर्ग्राह्य होनेसे कथञ्चिद् दृष्ट्यधिष्ठानक विवर्त माना जा सकता है परन्तु प्रकाशके वैद्युतरसायनिक रूपान्तरणको चक्षुर्ग्राह्य बनानेवाले न तो उपकरण निर्मित हो पाये हैं और न विज्ञान उन्हें प्रकाशकी तुलनामें विषमसत्ताक ही मानता है, अर्थात् न्यूनसत्ताक न मानता होनेसे, उन्हें प्रकाशविवर्ततया स्वीकारना भी अशक्य ही है. ऐसी स्थितिमें या तो विकृतपरिणामवादी या अविकृतपरिणामवादी उत्पत्तिप्रक्रियामेंसे ही किसी एकको स्वीकारना पड़ेगा.

जहां पूर्वभावापत्ति शक्य न हो और कार्यरूपमें कारणस्वरूपानुगम शक्य न हो वहां विकृतपरिणामवादानुसारी उत्पत्तिप्रक्रिया अभिप्रेत होती है और पूर्वभावापत्ति तथा कारणस्वरूपानुगम के शक्य होनेपर अविकृतपरिणामवादानुसारी उत्पत्तिप्रक्रिया वल्लभ वेदान्तको अभिमत है. और वही यहां, मेरी विनम्र समझके अनुसार, शक्य प्रतीत होती है.

रूसके वैज्ञानिक मेंदेलीयेव द्वारा सारणीबद्ध किये गये प्रकृतिसिद्ध ९२ मौलिक तत्त्व और आधुनिक विज्ञान द्वारा निर्मित १४ मौलिक तत्त्व, यों सभीके भीतर अब इलेक्ट्रॉन न्यूट्रॉन और प्रोटॉन रूपी कारणस्वरूपके अनुगमके तथा विश्लेषण द्वारा पूर्वभावापत्ति भी शक्य होनेसे अविकृतपरिणामवादानुसारी उत्पत्तिप्रक्रिया ही यहां मान्य रखनी चाहिये. स्वयं सी.जी.म्यूलर् तथा माए रुडोल्फ् भी इतना तो स्वीकारते ही हैं कि—

"It assumes that a single photon of light is strong enough to power the chemical and

electrical processes that actually produce the sensation of vision in the brain. But one photon could not do that. It is far too weak; just to provide dim light from a small flashlight requires billions and billions of photons per second. Scientists are certain that the pigment reaction must be amplified for any perception of vision to occur. As yet, they do not know how this amplification takes place in eye. George Wald of Harvard's Biological Laboratories has suggested two possibilities. It may be that the absorption of photon activates chemical boosters—enzymes—in the pigment. These enzymes may then able to generate far greater amounts of energy than the original molecule could produce by itself."

(लाईट् एंड् वीज़न् पृ.८०).

एक और यान्त्रिकी प्रक्रिया फोटोरिसेप्टर्स्में फोटॉन कणों द्वारा छिद्रीकरण (punching) की भी प्रस्तावित की गयी है. इनमें, परन्तु, प्रथम प्रक्रियाके सन्दर्भमें तो अविकृतपरिणामवादानुसारी अभिन्ननिमित्तोपादान-वाली उत्पत्तिप्रक्रियाकी संगति सर्वथा सोची ही जा सकती है. द्वितीय प्रक्रिया कुछ दुरूह लगती है तथा अभिन्ननिमित्तोपादानकारणताके विचारपर आश्रित न हो कर केवल निमित्तकारणताके विचारपर आश्रित प्रतीत होती है.

प्रकृतानुसरणार्थ श्वेताश्वतरोपनिषद्के "**यः एको अवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णान् अनेकान् निहितार्थो दधाति वि चैति च अन्ते विश्वम् आदौ स देवः**" (श्वेता.उप.४।१) तथा "**सप्त युञ्जन्ति रथम् एकचक्रम्**

एको अश्वो वहति सप्तनामा, त्रिनाभि चक्रम् अजरम् अनर्वं येन इमा विश्वाः भुवनानि तस्थुः...श्वेतो रश्मिः परि सर्वं बभूव'' (तैत्ति.आर.३।११।८-१०) इन श्रुतिवचनोंके अवलोकन करनेपर अवर्णका सर्ववर्णभावापन्न होना तथा श्वेतरश्मि सूर्यकी रश्मिओंका ही सप्तवर्णी भी होना ईसाके १८वें शतकमें हुवे इस्साक न्यूटन्से बहुत पहले वेदोंमें प्रतिपादित था ही. न्यूटन्के प्रसिद्ध प्रयोग कि त्रिपार्श्व काचमेंसे सूर्यरश्मिके निःसारण किये जानेपर श्वेतरश्मिमें से सभी रंगोंकी किरणें पृथक् हो कर बाहर प्रकट हो जाती हैं. यह प्रसिद्ध वृत्तान्त है. अतः प्रातिकूल्येन, अर्थात्, अन्ते व्येति च विश्वम्'' (यथोद्धृत) इस प्रक्रियाके नेत्रमें सम्पन्न न होनेपर तमस्की अनुभूतिका ऊह सरलतया सम्पन्न किया जा सकता है. परन्तु यह कथा वस्तुतः इतनी सरल नहीं है. क्योंकि तमस् जैसे कृष्णवर्णी होता है वैसे ही चक्षुर्ग्राह्य वस्तुओंके प्रकाशसंयुक्त होनेपर भी कृष्णवर्णकी अनुभूति भी होती ही है. अतः उस कृष्णवर्ण और तमस्के कृष्णवर्ण के बीच रहे अन्तरका और उसके चाक्षुष प्रत्यक्षका विमर्श भी यहां आवश्यक हो जाता है.

सी.जी.म्यूलर् तथा माए रुडोल्फ् अपने पूर्वोद्धृत ग्रन्थमें कहते हैं कि मनुष्यके नेत्रके भीतर प्रकाशसंवेदनशील तत्त्व दो तरहके होते हैं : १.शलाका तथा २.शंकु. शलाका सीधी तथा महीन होती हैं, जबकि शंकु कुछ अधिक फूले-फूले से महीन गुब्बारे जैसे होते हैं. ये दोनों हमारे दृष्टिपटलके पार्श्वमें एक साथ ठुंसे हुवे भरे रहते हैं—करीब तेरह करोड़की संख्यामें एक छोटी सी डाककी टिकिटके जितनी जगहमें भरे रहते हैं. और क्योंकि अन्य भी कयी पशुओंकी तरह मनुष्य भी दिन और रात दोनों तरहके दृश्यजगत्में जीनेवाला प्राणी है. अतः नृचक्षुमें करीब ७० लाख शंकु तीव्र चमकीले प्रकाशके सुविशद परीक्षणार्थ भरे रहते हैं और महीन शलाका तो इनसे अट्ठारह गुनी ज्यादा मन्दप्रकाशके अधिग्रहणार्थ भरी रहती हैं. जैसे केमराके भीतर यथेच्छ श्वेतकृष्ण या रंगीन फिल्म भरी जा सकती हैं, ठीक

उसी तरह ये शलाकायें मुख्यतया दृश्यवस्तुके श्वेतकृष्णवर्णकी ग्राहिका होती हैं और शंकु मुख्यतया विविध वर्णी दृश्यके ग्राहक होते हैं. फिरभी शंकु पीतिमायुक्त हरित् वर्णी दृश्यतरंगके विशेषतया ग्राहक होते हैं, जबकि शलाकायें गौणतया नीलिमायुक्त हरित् वर्णके दृश्यतरंगके प्रति भी अपनी संवेदनशीलता प्रकट करती हैं. अतएव रक्तिम पुष्प तथा नील पुष्प दिनके प्रकाशमें समानतया चमकीले लगते हैं जबकि रात्रिके धुंधलकेमें दोनों वर्णोंकी चमक कम हो जाती है (तत्रैव पृ.७६-७७). यहां यह उल्लेखनीय हो जाता है कि आधुनिक विज्ञानके अनुसार मौलिक वर्ण या तो लोहित हरित् और नील होते या लोहित पीत हरित् और नील माने गये हैं. वैसे १८वीं शताब्दिके मोज़ेस् हेरिस्ने अपने वर्णव्यवस्थाद्योतक चक्राकार कोष्ठकमें परस्पर मिश्रणवश [१]रक्त [२]केसर-रक्त [३]रक्त-केसर [४]केसर [५]पीत-केसर [६]केसरी-पीत [७]पीत [८]हरित्-पीत [९]पीत-हरित् [१०]हरित् [११]नील-हरित् [१२]हरित्-नील [१३]नील [१४]पतंगी-नील [१५]नील-पतंगी [१६]पतंगी [१७]रक्त-पतंगी [१८]पतंगी-रक्त (तत्रैव पृ.१२९) वर्णोंके भेदोपभेद दिखलाये थे. अतः यहां अवधेय है कि श्वेत और कृष्ण को वर्ण नहीं माना गया है. क्योंकि सर्वविध वर्णोंकी प्रकाशतरंगोंके समाहारसे जन्य चाक्षुष अनुभूतिमें श्वेतका अवभासन होता है तथा सर्वविध प्रकाशतरंगोंमेंसे किसी भी प्रकारकी प्रकाशतरंगके नेत्रपटल तक प्रविष्ट न हो पानेपर कृष्णवर्णका अवभासन होता माना गया है. सी.जी.म्यूलर् तथा माए रुडोल्फ् कहते हैं कि—

> "Light is the only source of color in the world. The ripest tomato, the most spectacular peacock, the gaudiest clown's costume—all are merely reflectors, absorbers and transmitters of one or more colors that make up light. Without it, not even the faintest color exists... This is not an easy concept to accept because color seems an

inherent part of everything man sees... If light is only source of color, how does nature achieve it's endlessly divert palette, and how does man get the remarkable effects he does with color? The answer to these questions lie in the nature of and interrelatioship of three elements: light, the source of color; the material and it's response to color; and the eye, the perceiver of color." (लाईट् एंड् वीज़न् पृ.९७).

यों इन सभी रंगोंकी तरंगोंके एक साथ नेत्रपटलमें प्रविष्ट होनेपर श्वेतवर्ण गृहीत होता है और इनमेंसे किसी लम्बाईकी कोई भी तरंग जब दृष्टिपटल तक पहुंच नहीं पाती तो वहां कृष्णवर्ण गृहीत हो जाता है.

ऐसी स्थितिमें जहां तमस् गृहीत होता है वहां वस्तुतः प्रकाशका अभाव नहीं प्रत्युत समूचा प्रकाश वहां अन्तःशोषित रहता है. अतएव अन्यान्य प्रकाशतरंगोंके मध्यमें इस श्वेतप्रकाश — चक्षुर्ग्राह्य सर्वविध प्रकाशतरंगोंके समाहार — का अन्तःशोषण कृष्णवर्णात्मना गृहीत होता है. जबकि कृष्णवर्ण जहां भासित हो रहा हो उसके चतुर्दिक् अन्यान्य प्रकाशतरंगोंका भी परावर्तन तथा दृष्टिपटल तक अन्तःप्रवेश यदि सम्पन्न नहीं हो पाता तब वहां तमस् या अन्धकार भासित होने लगता है. किसी वस्तुतलपर प्रकाशतरंगोंके प्रक्षेपण या संयोग के बाद उस वस्तुतल द्वारा प्रकाशका अन्तःशोषण होनेपर प्रकाशतरंगोंका अभाव(=असत्त्व) घटित हो जाता है कि तिरोभाव(सत्त्व होनेपर भी अनुभवागोचरता या सत्त्व होनेपर निज अर्थक्रियाकी अकारिता) यह न्याय-वैशेषिक मत तथा वाल्लभ वेदान्तके बीच विवादग्रस्त विषय हो सकता है. उभय न्याय-वैशेषिक तथा वाल्लभ वेदान्त को, किन्तु, अभिमत प्रकाशसंयुक्त वस्तुके साथ

चक्षुसंयोगके सम्पन्न होनेपर वस्तुके चाक्षुष प्रत्यक्षकी प्रक्रिया आधुनिक विज्ञानको मान्य नहीं है. क्योंकि आधुनिक विज्ञान चक्षुको प्राप्यकारी नहीं मानता. प्रत्युत वस्तुके साथ प्रकाशसंयोग सम्पन्न होनेपर वस्तुद्वारा अवशोषित प्रकाशतरंगोंके अलावा जिन प्रकाशतरंगोंका वस्तुतल द्वारा प्रतिक्षेपण होता है वे परावृत हो कर हमारी चक्षुमें प्रविष्ट हो कर वस्तुका चाक्षुष प्रत्यक्ष प्रकट करती हैं. यह प्रत्यक्षसिद्धतया सर्वथा निर्विवाद सिद्ध अब माना जाना चाहिये. ऐसी स्थितिमें पूर्वनिरूपित प्रक्रियाके अनुसार किसी वस्तुके कृष्णवर्णका चाक्षुष अनुभव तथा तमस्के कृष्णवर्णी होनेका चाक्षुष अनुभव यों दोनोंके बीच सम्पन्न होती अनुभूतिप्रक्रियाओंमें यत्किञ्चित् पार्थक्य तथा अधिकांशमें अपार्थक्य अर्थात् प्रकाशके अपरावर्तनवश नेत्रगोलकान्तर्गत नेत्रपटलान्तःस्थित शलाकाओंका अनुद्दीपन ही कृष्णवर्णोपेत भौतिक वस्तु या अन्धकार की अनुभूतिका जनक होता है.

सी.जे.म्यूलर् तथा माए रुडोल्फ् का यह भी कहना है कि वर्णचाक्षुष प्रत्यक्षके बारेमें प्रयोगों द्वारा यह निर्धारित हो गया है कि लाल और हरे रंगोंका पार्थक्य मन्दप्रकाशमें भी सम्भव है जबकि नीले और पीले रंगोंका पार्थक्य मन्दप्रकाशमें जान पाना उतना सरल नहीं होता. जबकि तीव्रप्रकाशमें नीलपीत वर्णोंका पार्थक्य कुछ अधिक ही प्रकटतया भासित होता है. वैसे किसी वर्णपर नयनोंको अत्यधिक ध्यानैकाग्र बनानेपर वह उस वर्णके प्रति हमारे मस्तिष्ककी रुचिको क्षीण बना देता है. और वहां दृष्टिगोचर होता वर्ण या तो ओझल होने लगता है या फिर सिलेटी (श्वेतश्याममिश्रणजन्य=gray) वर्णका ही आभास प्रकट होने लग जाता है. यद्यपि प्रस्तुत आलेखकारको ऐसी अनुभूति होती नहीं है परन्तु सी.जे.म्यूलर् तथा माए रुडोल्फ् का यह भी कहना है कि अतएव गहन अन्धकारमें हमारी दृष्टि घना सिलेटी रंग ही देख पाती है कृष्णवर्ण नहीं! क्योंकि कृष्णवर्ण या तो अन्य वर्णोंके साहचर्य या उनके अनुवर्तन के रूपमें ही अनुभूत

होता है. अतः इनका कहना है कि "For black does not exist except as a sensation that accompanies or follows other colors; the lighter those colors are, the the deeper the black that will appear. Black is blackest in contrast to white" (लाईट् एंड वीज़न् पृ.१३६).

मूलमें भारतीय वर्णानुभूतिकी रीतिमें न तो नीले और काले रंगोंके बीच शब्दान्तरोंकी कोई व्यवस्था है और नहीं वर्णोंके भेदोपभेदोंके ही बहुत सुव्यवस्थित नामकरण किये गये उपलब्ध होते हैं. परिणामतया *"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते"* के नियमानुसार वर्णचाक्षुष प्रत्यक्षमें भी थोड़ी-बहुत असमञ्जसता हमारी अनुभूतिमें झलकती ही है; और, इसका प्रत्याख्यान शक्य नहीं! यह हम देख सकते हैं कि इन्द्रनील मणिकी नीलिमा, गगनकी नीलिमा, पिरोजा मणिकी नीलिमा, तमालवृक्षकी नीलिमा, नील घटकी नीलिमा, गज-महिष-काकादि प्राणिओंकी नीलिमा, अन्धकारकी नीलिमा आदि अनेक वर्णोंके आभासोंके लिये एक ही 'नीलिमा' शब्द प्रयुक्त होता हुवा हम पाते हैं!

किसी भी सूरतमें इतना तो स्पष्ट ही है कि Photon प्रकाशकणोंके अंशत या सर्वांश में अवशोषण हो जानेकी सूचना नृचक्षु कृष्णवर्णके आभासन द्वारा देती है. एतावता अन्यान्य तरंगोंका भी अवशोषण हुवा मान नहीं लेना चाहिये. अब स्टीफेन् हॉकिंग् तो यहां तक प्रतिपादन करने उद्यत हुवे हैं कि अन्तरिक्षमें अवस्थित आसन्नात्मविलय 'कृष्णगर्ता'ख्य Black Holes पिण्ड भी सर्वात्मना सर्वविध तरंगोंका अन्तःशोषण नहीं करते हैं.

स्टीफेन् हॉकिंग् कहते हैं—

"The idea of radiation from black holes was the first example of a prediction that depended

in an essential way on both the great theories of this century, general relativity and quantum mechanics... However, in the end most people... have come to conclusion that black holes must radiate like hot bodies, if our other ideas of general relativity and quantum mechanics are correct. Thus even though we have not yet managed to find a primordial black hole, there is fairly general agreement that if we did, it would be emitting a lot of gamma rays and X rays."

(अ ब्रीफ हिस्टरी ऑफ टाईम् पृ.११९).

यह एक विस्मयजनक साम्य है कि वेदान्त तथा सांख्य सिद्धान्तोंको अभिमत उत्पत्ति-स्थिति-लयके नियामक रजस्सत्त्वतमो गुणोंके रक्त श्वेत तथा कृष्ण वर्णोंका निरूपण आधुनिक विज्ञान भी प्रकारान्तरसे स्वीकारता है. मूलतः निहारिकाओंमें बिखरी हुयी गेस और रेणु के बड़े-बड़े मेघोंमें जब कहीं आन्तरिक परस्पराकर्षणवशात् एकत्रित हो कर संपिण्डित होनेकी प्रक्रिया शुरु होती है तब आकाशीय पिण्डों या ताराओं का निर्माण होता है. अतः उन तारापिण्डोंके केन्द्रमें हायड्रॉजन् गेस्के कण पिस-पिस कर हीलियम् गेस्में रूपान्तरित होने लगते हैं. उन पिण्डोंकी यह अवस्था करीब दस खर्व वर्षों तक चलती बतायी जाती है. हमारा सूर्य, आधुनिक विज्ञानके अनुसार, अभी इसी अवस्थामें ही वर्तमान है. परन्तु जब सारा हायड्रॉज़न् जल जाता है तब वह प्रज्वलनशील तारापिण्ड विराट चमकीले रक्तिम पिण्डका रूप धारण कर लेता है. वही शनैः-शनैः क्षीण हो कर श्वेत वामन पिण्ड बन जानेपर अन्तमें थंडा पड़ कर तथा सिकुड़ कर राखके एक कृष्णवर्णी वामन गोलाके रूपमें शेष रह जाता है. परन्तु अधिक द्रव्ययुक्त पिण्ड श्वेत वामन अवस्था प्राप्त करनेसे पूर्व ही आन्तरिक विस्फोट द्वारा अत्यधिक

घनीभूत न्यूट्रॉन् तारा बन जाते हैं. और तब इनके भीतर प्रत्यापत्तिकी प्रक्रिया आरब्ध होने लगती है. यह बहुत कुछ उसी तरहकी होती है जैसी कि सुबालोपनिषद्के—

> "सो अन्ते वैश्वानरो भूत्वा सन्दग्ध्वा सर्वाणि भूतानि, पृथिवी अप्सु प्रलीयते, आपः तेजसि प्रलीयन्ते, तेजो वायौ विलीयते, वायुः आकाशे, आकाशम् इन्द्रियेषु, इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु, तन्मात्राणि भूतादौ विलीयन्ते, भूतादिः महति, महान् अव्यक्ते, अव्यक्तम् अक्षरे, अक्षरं तमसि, तमः परे देवे एकीभवति. परस्ताद् न सत् न असद् न सदसद् इत्येतद् निर्वाणानुशासनम् इति वेदानुशासनम् इति".
>
> (सुबा.उप.२)

—वचनमें ब्रह्मके बारेमें निरूपित हुयी है. और तब इसे 'कृष्णगर्त' Black Hole कहा जाता है. अन्तर इस कृष्णगर्तके तमस् और ब्रह्मकी योगनिद्रारूप तमस् के बीच इतना ही है कि ब्रह्माण्डमें कृष्णगर्त तो अनेकानेक सम्भव हैं. प्रत्यापत्त्याश्रय ब्रह्म, किन्तु, एकमेवाद्वितीय होनेसे उसके आधिदैविक तमस्के बाहर कुछ भी शेष बच नहीं सकता.

इस मुद्देको उपसंहृत करनेसे पहले नासाके भूतपूर्व प्रसिद्ध वैज्ञानिक कार्ल् सेगान्की एक उक्ति दोहराना चाहूंगा—

> "The Hindu religion is the only one of the world's great faiths dedicated to the idea that the Cosmos itself undergoes an immense, indeed an infinite, number of deaths and rebirths. It is the only religion in which the time scales correspond, no doubt by accident, to those of modern scientific

cosmology. It's cycle run from our ordinary day and night to the day and night of Brahma, 8.64 billion years long, longer than the age of Earth or Sun and about half the time of since the Big Bang. And there are much longer time scale still'' (कॉस्मोस् पृ.२५८).

अतः इस कृष्णगर्तरूप आधिभौतिक तमस्की ब्राह्मिक अलौकिक तमस्के साथ कोई तुलना अन्यथा शक्य नहीं सिवाय कि प्रत्यापत्ति और पुनः नूतन व्युच्चरण के (द्रष्ट. : ''यथा अग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिङ्गाः व्युच्चरन्ति एवमेव अस्माद् आत्मनः सर्वे... लोकाः... व्युच्चरन्ति'' बृह.उप.२।१।२०). आधुनिक विज्ञानमें भी इसे व्युच्चरण और प्रत्यापत्ति का चक्र माना गया है. अतः समूचे श्रौत चिन्तनकी व्याख्या आधुनिक शब्दावलीमें करनी हो तो न तो अपने यहां 'बिग बेंग थिअरी' है और न 'एक्स्पांडिंग् युनिवर्स् थिअरी' ही. क्योंकि श्रौत चिन्तन तो 'पल्सेट् थिअरी'को अपना कर चला है. अतएव न इस योगनिद्रारूप आधिदैविक तमस्का, न व्यामोहिका मायासे जन्य आध्यात्मिक तमस्का; और न आधिभौतिक तमस्का ही एकान्तिक या आत्यन्तिक निरसन वाल्लभ वेदान्तको अभिमत प्रक्रिया है. हां, चक्रान्तःपाति आपेक्षिक निरसन ही उपनिषद् भगवद्गीता और पुराणोंके आधारपर सिद्ध होता होनेसे वाल्लभ वेदान्तमें मान्य रखा गया है. एतावता सिद्ध हो जाता है कि किसी विशेष चक्रान्तःपातितया तमस्का निरसन शक्य होनेपर भी वह आत्यन्तिक निरसन न होनेसे तमस् भी ब्रह्मकी तरह स्वरूपतो नित्य अर्थात् नित्यसिद्ध न होनेपर भी प्रवाहतो नित्य अर्थात् आविर्भाव-तिरोभावशाली होनेसे कथञ्चित् तो नित्य होता ही है.

श्वेताश्वतरोपनिषद्में एक अतीव श्रवणीय उद्घोष हमें यह मिलता है कि ''**कालः स्वभावो नियतिः यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुषः इति,**

चिन्त्याः, संयोगः एषां नतु आत्मभावाद् आत्मापि अनीशः सुखदुःखहेतोः. ते ध्यानयोगानुगताः अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैः निगूढां, यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तानि अधितिष्ठति एकः.'' (श्वेता.उप.१।२-३) अर्थात् काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, स्थूलतया व्यक्त पाञ्चभौतिक द्रव्य, अव्यक्त प्रकृति, पुरुष; अथवा, इनका परस्पर संयोग, इनमें किसीका भी अस्वीकार किये बिना इन सभीको किसी परदेवताकी आत्मशक्ति द्वारा अधिष्ठित मान गया है. एक ऐसा देवता कि जो स्वयंको स्वयंके गुणों द्वारा निगूढ़ रखता है. यह एक उपनिषदभिमत प्रक्रिया है. ठीक इसी तरह आधुनिक वैज्ञानिकोंमें भी सभी पदार्थों और प्रक्रियाओं के एकीकरण द्वारा किसी एक प्रमेयको खोज अब जोर पकड़ती जा रही है.

अतएव विविध तरंगोंके एकीकरणकी प्रक्रियासे उत्साहित हो कर महा-एकीकरणकी प्रक्रियाकी खोजमें आधुनिक वैज्ञानिक भी जुटे हुवे हैं. इस विषयमें स्टीफेन् हॉकिंग्के कुछ उद्गारोंको उद्धृत करनेके लोभका संवरण शक्य न होनेसे करना चाहूंगा —

> "The success of the unification of the electromagnetic and weak nuclear forces led to a number of of attempts to combine these two forces with the strong nuclear force into what is called a grand unified theory (or GUT)"(p.79).
>
> "GUTs allow quarks to change into antielectron at high energy. The also allow the reverse process, antiquarks turning into elctrons and antielectrons into antiquarks and quarks" (p.82).
>
> "The uncertainty principle is a fundamental feature of the universe we live in. A successful

unified theory must therefore neccessarily incorporate this principle." (p.164).

"But can there really be such a unified theory? Or are we perhaps just chasing a mirage? There seems to be three possibilities: 1.There really is a complete unified theory, which we will someday discover if we are smart enough. 2.There is no ultimate theory of universe, just an infinite sequence of theories that describe the universe more and more accurately. 3.There is no theory of the universe; events cannot be predicted beyond a certain extent but occur in a random and arbitrary manner." (P.176).

"However, if we do discover a complete theory, it should in time be undrestandable in broad principle by everyone, not just a few scientists. Then we shall all, philosophers, scientists, and just ordinary people, be able to take part in the discussion of the question of why it is that we and the universe exist. If we find the answer to that, it would be the ultimate triumph of human reason—for then we would know the mind of God."(p.185).

हमने देखा कि कैसे उपनिषद् अनेक कारणोंको एक ब्रह्मके रूपमें एकीकृत बना कर अद्वैतकी प्रक्रिया प्रस्तुत करते हैं. उपनिषदोंमें हमे यह भी देखनेको मिलता है कि कैसे एकमेवाद्वितीय ब्रह्म ही प्रकटाप्रकट वाच्यावाच्य विज्ञान-अविज्ञान सत्य-अनृत मूर्तामूर्त व्यक्ताव्यक्त साधार-निराधार मर्त्यामृत

स्थिरास्थिर ही नहीं प्रत्युत ज्योति-तमस् रूपात्मना भी रूपान्तरित होता है. स्वयं श्वेताश्वतरोपनिषद्में ही यह स्पष्टीकरण भी हम पाते हैं कि यदृच्छा अर्थात् princple of uncertainty भी ब्रह्मकी किसी शक्तिविशेषका ही एक अनुभाव है. ब्रह्माण्डकी सम्पूर्ण व्याख्याके लिये प्रवृत्त होनेवाले सिद्धान्तोंके बारेमें भी जो तीन तरहकी उत्प्रेक्षा स्टीफेन् हॉकिंग् करते हैं, उसके सन्दर्भमें तो महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके ये उद्गार ही दोहराना चाहूंगा कि ''**सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तद् अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च विरुद्धसर्वधर्माणाम् आश्रयं युक्त्यगोचरम्**'' (त.दी.नि.१।७०-७१). रहा अन्तिम मुद्दा कि क्यों हमारा अस्तित्व है और क्यों इस ब्रह्माण्डका अस्तित्व है? इस प्रश्नके उत्तरतया तैत्तिरीयोपनिषद्के ''**असन्नेव स भवति असद् ब्रह्म इति वेद चेद् अस्ति ब्रह्म इति चेद् वेद सन्तम् एनं ततो विदुः इति**'' (तैत्ति.उप.२।६) वचन ही अविस्मर्तव्य लगता है. क्योंकि जो सम्भावित तथा अनुभूत सभी पदार्थोंका एकीकृत महापदार्थ (द्रष्ट. : ''**परे अव्यये सर्वे एकीभवन्ति**'' : मुण्ड.उप.३।२।७) हो उसे अस्वीकृत करना स्वयं अपने-आपका अस्वीकार है.

यों आधिभौतिक प्रकाशतिरोधानवश प्रकट होता तमस् यदि प्रकाशाभावरूप न हो तो; और, वह ब्रह्मकी ही तरह स्वरूपतो नित्यसिद्ध न होनेपर भी प्रवाहतया तो नित्य ही हो तो, उसकी स्वप्रतिपन्नोपाधिमें त्रैकालिकी निषेधप्रतियोगिता भी सिद्ध नहीं हो पायेगी. ऐसी स्थितिमें ''ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च आत्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायां यथा आभासो यथा तमः'' (भाग.पुरा.२।९।३३) इस वचनकी क्या संगति? क्योंकि प्रकाशका तिरोभाव हमारी चेतनामें होती अनुभूतिमें प्रकट नहीं होता और तमस् तो जो प्रकटतया अनुभूत होता ही है, उसकी अनुभूयमान बाह्य अर्थतया सत्ता सिद्ध भी नहीं होती. इस प्रश्नके समाधानार्थ, अब, तमस्का एक असत् परन्तु व्यामोहिका माया द्वारा प्रदर्शित रूप भी पुरस्करणीय बनता है. तदर्थ निष्कर्षतया

मूल विषयपर लोटनेको साथ ही साथ गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमविरचित अवतारवादावलीके अन्तर्गत अन्धकारवादकी भी संगति विचारनेको अब उद्यत हुवा जा सकता है.

(५.मायिक तमस्का स्वरूप)

श्रौतसन्दर्भ : व्यामोहिका माया द्वारा प्रदर्शित असत् तमस्का स्वरूप :

> ''मायया अन्यदिव स वा एष आत्मा. परएव एषएव सर्वम्. तथाहि प्राज्ञे सैषा अविद्या जगत् सर्वम्. आत्मा परमात्मैव स्वप्रकाशोऽपि अविषयज्ञानत्वाद् जानन्नेव हि अत्र न विजानाति. अनुभूतेः माया च तमोरूपा. अनुभूतेः तदेतद् जडं मोहात्मकम् अनन्तं तुच्छम् इदं रूपम् अस्य, अस्य व्यञ्जिका नित्यनिवृत्तापि मूढैः आत्मेव दृष्टा. अस्य त्वम् असत्त्वं च दर्शयति सिद्धत्वासिद्धत्वाभ्यां स्वतन्त्रास्वतन्त्रत्वेन सैषा वटबीजसामान्यवद् अनेकवटशक्तिः एकैव. तद्यथा वटबीजसामान्यम् एकम् अनेकान् स्वाव्यतिरिक्तान् वटान् बीजान् उत्पाद्य तत्र-तत्र पूर्णं सत् तिष्ठति एवमेव एषा माया स्वाव्यतिरिक्तानि परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशौ आभासेन करोति. माया च अविद्या च स्वयमेव भवति.''
>
> (नृसिं.उत्त.ताप.उप.९).

यहां यही बात मुख्यतया अवधेय है कि इस लोकसृष्टिसे पृथक् कुछ दिव्य नाम-रूप-कर्म ऐसे भी ब्रह्ममें प्रकट होते हैं कि जिनमें ब्रह्मके सच्चिदानन्द स्वरूपका अनुगम प्रकटतया शास्त्रनिर्दिष्ट है. कुछ लौकिक नाम-रूप-कर्म ऐसे भी ब्रह्ममें प्रकट होते हैं कि जिनमें सच्चिदानन्द ब्रह्मके केवल सदंशका ही अनुगम प्रत्यक्षसिद्ध, श्रुतिसिद्ध (द्रष्ट. : ''सन्मूलाः, सोम्य!, इमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः'', ''नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा 'अस्ति' इति ब्रुवतो अन्यत्र कथं तद् उपलभ्यते!'' — छान्दो.उप.६।८।६,कठोप.२।३।१२) तथा

ब्रह्मज्ञानियोंके ब्रह्मसाक्षात्कार द्वारा भी निरूपित होता पाया जाता है. परन्तु न केवल श्रुतिवचनोंमें अपितु उल्लिखित भागवतपुराणके वचनोंमें भी कुछ नाम-रूप-कर्मोंमें ब्रह्मका सदंश भी न तो उपादानकारण बनता है और न उनकी लौकिक अनुभूतियोंके बलपर भी किसी तरहका सत्त्व वहां भासित होता है. इस लीलात्रैविध्यको महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण यों दरसाते हैं "**नमो भगवते तस्मै कृष्णाय अद्भुतकर्मणे [1]रूपनामविभेदेन यः क्रीडति [2]रूपनामविभेदेन यो जगद् (भूत्वा) क्रीडति [3]रूपनामविभेदेन यतो जगत् (क्रीडति)-इति क्रीडायां स्वातन्त्र्यम् उक्तं, निर्लेपत्वाय एतादृशं जगद् यतः इति**" (त.दी.नि.१।१). अतः कुछ नाम रूप तथा कर्म ऐसे भी होते हैं जो ब्रह्मकी केवल निमित्तकारणताके वश प्रकट होते हैं. इनमें ब्रह्मका स्वरूप नहीं केवल व्यामोहक सामर्थ्य ही झलकता है. इस सामर्थ्यको ही वाल्लभ वेदान्तमें व्यामोहिका माया माना गया है. तमस् हमें किसी प्रकाशविशेषके *तिरोभाव*के रूपमें झलकता दिखलायी नहीं देता प्रत्युत *"नीलं तमः चलति"* यों चलनकर्मयुक्त, नीलरूपयुक्त तथा 'तमो'नाम्ना अभिहित एक विलक्षण पदार्थके रूपमें चाक्षुष अनुभूतिका गोचर बनता है. इसे ही "ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च आत्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायां यथा आभासो यथा तमः" (भाग.पुरा.२।९।३३) वचनमें बाह्यार्थविहीन मिथ्या अनुभूतिके उदाहरणतया माना गया है. अतएव महाप्रभु कहते हैं—

> " **'तद् विद्याद् आत्मनो मायाम्' इति यस्मात् कारणात् अविद्यमानमेव बोधयति विद्यमानं च न बोधयति तस्मात् कारणात् तां मायामेव विद्यात्. नहि विषयः चक्षुः वा नियतस्वभावम् अन्यथाप्रतीतिहेतुः भवति... ननु मायायाः कथम् एवं पदार्थजनकत्वं व्यामोहजनकत्वमेव तस्याः! नच विषयातिरिक्ता विषयता क्वचिद् उपलब्धा इति आशंक्य आह 'यथा तमः' इति. यथा अन्धकारः पदार्थः तेजोऽभावे* जन्यते. यत्रैव तेजोऽभावः तत्रैव अन्धकारं जनयति माया.

इयमेव व्यामोहिका. अतएव दिवाभीतान् प्रति न अन्धकारं जनयति. तेतु तेजोऽभावमेव गृह्णन्ति. तेषां दृष्टेः कोमलत्वात् बलवत्तेजो दृष्टिप्रतिबन्धकं भवति. तदभावे सुखेन विषयान् गृह्णन्ति... 'यथा हि भानोः उदयो नृचक्षुषाम्' इति वाक्ये चक्षुःसम्बन्धिनएव तमसो नाशकत्वं नतु स्वभावतः किञ्चित् तमो अन्यथा स्पर्शेनापि ज्ञाने तत् प्रतिबन्धकं स्यात्; स्पर्शेन वा तद् गृह्येत''(भाग.सुबो.२।९।३३).

यहां महाप्रभुको 'अभाव'पदका जो अर्थ अभिप्रेत है उसका उनके ही शब्दोंमें — ''अभावास्तु अस्मन्मते तिरोभावातिरिक्ताः न भवन्ति'' (भाग.सुबो.२।९।३२) अनुसन्धान कर लेना उचित होगा. एतावता यह फलित हुवा कि भगवत्प्रकटित नाम-रूप-कर्मोंके आधिदैविक आध्यात्मिक आधिभौतिक प्रभेदोंकी तरह एक प्रभेद मायिक भी वाल्लभ वेदान्तमें स्वीकारा गया है, शास्त्रवचनोंके प्रामाण्यके अनुरोधवश ही.

संक्षेपमें पुनः तेजोद्रव्यका तिरोभाव तमस्का एक आधिभौतिक रूप है जो वास्तविक होता है. इसी तरह तेजोद्रव्यके तिरोभाववश हमारी बुद्धिमें, या आधुनिक शब्दावलीमें कहना हो तो मस्तिष्कमें, विषयवस्तुविहीन घटित होती प्रतीति भी तमस्का एक मायिक रूप होता है. इसे तमस्को असत् माना गया है. भागवतपुराणगत ''छायाप्रत्याह्वयाभासाः हि असन्तोऽपि अर्थकारिणः'' (भाग.पुरा.११।२८।५) वचनके आधारपर. इस और ऐसे अन्य भी अनेक व्यामोहकमायावभासित पदार्थोंकी न केवल प्रतीतिभास्यता अपितु असत् होनेपर भी अर्थक्रियाकारिता वाल्लभ वेदान्तमें मान्य रखी गयी है.

अतएव *अद्वैतसिद्धि*में निरूपित पञ्चविध मिथ्यात्वमें से इस तमस् और ऐसे अन्य भी व्यामोहकमायाप्रदर्शित पदार्थोंके मिथ्यात्वके स्वरूपके बारेमें यह स्पष्टीकरण अब आवश्यक हो जाता है कि [१]''सदसद्वैलक्षण्य',

[२]'स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकलिकनिषेधप्रतियोगित्व', [३]'ज्ञाननिवर्त्यत्व', [४]'स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व' अथवा [५]'सद्विविक्तत्व' मेंसे द्वितीय तथा पञ्चम लक्षणानुरूप मिथ्यात्व इन मायिक पदार्थोंका अङ्गीकार करनेमें वाल्लभ वेदान्तको भी कोई आपत्तिजनक कथा नहीं लगती.

परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, तृतीय कोटि मान्य न होनेसे, अवशिष्ट [१]'सदसद्वैलक्षण्य'रूप मिथ्यात्व वाल्लभ वेदान्तमें स्वीकरणीय नहीं. [३]'ज्ञाननिवर्त्यत्व'रूप मिथ्यात्व वाल्लभ वेदान्तको इस लिये अस्वीकरणीय लगेगा कि ब्रह्मज्ञानके प्रकट होनेपर जागतिक द्वैत निवृत्त नहीं होता परन्तु इस भगवदिच्छाप्रकटित द्वैत या अनेकता में ब्रह्मैक्यके प्रतिभासनवशात् **''सर्वं खलु इदं ब्रह्म''**, **'ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्''** (छान्दो.उप.३।१४।१, ६।१२।७) वचनोक्त उपासना न केवल फलवती अपितु प्रमापिता भी बन जाती है. अतः आधिदैविक आध्यात्मिक या आधिभौतिक प्रकारके तमस् भी बाधित होनेके बजाय ब्रह्मात्मकतया अवभासित होने लगते हैं. अतएव [४]'स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व' लक्षणके बारेमें भी यह अवधेय हो जाता है कि 'स्व'पदवाच्य मिथ्या तमस्को असत् माना जाता होनेसे स्वयं उसके असत् होनेके कारण उसका कोई आश्रय भी वस्तुतः तो हो नहीं सकता. यह तो बाह्य जगत्का कोई पदार्थ न हो कर हमारे आन्तरिक जगत् या केवल बुद्धिमें भासित होता पदार्थ है. अतः बौद्धिक प्रत्ययके रूपमें वह वस्तुतः बुद्धिमें प्रकट हुवा होनेपर भी यथास्वरूप अपने बाह्यालम्बनके विरहवशात् असत् माना गया है.

[२]'स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व'रूप मिथ्यात्वके बारेमें इन दोनों वेदान्तोंके बीच मतभेद जहां जहां प्रकट होता है, उसे अद्वैतसिद्धिकारके शब्दोंमें परखना हो तो **''सर्वत्र त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं यद्यपि तुच्छानिर्वाच्ययोः साधारणं तथापि 'क्वचिदपि उपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वम् अत्यन्तासत्त्वं' तच्च शुक्तिरूप्ये प्रपञ्चे च बाधात् पूर्वं**

नास्त्येवेति न तुच्छतापत्तिः'' (अद्वै.सि.१।द्वितीयमिथ्यात्वनिरुक्ति) यह विधान अनुसन्धेय है. यहां वाल्लभ वेदान्त यही कहना चाहेगा कि प्रातिभासिक तमोऽवभासन या शुक्तिरजतावभासन; अथवा, व्यावहारिक बाह्य घटपटादि वस्तुप्रपञ्च यों कहीं भी जहां निरुपाधिक भ्रान्ति होती है वहीं ज्ञानबाध्यता होती है. जैसा कि शुक्तिरजत और स्वप्न के उदाहरणोंमें परखा जा सकता है. परन्तु सोपाधिक भ्रान्तिके उदाहरणोंमें, यथा ''पीतः शंखः'' ''नीलं गगनम्'' ''नीलं तमः चलति'' या ''मरुमरीचिकायां जलम्'' अथवा देहात्मसम्बन्ध में भी यथायथ उपाधिओंके विलय बिना औपाधिक भ्रान्ति निवृत्त नहीं हो पाती. अतः सभी मिथ्यावभासित पदार्थ ज्ञाननिवर्त्य नहीं होते. अतः मिथ्यात्वका यह लक्षण इस मायिक तमस्के बारेमें वाल्लभ वेदान्तको स्वयं अपने अभिप्रेतार्थमें आपत्तिजनक नहीं लगता. इसी तरह ''सद्विविक्तत्व'रूप मिथ्यात्व भी स्वीकारनेमें वाल्लभ वेदान्तको कोई आपत्तिजनक कथा नहीं लगती, गीतोक्त ''न असतो विद्यते भावो न अभावो विद्यते'' (२।१६)नियमके साथ अपनी दृढ़ प्रतिबद्धताके वश ही.

(६.उपसंहार)

प्रस्तुत विषयके उपसंहारतया, अतः यह दोहरा देना आवश्यक है कि यद्यपि अवतारवादावलीकारविरचित अन्धकारवादमें तमस्के इन आधिदैविक आध्यात्मिक या आधिभौतिक स्वरूपोंके बारेमें कुछ भी नहीं कहा गया है तथापि तमस्के इन रूपोंका स्वीकार शास्त्रप्रामाण्यके अनुरोधवशात् मुझे अपरिहार्य लगता है. प्रस्तुत आलेख अतएव अन्धकारवादसे विरुद्ध कुछ प्रतिपादन करना नहीं चाहता फिरभी उसके साथ यह स्पष्टीकरण जोड़ना तो अवश्य चाहता है. इसमें यदि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणकी अभिमतिसे कुछ वैपरीत्य हो तो श्रीमदाचार्यचरण श्रीपुरुषोत्तमचरण एवं आप सभी विद्वज्जनोंसे इस अपराधकी क्षमाप्रार्थनाके साथ!

संगोष्ठ्युत्तरलेखनं

(प्रथमम्)

श्रीपुरुषोत्तमजीविरचित अवतारवादावलीमें अन्यख्यातिवादके बाद प्रतिबिम्बवाद और अन्धकारवाद के पृथक् प्रतिपादनकी कोई अपेक्षा होनी नहीं चाहिये थी, अन्यख्यातिके प्रतिपादनसे उनके गतार्थ होनेके कारण. अतः यह जिज्ञास्य लगता है कि इनके पृथक् प्रतिपादनका कोई प्रयोजनविशेष तो अवश्य ही होना चाहिये?

अर्थात् क्या प्रतिबिम्ब और तमस् अन्यख्यातिरूप भ्रान्तिज्ञानके विषय नहीं होते? यदि होते हों तो अन्यख्यातिके विचारसे इनका विचार गतार्थ मान लेना चाहिये था. यदि नहीं तो, इन्हें पृथक्तया मायिक प्रतिभास सिद्ध करनेका तथा अवस्तु माननेका हेतु क्या हो सकता है? क्यों इन्हें भी पुरोऽवस्थित गृह्यमाण वस्तुभूत अर्थसे अन्य किसी वस्तुका मायिक प्रतिभास नहीं मान लिया जाता? क्यों इन्हें न तो अभावरूप और न पुरोवस्थित वस्तुभूत अर्थसे भिन्न कोई अर्थ माना गया है?

इन आशंकाओंके निरसनार्थ सर्वप्रथम तो श्रीपुरुषोत्तमचरणविरचित प्रस्थानरत्नाकरगत प्रत्यक्षज्ञानकी करणरूप इन्द्रियोंकी व्यापाररूपा अलौकिक तथा लौकिक प्रत्यासत्तिओंका विमर्श आवश्यक हो जाता है. वहां ग्रन्थकारने यों दिखलाया है–

"तत्र इन्द्रियाणि उक्तानि. तेषां व्यापारो विचार्यते प्रत्यासत्तिरूपः. स तावत् लौकिकालौकिभेदेन द्विधा. तत्र अलौकिकः त्रिधा : (क)सामान्य- (ख)योगज- (ग)माया-भेदात्. (क)तत्र सामान्यम् अनुगताकारेण तद्व्यक्तिज्ञाने उपयुज्यते, तस्य तथात्वं च अनुभवसिद्धं, (ख)द्वितीयो अनागतातीतातीन्द्रियादि-वस्तुसाक्षात्कारे, भगवद्ध्यानादेरपि अत्रैव निवेशः, (ग)तृतीयातु अविद्यमानानां पदार्थानां बुद्धौ उपस्थापने... लौकिकस्तु पञ्चविधः : (क)संयोगः

(ख)तादात्म्यं (ग)संयुक्ततादात्म्यं (घ)संयुक्तविशेषणतादात्म्यं (ङ)स्वरूपं च. तत्र चक्षुषा द्रव्यग्रहे संयोगएव प्रत्यासत्तिः. केचित्तु इतरेन्द्रियावैलक्षण्यात् चक्षुषो अप्राप्यप्रकाशकारित्वं स्वीकृत्य दूरत्वव्यवधानाभावसहकृतयोग्यतामात्रेण प्रतीतिनिर्वाहात् तत्संयोगं न स्वीकुर्वन्ति. अन्येतु नेत्रेन्द्रियगोलकस्य स्वच्छत्वेन तत्र वस्तुनः प्रतिबिम्बे सति योग्यतामात्रेण मायाद्वारिकां प्राप्तिं स्वीकृत्य संयोगस्य द्वारत्वं खण्डयन्ति. तद् उभयपि असंगतं भगवता संयोगस्वीकारात् ''चक्षुः त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि तत्र मां मनसा ध्यायन् विश्वं पश्यति दूरतः'' (भाग.पुरा.११।१५।२०) इति एकादशे भगवद्वाक्यात्. अत्र तत्तत्प्रतियोगिकसंयोगद्वयनिरूपणेन योग्यता-प्रतिबिम्बपक्षानङ्गीकरणात्... प्रतिबिम्बस्तु अदण्डवारितत्वाद् भवति. तेन मायापि प्रत्यायतीति चक्षुषा भूयोज्ञानम् उत्पद्यते तेजस्संयोगबाहुल्यइवेति न तस्य गतार्थता... तस्माद् अस्ति चक्षुषः संयोगो द्रव्यग्रहणे व्यापारः. सएव योग्यगुणक्रियाजातिसाक्षात्कारेऽपि उपयुज्यते, तेषां वस्तुतो द्रव्याभिन्नत्वात्. संयुक्ततादात्म्यं वा अस्तु... मनस्तु बहिर्विषये स्वसंयोगद्वारकः इन्द्रियसंयोगादिः, स्वधर्माणाय ज्ञानसुखादीनां ग्रहणे तादात्म्यं, वृत्तीनां ग्रहणेतु वृत्तिस्वरूपमेव द्वारम्. तिरोभावस्तु इन्द्रियसंयुक्तविशेषणतया गृह्यते.'' (प्रस्था.रत्ना.प्रमाकर.कलो.तरं.तृती.)

एतावता यह सिद्ध होता है कि परिगणित प्रत्यासत्तिओंमेसे केवल मायारूपा प्रत्यासत्ति ही कहीं पुरोऽवस्थित गृह्यमाण वस्तुसे भिन्न किसी वस्तु या वस्तुधर्म की ग्राहिका बनती है तो कहीं सर्वथा असत् वस्तुकी ग्राहिका भी बन सकती है.

अतएव सृष्टिभेदवादमें ग्रन्थकारने जो चतुर्विध सृष्टिओंका प्रतिपादन किया है, तदनुसार, —

''एवं प्रपञ्चः सामान्यतः चतुर्धा सिद्धः : १. ब्रह्मणः स्वतएव सर्वाकारत्वाद् ब्रह्मरूपो गुणातीतः एकः, २.केनापि श्रौतेन

पौराणादिना वा क्रमेण इच्छया मुख्यशक्त्या वा निर्गमितो अनेकविधो घृतद्रवत्ववद् ब्रह्मात्मकविकारशाली ब्रह्मपरिणामरूपो द्वितीयः... ३.एतदुपदेहभूतो मायोपादानकः प्राकृतविकारशालिव्यावहारिको ब्रह्मविवर्तात्मा तृतीयः... ४.अविद्यायाः निद्राचिन्तादिभेदेन अनेकत्वात् तन्निमित्तकः तदुपादानको वा शुक्तिरजतस्वाप्निकादि-रूपो अन्तःकरणविकारात्मा व्यवहारदुष्टेन्द्रियादिगोचरः तुरीयः. एतौ द्वावपि मायिकौ प्रपञ्चौ विषयधर्मत्वाद् 'विषयता'शब्देन अत्र परिभाष्येते, मायिकत्वेऽपि विषयनिष्ठतया भासमानत्वात्. यथा सदृशधर्माः भिन्ननिष्ठाअपि तद्गत्वेन उच्यन्ते, ''तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम'' इति तद्वत्. अत्र आद्या विषयता व्यामोहकमायाकार्यत्वात् मायानिष्ठापि मायया विषयोपदेहाद् विषये प्रतीयतइति मायावादिनो विषयं मायिकं इति अभिमन्यन्ते. बुधास्तु निर्विचिकत्से शास्त्रज्ञाने जाते उपदेहात्मिकां विषयतां घटभ्रमणवत् पश्यन्तोऽपि तां न्यक्कृत्य विषयं ब्रह्मात्मकं वदन्ति. जातसाक्षात्काराः शुकादितुल्यास्तु, यथा अस्मदादयः प्रतिविम्बम्, एवम् अतिरिक्तामेव विषयतां पश्यन्तीति तादृक्तादृगधिकारिषु तथा-तथा वदन्ति... शुक्तिरजतादिकं च अन्तःकरणादिगतमेव. जीवव्यामोहि-कया तया तदन्तःकरण-बहिःकरणयोरेव तदुत्पादनात्. विषयदेशे प्रतीतिस्तु संस्कारादिप्राबल्यतया व्यत्यासात्.''(सृष्टिभे.वा.)

यहां इस प्रतिपादनमें व्यामोहिका माया द्वारा जन्य प्रतीतिके गोचरतया जिस विषयताका निरूपण किया गया है उसके दो प्रभेद तो ग्रन्थकारने कण्ठतः निरूपित किये हैं : १.विषयोपदेहभूता विषयता तथा २.विषयावभासोपदेहभूता विषयता.

मुझे लगता है कि यह तो प्रतिपादनकी एक विधा हुयी. दूसरी विधा यों भी शक्य है कि व्यामोहिका माया तीन-चार तरहसे कार्य करती है : १.विद्यमानका अप्रकाशन/आवरण/आच्छादन/अनवभासन, २.परोक्षदेशका-लावस्थित वस्तु या वस्तुके गुणधर्मक्रियाओं का अपरोक्षदेशकालावस्थित वस्तुतया अथवा वस्तुके गुणधर्मक्रियात्वेन अवभासन, ३.सर्वथा असद् वस्तु अर्थात्

सभी देश-कालमें असद् वस्तुका सत्त्वेन अवभासन. और अन्तमें ४.जैसे किसी एक विद्यमान वस्तुका किसी दूसरी विद्यमान वस्तुसे आच्छादन या आवरण हो जानेपर आच्छादित या आवृत वस्तुकी विद्यमानतया अप्रतीति अथवा अविद्यमान होनेकी प्रतीति प्रकट करता है, वैसे ही भगवच्छक्तिरूपा व्यामोहिका मायाका ऐसा भी असाधारण सामर्थ्य होता है कि वह असद्वस्तुके द्वारा भी सद्वस्तुको आवृत या आच्छादित कर पाती है. इसी तरह संनिहित देशकालावस्थित वस्तुका असंनिहित देशकालावस्थित वस्तुतया जैसे आभास प्रकट करती है वैसे ही सर्वथा असद्वस्तुका आभास भी प्रकट कर सकती है.

एतदर्थ स्वयं श्रीवल्लभाचार्यचरणके द्वारा आलेखित व्यामोहिका मायाके निरूपणका अवलोकन ही उपकारक होगा. तदनुसार—

> ''यद् वस्तु स्वरूपे अन्यथा प्रतिभासते तद् आत्मनां जीवानां व्यामोहिका या माया पूर्वं निरूपिता तस्याः कार्यम्. साहि जीवं व्यामोहयित्वा तत्सम्बन्धिनम् अन्तःकरणबुद्ध्यादिकमपि व्यामोहयति. तया व्यामोहिता बुद्धिः पदार्थान् अन्यथा मन्यते नतु पदार्थाः भवन्ति... माया च द्विधा भ्रमं जनयति : १.विद्यमानं न प्रकाशति २.अविद्यमानं च प्रकाशयति देशकालव्यत्यासेन. प्रमाणभूतो वेदः 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' इति आह ब्रह्मविदां प्रतीतिरपि तथा. भ्रान्तप्रतीतेस्तु अर्थनियामकत्वम् अन्यथा भ्रमदृष्ट्या गृहीतं जगत् भ्रमद्रूपमेव स्यात्. अतो विषये विषयता काचित् स्वीकर्तव्या यया दृष्टिः सविषया स्यात्. अन्यथा पदार्थानां स्थिरत्वाद् भ्रमदृष्टिः निर्विषया स्यात्. अतो अन्यत्रैव सिद्धा भ्रमिः मायया पुरःस्थिते विषये समानीयते, दृष्ट्यनुरोधित्वात् तस्याः... विषयता मायाजन्या विषयो भगवान्. मायायामेव विषयतारूपं भगवतः स्वरूपं प्रकटितमिति तदपि निःस्वभावम्, आत्मशक्तित्वात् मायापि न निःस्वभावा. चिद्विलासत्वाद् बुद्धेः परं तामेव व्यामोहयति यावद् न ब्रह्मभावः. साहि भगवदीयैः सर्वैः पदार्थैः विरुद्धचते. ते हि भगवद्विषयकं ज्ञानं जनयन्ति. अतो विषयताजनितं ज्ञानं भ्रान्तं विषयजनितं प्रमा इति''(भाग.सुबो.२।९।३३)

एतावता यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मदृष्ट्या कुछ भी यहां असत्त्वेन या तुच्छत्वेन कहा नहीं जा सकता होनेपर भी व्यामोहिका मायाद्वारा मोहित बुद्धिकी अपेक्षासे कुछ पदार्थ भ्रमभात ऐसे होते हैं जिन्हें 'असत्' कहा जा सकता है. अतएव भ्रमज्ञानके स्वरूपलक्षणतया अन्यख्याति ही अभीष्ट होनेपर भी उसके कारणलक्षणतया जो व्यामोहिका माया द्वारा जनित अज्ञान और अन्यथाज्ञान होते हैं उनमें कभी सदात्मक वस्तुओंका भान होता है तो कभी आपेक्षिकतया असत्पदार्थोंका भान भी होता ही है. यथा प्रतिबिम्बतया अवभासित होता पदार्थ बिम्बतया अन्यख्यातिका विषय होनेपर भी दर्पणगत बिम्बतया असत् पदार्थ माना-कहा जा सकता है. इसी तरह अन्धकार भी प्रकाशके तिरोभूत होनेपर नीलगुणविशिष्ट चलनक्रियाविशिष्ट जैसा कि चक्षुगोचर होता है उसे मायिक पदार्थ होनेके रूपमें असत् कहा-माना जा सकता है प्रकाशके तिरोभावको एतावता मायिक या असत् मानना आवश्यक नहीं.

निष्कर्षतया अन्यख्यातिवादके आधारपर प्रतिबिम्ब एवं अन्धकार को मायिक आभास मान लेनेपर भ्रान्तिगोचर पदार्थतया अतिरिक्त निरूपण अनावश्यक होनेपर भी, अज्ञान और अन्यथाज्ञान क्योंकि भ्रान्तिज्ञानकी कारणकोटिके अन्तर्भूत हैं, स्वरूपकोटिमें नहीं अतः इन दोनों वादोंकी अन्यख्यातिवादसे अगतार्थताको लक्ष्यमें रख कर इनका स्वतन्त्र भी निरूपण उपयोगी निरूपण ही है.

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।
।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

ख्यातिवादकी चर्चामें कुछ पुरःस्फूर्तिक विचारबिन्दु

[१]

ख्यातिसम्बन्धी चर्चामें सर्वप्रथम जो दो प्रमुख आयाम हमारे सामने उभर कर आते हैं वे ये हैं :

१.भ्रान्तिज्ञानके विषयका वास्तविक स्वरूप क्या है? क्या भ्रान्तिज्ञान सद्विषयोत्पादित अनुभव (An experience caused by objective reality) माना जा सकता है या नहीं?

२.भ्रान्तिज्ञानका स्वयंका स्वरूप (Subjective nature) क्या है? क्या वह अनुभूतिरूप और/अथवा स्मृतिरूप ज्ञानमें किसी तरहकी न्यूनता है या व्यत्यास है? अतएव इस सन्दर्भमें यहां ये विकल्प भी प्रमुख विवादास्पद बन जाते हैं कि भ्रान्ति एकराश्यात्मक ज्ञान (Simple unit of Experience) है या राशिद्वयात्मक (Compound/Complex unit of Experiences) है.

तदनुसार —

१.भ्रान्तिज्ञानका विषय सत् होता है या असत् या सदसत् या सदसदनिर्वचनीय अथवा चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य? यह प्रथम आयामगत जिज्ञास्य बिन्दु बनते हैं.

इसके अन्तर्गत इन पञ्चविध विकल्पोंमें क्रमशः ये विभन्न मत

प्रसिद्ध हैं : क.रामानुजोंको अभिप्रेत सत्ख्यातिवाद, ख.बौद्धों तथा माध्वों को अभिप्रेत असत्ख्यातिवाद, ग.सांख्यको, इसी तरह विपरीतख्यातिवादी पूर्वमीमांसकोंको भी, अभिप्रेत सदसत्ख्यातिवाद, घ.शांकर वेदान्तिओंको अभिप्रेत सदसदनिर्वचनीयख्यातिवाद तथा ङ.माध्यमिकोंको अभिप्रेत चतुष्कोटिविनिर्मुक्तशून्यख्यातिवाद. यों इन सभी विचारधाराओंमें देखा जा सकता है कि भ्रान्तिज्ञानविषयके सदसदादि विकल्पोंके मुद्देको प्रमुखतया उभारा गया है.

२.जिज्ञासाके दूसरे आयामके अन्तर्गत, जबकि, भ्रान्तिज्ञानके विषयके बजाय स्वयं भ्रान्तिके स्वरूपके मुद्देको अधिक विचारणीय माना गया है. अतएव इस आयामके अन्तर्गत कुछ प्रमुख विकल्प इस तरहके सामने आते हैं : क.आत्मख्यातिवाद, यह योगाचारवादी बौद्धोंको एवं प्रत्यभिज्ञावादी काश्मीरी शैव मतको[१] भी अभिमत प्रक्रिया है, ख.अख्यातिवाद, इसके अनेक प्रकारोंके अन्तर्गत प्रसिद्ध प्रकार प्राभाकरोंका विवेकाख्यातिवाद है, ग.अन्यथाख्यातिवाद और विपरीतख्यातिवाद यथायथ नैयायिकों और जैनों एवं भाट्ट मीमांसकों को अभिप्रेत भ्रान्तिज्ञानकी व्याख्याएं हैं.

उपर्युक्त विषयसम्बन्धी पञ्चविध ख्यातिओंकों इन विषयिसम्बन्धी अख्याति और अन्यथाख्याति की द्विविध प्रक्रियाओंसे द्विगुणित करनेमात्रसे केवल शुद्ध गणितशास्त्रीय सम्भावनाके तौरपर ख्यातिसम्बन्धी विचारप्रक्रियाके दशविध उपभेद तो सहज ही सोचे जा सकते हैं. उदाहरणतया कतिपय अघोषित-अप्रस्तावित ख्यातिप्रक्रिया कुछ इस तरह भी सोची ही जा सकती हैं : १.सदख्यातिवाद, न्यायकुमुदचन्द्रोदयकार[२] द्वारा अनजाने स्रोतोंसे उद्धृत चार्वाकोंको अभिमत प्रक्रियाके सदृश एक सम्भावित प्रक्रिया, २.सदसद्विवेकाख्यातिवाद प्राभाकरोंको अभिमत ग्रहणस्मरणविवेकाख्यातिवादके तर्ज़पर!, ३.सदसन्निरुक्त्यख्यातिवाद, शांकरोंको अभिमत सदसदनिर्वचनीयान्यथाख्यातिवादके तर्ज़पर, ४.असदन्यथाख्यातिवाद तो माध्वोंको अभिमत अभिनवान्यथाख्यातिवादका ही एक सहज पर्याय हो सकता है.

५.स्वदेशकालावस्थित सद्वस्तुका अस्वदेशकालस्थतया अवभासरूप सदन्यथाख्यातिवाद, भाट्ट मींमांसकोंकी निरूपणशैलीमें यह भी ध्वनित होता ही है. इसी तरह ६.स्वयं आत्मख्यातिवादको भी ''**ये-ये प्रत्ययाः ते-ते निरालम्बनाः प्रत्यत्वात् स्वाप्निकप्रत्ययवत्**'' सूत्र[३]के अनुसार आत्मेतर असद्वस्तुका आत्मत्वेन अथवा आत्माका अनात्मवस्तुतया अन्यथाख्यान असदन्यथाख्याति अथवा सदन्यथाख्याति की प्रक्रियाके रूपमें भी निहारा जा सकता है. इस तरहकी सम्भावित प्रक्रियाओंकी सूचीको और अधिक बढ़ानेके बजाय जिस छोटेसे तथ्यपर ध्यानाकर्षण अभिप्रेत है वह तो यही है कि सामान्य रूढिके अनुसार प्रचलित धारणा कि ख्यातिवादके मूल प्रकार पांच ही होते हैं[४], यह बहोत सुविचारित धारणा नहीं लगती है. क्योंकि एतद्विषयक विचारके विकासक्रममें कभी पांच होंगे परन्तु एतावता पांच ही प्रकार हो सकते हैं ऐसा सोचा नहीं जा सकता. अतः भ्रान्तिके व्याख्याभेदोंको कभी इस तरह पञ्चतया परिगणित कर लेनेका, तो कभी अख्याति और अन्यथाख्याति रूपी दो ही तरहके ख्यातिवादों[५]के सीमित क्षितिजवृत्तमें ख्यातिचर्चाको परिच्छिन्न बना लेनेका कोई ठोस औचित्य सिद्ध नहीं होता.

इन दोनों आयामोंके परिप्रेक्ष्यमें वाल्लभ वेदान्तमें भ्रान्तिज्ञानका अभिमत स्वरूप जिज्ञास्य हो तो उसे 'अन्यख्याति'के रूपमें प्रस्तावित किया गया है. भगवद्गीतोपदिष्ट ''**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**''[६] सिद्धान्तके अनुसार वाल्लभ वेदान्तमें न्यायशास्त्राभिमत चतुर्विध अभावोंमेंसे किसी भी प्रकारके अभावको मान्य नहीं रखा गया है. अतः चारों ही प्रकारके अभावोंकी अनुभूतिओंकी व्याख्या यहां आविर्भाव एवं तिरोभाव के आधारपर ही खोजी जाती है. निष्कर्षतया भ्रान्तिज्ञानके विषयका तात्त्विक अभाव ही जब स्वीकार्य नहीं तब भ्रान्तिज्ञानके विषयका असत् होना भी स्वतः अमान्य हो जाता है. ऐसी स्थितिमें सदसदात्मकता सदसदनिर्वचनीयता या शून्यता तो अप्रसक्त ही ठहरते हैं. अतः रह जाती है रामानुज वेदान्तमें अभिमत सत्ख्यातिवादकी

धारणा. उसके बारेमें गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरणके ये उद्‌गार कि

> (१)''तद् अस्माकम् अभीष्टं परं कश्चिद् विशेषो अस्ति''
> (२)''तस्माद् ये पूर्णज्ञानिनः पूर्णयोगिनो वा तेषां सर्वत्र सर्वप्रत्यक्षम् 'अनागतमतीतं च'(भाग.पुरा.१०।६१।२१) इत्यादिवाक्यात्. अतः तेषां ज्ञानस्य यथार्थत्वात् तत्र उक्ता *अख्यातिः* उचिता न सर्वत्र''[७].

इनके अवलोकन करनेपर यह स्पष्टतया समझा जा सकता है कि ''तत्र उक्ता'' पदोंका अर्थ होगा : पूर्णज्ञानी अथवा पूर्णयोगी को होते अनुभवोंके स्वरूपके सन्दर्भमें रामानुज वेदान्तमें कही गयी सदर्थकी अख्याति उचित हो सकती है. ''न सर्वत्र'' पदोंका आशय अभाव पदार्थके सैद्धान्तिक अस्वीकारके बावजूद यह तो स्वीकारना ही पड़ता है कि जिनका ज्ञान शास्त्रीय शब्दार्थबोधमात्ररूप हो, अर्थात् साक्षाद् ब्रह्मानुभवमें पर्यवसायी न हो, ऐसे ज्ञान या अनुभव के सन्दर्भमें; अथवा, लोकव्यवहारोपयोगी भ्रम-प्रमा विवेचकोंको होते अनुभवके सन्दर्भमें, अभावबोधकी व्यावहारिक अपेक्षा कुछ न कुछ तो रहती ही है. अतएव स्वयं उपनिषदादि शास्त्रोंमें भी इस व्यावहारिक अपेक्षाकी पूर्ति आविर्भाव-तिरोभावकी प्रक्रियाद्वारा उपदिष्ट हुयी है[८]. अतः व्यवहारमें जहां जिस वस्तुका अभाव प्रतीत होता है वहां उसे तिरोहित माना गया है. सर्वज्ञकी अनुभूति देशकालके क्षितिजके भीतर घिरी नहीं होती; अतः, उन्हें किसीभी वस्तुके कहीं/कभी तिरोहित या अगोचर होनेकी अनुभूति होती नहीं. यों दैशिक या कालिक संसर्गाभावके स्थानपर यह दैशिक या कालिक तिरोभावकी धारणा प्रस्तुत हुयी है. यह तिरोभावकी धारणा तत्तत् नाम-रूप-कर्मोंके वैविध्य अर्थात् तादात्म्याभावकी व्याख्या करनेमें भी सक्षम धारणा है. क्योंकि निखिल नाम-रूप-कर्म सदैकरस ब्रह्ममें प्रकट हुवे माने जाते हैं. स्वयं ब्रह्म सर्व नाम-रूप-कर्मोंका एकाकी निर्वाहक होता है. इस श्रौत धारणाके अनुरूप[९] सभी नाम-रूप-कर्मोंमें ब्राह्मिक सदंश सर्वदा अनुगत रहता है. अतः शुक्तिरूपावच्छिन्न ब्रह्मके

सदंशमें रजतरूप तिरोहित तो रह सकता है परन्तु कभी भी असत् नहीं हो सकता, ''तदभिन्नस्य तदभिन्नाभिन्नत्व''न्यायके अनुसार. फिरभी व्यवहारमें शुक्तिशकलको 'रजत'नामसे जाना-पुकारा या स्वीकारा नहीं जा सकता, क्योंकि उस रूपमें वहां रजतरूप और तदनुकूला अर्थक्रिया भी तो ब्रह्मने सृष्टिमें प्रकट नहीं की है. अतः सृष्टिमें ब्रह्मके साक्षात्कार न होनेके कारण हमें शुक्तिरूपके बारेमें 'रजत'नामका प्रयोग प्रामाणिक नहीं लगता. उसका रजतके साथ रहा ब्राह्मिक तादात्म्य भी; अतएव, हमें अनुभूत नहीं हो पाता. न रजतोचित सारे कर्म ही वहां शुक्तिमें प्रकट हो पाते हैं. इस अर्थमें ब्रह्मस्वरूपकी या ब्रह्मतादात्म्यकी और तद्द्वारक वस्तुमात्रके इतरेतरतादात्म्यकी अख्याति स्वीकार्य बनती है. ब्रह्मके अंशिरूपेण इस तिरोभावकी तरह शुक्तीतर नाम-रूप-कर्मोंका भी शुक्तिशकलमें तिरोभाव अख्यातिका आलम्बन बनता है[१०]. शुक्तिमें इसी स्वेतर नाम-रूप-कर्मोंके तिरोधानवश, जो कुछ अवशिष्ट प्रकट या आविर्भूत गुणधर्म हैं, उनके अलावा अन्य किसी या किन्हीं गुणधर्मोंका भान, शुक्तिसे अन्य नाम-रूप-कर्मोंका भान होनेसे उसे 'अन्यख्याति' कहा जाता है. अतः विरुद्धधर्माश्रयरूप ब्रह्मके मौलिक स्वरूपके आयाममें सत्ख्याति स्वीकारी जा सकती होनेपर भी सृष्टिरूप ब्रह्मके सत्यसंकल्पोत्थ अनेकविध नाम-रूप-कर्मोंके ऐच्छिक द्वैतवश ऐच्छिक अन्यता भी उतनी ही स्वीकार्य है. अतः वही ऐच्छिकी अन्यता अन्यख्यातिका आलम्बन बनती है, ब्रह्मके सर्वभवनसमर्थ तथा सत्यसंकल्प होनेके कारण. इस तरह ब्रह्मके मौलिक स्वरूपकी अनुपाती जो निखिल नाम-रूप-कर्मोंकी इतरेतरात्मकता, उसका अप्रतिभास/अख्याति भ्रान्तिकी कारणकोटिमें समाविष्ट होती है. स्वरूपकोटिमें तो सर्वभवनसमर्थ-सत्यसंकल्प ब्रह्ममें प्रकट ऐच्छिक द्वैत या अपरस्परात्मकता के विचारवश अन्यख्यातिको ही प्रतिष्ठापित किया गया है. इस अख्यातिको प्रभाकरमताभिप्रेत निखिल नाम-रूप-कर्मोंकी मौलिक अपरस्परात्मकताके विवेकके अप्रतिभास या अख्याति से जोड़ देना अतः आवश्यक नहीं रह जाता. अतः श्रीपुरुषोत्तमचरणकी ''तत्र उक्ता अख्यातिः उचिता'' वचनावलीके सम्यग् विवेचन करनेपर

रामानुजमतोक्त अख्यातिके औचित्यका जो भाव प्रकट होता है उसे भी भ्रान्तिज्ञानकी अपरिहार्य कारणकोटिके सन्दर्भमें ही समझना चाहिये नकि भ्रान्तिज्ञानकी स्वरूपकोटिके सन्दर्भमें.

[२]

वाल्लभ वेदान्ताभिमत भ्रान्तिज्ञानके वादरीत्या उपपादनका भार जैसे गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीने वहन किया, वैसे ही भ्रान्तिज्ञानके कारण एवं स्वरूप की प्रक्रियाओंको मूलभागवतादि प्रमाण तथा तन्मूलक मूलाचार्योंके वचनोंके व्याख्यानसन्दर्भके साथ प्रतिपादनका भार लालूभट्टोपनामक श्रीबालकृष्ण भट्टजीने उठाया है. प्रमेयरत्नार्णवके उत्तरार्धमें समाविष्ट ख्यातिविवेकमें तथा निर्णयार्णव(४।६)में इस विषयकी उन्होंने विशद विवेचना की है. इनमेंसे प्रमेयरत्नार्णवमें ग्रन्थकारने शुक्तिरजतादि निरुपाधिक भ्रम और पीतशङ्खादि औपाधिक भ्रम दोनोंको ही अन्यख्यातिके रूपमें ही स्वीकारा है. निर्णयार्णवमें, किन्तु, निरूपाधिक भ्रमको ही अन्यख्यातितया तथा ''पीतः शङ्खः''-''घटो भ्राम्यति'' सदृश औपाधिक भ्रमोंको भ्रम न मान कर भ्रम और प्रमा दोनोंसे भिन्न अन्यथाज्ञानतया स्वीकारनेका प्रतिपादन किया है[११]. इस विचारभेदमें पौर्वापर्यका अर्थात् ''पीतः शङ्खः'' जैसे औपाधिक अवभासोंको पहले भ्रम माना था परन्तु बादमें अन्यथाज्ञान माना अथवा पहले उन्हें अन्यथाज्ञान माना था और बादमें भ्रम, ऐसी ऐतिहासिकी विवेचनाके लिये न तो यहां अवकाश है और न कोई प्रसंगौचित्य ही. फिरभी इतना तो अवश्य कथनीय लगता है कि भागवतकी ''**ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत...**'' (भाग.पुरा.२।९।३३) ''**संशयोऽथ विपर्यासः...**'' (भाग.पुरा.३।२६।३०) तथा ''**ज्ञानम् एकं पराचीनैः इन्द्रियैः ब्रह्म निर्गुणम् अवभाति अर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा**'' (भाग.पुरा.३।३२।२८) कारिकाओंकी सुबोधिनीमें —

> १.''**यद् वस्तु स्वरूपे अन्यथा प्रतिभासते तद् 'आत्मनां'=जीवानां व्यामोहिका या माया... तस्याः कार्यम्. साहि जीवं व्यामोहयित्वा तत्सम्बन्धिनम् अन्तःकरणबुद्ध्यादि-**

कमपि व्यामोहयति. तया व्यामोहिता बुद्धिः पदार्थान् अन्यथा मन्यते नतु पदार्थाः अन्यथा भवन्ति... मायाच द्विधा भ्रमं जनयति : विद्यमानं न प्रकाशयति, अविद्यमानं च प्रकाशयति, देशकालव्यत्यासेन. तद् आह 'अर्थो न प्रतीयते - अर्थम् ऋते प्रतीयते' इति. तस्मात् पदार्थानां याथात्म्यज्ञापनार्थं प्रमाणम् इति उक्तं भवति. ननु वस्त्वेव कुतो न तथा अस्तु? कैश्चिद् वादिभिः जगतो मायिकत्वस्वीकाराद् इति चेद्, भवेद् एतद् एवं यदि विचारे पर्यवस्यति. प्रमाणभूतो वेदः 'सर्वं खलु इदं ब्रह्मै'व इति आह. ब्रह्मविदां प्रतीतिरपि तथा. भ्रान्तप्रतीतेस्तु न अर्थनियामकत्वम्. अन्यथा भ्रमदृष्ट्या गृहीतं जगद् भ्रमद्रूपमेव स्यात्. अतो विषये विषयता काचित् स्वीकर्तव्या यया दृष्टिः सविषया भवति. अन्यथा पदार्थानां स्थिरत्वाद् भ्रमदृष्टिः निर्विषया स्यात्. अतो अन्यत्रैव सिद्धा भ्रमिः मायया पुरःस्थिते विषये समानीयते... साच विषयता द्विधा : आच्छादिका एका अन्यथाप्रतीतिहेतुः च अपरा. सा उभयविधापि माययैव जन्यते..." (सुबो.२।९।३३).

२." 'विपर्यासः'=संस्कारप्राबल्यात्, तेजः तदनुगुणमेव धर्मं प्रकाशयति. 'अथ'=इति एकस्फुरणनियामकत्वाय. विपर्यासो भिन्नार्थप्रतिपादकः, क्रियाज्ञानयोः च भिन्नविषयत्वम्. अनेन अन्यख्यातिरेव इति सिद्धान्तः..." (सुबो.३।२६।३०).

३." 'ज्ञानम् एकम्'=इति वस्तुतः सर्वं जगद् बोधान्वयव्यतिरेकानुसरणाद् बोधमात्रम् इति अवसीयते. यः कश्चन लौकिको वैदिकः सर्वोऽपि व्यवहारो बोधएव पर्यवसितइति. यथा सर्वे तरङ्गाः समुद्रे पर्यवसिताः इति. अतः एकमेव ज्ञानं 'पराचीनैः'=प्राकृतैः इन्द्रियैः, व्यापकत्वाद् बृंहणत्वात् च निर्गुणमेव, गुणानां तदतिरिक्तानाम् अभावाद्, घटपटाद्यर्थरूपेण भ्रान्त्या अवभाति. अतः शुक्तिका रजतवत् प्रतिभासतइति आसक्तिः न उचिता. तेहि प्राकृताः स्वबुद्ध्यनुसारेणैव तद् गृह्णन्ति. एकदेशग्रहणेन स्वस्वभावग्रहणेन च तद् अन्यथा गृहीतं भवति. अतः स्वेन्द्रियधर्माएव

तत्र आरोप्य गृह्यन्तइति ख्यातिवादाः बहुविधाः उत्पन्नाः. धर्माणामेव वस्तुतः प्रतिभानमिति अन्यख्यातिः. आधारमपि पुरस्कृत्य तत्र कञ्चनार्थं परिकल्प्य ग्राहकधर्मसम्बन्धाद् अन्यथा इत्यपि आहुः. यथा प्रतीतिः भ्रान्ता तथा कल्पनापीति न अत्यन्तम् आग्रहः...'' (सुबो.३।३२।२८)..

१.उद्धरणमें महाप्रभुने यहां व्यामोहिका मायासे जन्य विषयतारूप दो कार्य गिनाये हैं : (१)विद्यमान वस्तुका अप्रकाशन=आच्छादन अर्थात् अज्ञानविषयता (२)तद्देशकालमें अविद्यमान(तिरोहित)वस्तुका स्वदेशकालव्यत्यासपूर्वक प्रकाशन, अन्यथाप्रतीतिविषयता=अन्यथाज्ञानविषयता. ये दोनों ही भ्रान्तिज्ञानकी उत्पत्तिके हेतु हैं. इस निरूपणमें लक्ष्यमें रखने लायक बात यह है कि 'भ्रान्तिज्ञान'घटक 'ज्ञान'पद प्रतिभास और/अथवा निश्चय के आशयसे प्रयुक्त हुवा पद है. अतएव कतिपय निरुपाधिक भ्रमोंके उदाहरणोंमें प्रतिभास और निश्चय दोनोंमें ही व्यत्यास, अर्थात् इस अर्थमें एकरूपता होती है, अन्य बहोत सारे औपाधिक भ्रमोंमें निश्चय और प्रतिभास के बीच एकरूपता नहीं भी होती है.

२.उद्धरणमें ऐसी स्थितिमें भ्रान्तिज्ञानके स्वरूपकी व्याख्या ''अख्यातिपूर्विका अन्यथाख्याति'' देनेके बजाय महाप्रभुने अन्यख्याति क्यों स्वीकारी? इस आशंकाके समाधानतया यही ज्ञातव्य है कि क्योंकि इन दोनोंके कारण अन्तमें अन्यख्याति ही प्रकट होनी स्वीकारी गयी है, भ्रमात्मिका स्फुरणाके स्वारसिक एकत्वके अनुरोधवश जैसाकि 'एकस्फुरणनियामकत्वाय' पदसे प्रकट हो रहा है; तथा, भ्रान्तिज्ञानजनक अज्ञान या अन्यथाज्ञान के आलम्बनीभूत विषयोंकी और भ्रान्तिज्ञानसे जनित प्रवृत्ति=क्रियाके विषयकी भिन्नताके अनुरोधवश. यह ''विपर्यासो भिन्नार्थप्रतिपादकः, क्रियाज्ञानयोः च भिन्नविषयत्वम्'' वचनसे स्फुटतया प्रकट होता ही है.

३.तृतीय उद्धरणपर आपाततः दृष्टिपात करनेपर महाप्रभुका मत

या तो मायावादी शांकर वेदान्त अथवा काश्मीर शैव प्रत्यभिज्ञादर्शन के सदृश लगता है. ब्रह्मको, परन्तु, अखण्डसच्चिदानन्दैकरस माना गया होनेसे ब्राह्मिक चैतन्यके सन्दर्भमें अर्थ और ज्ञप्ति के बीच आत्यन्तिक द्वैत अर्थात् आत्यन्तिक भेदघटित विषय-विषयिभावको अमान्य करनेको महाप्रभुने ऐसी शब्दावलीका प्रयोग किया है. तदनुसार भ्रान्तिज्ञान निरुपाधिक निर्गुण निरवयव व्यापक इन्द्रियातीत बृहद् आत्मचैतन्यरूप स्वयंप्रकाशन (Pure sensitivity or pure consiousnes) नहीं होता है, क्योंकि इस अन्तर्निगूढ़ मौलिक ज्ञानके स्तरपर तो ज्ञान-ज्ञेयका ही पार्थक्य सिद्ध नहीं हो पाता तो अन्यख्याति कहांसे सिद्ध हो पायेगी ? भ्रान्तिज्ञान पुरोवस्थित वस्तुका औपाधिक परन्तु निरवयव निर्विकल्पक प्रकाशन (The simplest atomic unit of experience) भी सिद्ध नहीं हो पाता, शब्द-संस्कारादिजन्य विशेषावगाही राजसतामस गुणवाला सविकल्पक ज्ञान होनेसे[१२]. जैसा कि देख ही चुके भ्रान्तिज्ञानको ज्ञानद्वयराशी (A compound unit of two different experiences) भी स्वीकारा नहीं जा सकता. भ्रान्तिज्ञान तो सविकल्पक प्रमानुभूतिकी तरह निर्विकल्पज्ञानोत्तर जायमाना सविकल्पानुभूति (A single Complex unit of two experiences) का एक प्रकारविशेष है. दोनोंके बीच यदि कोई अन्तर है तो केवल इतना ही रजतप्रमानुभूति, न्यायभाषाके तर्ज़में कहना हो तो, "निर्विकल्पकज्ञानविषयीभूते रजतत्ववति रजतत्वप्रकारको अनुभवः" होता है; जबकि, रजतभ्रमानुभूति, "रजततिरोभाववति निर्विकल्पकज्ञानविषयी-भूते शुक्तिशकले बुद्ध्याविर्भूतरजतविषयको अनुभवः" होता है.

किसीभी वस्तु(नाम-रूप-कर्म)का आविर्भाव या तिरोभाव और तन्मूलक प्रकाशन या अप्रकाशन भी या तो सच्चिदानन्द ब्रह्मकी अभिन्ननिमित्तोपादानताहेतुक होता है अथवा केवल निमित्ततताहेतुक. प्रथम कल्पमें वह प्रकाशन तद्देशकालमें आविर्भावरूप होता है और अप्रकाशन तद्देशकालमें तिरोभावरूप. द्वितीय कल्पमें प्रकाशन व्यामोहिका मायासे बुद्धिके व्यामुग्ध न होनेपर बुद्ध्युपादानक वस्त्वाकारिका वृत्तिके प्रकाशनरूपेण

होता है. यह, परन्तु, स्वयं वस्तुके यहां तिरोहित होनेके कारण परोक्ष प्रकाशनरूप ही रह जाता है. व्यामोहिका मायासे, परन्तु, बुद्धिके व्यामुग्ध होनेपर उसमें अतिरोहित वस्त्वधिष्ठानक तिरोहितवस्त्ववगाही मायाकरणक बुद्ध्युपादानक प्रकाशन होता है. इस तिरोहित वस्तुके अतिरोहितया प्रकाशनको अन्यख्यातिरूप माना गया है. इस प्रकाशनमें न केवल करणरूपा बुद्धिकी ब्रह्मात्मकता अपितु सहकारिकारणरूपा भगवच्छक्तिरूपा व्यामोहिका मायाकी भी ब्रह्मात्मकता श्रौत सिद्धान्ताभिमत है. यह एक उजागर तथ्य है कि इस प्रक्रियामें यदि कल्पनागौरवोपम व्यामोहिका मायाको बीचमें न भी लाया जाय तो भी भ्रान्तिज्ञानकी व्याख्या सुचारुतया शक्य है ही. ऐसा करनेपर, परन्तु, वाल्लभ वेदान्त **''यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा स्याद् इदं भगवान् साक्षात्''** [१३] वचनमें स्वप्रतिज्ञातार्थको भङ्ग करनेका दोषी ठहरेगा. अतः गीतोक्त[१४] ज्ञानाज्ञानस्मरणादि सभीमें भगवत्कारणताके सिद्धान्तके निर्वाहार्थ जिस शास्त्रसिद्ध भगवच्छक्तिको बीच लानेसे भगवत्कारणता सिद्ध हो पाये उसका नाम 'व्यामोहिका माया' है. अस्तु, व्यामुग्धबुद्ध्युपादानक कार्यरूप बुद्धिवृत्तिरूप प्रकाशनकी भी ब्रह्मात्मकता तो निःसन्दिग्ध ही है[१५]. फिरभी तद्देशकालमें तिरोहित नाम-रूप-कर्मका वहां अतिरोहिततया भान या ज्ञान अन्यख्यातिरूप माना गया है, यह भ्रमभात अन्य विषयकी ब्रह्मात्मकताके निरसनार्थ नहीं प्रत्युत निर्वाहार्थ सोची गयी उपपत्ति है. इसमें तद्देशकालमें विद्यमानका अप्रकाशन और तद्देशकालमें अविद्यमानका प्रकाशन भगवच्छक्तिरूपा व्यामोहिका मायाके कार्य हैं. संक्षेपमें भगवान्की अनेकानेक शक्तिओंमें आविर्भाव-तिरोभावशक्ति और व्यामोहकशक्ति भी अन्यतम शक्तियां हैं[१६]. इनमेंसे प्रथमशक्तिप्रकाशित नाम-रूप-कर्म सच्चिदानन्द अंशी ब्रह्मके सदंशोपादानक चिदंशोपादानक या आनन्दांशोपादानक होनेपर आधिभौतिक आध्यात्मिक या आधिदैविक नाम-रूप-कर्मोंको ब्रह्मोपादानक भी ब्रह्मकर्तृक भी माना जाता है[१७]. ये सत्ख्यातिके विषय होते हैं. द्वितीय व्यामोहिका शक्तिद्वारा प्रकाशित नाम-रूप-कर्म, जो सदंशभूत बुद्धि तदुपादानक होनेसे स्वरूपतः सद्रूप होनेपर भी, तद्देशकालस्थ

तिरोभावशक्तिद्वारा अख्यातिगोचर बनाये गये होनेके कारण पर्यवसानमें अन्यख्यातिगोचर होते माने गये हैं.

यह श्रीलालूभट्टजीको निरुपाधिक और औपाधिक उभयविध भ्रमज्ञानमें समानरूपेण स्वीकार्य होना चाहिये था. निर्णयार्णवमें, किन्तु, ग्रन्थकारद्वारा औपाधिक प्रतीतिओंको अन्यथाज्ञान मान कर उसे भ्रमप्रमासे भिन्न माननेके विधानका अभिप्राय बुद्धिमें सहसा आरूढ़ नहीं हो पाता है. निष्कर्षतः वाल्लभ वेदान्तके अनुसार अज्ञान और अन्यथाज्ञान अन्यख्यातिरूप भ्रान्तिके व्यामुग्ध पुरुषगत हेतुद्वय हैं नकि भ्रान्तिके लक्षणोपम स्वरूप.

[३]

औपाधिक भ्रान्तिज्ञान या प्रमाज्ञान के सन्दर्भमें किसी पदार्थका उपाधि होना या ज्ञानकरणोंका सहकारी कारण या करण होना, ज्ञानोत्पत्त्यनुकूल औत्सर्गिकी अपेक्षा या आपवादिकी अपेक्षा के विचारवश सामान्यतया स्वीकार लिया जाता है. ऐसा परन्तु निरपेक्षतया निर्धारित कर पाना अतीव दुष्कर होता है. क्योंकि शुद्ध जीवात्मचैतन्यकी स्वयंप्रकाशताका विचार करनेपर तो स्वयं सविकल्पक प्रत्यक्षप्रमाको भी न केवल इन्द्रिय-मनो-बुद्ध्यहंकारसंनिपातौपाधिक अपितु शब्द-संस्कारालोकाद्युपाधिजन्य भी होनेके कारण औपाधिक ज्ञान ही मानना पड़ता है[१८], जैसाकि वहां वचन भी उद्धृत किया ही गया है **''चक्षुषा आलोच्य वस्तूनि विकल्प्य मनसा तथा 'अहं'मत्यापि अहङ्काराद् बुद्ध्यैव ह्यध्यवस्यति''** (लक्ष्मीतन्त्र : १३।३४).

भारतवर्षमें योगाचार-माध्यमिक बौद्धोंने एवं शांकर वेदान्तिओंने भी शब्द-संस्कारादिकी उपाधिसे जन्य होनेके कारण सभी सविकल्पक प्रमानुभूतिओंको शुद्ध प्रत्यक्षप्रमा माननेके बजाय भ्रमानुभूतिके निम्न स्तरपर उनकी पदावनति की है. पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तनमें भी सर्वप्रथम

लॉक (Locke) ने प्रत्यक्षगोचर पदार्थके प्राथमिक गुणधर्म और आनुषंगिक गुणधर्मों के पार्थक्यकी उद्भावना प्रस्तुत की थी. उसके बाद तो बर्कले और ह्यूम के भी उसी दिशामें अग्रसर होनेके कारण अनुभववादी (Empiricistic) और कल्पनावादी (Idealistic) लेखनपरम्पराका दौर चल पड़ा. अन्ततः ब्रेड्ले, बर्ट्रेन्ड रसेल, ए.जे.एयर आदि चिन्तकोंके भी आगे आनेपर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष (Sensation) सविकल्पक प्रत्यक्ष (Perception) और सामान्यप्रत्यक्ष (Conception) की एकार्थावलम्बिता अस्वीकार्य ही मानी जाने लगी. अतः अनुभूतिके उल्लिखित तीन प्रकारोंमेंसे अन्तिम दो प्रकार शुद्ध प्रत्यक्षतया मान्य नहीं रह गये. यद्यपि इसी अवधिमें वहां यूरोपमें यथार्थवादी चिन्तक भी अवश्य हुवे परन्तु वह दूसरी कथा है.

प्रस्तुत विचारकी ही दिशामें आगे बढ़नेको यह अवधेय है कि लोकव्यवहारातीत शास्त्रैकगम्य निरुपाधिक शुद्ध आत्मचैतन्यके सन्दर्भको थोड़ीसे दैरके लिये भूल कर लोकव्यवहारानुगुण प्रामाण्यकी परिधिमें ही इस विमर्शको सीमित रखते हुवे कुछ सोचना हो तो आधुनिक कालमें खोजे गये अनेक वैज्ञानिक उपकरण कुछ अन्य ही तथ्योंपर हमारा ध्यान बरबस आकृष्ट करना चाहते हैं. उदाहरणतया प्राचीन कालमें प्रायः विवादरहित मानी जाती सांख्यकारिकाकी धारणा —

> ''[१]अतिदूरात् [२]सामीप्याद् [३]इन्द्रियघाताद् [४]मनोऽनवस्थानाद्
> [५]सौक्ष्म्याद् [६]व्यवधानाद् [७]अभिभवाद् [८]समानाभिहारात् च...
> अनुपलब्धिः न अभावात्...''
>
> (सांख्यकारि.७)

इनमें कारिकोक्त देशदोषरूप [१]अतिदूरता और [२]समीपता, इन्द्रियदोषरूप [३]इन्द्रियघात और [४]मनोऽनवस्थान, विषयदोषरूप [५]सूक्ष्मता; और अन्तमें, अर्थान्तरदोषरूप [६]व्यवधान [७]अभिभव और [८]समानाभिहार, इन और ऐसे अन्य भी प्रत्यक्षबाधकोंकी बाधकताको अकिञ्चित्कर बनानेवाले वैज्ञानिक

उपकरणोंके अब निर्मित हो जानेसे इस दिशामें पुनश्चिन्तन सद्योऽपेक्षित लगता है.

उदाहरणतया देशदोषको अकिञ्चित्कर बनानेवाले टेलिस्कॉप दर्पण आदिके प्रयोगद्वारा अतिदूर और अतिसमीप को अब प्रत्यक्ष निहारा जा सकता है. इन्द्रियदोषोंको भी चश्मा कॉन्टेक्ट-लेंस आर्टिफिशियल कॉर्निया-रिप्लेसमेंट हिअरिंगएड् आदि उपायोंद्वारा तथा मनोऽनवस्थानरूप दोषको संमोहनविज्ञानपर हुवे संशोधनोंके आधारपर भी अकिञ्चित्कर बनाया जा सकता है. इन उपकरणोंद्वारा होते प्रत्यक्षको व्यवहारमें औपाधिक भ्रम मानना या औपाधिक प्रमा? विषयदोषरूप सूक्ष्मतापर भी माइक्रोस्कॉपके उपयोगद्वारा काबू पाया जा सकता हो तो ऐसे सूक्ष्मवस्तुओंके प्रत्यक्षको भ्रम मानना या प्रमा? अर्थान्तरदोषरूप [६]व्यवधान [७]अभिभव और [८]समानाभिहार की समस्याओंका निराकरण टेलिकास्टिंग एक्सरे सोनोग्राफी राडार आदि आधुनिक उपकरणोंद्वारा शक्य हो जानेके कारण इनसे होते प्रत्यक्षको औपाधिक प्रमा मानना या औपाधिक भ्रम यह अब निरतिशय विचारणीय विषय हो गया है.

प्राचीन कालमें विकल्पावगाही ज्ञानोंके सारे प्रकारोंको, भारतीय बाह्यार्थापलापवादिओंने, भ्रान्तिरूप मान कर जिसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष माना वह निर्विकल्पक प्रमा भी, अब चाक्षुष प्रत्यक्षकी आधुनिक विज्ञानके अनुसार जो व्याख्या प्रकट हुयी है, तदनुसार कितनी विकल्पावगाहनरहित है, यह विचारणीय हो गया है!

आधुनिक दृष्टिविज्ञानविदोंके अनुसार चाक्षुषप्रत्यक्षगोचर होनेवाली वस्तुके साथ उसके वर्ण (color), आकृति (shape), परिमाण (size), प्रकार (pattern), दैशिकी स्थिति (position) और वस्तुके गतिमान होनेपर गति (movement) भी प्रत्यक्षगोचर होती मानी जाती हैं. इनमें सर्वप्रथम वर्णप्रत्यक्षके ही विवेचनामें यह कहा जाता है कि वर्ण

न तो बौद्धिक कल्पना है और वस्तुनिष्ठ गुणधर्म. वर्ण, आधुनिक विज्ञानके अनुसार, प्रकाशतरङ्गोंकी विविध लंबाई और उनके प्रति संवेदनशील नेत्रपटलमें लगे हुवे शंकु, शलाका और शंकु+शलाका के पारस्परिक उत्तेजन और संवेदन के कारण प्रकट होता औपाधिक चाक्षुष प्रतिभास है. एतावता जे.पी.गिलफॉर्ड कहते हैं:

> ''न तो प्रकाशतरङ्ग दिखलायी देती हैं, और न उनसे उत्तेजित होनेवाला नेत्रपटल, और न उसे मस्तिष्कके साथ जोड़नेवाला नाड़ीतन्त्र ही, और न उन नाड़ीतन्त्रोंसे मस्तिष्कको मिलनेवाले सन्देश ही हम देख पाते हैं. फिरभी इन प्रक्रियाओंके कारण विभिन्न वर्णोंको देख पाते हैं. ये प्रकाशतरङ्ग, नाड़ीतन्त्रिकोत्तेजन और वर्णतत्त्व प्राकृतिक ऊर्जाकी तीन सर्वथा विभिन्न घटनायें हैं, यह कभी भूलना नहीं चाहिये''.[१९]

स्पष्ट है कि ऐसी स्थितिमें यथार्थवादी चिन्तकोंका वर्णके वस्तुगत गुणधर्म होनेका दावा और कल्पनावादी चिन्तकोंका वर्णके कल्पनामात्र होनेका दावा, दोनों ही एकहेलया निरस्त हो जाते हैं. इस सन्दर्भमें एक सहज स्पष्टीकरण, परन्तु, भगवद्गीता और भागवतपुराण के अनुसार हमें यह भी मिलता ही है : ''पृथक्त्वेनतु यद् ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्'', ''रजो वैकल्पिकं...स्मृतम्'' ''सन्निपातस्तु 'अहम्'इति 'मम'इति... या मतिः, व्यवहारः सन्निपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः''[२०]. यों आत्मचैतन्यके स्वरूपको दृष्टिगत रखनेपर विकल्पावगाही ज्ञान औपाधिक तो हो सकते हैं परन्तु एतावता उनका स्वप्नज्ञानोपम निरालम्बन होना या सदसदनिर्वचनीयविषयालम्बनक होना आवश्यक नहीं लगता. भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्यने इस बारेमें जो प्रभावशाली वक्तव्य दिया है वह सर्वथा अविस्मरणीय लगता है. वे कहते हैं—

''यद् उक्तं बाह्यार्थापलापिना स्वप्नादिप्रत्ययवद् जागरितगोचराअपि स्तम्भादिप्रत्यया विनैव बाह्यार्थेन भवेयुः प्रत्ययत्वाविशेषाद् इति, तत् प्रतिवक्तव्यम्. अत्र उच्यते न स्वप्नादिप्रत्ययवद् जाग्रत्प्रत्ययाः भवितुम् अर्हन्ति. कस्मात्? वैधर्म्यात्. वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः. किं पुनः वैधर्म्यम्? 'बाधाबाधौ' इति ब्रूमः. बाध्यतेहि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य... नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्याञ्चिदपि अवस्थायां बाध्यते. अपिच स्मृतिः एषा यत् स्वप्नदर्शनम्—उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्... तत्र एवं सति न शक्यते वक्तुं मिथ्या जागरितोपलब्धिः उपलब्धित्वात् स्वप्नोपलब्धिवद् इति उभयोः अन्तरं स्वयम् अनुभवता. नच स्वानुभवापलापः प्राज्ञमानिभिः युक्तः कर्तुम्. अपिच अनुभवविरोधप्रसङ्गाद् जागरितप्रत्ययानां स्वतो निरालम्बनतां वक्तुम् अशक्नुवता स्वप्नसाधर्म्याद् वक्तुम् इष्यते. नच यो यस्य स्वतो धर्मो न भवति सो अन्यस्य साधर्म्यात् तस्य सम्भविष्यति. नहि अग्निः उष्णो अनुभूयमानः उदकसाधर्म्यात् शीतो भविष्यति. दर्शितन्तु वैधर्म्यं स्वप्नजागरितयोः''.

(ब्र.सू.शां.भा.२।२।२९)

अतएव आधुनिक दृष्टिविज्ञान भी लौकिक व्यावहारिक प्रत्यक्षोंकी औपाधिकता=सन्निपातरूपताका तो समर्थन करता है परन्तु बाह्यार्थके सर्वथा कल्पित होनेकी कथा तो आधुनिक विज्ञानान्वेषणोंको कल्पनावादी और/अथवा अनुभववादी पूर्वाग्रहसे ग्रस्त हो कर निहारनेकी मनोवृत्तिका ही परिणाम लगता है. चाक्षुषप्रतिभासके आयोजनकी मीमांसामें आधुनिक विज्ञानने कुछ बाह्य और कुछ आभ्यन्तर घटकोंका प्रयोगान्वेषण किया है. तदनुसार बाह्य दृश्यवस्तुमें [१]सामीप्य (Contiguity), [२]सादृश्य (Similarity), [३]सातत्य (Continuity), और [४]अन्तर्भाव एवं परिच्छिन्नता (Inclusiveness and Closure), ये चार चाक्षुषप्रत्ययके बाह्य घटक माने हैं. इसी

तरह [१]परिचितता (Familiarity), और [२]मानसवृत्ति (Mental set) ये आभ्यन्तर घटक माने हैं[२२]. इनमें सुस्पष्टतया देखा जा सकता है कि सामीप्य सादृश्य सातत्य और अन्तर्भाव-परिच्छिन्नता दृश्यमान वस्तुके दृष्टनिरपेक्ष दृष्टि-आयोजक बाह्य वास्तविक धर्म हैं नकि दृष्टपरिकल्पित आभ्यन्तर घटक.

जो बात वर्णके चाक्षुष प्रतिभासके बारेमें कही गयी है, वही थोड़े-बहोत हैरफेरके साथ आकृति, परिमाण, प्रकार, दैशिकी स्थिति, और गति के बारेमें भी कही जा सकती है. क्योंकि आधुनिक विज्ञान चक्षुको प्राप्यकारी तो मानता नहीं है. सर्वप्रथम पुरोवर्ती वस्तुसे परावृत्त प्रकाश नेत्रगोलकके पारदर्शी आवरण (Cornia)में प्रविष्ट होता है. उसके बाद तदन्तर्वर्ती संकोचविकासशील आवरण (Iris) के मध्यवर्ती नेत्रगोलकविवर (Pupil)में प्रविष्ट होता है. वहांसे तत्पार्श्ववर्ती पारदर्शी नेत्राण्डक (lens)में प्रविष्ट होता है. वहांसे नेत्रपटलान्तर्घटक प्रकाशके न्यूनता/आधिक्यके अनुसार कृष्ण/श्वेत वर्णानुभाविका शलाकाओं (Rods)को और लाल-केसरी-पीत-हरित-नील-बेंगनी वर्णोंकि अनुभावक शंकुओ (Cones)को उत्तेजित करता है. तब उन्हें मस्तिष्कसे जोड़नेवाली नाड़ियों (Optic nerves)के द्वारा; और, उनके संगमस्थल (Optic Chiasma)की दृश्यसंयोजनात्मिका प्रक्रियाद्वारा स्वयं मस्तिष्कान्तर्गत नेत्रप्रकोष्ठ (Visual Cortex) पर्यन्त तदनुसारी सन्देश पहुंचता है. इस लंबी प्रक्रियाके अन्तमें परिणामतया चाक्षुष प्रतिभास सम्पन्न होता माना जाता है[२३].

प्रकाशावभासनकी इस प्रक्रियाकी खोजके वृतान्त प्रकट होते ही अनुभववादी और कल्पनावादी चिन्तकोंने दूनें उत्साहसे यह कहना शुरु कर दिया कि सारे वर्णादि गुणोंका प्रतिभास वास्तविक न हो कर या तो विभिन्न निर्विकल्पक अनुभूतिओंका केवल मानसिक संघातमात्र है अथवा ये गुण बौद्धिक कल्पनामात्र हैं. हम जानते हैं कि केमेराके भीतर न तो मन होता है और न बुद्धि फिरभी हमारे नेत्रोंकी

संरचनाके अनुकरणद्वारा निर्मित होनेमात्रसे उसमें भी वही चित्र प्रतिबिम्बित हो जाता है, कृष्ण-श्वेत (achromatic) भी और बहुवर्णी (chromatic) भी. अतः वर्णोंकी सत्ता वस्तुनिष्ठ हो या न हो परन्तु वर्णोंको मानसिक संघात (असत्ख्याति) या कल्पनामात्र (सदसदनिर्वचनीयख्याति) मान लेनेकी बात प्रामाणिक नहीं लगती है. इस तर्कको केवल वर्णानुभूतिमें ही पर्यवसित होता न मान कर आकृति परिमाण दैशिक स्थिति और गति के प्रतिभासोंपर भी प्रभावशाली मानना चाहिये. समानयोगक्षेमन्यायेन यही कथा ध्वनि गन्ध स्वाद और स्पर्श के प्रत्यक्षोंके बारेमें भी सोची जा सकती है. अर्थात् इन प्रत्यक्षोंको भी औपाधिक ख्याति मान लेनेपर भी आत्मख्याति असत्ख्याति अन्यथाख्याति अनिर्वचनीयख्याति या अख्याति इन्हें माना नहीं जा सकता. रही बात अन्यख्यातिकी तो उसकी चर्चा आगे करना चाहेंगे. अस्तु.

प्रकृतानुसरणार्थ इस क्रममें यदि कोई विषय ही प्रकाशका अन्तःशोषण कर ले, अथवा प्रकाशकी यात्रामें कृत्रिम या अकृत्रिम व्यवधान उपस्थित हो जाये, अथवा नेत्रगोलकके पारदर्शी आवरण या तदन्तर्वर्ती संकोचविकासशील आइरिसके भलीभांति कार्यकारी न होनेपर, या पारदर्शी नेत्राण्डक-लेंसमें किसी तरहकी गड़बड़ी हो जानेपर, अथवा इस लेंस और नेत्रपटलके बीच भरे पारदर्शी लचीले पदार्थ (Vitrous Humor)में, या नेत्रपटलान्तर्वर्ती शंकु-शलाकाओंके न्यूनाधिक्यमें अथवा इनसे जुड़ी नाड़िकाओंके प्रमादी हो जानेपर, अथवा मस्तिष्कान्तर्वर्ती नेत्रप्रकोष्ठके स्वयं आघातादि हेतुओंके कारण अस्वस्थ हो जानेपर न तो निर्विकल्पक चाक्षुष प्रतिभास और न सविकल्पक ही सम्भव रह जाता है. ऐसी स्थितिमें चाक्षुषकिरणोंका नेत्रद्वारसे पुरोवस्थित, या दोषवशात् अपुरोवस्थित, विषयदेश पर्यन्त गमन और वहां जा कर सद् असद् सदसद् अथवा सदसदनिर्वचनीय विषयाकारसे आकारित होनेकी कल्पनाको अब आधुनिक विज्ञान स्वीकारनेको उद्यत नहीं. ऐसी ही प्रक्रियान्तर श्रावण, रासन आदि प्रत्यक्षके भी प्रकारोंके बारेमें आधुनिक विज्ञानने ध्वनितरङ्ग आदिकी खोजके आधारपर प्रकट की है.

लौकिक विषयोंके बारेमें भी शास्त्रवचनोंको ही परमप्रमाण माननेकी विचारशैलीमें तो लौकिक वस्तुके लौकिकप्रमाणोंसे अग्राह्य किसी शब्दैकगम्य पक्षकी धारणा या प्रत्युपपत्ति प्रस्तुत की जा सकती है. लौकिक विषयोंमें, परन्तु, शास्त्रवचनोंको सर्वथा अनुपयोगी मान कर प्रत्यक्षानुमिति और लाघव-गौरवके तर्कोंपर ही अवलम्बित होनेवाली चिन्तनशैलीके समक्ष असकृत् प्रयोग-परीक्षणसिद्ध वैज्ञानिक तथ्योंसे विरोधकी समस्या नूतन परिभाषा, नूतन प्रक्रियानिर्देश और नूतन हेतुनिर्देश रूपी प्रतीकारोंकी विकट मांग प्रस्तुत कर रही है.

१९ वीं शताब्दिके मध्यमें आंग्ल सैद्धान्तिक-भौतिकीविद् जेम्स क्लर्क मेक्सवेलकी इस खोजके बाद कि प्रकाश तो केवल उस व्यापक इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक क्षेत्रविस्तारमें घटित होते उत्किरणका एक क्षुद्र अंश है जो चक्षुर्भास्य होता है[२४], इससे वैचारिक जगत्का पूरा चित्र ही बदलना शुरु हो गया. क्योंकि अब प्रकाश दृश्य द्रव्य न रह कर ऊर्जाके रूपमें परिभाषित होने लगा. परवर्ती मेक्स प्लेंक, नील्स बोहर, अल्बर्ट आईन्स्टीन, लूइस द ब्रॉग्ली, वेर्नर हैज़नबर्ग, एरविन श्रॉडिंगर आदि अनेक वैज्ञानिकोंके संशोधन-अन्वेषणोंके कारण, कहा जाता है[२५] कि, उक्त इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक उत्किरणोंमें तरङ्गरूपता और आणविकगुच्छरूपता यों उभयविध विरुद्धधर्माश्रयताका स्वभाव प्रकट होता पाया गया. इस कारण अल्बर्ट आईन्स्टीनने द्रव्य, दैशिक अवकाश, ऊर्जा, काल और गतिकर्म के परस्पर सापेक्ष होनेकी धारणा प्रस्तुत की. एतावता यद्यपि द्रव्यका ऊर्जामें रूपान्तरण तो प्रयोगसिद्ध भी हो गया है परन्तु तोभी अभी तक ऊर्जाके द्रव्यमें रूपान्तरणकी शक्यता विवादग्रस्त विषय है. हर सूरतमें इतना तो निश्चिततया कहा ही जा सकता है कि द्रव्यके चक्षुर्ग्राह्य भाव या अभाव अब द्रव्यकी सत्ता या असत्ता के निश्चित प्रमापक हेतु रह नहीं गये हैं! ऐसी स्थितिमें जड़ या चेतना के एक-दूसरेसे बाह्य भावाभावोंकी कल्पनाके वश किसी एक या दूसरे की सत्ता या असत्ता की चर्चा अब अनवसरपराहत होने जा रही

है. क्योंकि जड़ और चेतन दोनों ही इस इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक व्यापक ऊर्जाक्षेत्रविस्तारके सातत्यके अद्वैतमें आविर्भूत-तिरोभूत होते केवल नाम-रूप-कर्मोंके द्वैतमात्र रह गये हैं. यद्यपि उत्तरकालीन अन्वेषणोंमें इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक व्यापक ऊर्जाक्षेत्रविस्तारके अलावा भी इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक ऊर्जासे भी पूर्वसिद्ध गुरुत्वाकर्षण ऊर्जा जो द्रव्यसंघातोंके बीच पारस्परिक आकर्षणका हेतु होती है. इसी तरह अशक्त नाभीकीय ऊर्जा जो रेडियोएक्टीविटीके हेतुतया उत्प्रेक्षित हुयी है. और सशक्त नाभीकीय ऊर्जा जो परमाणुओंके मध्यवर्ती प्रॉटोन और न्यूट्रोन के भीतर घटक क्वार्क्स्को जोड़नेवाली सशक्त नाभीकीय ऊर्जाके रूपमें उत्प्रेक्षित हुयी है. यों तीन और ऊर्जाओंको जोड़ कर ऊर्जाचातुर्विध्यका स्वीकार एक आवश्यक उत्प्रेक्षा मान ली गयी. परन्तु पुनः कई वैज्ञानिक अन्वेषणोंमें अशक्त नाभीकीय ऊर्जा और इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक ऊर्जाके सफल एकीकरणके आधारपर इन दोनों ऊर्जाओंके भी सशक्त नाभीकीय ऊर्जाके साथ एकीकरणद्वारा एक महान् एकीकृत प्रक्रियाको खोजनेके प्रयास भी चल रहे हैं.[२६] अभी कैसे-क्या कहा जा सकता है कि कब इन चारोंके भीतर काम करती कोई एक ही ऊर्जा वैज्ञानिकोंको मिल ना जाये! यहां तुलनीय हो जाता है कि भागवतपुराण (२।५।१४) भी "**द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीवएव च वासुदेवात् परो... नच अन्यो अर्थो अस्ति तत्त्वतः**" निरूपणद्वारा कुछ इसी तरहके ब्रह्माण्डका मॉडल प्रदर्शित करना चाहता है. खुलासाके तौरपर कुछ मोटे समीकरण स्वीकार कर चलें कि "द्रव्य=Matter", "कर्म=Kinetic Energy", "काल=Time", "स्वभाव=Static Energy", और "जीव=Consciousness", यों भागवतीय तत्त्वोंके समकक्ष आधुनिक वैज्ञानिक तत्त्वोंको निहारें तो सैद्धान्तिक चोखटके भीतर जो चित्र प्रकट होता है वह यही कि "अन्यो अर्थो तत्त्वतो नास्ति" अर्थात् अनेकविध नाम-रूप-कर्मात्मक ही ये सारे भेद हैं.

उक्त इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक क्षेत्रका स्वरूप आधुनिक विज्ञानके अनुसार

यों माना गया है:

इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक तरङ्गविस्तारका व्यापकक्षेत्र[२७]

लघुतरंग	← तरंगदैर्घ्यसारणी →	दीर्घतरंग

गामा एक्सरे परावेंगनी । चक्षुर्ग्राह्य । रक्तान्तरित । राडार रेडियो-टेलिविज़न ब्रॉडकास्टबेंड

इन विविध किरणोंके प्रभेद इनकी पृथक्-पृथक् तरंग-लंबाई मात्रके आधारपर निर्भर होते हैं. और हम देख सकते हैं कि दृश्य और श्रव्य का प्रभेद भी केवल तरंगोंकी पृथक्-पृथक् लंबाईओंका ही भेद है. न केवल इतना प्रत्युत श्रव्य तरंगोंके द्वारा दृश्यावभासन भी शक्य हो गया है. अतः पदार्थोंके बीच अथवा उनके गुणधर्मोंके बीच परस्पर आत्यन्तिक भेदकी धारणा आधुनिक चिन्तनका विषय होनेके बजाय भूतकालिक दर्शनेतिहासका विषय बनने जा रही है. अतः **''ब्रह्मैव इदं विश्वम्'' ''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्'' ''सएव इदं सर्वम्'' ''तत् सर्वम् अभवत्'' ''पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्'' ''सर्वे सर्वम् इदं जगत्'' ''यच्च किञ्चिद् जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः'' ''सर्वं सर्वमयम्''**[२८] आदि अनेकानेक उपनिषद्वचनोंका उद्घोष कि सर्वत्र भेदसहिष्णु अभेदरूप तादात्म्य ही है और वही शनैः-शनैः आधुनिक विज्ञानमें भी मान्य होता जा रहा है. अस्तु.

प्रकृतानुसरणार्थ इस इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक तरंगविस्तारमें अवस्थित चक्षुसे अग्राह्य तरङ्गोंको न केवल प्रकट किया जा सकता है अपितु उन्हें देख-सुन पानेके उपकरण भी जब उपलब्ध होते ही हैं. अतः अब इन उपकरणोंसे ग्राह्य पदार्थोंको भ्रमविषय या प्रमाविषय मानना? यह सोचनेको अब बाधित होना ही पड़ता है. दस करोड़ प्रकाशवर्षकी दूरीपर अवस्थित किसी पिण्डके दस हजार वर्षपूर्व विनष्ट हो जानेके बाद भी आज-अभी उसकी प्रात्यक्षिकी प्रमा, **''अनागतम् अतीतं च**

वर्तमानम् अतीन्द्रियं विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः'' (भाग.पुरा.१०।६१।२१)न्यायेन प्रकट हो सकती है. अवधेय है कि 'सम्यक्' अर्थात् ''नतु असदनिर्वचनीयान्यथाख्यात्यादिरूपेण''.

अतः चाक्षुष श्रावण स्पार्शन आदि प्रत्यक्षोंके निरुपाधिक एवं औपाधिक प्रमाओंके प्रभेद, निरुपाधिक और औपाधिक भ्रमोंके प्रभेद, स्वाप मूर्छा मस्तिष्काघात औषधादिजन्य भ्रम सम्मोहन आदि रूपोंमें घटित होती अनुभूतिओंके विविध प्रकारोंका पुनर्मूल्यांकन आवश्यक लगता है.

[४]

आधुनिक मनोविज्ञानमें, अतएव. ख्यातिकी चर्चाके अन्तर्गत —

(१)साधारणभ्रान्ति (Normal illusions)
(२)असाधारणभ्रान्ति (Abnormal illusions)
(३)निरधिष्ठानकभ्रान्ति (Hallucination)

यों मूलमें तीन प्रभेद दिखलाये जाते हैं. इनमें साधारणभ्रान्तिके भी कई उपभेद उपलक्षणविधिसे यों दिखलाये हैं : (१/क)समकालिक वैसादृश्यमूलक भ्रान्ति, उदाहरणतया, समान परिमाणके दो वर्तुलोंमेसे एकको लघुपरिमाणवाले वर्तुलोंसे चारों घेर लेनेपर और दूसरेको दीर्घपरिमाणवाले वर्तुलोंसे घेर लेनेपर एक बड़ा और दूसरा छोटा दिखलायी देता है. (१/ख)पूर्वोत्तरकालिक वैसादृश्यमूलक भ्रान्ति उदाहरणतया ३० सेन्टीमीटरकी एक मुड़ी हुई रेखाको एकाग्रदृष्टिसे कुछ देर तक निहारनेके बाद तुरत सीधी रेखापर दृष्टिपात करनेपर वहभी मुड़ी हुई दिखलायी देने लगती है. (१/ग)भौमितिक भ्रान्तियां, इनके अन्तर्गत भी समान होनेपरभी उन्नताकृति तिर्यगाकृतिकी तुलनामें ज्यादा लंबी लगती है. अधिकावकाशव्यवहित आकृति समान होनेपर भी अल्पावकाशव्यवहित आकृतिकी तुलनामें दीर्घ परिमाणवाली लगती है. दो समान परिमाणवाले

अंशोंमेंसे एकको अपेक्षाकृत महत्परिमाणवाले अंशीमें योजित किया जाये और दूसरेको अल्पपरिमाणवाले अंशीमें योजित किया जाये तो महदंशीका अंश महत्परिमाणवाला लगता है. कभी-कभी अंशीके प्रतिभासकी प्रधानताके वश अंशका अप्रतिभास भी हो जाता है तो कभी-कभी अंशके प्रतिभासकी प्रधानताके वश अंशीका भी अप्रतिभास हो जाता है. दो समानान्तर रेखाओंपर बाह्यकोण या आन्तरकोण वाली रेखाओंका न्यास करनेपर बाहर या भीतर की ओर चौड़ी होती या सिकुड़ती वे लगने लगती हैं. हल्के रंगकी आकृति गहरे रंगकी आकृतिकी तुलनामें महत्परिमाणवाली लगती है. ये ऐसी भ्रान्तियां है जो सभीको साधारणरूपेण होती ही हैं, नभोनैल्य या इन्द्रधनुष के प्रतिभासकी तरह. इन औपाधिक प्रतिभासोंको 'भ्रान्ति' इसलिये कहा जाता है क्योंकि अन्य परीक्षणोंके आधारपर इनमें भासित होते विषय बाधित हो जाते हैं[२९]. इस तरहके प्रतिभासोंमें बाह्य उपाधिवश प्रतीत होते तथ्यसे अवगत होनेपर भी ऐसा अवभास निवृत्त नहीं हो पाता, जबकि अन्य प्रमाणोंके आधारपर वैसा न होना भी सिद्ध होता है. अतः इन्हें 'साधारणभ्रान्ति' कहा जाता है.

प्रस्तुत लेखकको इस विषयमें आग्रहके साथ इतना ही कथनीय लगता है कि 'साधारणभ्रान्ति' नामसे पुकारे जाते इन प्रतिभासोंको मानसिक संघात या बौद्धिक कल्पना अर्थात् असत्ख्याति या आत्मख्याति या अनिर्वचनीयख्याति के अर्थोंमें भ्रान्तितया स्वीकार लेनेकी धांधल नहीं करनी चाहिये. क्योंकि मनोबुद्धचहंकारचित्तरहित केमेरा भी इन तथाकथित भ्रान्तिप्रतिपन्न वस्तुओंका चित्र वैसा ही प्रकट करता है, जैसा कि सभी साधारणजनोंको प्रतिभास होता है. निर्वस्त्र दिगम्बर शुकादिसदृश अवधूत मुनियोंके साक्षात्कारकी तुलनामें वल्कलादि वस्त्ररूप विशेषणादिविशिष्ट उनके पूर्वज वशिष्ठ पराशर व्यास आदि मुनियोंके साक्षात्कारको, केवल विकल्पावगाही होनेके दोषवश, क्या अनिर्वचनीयख्याति या असत्ख्याति रूपा भ्रान्ति माना जा सकता है! क्या शुकादिसदृश

दिगम्बर अवधूतोंके ही साक्षात्कारको, केवल निर्विकल्पावगाही ज्ञान होनेके गुणवश, प्रामाणिक माननेका सिद्धान्त स्वीकारा जा सकता है? अतः 'साधारणभ्रान्ति'के रूपमें कहे जाते इन प्रतिभासोंको क्यों न 'औपाधिकप्रमा' नामसे पुकारना चाहिये? न्यायमतके अनुसार इतना तो स्पष्ट ही है कि वस्त्र और वशिष्ठादि मुनियों के बीच समवाय सम्बन्ध न होनेसे किसी साक्षात्कारमें वस्त्रवैशिष्ट्यकी तो अन्यथा वस्त्राभाववैशिष्ट्यकी प्रमा भी सम्भव तो है ही! अतः इन्हें अनुभूयमान वस्तुओंके स्वाभाविक गुणधर्म माननेके बजाय आगन्तुक गुणधर्म माननेमें क्या आपत्ति हो सकती है? यह धैर्यपूर्वक विमर्श करना चाहिये.

भारतीय ख्यातिविचारके सन्दर्भमें ''अधिष्ठानके यथार्थ ज्ञानसे निवर्त्य शुक्तिरजतसदृश भ्रम''को निरुपाधिक भ्रम माना गया है; जबकि, ''अधिष्ठानके यथार्थ ज्ञानसे अनिवर्त्य किन्तु उपाधिनाशसे निवर्त्य अलातचक्र या शंखपीतिमा जैसे भ्रमों''को औपाधिक भ्रम माना गया है. ऐसा विभाजन आधुनिक मनोविज्ञानमें इतने स्पष्ट शब्दोंमें नही पाया जाता. वैसे ही केशोण्ड्रक (Flying Gnats) कर्णकुहरान्तर्गुञ्जन (Humming sound in eardrum) जैसे निरधिष्ठानक भ्रमोंके बारेमें अपने यहां भी सांगोपांग विवेचना हो नहीं पायी, स्वाप्निक प्रतिभासके अपवादको छोड़ कर. आधुनिक मनोविज्ञानने, परन्तु, निरधिष्ठानक भ्रम (Hallucination) और साधिष्ठानक भ्रम (Illusion) के पार्थक्यके बारेमें स्वरूप, कारण और निवृत्त्युपाय के दृष्टिकोणसे पर्याप्त विवेचना की है. जे.पी.गिल्फॉर्डने पूर्वोदाहृत अपने सामान्यमनोविज्ञानमें इनके पार्थक्यको इन शब्दोंमें समझाया है *''इल्युज़न कुछ न कुछ तो ऐन्द्रियक उद्दीपक आलम्बनके वश होता है जबकि हेल्युसिनेशन तो शतप्रतिशत कल्पनावश ही. वैसे यह सम्भव है कि यह भी किसी इन्द्रियको अपना आधार बना कर प्रकट हो''*[३०]. सी.टी.मॉर्गन इस प्रभेदको इन शब्दोंमें समझाते हैं *''भ्रान्तियां(साधिष्ठानक) इन्द्रियोंद्वारा अन्तर्निविष्ट सूचनाओंकी प्रात्यक्षिक आयोजनरूपा होती हैं. भ्रान्ति(साधिष्ठानक) स्मृति आदि अन्यतम मानसिक क्रियाकलापोंके*

अलावा अन्य किसी भी बाह्य कारणसे अजन्य कभी नहीं होती, यों वह केवल अन्तर्निर्मित प्रत्यक्षानुभूतिरूपा भ्रान्ति(निरधिष्ठानक) नहीं होती''[३१]. एतद्विषयक भारतीय सन्दर्भोंमे कुछ कहना-सोचना हो तो भागवतपुराण (१०।७७।२५-२९)मे श्रीकृष्ण और शाल्व-सौभके युद्धमें बन्दीके रूपमें उपस्थापित वसुदेवके प्रतिभासका वर्णन या इस तरहकी अन्यभी इन्द्रजालविद्या (Rope-trick) निरधिष्ठानकभ्रान्तियां हो सकती हैं.

ख्यातिके विशिष्टज्ञान होनेकी अर्थात् बुद्धिकी विविध वृत्तियोंकी चर्चाके अन्तर्गत स्वप्नको विपर्याससे पृथक् एक ज्ञानके प्रकारतया प्रतिपादित करनेकी उपपत्ति महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने भी, अतएव, इन शब्दोंमें दी है '' **'स्वापः'=स्वप्नरूपो, भिन्नसृष्टिविषयत्वात् न पूर्वोक्तेषु अन्तर्भावः**''[३२].

अतएव स्वप्न और विपर्यास अथवा निरधिष्ठानक और साधिष्ठानक, यों मूलमें भ्रमके दो प्रभेद मानने चाहिये. यह निरधिष्ठानकता आरोप्यमाणसादृश्योद्बोधक अधिष्ठानके अभिप्रायवश ही है. क्योंकि ब्रह्म भी अधिष्ठान न बन पाये तो ऐसी तो कोई अनुभूति ही शक्य नहीं. अतएव महाप्रभुने भगवत्क्रीड़ाके तीन प्रकार स्वीकारे हैं ''**१.यः क्रीडति २.यो जगद् भूत्वा क्रीडति और ३.यतो जगत् क्रीडति**''[३३]. इनमें तृतीय कोटिकी क्रीड़ाके बारेमें महाप्रभुका कहना है कि भगवान् इस प्रकारकी क्रीड़ामें निर्लिप्त रहते हैं. अर्थात् सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म अपने सदंशसे इस प्रकारमें लिप्त नहीं होता. अतः वह अद्भुतकर्मा अपनी विशेषशक्तिद्वारा इस तरहकी क्रीड़ामें नाम-रूप-कर्मोंका केवल प्रतिभास ही उत्पन्न करता है. अर्थात् इस तरहके भ्रान्तिज्ञानमें ज्ञानका उपादान होनेके बावजूद ज्ञायमान विषयका वह उपादान नहीं बनता. अस्तु.

इसी तरह विपर्यासके पुनः निरुपाधिक तथा औपाधिक यों दो उपभेद और होते हैं. इनमें निरुपाधिक भ्रान्तिकी भारतीय विवेचनाके

अनुसार यह कहा जा सकता है कि [१]अधिष्ठानवस्तुविषयक सामान्यज्ञान, [२]विशेषावभासमें प्रतिबन्ध, [३]अधिष्ठान-आरोप्यका सादृश्य, [४]आरोप्यमाण वस्तुविषयक पूर्वानुभव, [५]आरोप्यमाण वस्तुविषयक हानोपादानोपेक्षात्मिका वासना, [६]तज्जन्य हेयोपादेयोपेक्षात्मक संस्कारोद्दीपन आदि भ्रान्तिज्ञानकी कारणसामग्रीको उपाधि नहीं माना जाता. क्योंकि अधिष्ठानके तत्त्वज्ञान होते ही निरुपाधिक भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है. इसके अलावा बहुधा इस तरहकी कारणतासामग्री सर्वजनसाधारण न हो कर व्यक्तिविशेषके साथ ही रहती होती है. अतः भ्रान्तिके इस प्रकारको साधारण प्रकार नहीं माना जाता.

जैसे साधारण और असाधारण भ्रान्तिओंका पृथक्करण भारतीय चिन्तनमें सुविशद नहीं हो पाया, ऐसे ही साधिष्ठानक और निरधिष्ठानक भ्रान्तिओंके प्रभेदका भी सुविशद निरूपण हो नहीं पाया है. मुझे लगता है कि हेतु इसमें हमारी रुचि भ्रान्तिज्ञानके विषय और स्वरूप की विवेचना करनेकी अधिक बलवती रही बजाय कि भ्रान्तिज्ञानके कारणोंकी विवेचनाके.

वैसे यह तो सत्य है कि न्यायबिन्दुमें[३४] आचार्य धर्मकीर्तिप्रदत्त भ्रान्तिज्ञानके उदाहरणोंकी विवेचना करते हुवे आचार्य धर्मोत्तरने अपनी टीकामें भ्रान्तिज्ञानके हेतुओंके चार वर्ग दिखलाये हैं :

१.इन्द्रियगत
२.विषयगत
३.बाह्याश्रयगत
४.अध्यात्मगत.

यह पर्याप्त महत्त्वपूर्ण पृथक्करण है परन्तु साथ ही साथ अतीव अपर्याप्त भी है. क्योंकि सर्वप्रथम तो इन्हें निरुपाधिक और औपाधिक

होनेके प्रभेदमात्रसे द्विगुणित करनेपर चारके बजाय आठ संख्या मिल सकती थी, वैसे अवान्तर प्रभेद और भी अधिक इनके सोचे जा सकते हैं :

१.इन्द्रियगत हेतुके अन्तर्गत : क.स्वयं करणगत (उदाहरणतया चन्द्रद्वयकी भ्रान्ति) ख.व्यापारगत (उदाहरणतया केशोण्ड्रककी भ्रान्ति) और ग.सहकारिकारणगत (उदाहरणतया पर्याप्त और अल्प प्रकाशभेदवश वस्तुके वर्णोंमें भिन्नताकी भ्रान्ति). ये हेतु सहज ही सोचे जा सकते हैं.

२.इसी तरह विषयगत हेतुके अन्तर्गत : क.धर्मिनिष्ठ भ्रान्तिहेतुता (उदाहरणतया दूरस्थ नभःपिण्डोंके अल्पपरिमाण होनेकी भ्रान्ति) ख.स्वाभाविकधर्मनिष्ठ भ्रान्तिहेतुता (उदाहरणतया अतिसादृश्यवश होती अभेदकी भ्रान्ति) ग.आगन्तुकधर्मनिष्ठ भ्रान्तिहेतुता (उदाहरणतया आचार्य धर्मकीर्तिप्रदत्त अलातचक्रकी या उपरागवश सूर्य-चन्द्रमें कृष्णवर्ण होनेकी भ्रान्ति अथवा मालतीके शुष्क पुष्पको सूंघनेपर अन्धजनको अमालती होनेकी भ्रान्ति).

३.इसी तरह बाह्याश्रयके बारेमें भी यह कहा जा सकता है : क.भ्रान्तिज्ञानके विषयका बाह्याश्रय (उदाहरणतया एयरपॉर्टपर कन्वेअर बेल्टके चलनेपर सामानके चलनेकी अथवा बेक्प्रॉजेक्शनवश स्थिर कारके चलनेकी भ्रान्ति) ख.भ्रान्तिज्ञानके करणका बाह्याश्रय (उदाहरणतया त्र्यायामिक चलचित्रोंको देखनेमें प्रयुक्त सव्येतर रक्त और नील-हरित वर्णोंके उपनेत्रसे जन्य भ्रान्ति) ग.भ्रान्तिज्ञानके कर्ताका बाह्याश्रय (उदाहरणतया स्वयं धर्मकीर्तिद्वारा प्रदत्त नौकाके तेज चलनेपर तटस्थ स्थिर वृक्षोंके चलायमान होनेकी भ्रान्ति).

४.अध्यात्मगत कारणके बारेमें भी : क.सहज (उदाहरणतया साहजिक अज्ञानके दोषवश ब्रह्मानुभूति न होनेके कारण ब्रह्मके अत्यन्ताभावकी

भ्रान्ति अथवा हमारे सौर परिवारकी अंशितया आकाशगंगाके दृष्टिगोचर न हो पानेकी भ्रान्ति) ख.आगन्तुक दोषवश (उदाहरणतया आचार्य धर्मकीर्तिप्रदत्त ज्वरादिसंनिपातवश होते ज्वलितस्तम्भादि विषयोंकी भ्रान्ति) ऐसे आध्यात्मिक दोषोंके प्रभेद भी सोचे जा सकते हैं.

इस तरह भ्रान्तिज्ञानकी कारणताके विचारके बाद अब थोड़ा-बहोत स्वरूप एवं वर्गों के विचारके साथ इस चर्चाका उपसंहार करना है.

[५]

भ्रान्तिज्ञानके बारेमें विविध मतोंका जैसा परिपूर्ण संकलन मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिककार श्रीलक्ष्मीपुरं श्रीनिवासाचार्यजीने किया है, वह वस्तुतः अन्यत्र दुर्लभ संकलन है. इसमें आत्मख्याति, असत्ख्याति, अन्यथाख्याति, अख्याति, सदसदनिर्वचनीयख्याति, सत्ख्याति, शून्यख्याति, निरधिष्ठानख्याति, अर्थसंसर्गजाकारख्याति और बाह्याकारार्पिताकारख्याति. इन दशविध ख्यातिवादोंमें अन्तर्भूत होती कुछ और भी प्रक्रियाओंका इस ग्रन्थरत्नमें निरूपण-संकलन उपलब्ध होता ही है. यह किसी भी जिज्ञासुके लिये वहींसे अध्येतव्य है. इस प्रबन्धमें उसका पुनरावर्तन आवश्यक नहीं लगता. यहां तो मुझे वाल्लभ वेदान्तमें ख्यातिके बारेमें जो निरूपण उपलब्ध होता है उसके व्याख्यानतया कुछ निरूपण अभिप्रेत है.

भागवतपुराणके तृतीयस्कन्धका छब्बीसवां अध्याय वाल्लभ वेदान्तकी ज्ञानमीमांसाका प्रमुख आकर स्थल है. यहां चित्त-अहंकार-मनो-बुद्धिके प्रादुर्भाव, स्वरूप, लक्षण एवं क्रियाकलापों की चर्चा मूलकारिकाओंके अनुसार अपनी सुबोधिनी व्याख्यामें महाप्रभुने की है. अतः वहांके उन्तीस और तीसवें श्लोकमें महाप्रभुने संशय, निश्चय, स्मरण, स्वप्न रूपी ज्ञानके प्रभेदोंके साथ विपर्यासको भी बुद्धिवृत्तितया प्रतिपादित किया है. बुद्धिका स्वरूपलक्षण 'द्रव्यस्फुरणविज्ञान' कह कर दिया है. इसी तरह बुद्धिका कार्यलक्षण उसके 'इन्द्रियानुग्राहिका' होनेके रूपमें

दिया है. तदनुसार बुद्धि अपनेद्वारा या स्वयं अपने भीतर बोध्य वस्तुको उत्पन्न नहीं करती परन्तु उत्पन्नानुत्पन्न(=आविर्भूत-अनाविर्भूत) सद्वस्तुके स्फुरण(=निर्विकल्पकानुभूति)को सविकल्पकानुभूतितया अर्थात् सामान्यतया ज्ञात वस्तुको विकल्पविशिष्टतया विज्ञापित करनेके रूपमें प्रकट होती है. यह बुद्धिका स्वरूपलक्षण है. कार्यलक्षण, परन्तु, इन्द्रियोंपर अनुग्रह करना है. अर्थात् जिन आंख या कान आदि इन्द्रियोंसे, जो दिखलायी या सुनायी दे रहा है, उन दिखलायी या सुनायी देती वस्तुओंको भलीभांति देख या सुन पाने आदिमें सहायता करना बुद्धिका इन्द्रियोंपर अनुग्रह है, इन्द्रियोंके ज्ञानेन्द्रिय होनेपर. बुद्धि इसी तरह किसी कर्मार्थ चेष्टा करती कर्मेन्द्रियोंको भी कर्म सम्पन्न करवा देनेमें भी सहायिका बनती है. यह जटिल उत्तरदायित्व बुद्धि अपनी संशय विपर्यास निश्चय स्मरण और स्वप्न रूपिणी पंचविध वृत्तिओंद्वारा सम्पन्न करती है.

अतएव किसी भी सजीव प्राणीके लिये इन पांचों वृत्तिओंमेंसे किसीभी एक वृत्तिकी उपयोगिता अन्य वृत्तिसे न्यून नहीं होती. प्रत्येक निश्चयके घटित होनेमें संशयकी कोई उपयोगिता अगर न होती तो वेदान्तविचारके अधिकरणके पांच अंगोंमेंसे प्रथमांग निर्विकल्पज्ञानस्थानीय विषयवाक्यके निर्देशके बाद द्वितीयांग संशयका कोई स्थान ही होना नहीं चाहिये था. इसी तरह द्वितीयांग संशय यदि पर्याप्त होता तो विपर्यासस्थानीय पूर्वपक्षको कभी तृतीयांगतया मान्य नहीं रखना चाहिये था. पूर्वपक्षका निरसन जिस चतुर्थांग उत्तरपक्षद्वारा होता है, वह यदि निश्चयाकारक न हो तो बात ही नहीं बन पाती है. अन्तिम अंग संगति भी विचार्यविषयके पूर्वोत्तरभावके विविध प्रकारोंके स्मरणके बिना शक्य ही नहीं.

रही बात स्वप्नके निरालम्बन ज्ञान होनेकी और उसके ऐसे प्रचारकी जो योगाचारवादी बौद्धोंने जम कर किया. परन्तु स्वयं भगवान् बुद्धकी जननी मायादेवीको वह मान्य होगा कि नहीं यह विचारणीय

लगता है! क्योंकि भदन्त अश्वघोष कहते हैं "**प्राग्गर्भधानाद् मनुजेन्द्रपत्नी सितं ददर्श द्विपराजम् एकं, स्वप्ने विशन्तं वपुः आत्मनः सा न तन्निमित्तं समवाप तापं, सा तस्य देवप्रतिमस्य देवी गर्भेण वंशश्रियम् उद्वहन्ती**" [३५]. अतः भगवान् बुद्धके गर्भप्रवेशके स्वप्नको निरालम्बन होनेसे सर्वथा अविश्वसनीय तो मायादेवी मानती नहीं होंगी और न अधिकांश बौद्धोंने ऐसा कभी माना! स्वयं उपनिषद्को भी आत्माके स्वयञ्ज्योतिष्ट्वका प्रतिपादन स्वाप्निक ज्ञानके बिना निरूपण करना सुहाता नहीं है "**अत्र अयं पुरुषः स्वयञ्ज्योतिः भवति**" [३६]. इसी तरह स्वयं ब्रह्मसूत्रकार भी स्वाप्निक ज्ञानको श्रुतिके बलपर यथार्थका सूचक तो मानते ही हैं[३७]. अतः वेदान्त जैसे महनीय गम्भीर विचारक्षेत्रमें भी जब स्वाप्निक ज्ञानका इतना महत्त्व मान्य रखा गया हो तब साधारण जनोंके दैनन्दिन व्यवहारमें इनकी अपरिहार्य उपयोगिताका अस्वीकार कैसे सम्भव है?

एक और बात जो इस मोड़पर सावधानीके साथ समझ लेनी चाहिये वह यह है कि इन बुद्धिवृत्तियोंके असंकीर्ण स्वरूपके प्रतिपादनके आधारपर, अतएव, ऐसा सिद्ध नहीं हो पाता कि इन पंचविध वृत्तियोंके स्वरूपके अन्योन्यसंमिश्रणके वश अन्योन्यसंकीर्ण स्वरूप हो ही नहीं सकते.

यह तो सच है कि सम्प्रदायमें मान्य वाल्लभ वेदान्तके किसी भी पूर्वग्रन्थमें इसका निरूपण उपलब्ध नहीं होता परन्तु महाप्रभुकी मान्यताके विपरीत यदि यहां कुछ कहा जा रहा हो तो महाप्रभुसे इस अपराधकी क्षमायाचनाके साथ अन्यथा पूर्वाचार्यवचनसे अविरुद्ध प्रतिपादन मान लेनेके दुःसाहसके साथ कुछ निरूपण मैं करना चाहूंगा.

उल्लिखित तृतीयस्कन्धसुबोधिनीमें उपलब्ध होती ज्ञानमीमांसाके आधारपर मुझे ऐसा लगता है कि सर्वप्रथम चैतन्यके दो प्रभेद स्वीकारने चाहिये : १.काल-कर्म-स्वभावरूपी शक्तियों और नाम-रूपोंके अनन्त वैविध्य की सम्भावनाओंको अपने भीतर समाहित रखनेवाला

देश-काल-वस्तु-परिच्छेदरहित ब्राह्मिक समष्टिचैतन्य २.व्यष्टिचैतन्य कि जिसमें समष्टिकी अपरिच्छिन्न सामर्थ्यकी अंशरूपा सर्वविध या न्यूनाधिक सभी सामर्थ्य परिच्छिन्न परिमाणमें तिरोहित या आविर्भूत रहती हों.

इस धर्मिगत तथा धर्मगत अंशरूपा परिच्छिन्नताके कारण, इसमें बाह्याभ्यन्तरका प्रभेद खड़ा हो जाता है, जो समष्टिचेतनाके सन्दर्भमें सोचा नहीं जा सकता था. अतएव इस व्यष्टिचेतनामें ज्ञेय (भवति) और ज्ञान (अनुभवामि) का प्रभेद अपनेसे बाह्य और आन्तरिक घटनाओं या तथ्यों के रूपमें प्रतिभासित होता है. जहां बाह्याभ्यन्तर दोनोंमें संवाद लगता है, वहां प्रमात्मक ज्ञान होता है. जहां विसंवाद लगता है वहां अप्रमात्मक ज्ञानका अनुव्यवसाय होता है. व्यष्टिचेतनाकी आत्मानुभूति (अनुभवामि) भी निरुपाधिक प्रतीति न हो कर औपाधिक अर्थात् चित्त अहंकार मन और बुद्धि के उपकरणोंद्वारा ही सम्पन्न होनेवाली अनुभूति मानी गयी है. इसके अलावा इस व्यष्टिचेतनामें ज्ञेयानुभूति (भवति)के लिये केवल अन्तःकरण भी पर्याप्त नहीं होते अपितु बाह्य ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय भी बाह्य उपकरणतया अपेक्षित होते हैं. अतएव यहां **'द्रव्यस्फुरणविज्ञान'** और **'इन्द्रियानुग्रह'** स्वरूपलक्षण और कार्यलक्षण वाली बुद्धिका उपयोग अपेक्षित होता है. ये द्रव्यस्फुरणविज्ञान और इन्द्रियानुग्रह के रूपमें स्वरूपनिर्वाह और कार्यनिर्वाह बुद्धि अपनी संशय विपर्यय निश्चय स्मरण और स्वप्न रूपा पंचविध वृत्तिओंद्वारा सम्पन्न करती है.

अतः व्यष्टिचेतनाके बौद्धिक ज्ञानके सन्दर्भमें सर्वप्रथम :

१.यथार्थानुभव २.याथार्थ्याननुभव ३.अयथार्थानुभव

—यों तीन प्रकार स्वीकारने चाहिये.

यथार्थानुभवके सुबोधिनीकारने तीन प्रकार दिखलाये हैं : १/क.प्रत्यक्ष

१/ख.अनुमिति १/ग.शाब्द.

याथार्थ्याननुभवके चार प्रकार यों सोचे जा सकते हैं : २/क.निर्विकल्पक २/ख.अज्ञानके विविध प्रकार निद्रा-मौढ्यादि २/ग.संशय २/घ.स्मरण.

अयथार्थानुभव अर्थात् विपर्यासके मूलमें दो प्रकार : ३/क.साधिष्ठानक और ३/ख.निरधिष्ठानक. इनमें साधिष्ठानक विपर्यासके पुनः दो : ३/क/१.निरुपाधिक और ३/क/२.औपाधिक. इसी तरह निरधिष्ठानकके पुनः दो प्रकार : ३/ख/१.संमोहन ऐन्द्रजालिक रोग आघात आदिसे जन्य भ्रान्ति ३/ख/२.स्वाप्निकी भ्रान्ति.

इन त्रिविध ज्ञानोंके प्रकारोंके परस्परमिश्रणसे अन्य अनेकविध उपभेद प्रकट हो सकते हैं ऐसा मुझे प्रतीत होता है. तदनुसार निश्चयान्तर्गत प्रत्यक्ष अनुमिति शाब्द और अनिश्चयान्तर्गत स्मृति और स्वप्न इन पांचोंमें संशयाकारक विपर्यासाकारक निश्चयाकारक स्मरणाकारक और स्वप्नाकारक संकीर्ण ज्ञान सहज सम्भव लगते हैं.

१.संकीर्ण संशय :

(विपर्यासात्मक संशय)कुछ संशय विपर्यासाकारक हो सकते हैं, यथा, देवदत्तको देख कर ऐसा संशय होना कि ''यह देवदत्त हो भी सकता और कदाचित् न भी हो!''. (निश्चयात्मक संशय)इसी तरह कुछ संशय निश्चयान्तर्गत प्रत्यक्षाकारक होते हैं, उदाहरणतया, ''अयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा!'' कुछ संशय अनुमित्याकारक हो सकते हैं, उदाहरणतया, ''शब्दो नित्यो वा अनित्यो वा!'' कुछ संशय शाब्दबोधाकारक भी हो सकते हैं, यथा, देवदत्तोक्त ''नद्यास्तीरे पञ्च फलानि सन्ति'' और यज्ञदत्तोक्त ''नद्यास्तीरे पञ्च फलानि न सन्ति'' ऐसे दो वचनोंको सुननेपर शाब्दबोधात्मक संशय होता है कि नदीके तटपर पांच फल हैं कि नहीं! (स्मरणात्मक संशय)इसी तरह कुछ संशय स्मरणाकारक भी हो सकते हैं ''नद्यास्तीरे पञ्च

फलानि सन्ति' वचनं देवदत्तोक्तं यज्ञदत्तोक्तं वा!''.

२.संकीर्ण विपर्यास :

(संशयात्मक विपर्यास)इसी तरह शुक्तिके बारेमें ''इदं रजतं न वा!'' ज्ञान संशयात्मक विपर्यास है. (निश्चयात्मक विपर्यास)निश्चयात्मक विपर्यासके अन्तर्गत सर्वप्रथम प्रत्यक्षात्मक विपर्यास ''इदं रजतम्''के रूपमें विख्यात ही है. हेत्वाभासोंके वश होती अनुमितिओंको अनुमित्यात्मक विपर्यास क्यों नहीं मानना? इसी तरह ''**तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय**'' श्रुतिमें[३७] निरुपाधिक ब्रह्म विवक्षित है या मायोपाधिक ब्रह्म ऐसे प्रश्नके उठनेपर केवलाद्वैतवादी वेदान्तीको निरुपाधिक बह्मका बोध शाब्दबोधात्मक विपर्यास लगेगा और शुद्धाद्वैतवादी वेदान्तीको सोपाधिक ब्रह्मका बोध शाब्दबोधात्मक विपर्यास लगेगा. अतः उसे शाब्दबोधात्मक विपर्यास क्यों नहीं मानना? (स्मरणात्मक विपर्यास)मेरे एक परिचित सज्जनको बहोत अरसेके बाद अकस्मात् मिलन होनेपर मैंने पूछा कि ''आपने मुझे पहचाना?'' तो वे बोले ''अरे आपको कैसे भूल सकता हूं आप दीक्षितजीके पुत्र उत्तमश्लोक हो!'' मैंने उन्हें याद दिलाया कि वह तो मेरा अनुज है. मेरा नाम तो 'श्याममनोहर' है तो बोले नाम चाहे जो कुछ हो, हो तो दीक्षितजीके पुत्र ही न! ठीक यही तो स्मरणात्मक विपर्यास हो गया!

३.संकीर्ण निश्चय :

(संशयात्मक निश्चय)संशयसंकीर्ण निश्चय बहुधा रज्जुके बारेमें यों होता है : ''**रज्जु अथवा सर्प दोमेंसे एक तो कुछ है ही**'' . (विपर्यासात्मक निश्चय)भ्रमसंकीर्ण निश्चयको बहुधा ''**गुरुमतं नतु गुरोः मतम्**:'' जैसे निन्दावचनोंद्वारा प्रकट किया जाता है. (स्मरणात्मक निश्चय)स्मृतिसंकीर्ण निश्चय ''**स्मर्यमाणन्तु इत्थमेव**'' जैसे वचनोंद्वारा प्रकट किया जाता है. (स्वप्नात्मक निश्चय)स्वप्नसंकीर्ण प्रत्यक्ष, यदि विद्वानोंको आपत्तिजनक न लगता हो तो, मैं आसक्तिभ्रमजन्य ''**सा सा सा सा जगति सकले कोऽयम् अद्वैतवादः!**'' जैसे दिवास्वप्नोंके उद्गारोंमें खोजना चाहूंगा.

४.संकीर्ण स्मरण :

(संशयात्मक स्मरण)सशंयात्मक स्मरण **''तत्र तदा देवदत्तः आसीद् यज्ञदत्तो वा ?''** किसे नहीं होता ? (विपर्यासात्मक स्मरण)इसे ही देवदत्त होनेके याथार्थ्यके सन्दर्भमें **''यज्ञदत्तएव आसीद्''** वचनावलीमें प्रकट करनेपर स्पष्टतया पहचाना जा सकता है. (निश्चयात्मक स्मरण)उल्लिखित देवदत्तकी भूतकालीन विद्यमानताके सन्दर्भमें **''देवदत्तएव आसीद्''** वचनावलीद्वारा प्रकट होती बुद्धिवृत्तिको निश्चयाकारक स्मरणतया कैसे नहीं स्वीकारना ?

५.संकीर्ण स्वाप :

(संशयात्मक स्वाप)संशयसंकीर्ण स्वाप्निक ज्ञान स्वप्नके अन्तर्गत होती संशयाकारिका बुद्धिवृत्तिके रूपमें अनेक लोगोंको होती ही है ऐसा पूछ कर देखा जा सकता है. (विपर्यासात्मक स्वाप)विपर्यासंकीर्ण स्वप्नका प्रमाण भी स्वप्नमें भी ''इदं रजतं-नेदं रजतम्'' रूप आरोप और अपवादात्मक ज्ञानके द्वारा बहुजनानुभूत तथ्य है. (निश्चयात्मक स्वाप)अर्थात् निश्चयसंकीर्ण स्वाप्निक ज्ञानके तो एक नहीं अनेकानेक उदाहरण विद्वानों वैज्ञानिकों कविओं चित्रकारों मूर्तिकारों एवं संगीतकारों के इतने सारे स्वानुभव उल्लिखित हैं कि उनकी तार्किक शाब्दिक वर्णाकृतिसम्बन्धित राग-तालादिकी जिन समस्याओंका समाधान जागते समय बुद्धि खोज न पायी उन्हें सोनेके बाद स्वप्नप्रदर्शनद्वारा बुद्धिने जता दिये. (स्मरणात्मक स्वाप)वैसे तो स्मृति और स्वप्न का परस्पर सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि **''दृष्टः श्रुतोऽनुभूतश्च प्रार्थितः कल्पितस्तथा भाविको दोषजश्चैव स्वप्नः सप्तविधः स्मृतः''**[३८] प्रसिद्ध उक्तिके अनुसार सातमेंसे पांच प्रकारके स्वप्न तो स्मृतिकी तरह ही पूर्वानुभूत वस्तुविषयक संस्कारके उद्बुद्ध होनेके कारण ही प्रकट होते हैं. स्मृतिके प्राकट्यमें परन्तु **''सदृशादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः''**[३९] उक्तिके अनुसार जाग्रत्कालीन सदृशदर्शन आदि हेतु बनते हैं जबकि स्वप्नमें तो पूर्वानुभूतवस्तुविषयिणी काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्यात्मिका असन्तुष्ट वासनायें ही बहुधा स्वप्नदर्शनार्थ जीवको उकसाती हैं. इस ऐसे स्वरूपके कारण नहीं प्रत्युत स्वयं स्वप्नमें

स्वप्नान्तिक संशय निश्चय भ्रान्ति की ही तरह स्वप्नान्तिक स्मरण भी प्रकट होता ही है. इस अर्थमें स्मरणसंकीर्ण स्वप्नके वास्तविक स्वरूपको समझना चाहिये.

६.क्रियासंकीर्ण पंचविध बुद्धिवृत्तियां :

अन्तमें बुद्धिको, क्योंकि 'इन्द्रियानुग्राहिका' कहा गया है और इन्द्रिय केवल ज्ञानेन्द्रिय ही नहीं होती अपितु कर्मेन्द्रियां भी होती ही हैं. अतः बुद्धि अपनी इन पंचविध वृत्तिओंके द्वारा कर्मेन्द्रियोंपर भी अनुग्रह अननुग्रह या उपेक्षा भी करती होनेके कारण पद-वाक्योच्चारणादि वाक्कर्म, ग्रहण-त्यागादि करकर्म, गमनोपवेशनादि चरणकर्म आदि क्रियाओंके अनुष्ठानमें संशय विपर्यास निश्चय तथा स्मरण रूपा वृत्तियां प्रकट करती ही है. क्रियासंशय क्रियाविपर्यास क्रियानिश्चय तथा क्रियास्मरण भी कर्मेन्द्रियोंमें यथायथ प्रकट होते ही हैं.

[६]

उपसंहारमें पुनः यही कहना अभिप्रेत है कि ज्ञानानुषंगिक क्रिया ज्ञानतया ही ली जानी चाहिये और कर्मानुषंगिक ज्ञान कर्मतया. जैसे निश्चयानुषंगिक अज्ञान संशय विपर्यास और स्मरण वेदान्तकी अधिकरणात्मिका विचाररीतिमें निश्चयांग होनेसे निश्चयरूप होते हैं. एवमेव, उदाहरणतया, पर्वतपर धूलिपटलदर्शनमूलिका ''पर्वतो वह्निमान् धूमात् महानसादिवत्'' अनुमिति निश्चयात्मिका होनेपर भी भ्रान्त्यंगतया भ्रमात्मिका बन जाती है. जैसे अनुमित्यंगतया व्याप्तिस्मरण स्मृतिरूप न हो कर अनुभूतिरूप ही हो जाता है. अथवा जैसे लिखिताक्षर ध्वनि या शब्द रूप न होनेपर भी ध्वन्यंगभूत या शब्दांगभूत प्रत्यक्षगोचर संकेत-चिन्ह होनेसे शाब्दबोधजनक हो जाते हैं. वही कथा बुद्धिकी भी अन्योन्यसंकीर्ण वृत्तियोंमें स्वीकार लेनी चाहिये. अतएव महाप्रभुका इस बारेमें यह एक अतीव मननीय उद्गार है : **''वस्तुतस्तु ब्रह्मज्ञाने तदितरज्ञानाभावोऽपि ज्ञानस्वरूपमेव !''**[४०].

निष्कर्षतया जो अनुभूति सर्वदृष्टसाधारण होनेपर भी तर्कतः उपपन्न न होती हो, साथ ही साथ ऐसी प्रतीतिका बाधज्ञान भी कभी होता न हो; और, मनोबुद्ध्यहंकारचित्तरहित उपकरणोंसे वैसे प्रतीयमान अर्थकी वैसे स्वरूपका प्रतिभासन भी होता हो, तो उसे औपाधिक भ्रम माननेके बजाय औपाधिक प्रत्यक्षतया मान्य करना चाहिये. इसके उदाहरणतया, नभोनैल्यके प्रतिभासको गिनाया जा सकता है. अन्यथा आणविक संरचना, न्यायस्थापित मानदण्डको अनुसरना हो तो, त्रसरेणुसे सूक्ष्मतर द्व्यणुक या परमाणु के अथवा आधुनिक विज्ञानकी परिभाषामें मॉलेक्यूल या एटमिक अथवा सबएटमिक स्ट्रक्चर के, इनमें कुछका प्रतिभासन तो तत्तद् विशेष उपकरणोंद्वारा सर्वथा शक्य हो ही गया है. उन उपकरणोंके साहाय्यके बिना किन्तु दर्शन-स्पर्शन आदि शक्य न होनेसे क्या उपकरणोपाधिक प्रतिभासनोंकों भी भ्रम मान लेना? क्या ऐसे प्रतिभासोंको औपाधिक भ्रान्ति माननेवाला अपने एक्सरे या सोनोग्राफी आदि उपकरणोंसे शरीरके भीतर किसी विकट किन्तु शल्यचिकित्साद्वारा निराकरणीय विकृतिको भ्रान्ति मान लेनेका दुःसाहस अब कर सकता है? स्पष्ट है कि ऐसी स्थितिमें प्रतीयमान विषयके औपाधिक रूप, गुण, धर्म, आकृति, कर्म या सम्बन्ध आदिको, जब कोई मनोबुद्ध्यहंकारचित्तवान् प्राणी निरुपाधिक प्रतिभास मान ले, तब तो उसे 'औपाधिक भ्रान्ति' माननी चाहिये. इसके प्राचीन उदाहरणतया तेज बहती नौकामें बैठे व्यक्तिको नदीतटगत वृक्षोंके गतिशील होनेकी प्रतीति, शंखपीतिमाकी प्रतीति या केशोण्ड्रककी प्रतीति को यदि कोई दृष्टिविकारोपाधिक माननेके बजाय विलक्षण दृश्य वस्तु मान ले तो वह औपाधिक भ्रान्ति हो सकती है. अन्यथा औपाधिक प्रत्यक्षकी विधाके रूपमें ही इन्हें मान्य करना चाहिये. और नहीं तो क्यों? यह गम्भीर विचार अब मांगता है.

सन्दर्भ

१. ख्यातिवादके बारेमें काश्मीरप्रत्यभिज्ञादर्शनके अनुसार भ्रान्तिज्ञानके हेतु और

स्वरूप यों निरूपित हुवे हैं : [हेतु]''द्विविधञ्च अज्ञानं बुद्धिगतं पौरुषं च. तत्र बुद्धिगतम् अनिश्चयस्वभावं विपरीतनिश्चयात्मकं च. पौरुषन्तु विकल्पस्वभावं सङ्कुचितप्रथात्मकम्. तदेवच मूलकारणं संसारस्य इति वक्ष्यामो मलनिर्णये''(श्रीमन्महेश्वराचार्य अभिनवगुप्तकृते तन्त्रसारे आह्नि.१-४). [स्वरूप]''ततो यावता पूर्णेन रूपेण प्रख्यातव्यम् विमर्शपर्यन्तं तावत् न प्रख्यातीति अपूर्णख्यातिरूपा अख्यातिरेव भ्रान्तितत्त्वम्. तद्वशेन हि असद्विपरीतानिर्वचनीवचनीयख्यातयोऽपि उच्यन्ताम्[विम.]. 'यावता पूर्णेन रूपेण'=विमर्शपर्यन्तेन 'इदं रजतम्' इति, सत्यविमर्शपर्यन्तं विश्रान्तिपर्यन्तं 'प्रख्यातव्यं'=प्रकटीकरणीयम् आसीत् 'तावद् न प्रख्याति'=प्रकटीकरोति भ्रान्तिः...इति अपूर्णज्ञानरूपा नतु ख्यात्यभावरूपा 'अख्यातिः'=अज्ञानं... भ्रान्तिस्वरूपं भवति... अपूर्णख्यातिवशेन तैस्तैः वादिभिः 'असद्विपरीतानिर्वाच्यादिख्यातयोऽपि उच्यन्तां' का हानिः ! अपूर्णज्ञानन्तु अत्र तावद् अस्ति शुक्तेः रजततया ग्रहणाद् इति भावः. 'आदि'शब्देन आत्मख्यातिग्रहणम्'.'[भास्क.](ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शनी तथा भास्करी.अधि.२।-आह्नि.३।कारि.१३). यह हेतु और स्वरूप का निरूपण हुवा परन्तु भ्रान्तिभात विषयके स्वरूपकी जिज्ञासा हो तो श्रीअभिनवगुप्तका प्रस्तुत वचन अवधेय है ''किञ्च भ्रान्तौ असद् वा आत्माकारो वा प्रख्याति'.'(ईश्वरप्रत्यभिज्ञावविमर्शनी अधि.१।आह्नि.३।कारि.४) अतः विषयदृष्ट्या आत्मख्याति भी सम्भव लगती ही है.

२. न्यायकुमुदचन्द्रोदय (लघीयस्त्रयकारिका : १।३). यहां यद्यपि स्वयं मूलकार श्रीअकलंक या व्याख्याकार श्रीप्रभाचन्द्र ने 'चार्वाक'नामोल्लेखपूर्वक अख्यातिका विमर्श नहीं किया तथापि विद्वान् सम्पादकने अन्यान्य ग्रन्थोंकी एकवाक्यताके आधारपर इसे चार्वाकमततया सूचित किया है.

३. ''तस्माद् विभक्तः आकारः सकलो वासनाबलाद् बहिः अर्थत्वरहितः ततो अनालम्बना मतिः. अतएव सर्वे प्रत्यया अनालम्बनाः प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवद्...'' प्रज्ञाकरगुप्तकृत वार्तिकालंकार (३।३३० पृ.२२ राहुल सांकृत्यायनसंस्करण).

४. ''आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा तथानिर्वचनख्यातिः इत्येत्ख्यातिपञ्चकं, योगाचारा माध्यामिकास्तथा मीमांसकाअपि नैयायिकाः मायिनश्च पञ्च

ख्यातीः क्रमाद् जगुः''(भीमाचार्य झलकीकरविरचित न्यायकोश : 'ख्याति'/१).

५. शांकर वेदान्ताभिमत सर्वानर्थहेतुभूत अविद्याकी आवरण तथा विक्षेप शक्तिओंके विचारसे, अथवा वाल्लभ वेदान्ताभिमत व्यामोहिका मायाकी आच्छादिका और अन्यथाप्रतीतिहेतुभूता शक्तिओंके विचारसे भी प्रत्येक भ्रान्तिज्ञानसे नियतपूर्ववर्तिताके वश अधिष्ठानका अभान/अज्ञान और आरोप्यमाण विषयके अन्यथाभान/अन्यथाज्ञानरूप होनेके कारण अख्याति और अन्यथाख्याति सभी विचारकोंके भ्रान्तिकारणतया अथवा भ्रान्तिस्वरूपतया गलेपतित ही प्रतीत होती होनेसे ! द्रष्टव्य : ''अख्यातौ वा अन्यथाख्यातौ विश्रमः सर्ववादिनाम्''(मान-मेयरहस्यश्लोकवार्तिक=६०-६१।२९५-३०६).

६. भगवद्गीतां : २।१६.

७. गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरणविरचित ख्यातिवाद(पृष्ठ : १२).

८. ''तद्धेदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तद् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत असौनामायम् इदंरूपम्''(बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।७)-''तस्य ह वा एवं पश्यतः एवं मन्वानस्य एवं विजानतः... आत्मतः आविर्भावतिरोभावौ'' (छान्दोग्योपनिषद् : -७।२६।१).

९. ''त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म. ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि विभर्ति...ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति...ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् - अयम् आत्मो एकः सन् एतत् त्रयम्''(बृहदारण्यकोपनिषद् : १।६-।३).

१०. ''हन्त तिरोऽसानीति सा गौः अभवत् ऋषभः इतरः... वडवा इतरा अश्ववृषः इतरः... तत् सर्वम् अभवत्. सो वेद अहं वाव सृष्टिः अस्मि अहं हि इदं सर्वम् असृक्षि इति ततः सृष्टिः अभवत्. सृष्ट्यां ह एतस्यां भवति य एवं वेद''(बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।४).

११. ''एवञ्च निरुपाधिके रज्जुभुजङ्गादिभ्रमे चक्षुषा सद्रूपैव रज्जुः गृह्यते भुजङ्गस्तु बुद्धिकल्पितो बुद्धया विषयीक्रियते... औपाधिकभ्रमेतु चक्षुषा सद्रूपो घटो मिथ्याभूतो विषयतारूपो भ्रमणधर्मः च इति उभयं विषयीक्रियते. तदनन्तरं सदोषबुद्धया 'घटो भ्रमणवान्' इति स्थाप्यते'' (प्रमेयरत्नार्णव-ख्यातिविवेक), ''ततः चक्षुर्ग्राह्यात् शुक्त्यादेः अन्यस्य रजतादेः ख्यातिः बुद्धिवृत्तिरूपा

अन्यख्यातिः 'भ्रम'शब्दवाच्या. अन्यथाज्ञानन्तु संशयविपर्यासादिभ्यो भिन्नं मायिकं ज्ञानान्तरमेव नतु भ्रमः... अस्मिन् अन्यथाज्ञाने मायाजन्यधर्मयुक्तो विषयो भासते. 'घटो भ्राम्यति' 'सिता कट्वी' 'शङ्खः पीतः' इत्यादौ..."(निर्णयार्णव.४।६).

१२.द्रष्टव्य : प्रस्थानरत्नाकर (प्रमाणपरिच्छेद प्रथमकल्लोल चतुर्थतरङ्ग).

१३.महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यविरचित तत्त्वार्थदीपनिबन्ध(१।६९).

१४."सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभएव च प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च"(भगवद्गीता : १४।१७), "सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिः ज्ञानम् अपोहनं च"(भगवद्गीता : १५।१५).

१५."भूमिरापो... मनो बुद्धिरेव च अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिः अष्टधा" (भगवद्गीता : ७।४),"सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय इति... इदं सर्वम् असृजत यद् इदं किञ्च तत् सृष्ट्वा... सत् च त्यत् च अभवत्... विज्ञानं च अविज्ञानं च" (तैत्तिरीयोपनिषद् : २।६). "माया च अविद्या च स्वयमेव भवति"(नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद् : ९). "ज्ञानमेकं पराचीनैः इन्द्रियैः ब्रह्म निर्गुणम् अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा"(भागवतपुराण : ३।३२।२८)की सुबोधिनी भी.

१६."श्रिया... विद्ययाऽविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्" (भागवतपुराण : १०-।३९।५५). "मन्मायामोहितधियः पुरुषाः..."(भागवतपुराण : ११।१४।९).

१७."तद् आत्मानम् स्वयम् अकुरुत" (तैत्तिरीयोपनिषद् : २।७), "आत्मकृतेः परिणामाद्"(ब्रह्मसूत्र : १।४।२६) इनपर महाप्रभुकृत अणुभाष्य भी.

१८.द्रष्टव्य : श्रीलालूभट्टकृत ख्यातिविवेक (पृष्ठ : ८३) तथा प्रस्थानरत्नाकर (प्रमाणपरिच्छेद प्रथमकल्लोल द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ तरङ्ग).

१९. General Psychology(Chpt.9/Seeing Colors) by J.P.Guilford.

२०. भगवद्गीता(१८।२१), भागवतपुराण(११।२५।२४-११।२५।६).

२१. द्रष्टव्य : Introduction to Psychology by Clifford T. Morgan (Chpt.Perception/OrganiZation in Perception) and General Psychology by J.P.Guilford (Chpt.10 Seeing:Forms Space and Movement).

२२. द्रष्टव्य : Light And Vision by C.G.Mueller and Mae Rudolph (Chpt.3).
२३.तत्रैव(Chpt.2 p.38).
२४.तत्रैव(Chpt.2 p.39).
२५. A Brief History of Time(Chpt.5 p.74-79) by Stephen Hawking.
२६. द्रष्टव्य : Introduction To Psychology by C.T.Morgan (Chpt.10 p.293)
२७. मुण्डकोपनिषद्(२।२।११), छान्दोग्योपनिषद्(६।८।७ — ७।२५।१), बृहदारण्यकोपनिषद्(१।४।१०), श्वेताश्वतरोपनिषद्(३।१५), महानारायणोपनिषद्(- २३।१).
२८.General Psychology by J.P.Guilford(Chpt.10 p.253-256) .
२९.ibid.(Chpt.13 p.320).
३०.Introduction To Psychology (Chpt.11.p.338).
३१.भागवतसुबोधिनी (३।२६।३०).
३२.तत्त्वार्थदीपनिबन्ध (१।१).
३३.भदन्त धर्मकीर्तिकृत न्यायबिन्दुपर धर्मोत्तरी टीका (१।६).
३४.भदन्त अश्वघोषकृत बुद्धचरित (१।४-५).
३५.बृहदारण्यकोपनिषद् (४।३।१४).
३६.ब्रह्मसूत्र (३।२।४).
३७.छान्दोग्योपनिषद् (६।२।३).
३८.आयुर्वेदशास्त्रीय उक्ति आकरस्थल अनिर्ज्ञात.
३९.आकरस्थल अनिर्ज्ञात.
४०.भागवतसुबोधिनी (१०।२५।१३).

सत्यके कतिपय अनूठे आयाम

('सत्य' पर्यायवाचक पदोंके अर्थ और व्युत्पत्ति के सन्दर्भमें प्रकट होते)

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यम् ऋतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥
(भाग.पुरा.१०।२।२६)

उपक्रम :

'सत्य' पदके द्वारा अभिप्रेत अर्थके बारेमें तीव्र मतभेद विभिन्न चिन्तनरीतिओंमें पाया जाता है. क्योंकि या तो हम देश काल स्वरूप तथा चेतना के परिच्छेदक सन्दर्भोंके बिना ही उसे परिभाषित करना चाहते हैं; या फिर इन देश-कालादिमें सत्यको परिच्छिन्न मान कर ही. अथवा सत्यकी अनुभूतिमें सहानुभूयमान देश काल तथा स्वरूप को सत्यविषयिणी चेतनाके द्वारा परिकल्पित या आरोपित मान कर अथवा तो स्वयं चेतनाके आत्यन्तिक अद्वैतकी धारणासे मोहित हो कर चेतनाके अलावा सत्यके अन्य किसी स्वरूपको सर्वथा नकारके ही! यों अनेकविध धारणायें मानवीय चिन्तनमें दृष्टिभेदवश उभरती मिलती हैं. सत्यका, किन्तु, देश-कालादिसे अतीत होना जैसे एक उसका आयाम हो सकता है उसी तरह देश-कालादिमें प्रकट होते सत्यके रूपभेद भी सत्यके अनेकविध आयाम क्यों नहीं हो सकते? एतावता यह स्वीकारा जा सकता है कि सत्य अनेकायामी (multi-dimensional) भी हो सकता है, चाहे हम अपने मतीय दुराग्रहवश उसे स्वीकारें या न स्वीकारें!

अतएव "'भू'=सत्तायाम्" तथा "'अस्'=भुवि" धातुओंकी सर्वविदित एकार्थवाचिताके बावजूद निरुक्तकार महर्षि यास्कने —

''तद् यानि एतानि चत्वारि पदजातानि : नामाख्याते च उपसर्गनिपाताः च तानि इमानि भवन्ति. तत्र एतद् नामाख्यातयोः लक्षणं प्रदिशन्ति : भावप्रधानम् आख्यातं — सत्त्वप्रधानानि नामानि. 'अदः' इति सत्त्वानाम् उपदेशो : गौः अश्वः पुरुषो हस्ति इति.... 'भवति' इति भावस्य : आस्ते शेते व्रजति तिष्ठति इति.'' (निरु.१।१।१)

इस उद्गारमें 'सत्'=द्रव्य और 'भाव'=क्रिया के बीच Being और Becoming के जैसा प्रभेद स्वीकारा हो ऐसा लगता है. वैसे यह कथा और है कि 'सत्त्व' और 'सत्य' पदोंके घटक स्वयं 'सत्' पदकी व्युत्पत्ति भी ''अस् भुवि अस्ति इति='सत्''की तरह ही ''षद्लृ' विशरणगत्यवसादनेषु सीदति इति='सत्'' भी व्याख्याकारोंने शक्य मानी है. फिर भी सर्वाधिक मजेदार बात मुझे तो यही लगती है कि 'सत्त्व' पदमें ''अस्ति इति सत्'' व्युत्पत्तिको मान्य रखते हुवे भी निरुक्तकार ''षड् भावविकाराः भवन्ति इति वार्ष्यायणिः : [१]जायते [२]अस्ति [३]विपरिणमते [४]वर्धते [५]अपक्षीयते [६]विनश्यति... 'अस्ति' इति उत्पन्नस्य सत्त्वस्य अवधारणम्'' (तत्रैव) यों वार्ष्यायणि ऋषिको अभिमत सत्त्वके उत्पत्त्यादिशाली होनेका निराकरण भी नहीं करते हैं. ऐसी स्थितिमें या तो सत्त्व और भाव के बीच स्वनिरूपित प्रभेद लुप्त होता सा लगता है या फिर सत्त्व मूर्त होता है और भाव अमूर्त, ऐसा स्वीकारनेपर 'षड्विधभावविकार' पदका प्रयोग अपार्थक हो जाता है क्योंकि भावविकार द्रव्यमें घटित होता है नकि क्रियामें. अतः इन्हें 'सत्त्वविकार' कहा जाना चाहिये था ऐसा गलेपतित होता है. अतएव इस समस्याके समाधानार्थ आगे बढ़ना हो तो एक दिशा यही सुगम लगती है कि सत्यके कमसे कम तो अनेकविध या वस्तुतः तो अनन्तविध आयाम होने ही चाहिंये. ऐसा स्वीकार लेनेमें महर्षि यास्कको विप्रतिपत्ति हो, ऐसा भी लगता तो नहीं है. स्पष्ट है कि एतावता सत् या सत्य का जैसे देश-काल-स्वरूपकृत परिच्छेदरहित एक व्यापक

शाश्वत तथा सर्वानुगत अविकारी आयाम शक्य है वैसे ही किसी देशविशेष, कालविशेष एवं स्वरूपविशेष में जनन-स्थिति-विपरिणति-वृद्धि-अपक्षय-विनाशमुख मूर्त तथा विकारी आयाम भी शक्य होना चाहिये. इस विधानमें जो तार्किक विरोधाभास उभरता है वह भी तो स्वयं सत्यके आत्यन्तिकतया तर्कानुसारी ही अथवा आत्यन्तिकतया तर्कागम्य ही होनेके विरोधाभासपर अवलम्बित है. परन्तु हमारी तर्कणाकी सामर्थ्यको तैरनेकी सामर्थ्यके तरह स्वीकारें और सत्यको एक अपार सागरकी तरह तो यह भी समझा जा सकता है कि हम सागरमें सर्वथा तैर ही न पाते हों ऐसा नहीं होता और न तैर कर पार ही कर पानेकी सामर्थ्य मानवशरीरमें उपलब्ध होती है. समानन्यायेन सत्यके भी अपारसागरमें हम अच्छी-खासी दूरी तक तर्कणाकी सामर्थ्यद्वारा तैर भी पाते हैं और पार जाना भी शक्य नहीं लगता. तर्कोपपन्नता तथा तर्कातीतता भी सत्यका एक अनूठा आयाम हमें मान्य करना चाहिये!

फिर भी तर्कप्रयोग भाषाके अमुखरित आन्तरिक या मुखरित बाह्य प्रयोग बिना शक्य न होनेसे हमारी भाषामें प्रयुज्यमान पदोंद्वारा सत्यका जो स्वरूप प्रकट होता है उसका चिन्तन करना इस नम्र प्रयासका प्रमुख प्रयोजन है.

'सत्य'पदके लौकिकी भाषामें पर्याय :

अमरकोषमें : ''[१]सत्यम् [२]तथ्यम् [३]ऋतम् [४]सम्यक्'' (अम.को.१।९।-३५४)की रामाश्रमी व्याख्यामें [१]''सति साधु साधु = सत्यम्'' [२]''तथा=सत्ये साधु = तथ्यम्'' [३]''अर्यते स्म 'ऋ=गतौ' क्तः = ऋतम्'' [४]''समञ्जति संगच्छते 'अञ्चु गतौ' क्विन् = सम्यक्''व्युत्पत्तियां दी गयी हैं.

इनके आधारपर यह कहा-सोचा जा सकता है कि प्रथम पदका अर्थ जो होने लायक हो उसे 'सत्य' कहनेकी प्रेरणा देता है. उसके

बाद आनेवाले पदद्वारा यह कहा जाना अभिप्रेत लगता है कि जो सत्य होने लायक हो उसे 'तथ्य' कहना चाहिये. इसी तरह ''ये गत्यर्थकाः ते ज्ञानार्थकाः'' नीतिके अनुसार 'ऋत' पदके द्वारा अभिप्रेतार्थतया 'अवगत तथ्य'को लिया जाना चाहिये. और इसी तरह 'सम्यक्' पदके द्वारा जो सम्यक्त्व परिलक्षित हो रहा है वह अवगत तथ्यके अन्य तथ्योंके साथ सुसंगत होनेकी आवश्यकतापर भार देता हुवा सा लगता है. यों उत्तरोत्तर पर्यायवाचक पद पूर्वपूर्व पदोंके वाच्यार्थसापेक्ष प्रतीत होते हैं. ये निश्चित ही सत्यके कुछ विलक्षण आयामोंका लौकिकी भाषामें आविष्करण हैं.

यह तो लौकिक भाषामें 'सत्य' पदके पर्यायोंके प्रकटित ऋजु आयामका विहंगावलोकनलब्ध दृश्य है.

'सत्य' पदके वैदिक पर्याय :

वैदिक भाषामें भी, इसी तरह, 'सत्य' पदके छह विविध पर्याय महर्षि यास्कने परिगणित किये हैं : [१]**'बट्'** [२]**'श्रत्'** [३]**'सत्रा'** [४]**'अद्धा'** [५]**'इत्था'** [६]**'ऋतम्'** (निरु.निघ.३।३।१०) इनमें प्रथम पांच पद, व्याख्याकारोंके अनुसार, निपातरूप हैं तथा अन्तिम जैसा कि हम देख ही चुके कृदन्त नामरूप है. परन्तु निरुक्तकार जब सुस्पष्ट शब्दोंमें **''सत्यनामानि उत्तराणि षट्''** (निरु.३।३।१०) कहते हैं तो सम्भवतः वैदिक वचनोंमें इनके नामात्मक प्रयोग भी उपलब्ध होते होंगे! परन्तु उनकी अर्थछाया क्या थी यह अन्वेष्टव्य है. इनमें 'बट्' तथा 'श्रत्' पदोंकी व्युत्पत्ति तो कहीं प्रस्तुत लेखकको दृष्टिगत हुयी नहीं. फिरभी [१]'सत्रा' और [२]'अद्धा' की व्युत्पत्ति व्युत्पत्ति श्रीवत्सांकाचार्यने अपने 'अव्ययकोष'में क्रमशः [१]**''सत्रा महाँ असि श्रुतः' (ऋक् ४।३०।२) इत्यत्र निश्चयार्थकत्वमपि वैदिकसम्मतम्अस्यइतिज्ञेयम्''** — [२]**''स्फुटार्थावधारणयोः''** (अव्य.को.२५ - ७८५) दरसायी हैं. एतावता यह ध्वनित होता है सत्यका निश्चयाकारक बोधगोचर रूप 'अद्धा' पदवाच्य बन जाता है. अर्थापत्त्या कुछ सत्य

अनिश्चित भी मानने ही पड़ेंगे. इसी तरह किसी सत्यके स्फुट या अवधारित होनेके अर्थमें 'अद्धा' पदका प्रयोगौचित्य विचारा जा सकता है. पुनः अर्थापत्त्या कुछ सत्य अस्फुट या अनवधारित भी हो सकते हैं, यह गलेपतित होता है. इसी तरह 'इत्था' पदका अर्थ उक्त अव्ययकोषकार **''इत्थम् इदम्प्रकारे - इत्था इत्थम्प्रकारे''** (अव्य.को.२०२-२०१) यों देते हैं. अतः सहज सम्भव लगता है कि पुरोवर्ती किसी वस्तुका पुरःप्रकटित-प्रकारताशाली सत्य होना 'इत्था' पदसे अभिहित होना चाहिये. अवशिष्ट जो 'ऋतम्' पद रहा उसकी व्युत्पत्ति तो हम देख ही चुके है. फिर भी वैदिक प्रयोगका सर्वथा लौकिक व्युत्पत्त्यनुसारी ही होना न तो नियत और न उपपन्न ही लगता है. इसपर आगे चल कर विमर्श करना उचित होगा.

स्पष्ट है कि सत्यके ये सारे आयाम अनुभूयमान देश काल तथा स्वयं अनुभूति के प्रभेदवश प्रकट हुवे आयाम हैं.

सत्य और प्रज्ञा का परस्पर सम्बन्ध :

श्रीमुकुन्द झा द्वारा निर्मित निरुक्तविवृतिमें निरुक्तकारद्वारा प्रज्ञार्थक नामोंके बाद सत्यार्थक नामोंके संकलनकी संगति यों दिखलायी गयी है : **''प्रज्ञावन्तएव हि सत्यवादिनो भवन्तीति प्रज्ञानामभ्यः उत्तराणि सत्यनामानि''** (निरु.विवृ.३।३।१०). यह संगति आवश्यक एवं उपपन्न भी लगती है. क्योंकि सत्यके अन्यतम पर्याय 'ऋतम्'के द्वारा भी यह अनिवार्य तो प्रतीत होता ही है. अतएव 'प्रज्ञा' पदके भी लौकिक पर्यायों तथा वैदिक पर्यायों पर भी यत्किञ्चित् दृष्टिपात अपेक्षणीय बन जाता है.

प्रज्ञा और त्रैकालिक सत्य की अन्योन्याश्रितता या अन्योन्यरूपता :

वैसे लौकिक भाषामें 'प्रज्ञा' पद बुद्धिके अन्यतम पर्यायतया ही अमरकोषमें संकलित हुवा है : **''बुद्धिर् मनीषा धिषणा धीः प्रज्ञा**

शेमुषी मतिः प्रेक्षा उपलब्धिः चित् संवित् प्रतिपद् ज्ञप्तिः चेतना''
(अम.को.१।८।२७८) तथापि एक बहुधा उद्धृत कारिका —

''[१]स्मृतिर् व्यतीतविषया [२]मतिर् आगामिनी मता।
[३]बुद्धिस् तात्कालिकी प्रोक्ता [४]प्रज्ञा त्रैकालिकी मता॥
[५]प्रतिभा नवनवोनमेषशालिनी कथिता बुधैः॥''

इनमें [१]जो सत्य भूतकालमें तो था परन्तु वर्तमानमें वह यदि नियततया सत्यत्वेन अवभात न होता हो तो उसे स्मृतिका विषय मान कर सत्यका एक पूर्वकालिक आयाम प्रकट किया जाता स्वीकारा जा सकता है. इसी तरह [२]जो वस्तु वर्तमानमें सत्यतया अवभात न होनेपर भी भविष्यमें सत्यतया आत्मप्राकट्यको इंगित कर रही हो उसे मतिविषयीभूत सत्यतया प्रतिपादित किया जा सकता है. यह पुनः सत्यके उत्तरकालिक आयामका प्रतिपादन है. सत्यका [३]जो वर्तमानकालिक आयाम है वह बुद्धिगोचर होता माना गया है परन्तु सत्यका [४]जो त्रैकालिक आयाम होता है उसे तो प्रज्ञागोचर ही माना गया है.

उल्लेखनीय है कि इन सभी पक्षोंमें चेतना और सत्य के बीच निक्रिय या सक्रिय साक्षिभावघटित ग्राह्यग्राहकभावात्मक सम्बन्धको निकष मान कर चला गया है. कौन नहीं, परन्तु, जानता कि सत्य और चेतना के बीच, [५]सक्रिय-भाव्यभावकताघटित सृज्यसर्जकभावात्मक सम्बन्ध भी विज्ञान साहित्य कला तकनिकी आदि अनेकविध प्रज्ञाओंके वश क्या प्रकट नहीं होता? क्या-क्या असम्भव या अशक्य लगते आयाम, उन्हें 'असत्य' कहो या 'सत्य', न केवल प्रकट अपितु, महर्षि यास्कद्वारा प्रयुक्त पदावलीमें कहना हो तो, बट् सत्रा अद्धा एवं इत्था के रूपोंको भी प्रज्ञाकी इन विधाओंके कारण प्रकट होते पाये गये हैं! इन प्रज्ञानिर्मित सत्योंको केवल अनेकविध कारणकलापोंसे उत्पन्न या किसी उपादानविशेषकी परिणतिविशेष होनेके अपराधवश

मनोभ्रान्ति या केवल व्यावहारिक सत्य मानना सत्यकी अनेकायामिताके साथ अपरिचयका ही प्रकाशन है. यह तो सोचा जा सकता है कि प्रज्ञा त्रैकालिक सत्यको प्रकाशित करती ऐसा स्वीकारनेपर प्रज्ञेतर चेतनाओंद्वारा सत्यके त्रैकालिक आयामका प्रकटीकरण शक्य न भी माना जाये. परन्तु प्रज्ञाके ही प्रयोगद्वारा ही इस तथ्यको भी जाना जा सकता है कि चेतनाके स्मृति-मति-बुद्धि-प्रतिभा आदि व्यापार भी त्रैकालिक सत्यके ही कतिपय अत्रैकालिक आयामोंको तो प्रकट करते ही हैं. अन्यथा चेतनाको स्मृत्यादि व्यापारोंसे आत्यन्तिकतया मुक्त करनेपर तो प्रज्ञोपलब्धि भी शक्य नहीं रह जायेगी. अनुमितिरूपा या शाब्दी प्रमा भी स्मृतिका अवलम्बन सर्वथा त्याग कर तो आत्मलाभ नहीं पा सकती. क्या यह सच नहीं कि वस्तु या सत्य के प्रमापणमें इन अनुमति-शाब्दादि प्रमाओंका स्वातन्त्र्य होनेपर भी आत्मोत्पत्तिमें स्मृत्यादिकलापोंसे स्वातन्त्र्य सुवच नहीं?

वस्तुतः तो तथाकथित देशकालातीत वेदान्तप्रमेयके बोधार्थ अंगीकृत अधिकरणात्मक विचारके पांचों अंग — [१]विषय [२]संशय [३]पूर्वपक्ष [४]उत्तरपक्ष तथा [५]संगति — भी वस्तुतः तो चेतनाके [१]अज्ञान [२]संशय [३]भ्रान्ति [४]निश्चय और [५]स्मृति के ही शास्त्रद्वारा परिष्कृत या संस्कृत स्वरूप हैं! तो जब अज्ञानादि चेतनाव्यापारोंकी भी देशकालातीत प्रमेयके बोधार्थ इतनी उपयोगिता हो तब स्मृति-मति-बुद्धि-प्रतिभा व्यापारोंके द्वारा अवभासित तथ्यको सत्य नहीं मानना दुराग्रहपूर्ण तार्किकंमन्यताके आलावा और कुछ नहीं रह जाता!

'प्रज्ञा' पदके वैदिक पर्याय :

महर्षि यास्कने 'प्रज्ञा'के पर्यायोंकी परिगणना इस तरह दरसायी है :

[१]'केतः' [२]'केतुः' [३]'चेतः' [४]'चित्तम्' [५]'क्रतुः' [६]'असुः' [७]'धीः' [८]'शचीः' [९]'माया' [१०]'वयुनम्' [११]'अभिख्या'. (निरु. ३।३।९)

प्रज्ञाके इन पर्यायपदोंकी व्युत्पत्ति श्रीदेवराजयज्वकृत 'निर्वचन' नामिका टीकामें यों दिखलायी गयी है :

१-२''केतः' तथा 'केतुः'''चायृ' पूजानिशामनयोः(भू.उ.) 'चायः कीः'(उ.१।७५) इति 'त'प्रत्ययो धातोः 'कीः' आदेशो गुणः च. पूज्यते...''.

३-४''' 'चेतः'-'चित्तम्' 'चिति' सञ्ज्ञाने (भू.प.) 'अञ्चिघृसिभ्यः' (उ.३।८६) इति बाहुलकात् 'क्तः'.

५''' 'क्रतुः' क्रियते अनया धर्मादिविचारः''.

६''' 'असुः' अस्यतेः 'शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसि' (उ.१।१०) इति 'उ'प्रत्ययः. 'असुः' इति प्राणनाम (नि.३।८) इति भाष्ये अस्यति क्षिपति अनर्थान्, अस्ताः=क्षिप्ताः अस्याम् अर्थाः इति प्राप्यानर्थपरिहारात्मकम् उभयमपि. प्राप्नोति''.

७-८''' 'धीः'-'शचीः'. 'धृञ्' आधारे दिवादिः धारयति कर्तारं फलप्रदानेन... यद्वा ध्यायते चिन्त्यते कर्तृभिः एवं कर्तव्यम् इति. 'शची' 'शच्' व्यक्तायां वाचि. भूवादिः आत्मनेपदी. 'इन् सर्वधातुभ्यः' (उ.४।११४) 'कृदिकारात्' (४।१।४ वा.) इति 'ङीष्'. शचन्ते व्यक्ता वाचः कुर्वन्ति अस्याम् (/अनया) इति शचीः''.

९''' 'माया' 'माङ्' माने (अदा.आ.) 'माछाससिभ्यो यः' (उ.४।१०६) इति 'य'प्रत्ययः. मीयन्ते परिच्छिद्यन्ते अनया पदार्थाः''.

१०''' 'वयुनम्' व्याख्यातं प्रशस्यनामसु [अजतेः 'अजियजि-मिशीङ्भ्यश्च' (उ.३।५८) इति 'उनन्' प्रत्ययो वीभावः] गतौ शचीवद् अर्थः क्षेपणे असुवद्''.

११''' 'अभिख्या' 'ख्या' प्रकथने (अदा.प.). 'आतश्चोप-सर्गे' (३।३।१०६) इति 'अङ्'. प्रकर्षेण कथ्यन्ते अनया अर्थाः''.

(निरु.निर्व.३।३।९).

'प्रज्ञा'के इन पर्यायपदोंकी व्युत्पत्तिके अवलोकन करनेपर अतीव विस्मय होता है कि त्रैकालिक सत्यकी प्रमापिका इसी प्रज्ञाके अनेकविध व्यापार महर्षि यास्कके समय तक वैदिकगोष्ठीमें किस तरह जाने-माने जाते थे! आज, परन्तु, मध्यकालीन बाह्यचिन्तनोंके प्रभाववश श्रौत चिन्तनमें भी पूज्यापूज्यका विवेक करनेवाली प्रज्ञा, धर्माधर्मका विवेक करनेवाली प्रज्ञा, अर्थानर्थका विवेक करनेवाली प्रज्ञा, साधनफलभावका विवेक करनेवाली प्रज्ञा, उसे व्यक्तवाणीमें प्रकट करनेवाली प्रज्ञा; अथवा इन और ऐसे अनेकविध वस्तुके परिच्छेदकोंके आधारपर उनके निर्वचन कर पानेवाली प्रज्ञा को, कैसे किसी अवाच्य अप्रतर्क्य अपरिभाष्य अपरोक्ष सत्यके एकायामी स्वरूपके पक्षपाती बन कर अप्रज्ञा या भ्रान्तिरूपा मान लिया गया!

क्या 'प्रज्ञा' और 'माया' अपर्यायवाची पद हो सकते हैं? :

वैसे लोकिकी तथा वैदिकी दोनों ही भाषाओंमें 'माया' पद — **''स्याद् माया शम्बरी''** (अम.को.२।११।९५१) तथा **''''अधेन्वा चरति मायया एष वाचं शुश्रुवां अफलाम् अपुष्पाम्' (ऋक्.सं.८।२।२३)... अधेन्वा ह्येष चरति मायया वाक्प्रतिरूपया''** (निरु.१।६।२०) — अतथ्यप्रतिभासनके अर्थमें प्रयुक्त हुवा पाते हैं.

इस विषयमें, परन्तु, अन्वेष्टव्य यही है कि क्या प्रज्ञाविशेषवश या चातुरीविशेषवश अतथ्यप्रकाशन भी शक्य होनेसे 'माया' पदने यह अर्थछाया स्वान्तःश्लिष्ट की होगी? अथवा मूलमें मिथ्याप्रदर्शनशक्तिके अर्थमें प्रयुज्यमान यह पद, प्रज्ञाविशेषवश भी कभी ऐसी घटना शक्य होती होनेसे, प्रज्ञापरपर्यायतया प्रयुक्त होने लगा होगा?

इन दोनों तरहकी सम्भावनाओंमें प्रथम अधिक सहज लगती है दूसरीके बजाय. क्योंकि ''पंके जातं=पंकजम्'' जैसे योगरूढिके प्रयोगकी तरह सामान्यार्थक यौगिक पदका पुष्पविशेषरूप अर्थमें रूढिरूप निगमन

पदप्रयोगको अप्रामाणिक नहीं बनाता; जबकि, दूसरी सम्भावनामें ''गोः वाहिकः'' गौणी प्रयोगकी कल्पनाके कारण प्रज्ञापर्यायीकरण अप्रामाणिक बन जाता है.

अतः 'मायिक' पदका भी मूलार्थ तो प्रज्ञानिर्मित वस्तु ही होना चाहिये था परन्तु गौणी वृत्तिसे पश्चात् वह ''असत्त्वेऽपि भासमान वस्तु'' होनेके अर्थमें प्रयुक्त होने लगा होगा. एतावता **''इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते''** (बृह.उप.२।५।१९) श्रुतिवचनमें भी एक इन्द्ररूप सत्यकी मायाकरणिका अनेकरूपताको अतथ्यप्रकाशनके रूपमें लेना बहोत अवार्य नहीं लगता, प्रज्ञाकरणिका अनेकरूपताके सुनिरूप्य होनेसे.

'सत्य' पदका महा-एकीकृत आयाम दरसानेवाला 'ब्रह्म'पद :

अतएव सत्यके ऐसे अनन्तविध आयामोंके निरूपणार्थ ही तैत्तिरीयोपनिषद्में **''['सत्यं' (+) 'ज्ञानं' (+) 'अनन्तं'] = 'ब्रह्म']''** (तैत्ति.उप.२।१) समीकरण घोषित किया गया. अर्थात् जो सत्य है वह ज्ञानरूप भी होता है तथा जो ज्ञानरूप है वह देशतः कालतः तथा स्वरूपतः अन्तहीन होनेके रूपमें 'ब्रह्म' कहलाता है. यों सत्य अपने, उल्लिखित, तथ्य ऋत और सम्यक् होनेकी परिपूर्णतामें 'ब्रह्म' कहलाता है. क्योंकि ब्रह्मके ज्ञान/विज्ञान होनेके स्वरूपके बारेमें उपनिषद् यों निरूपण करता है—

> **''अन्यो अन्तर आत्मा विज्ञानमयः... तस्य श्रद्धैव शिरः, ऋतं दक्षिणः पक्षः, सत्यम् उत्तरः पक्षः... विज्ञानं ब्रह्म चेद् वेद. तस्मात् चेत् न प्रमाद्यति, शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वान् कामान् समश्नुते... तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयाद् अन्यो अन्तर आत्मा आनन्दमयः... तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोदः उत्तरः पक्षः आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा... असन्नेव स भवति 'असद् ब्रह्म' इति वेद चेद्. 'अस्ति**

ब्रह्म' इति चेद् वेद सन्तम् एनं ततो विदुः''. (तैत्ति.उप.२।४-६)

जब श्रद्धा ऋत और सत्य विज्ञानके अंग बन जाते हैं तब भी विज्ञानको ब्रह्मतया=अनन्ततया जाने बिना परिच्छिन देश-काल-स्वरूपवाले शरीरके भीतर प्रकट होते पापोंका विज्ञानद्वारा निराकरण सम्भव नहीं माना गया है. अतः इस विज्ञानमय कोशमें अन्तर्निहित आनन्त्य=आनन्दका साक्षात्कार उपर्युक्त ''['सत्यं' (+) 'ज्ञानं' (+) 'अनन्तं'] = 'ब्रह्म''' (तैत्ति.उप.२।१) समीकरणको चरितार्थ बनाता है.

यह महा-एकीकरणका औपनिषदिक सिद्धान्त, जिसे ''**तस्य उपनिषत् 'सत्यस्य सत्यम्' इति**'' (बृह.उप.२।१।२०) भी कहा गया है सत्यका ब्रह्मीकरण है. तैत्तिरीयोपनिद् सत्यके इस महा-एकीकृतरूप ब्रह्मका अस्वीकार वदतोव्याघात मानता होनेसे यहां तक कहता है कि ''**असन्नेव स भवति 'असद् ब्रह्म' इति वेद चेद्. 'अस्ति ब्रह्म' इति चेद् वेद सन्तम् एनं ततो विदुः इति.**'' (तत्रैव २।६). इस उद्गारके गाम्भीर्यका अवगाहन तभी शक्य है जब यह बात हम विचारें कि हमारी तर्कणाप्रवण बुद्धिमें ''प्रकट विरु. अप्रकट'', ''वाच्य/परिभाष्य विरु. अवाच्य/अपरिभाष्य-'', ''विज्ञान विरु. अज्ञान'', ''सत्य विरु. असत्य'', ''ऋत विरु. अनृत'' सदृश विरोधाभास हमारी बुद्धिको कितना व्यथित या उन्मथित कर देते हैं! ये ही, परन्तु, इस महा-एकीकृत सत्यमें किस तरह ''**यत्र विश्वं भवति एकनीडम्**''-''**परे अव्यये सर्वे एकीभवन्ति**'' (महाना.उप.२।३-मुण्ड.उप.३।२।७) वचनोक्त अपनी एकनीडता या एकीभूतता भी प्रकट करते हैं!

अतएव तैत्तिरीयोपनिषद्में कहा गया है :

''**सो अकामयत 'बहु स्यां प्रजायेय' इति. स तपो अतप्यत. स तपः तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत. यदिदं किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्. तदनुप्रविश्य सत् च त्यत्**

च अभवत्, निरुक्तं च अनिरुक्तं च, निलयनं च अनिलयनं च, विज्ञानं च अविज्ञानं च, सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत्. यदिदं किञ्च तत् 'सत्यम्' इति आचक्षते''.

(तैत्ति.उप.२।६)

निखिल विरुद्धताओंके एक अविरोधी आश्रयरूप इस महा-एकीकृत सत्यमेंसे परस्पर विरोधाभासी वस्तु गुण धर्म क्रियाओं के प्राकट्यनिरूपक इस वचनकी तरह ही स्वरूपनिरूपिका विधामें भी ऐसे ही प्रतिपादनार्थ—

''द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे : मूर्तं च अमूर्तं च, मर्त्यं च अमृतं च, स्थितं च यत् च, सत् च त्यत् च... अथातः आदेशो ''न' इति 'न' इति''...अथ नामधेयं 'सत्यस्य सत्यम्' इति''. (बृह.उप.२।३।१-६)

हम देख सकते हैं कि इसी वचनका निष्कर्ष समझानेको महर्षि बादरायण भी ''प्रकृतैतावत्त्वं प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः, तद् अव्यक्तम् आह हि, अपिच संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्...अतो अनन्तेन तथाहि लिङ्गम्, उभयव्यपदेशात्तु अहिकुण्डलवत्, प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्... परम् अतः सेतून्मानसम्बन्धव्यपदेशात्'' (ब्र.सू.३।२।२२-३१) सूत्रोंमें इसी 'परमसत्य' या ''सत्यस्य सत्यम्''को सिद्ध करनेकी श्रौत उपपत्ति दे रहे हैं. इस वचनमें उपलक्षणविधया पृथ्वी-जल-तेजको 'मूर्त' तथा वायु-आकाशको 'अमूर्त' कह कर, मूर्त होनेके कारण जो भी प्रकट मर्त्य आदि होते हैं और अमूर्त होनेके कारण जो अप्रकट एवं अमृत आदि होते हैं, उनमें परिलक्षित होती अन्योन्याभावरूपता सत्य = (सत्$^{(प्रकट)}$ + त्य$^{(अप्रकट)}$) के रूपमें एकीकृत हो कर अपना परस्पर विरोध भुला देती है. इनमें परन्तु केवल सत् या केवल त्यत् को, अपनी रुचिवश, सम्पूर्ण सत्यतया मान लेनेवालेको अर्थात् प्रकृत एतावत्ताको ही सत्य माननेवालेको श्रुति ''न'इति-'न'इति'' कहना

चाहती है. यदि आरोपितके अपोहनमात्रमें श्रुतिका तात्पर्य होता तो **''न'इति-'न'इति''** कह देनेके बाद **''अथ नामधेय 'सत्यस्य सत्यम्' इति. प्राणाः वै सत्यं सत्यं तेषाम् एष सत्यम्''** (तत्रैव) कहना वदतोव्याघात होगा. अतः उसे केवल 'अव्यक्त' कहना कहना या मानना इसलिये संगत नहीं होता क्योंकि आराधना या संराधना द्वारा उसके साक्षात्कारका उपदेश श्रुत्यादि शास्त्रोंमें उपलब्ध होता ही है. अतः उसके देशतः कालतः तथा स्वरूपतः आनन्त्यका ही प्रतिपादन श्रुतिविवक्षित लगता है. उदाहरणतया सर्प भी अपनी सर्पणाके समय ऋज्वाकार तथा स्थितिके समय कुण्डलाकार होनेके विरुद्धता प्रकट करता है तद्वत् ब्रह्म भी उभयविध क्यों नहीं हो सकता? अथवा जैसे तैजस पदार्थ प्रकाशरूपा धर्मता तथा प्रकाशकरूपा धर्मिता दोनों प्रकट करते हैं तद्वत् ब्रह्म भी क्यों हो नहीं सकता? अतः श्रुतिमें ऐसे ब्रह्मका निरूपण **''आत्मा स सेतुः विधृतिः एषां लोकानां असम्भेदाय''** (छान्दो.उप.८।४।१) किया गया होनेसे उसे उभयविध स्वीकार लेना ना चाहिये. यह महर्षि बादरायणके प्रतिपादनका सार है.

भगवद्गीतामें भी, अतएव **''यदा भूतपृथग्भावम् एकस्थम् अनुपश्यति ततएव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा''-''सर्वभूतेषु येन एकं भावम् अव्ययम् ईक्षते अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञतनं विद्धि सात्त्विकम्''** (भ.गी.१३।३०-१८।२०) इसी सर्वभेदोंके एक महा-अभेदीकरण या एकीकरण को ब्राह्मिक विस्तारके रूपमें प्रतिपादित किया गया है.

<u>उपसंहार</u> :

अन्तमें पौरस्त्य या पाश्चात्य दर्शनोंमें सत्य=प्रमाविषयके बारेमें जो—

१. **यथार्थानुभवः प्रमा** (पौरस्त्य) = Theory of Correspondence .
२. **अनधिगताबाधितार्थविषयकज्ञानं प्रमा**(पौरस्त्य) = Theory of Coherence.

३. फलाविसंवादिप्रवृत्तिजनकज्ञानं प्रमा(पौरस्त्य) = Theory of Utility.

यों इन तीनों तरहकी प्रज्ञाकी व्यापारविशेषरूपा प्रमाओं और उनके विषयीभूत सत्योंके विविध रूपोंका संवाद हम 'सत्य/तथ्य' 'ऋत' और 'सम्यक्' पदोंके द्वारा प्रत्यभिज्ञात कर सकते हैं.

क्योंकि अनुभवका याथार्थ्य सत्य या तथ्य के साथ संवाद (correspondence) के बिना शक्य नहीं बन पाता. इसी तरह कोई सत्य या तथ्य अनवगत एवं अबाधित वस्तुविषयक है कि नहीं एतदर्थ प्रस्तुत ज्ञानका अन्यान्य ज्ञानोंके साथ संवाद (coherence) परखे बिना शक्य नहीं होता. तीसरे किसी ज्ञानका फलाविसंवादिप्रवृत्तिजनक होना उस ज्ञान और सफल व्यवहार के बीच परस्पर संवाद (utiliterian value) के बिना शक्य नहीं होता. अतः इन त्रिविध प्रमाओंके विषय, पाश्चात्य दर्शनकी पदावलीमें कहना हो तो क्रमशः, सेंस्-डेटा कॅन्सेप्ट् और पर्सेप्ट् के आपसी विरोधाभासोंका 'ब्रह्म' पदमें एकीकृत रूप खोजा जा सकता है. क्योंकि **''पुरुषएव इदं सर्वम्''-''मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यते अन्यैरपि इन्द्रियैः अहमेव न मत्तो अन्यद् इति बुद्ध्यध्वम् अञ्जसा''** (ऋक्.संहि.१०।९०।२-भाग.पुरा.११।१३।२४).

''तदेव भूतं तदु भव्यमानम् इदं तद् अक्षरे परमे व्योमन्।
यद् एकम् अव्यक्तम् अनन्तरूपं विश्व पुराणं तमसः परस्तात्॥
तदेव ऋतं तदु सत्यम् आहुः तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्।
इष्टापूर्तं बहुधा जातं जायमानं विश्वं बिभर्ति भुवनस्य नाभिः॥''

(महाना.उप.१।२-६)

अन्तःकरणका स्वभाव और क्रियाकलाप
(नेचर् एंड् फंक्शन् ऑफ् माइन्ड्)
(वाल्लभ वेदान्तके अनुसार)

१.उपक्रम :

वाल्लभ वेदान्त, अपने-आपमें, उत्प्रेक्षामूलक दर्शन न हो कर श्रुति स्मृति सूत्र और पुराण आदि वैदिक शास्त्रोंके परस्पर समन्वित-सुसंगत व्याख्यानार्थ प्रवृत्त हुआ एक दर्शन है(१). अतएव अपनी इस प्रतिबद्धताके अनुरूप उल्लिखित शीर्षकसे जुड़ी वैचारिक धारणाओंके बारेमें भी वाल्लभ वेदान्त अपने उल्लिखित उपजीव्य प्रमाणस्रोतोंसे निकल कर बहनेवाली अर्थात् इन्हींपर निर्भर होनेवाली एक व्याख्यारूपा चिन्तनधारा है. हमारे इस प्रबन्धमें, किन्तु, उन उपजीव्य प्रमाणवचनोंके उद्धरणोंके आधारपर वाल्लभ वेदान्तकी धारणाओंका समर्थन अथवा यथाव्याख्यात अभिप्रायोंके औचित्यका उपपादन अभिप्रेत नहीं है. यहां तो केवल संक्षेपमें स्वीकृत स्वरूपका निरूपण प्रस्तुत करना ही हमें अभिप्रेत है. अस्तु.

२.'माइन्ड्' पदका वाल्लभ वेदान्तमें सम्भावित पर्याय :

बोलचालकी अंग्रेज़ी भाषामें 'माइन्ड्' शब्द अनेकानेक अर्थोंमें प्रयुक्त होता है. बुद्धि/भावावेगके द्वन्द्वके सन्दर्भमें 'माइन्ड्' पदका प्रयोग, उदाहरणतया, ''हार्ट्के बजाय अपने माइन्ड्के अनुसार बरतो'' जैसे विधानमें बुद्धिवाचक बन जाता है. इसके विपरीत ''माइन्ड् अपसेट् हो गया'' जैसे विधानमें, जबकि, 'माइन्ड्' पद उद्विग्नताके मनोभावोंका भी वाचक बनता ही है. 'माइन्ड्/बॉडी'के द्वन्द्वमें यह पद शरीरान्तर्भूत मस्तिष्करूप अंग या उसके व्यापारोंका जैसे वाचक बनता है, वैसे ही 'माइन्ड्/मेटर्'के द्वन्द्वमें यह अभौतिक चेतन द्रव्यका वाचक भी बन जाता है. अतः ऐसी अनेकविध अर्थछायाओंको अपने साथ समेटे रखनेवाले इस पदका पूर्ण पर्याय और वाच्यभूत पदार्थ भारतीय दर्शनमें

सहसा उपलब्ध नहीं होता. फिरभी वाल्लभ वेदान्तमें प्रयुक्त 'अन्तःकरण' पद 'माइन्ड्' पदमें प्रकट होती, सारी कि सारी नहीं तो भी, कई सारी अर्थछायाओंको ध्वनित करता है. अतः उसे आत्मा चेतना विचार सावधानी भावावेग या मन आदिके अभिधायक पदके रूपमें लेनेके बजाय अन्तःकरणके वाचक पदके रूपमें लेकर विवेचन करना अधिक उपयुक्त एवं प्रासंगिक लगता है. अतएव पाश्चात्य दर्शनके सन्दर्भमें अन्तःकरणकी यह विवेचना, यदि अप्रासंगिक लगती हो तो इस संमान्य विद्वद्गोष्ठीसे क्षमायाचनापूर्वक ही, तदर्थ प्रवृत्त होना चाहूंगा.

३.अन्तःकरणके स्वरूप-क्रियाकलापका वेदान्ताभिमत पूर्वसन्दर्भ :

इस सृष्टिमें अनुभूयमान नाम-रूप-कर्मोंके अनेकविध द्वैतोंकी व्याख्या, वाल्लभ वेदान्तमें, एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्मके सर्वभवनसामर्थ्य और सत्यसंकल्प के आधारपर प्रस्तुत की जाती है. यह सुवर्ण-आभूषणके बीच अनुभूत होते अविकृतपरिणाम (nominal formal and functional transformation of immutable substance) के उदाहरणद्वारा सिद्ध कार्यकारणभावके रूपमें स्वीकारी गयी है(२). अतः सारेके सारे भौतिक पदार्थ उस सच्चिदानन्द(=सत्+चिद्+आनन्द)रूप ब्रह्मके अनेकानेक अविकृत सदंशोंके संघातोंमें प्रकट हुए विशेष-विशेष नाम-रूप-कर्मात्मक परिणाम हैं(३).

इस एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्मकी तीन : [क]स्वरूप [ख]कारण तथा [ग]कार्य रूपिणी कोटियां (Categories) स्वीकारी गई हैं(४).

इनमें सर्वमूल स्वरूपकोटीके अन्तर्गत सर्वप्रथम कोटी [क/१]क्रिया और ज्ञान रूपी दो धर्मोंसे विशिष्ट एक धर्मी परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण स्वीकारे गये हैं(५). दूसरी उसी परब्रह्मकी [क/२]सत्ता चेतना और देश-काल-वस्तुपरिच्छेदरहितता रूपिणी धर्मभूत एवं धामभूत भी एक 'अक्षरब्रह्म' नामक कोटी सर्वकारणकारणतया मान्य की गयी है. इसी अक्षरब्रह्मके तीन अवान्तर पहलु : [क/२/अ]काल [क/२/आ]कर्म और

क/२/इस्वभाव नामक स्वीकारे गये हैं(६).

खकारणकोटीके अन्तर्गत अट्ठाईस : ख/१-३ सत्त्वादि गुणत्रयी ख/४उनकी साम्यावस्था प्रकृति ख/५पुरुष ख/६महद् ख/७अहंकार ख/८-१२पंचतन्मात्रा ख/१३-१७पंचमहाभूत ख/१८-२७दशविध इन्द्रिय और ख/२८मन नामक तत्त्व स्वीकारे गये हैं(७).

गकार्यकोटीके अन्तर्गत ग/१जड़गण और ग/२जीवगण प्रभेद स्वीकारे गये हैं. इन दोनोंमें पुनः जड़के : ग/१/अव्यष्टि और ग/१/आसमष्टि रूप भी स्वीकारे गये हैं. इसी तरह जीवगणके भी पुनः ग/२/अव्यष्टि और ग/२/आसमष्टि प्रभेद स्वीकारे गये हैं(८).

प्रत्येक भौतिक जड़ रूप, उदाहरणतया घट, जड़गणके अन्तर्गत एक व्यष्टिरूप होता है. तथा ख/१३-१७पंचमहाभूतान्तर्गणित पृथिवी स्वरूपेण कारणकोटिक होनेपर भी सकल जड़ पार्थिव पदार्थोंकी कार्यसमष्टिके रूपमें कार्यकोटिक भी मानी जा सकती है.

इसी तरह प्रत्येक सजीव प्राणी, उदाहरणतया 'देवदत्त'नामक पुरुष या उसका घोड़ा, जीवगणके अन्तर्गत व्यष्टिरूप होते हैं. और कारणकोटीके अन्तर्गणित ख/५पुरुष स्वरूपेण कारणकोटिक होनेपर भी अपने कार्यसमष्टि होनेके रूपमें कार्यकोटितया भी परिगणित हो पाता है.

यहां हम यह देख सकते हैं कि कार्यकोटीमें प्रायः अनकेविध तत्त्वोंका संघात ही किसी न किसी विशेषरूपतया प्रकट होता है.

४.अन्तःकरणका स्वरूप :

उल्लिखित स्वरूप-कारण-कार्यकोटिओंके सन्दर्भके परिप्रेक्ष्यमें 'अन्तःकरण' पदवाच्य तत्त्व भी कारणकोट्यन्तर्गणित ख/५पुरुषकी अंशभावापन्न

व्यष्टिचेतना एवं कारणकोट्यन्तर्गणित [ख/६]महद् [ख/७]अहंकार [ख/२८]मन के व्यष्टिभावापन्न कार्यरूपोंके संघाततया एक विशिष्ट स्वरूप एवं क्रियाकलापोंको निष्पन्न करनेवाला चिदचिद्ग्रन्थिरूप पदार्थ है. यह हम प्रत्येक प्राणिओंके भीतर प्रकट होता है और यही अन्तःकरण हमारे इस प्रबन्धका मुख्य प्रतिपाद्य विषय भी है.

कार्यकोटीके सभी पदार्थ प्रायः इन कारण तथा कार्य कोटिओंके अन्तर्गणित अनेकविध तत्त्वोंके संघातरूप होते हैं जो ब्रह्मके स्वरूपमें प्रकट होते हैं. अतः इस तथ्यको थोड़ा सा और सुस्पष्ट कर लेना प्रस्तुत विमर्शमें कुछ उपकारक ही होगा. क्योंकि, उदाहरणतया, हमारा शरीर पंचविध महाभूत, दशविध इन्द्रिय, पंचविध प्राण, चतुर्विध अन्तःकरणोंके संघातमें प्रकट हुआ एक विशेष नाम-रूप-कर्मात्मक परिणाम है. इसमें संघातघटक तत्तत् सदंश तो अविकृत ही रहते हैं परन्तु एक विशिष्ट नाम-रूप-कर्मात्मक संघातरूप यह शरीर षड्विध उत्पत्ति स्थिति विपरिणति वृद्धि अपक्षय और विनाश रूपी भावविकारोंमें गुजरता सा प्रतीत होनेपर भी अपने सत्स्वभावका त्याग नहीं करता ऐसा माना जाता है. अन्यथा उत्पत्त्यादि क्रियाओंको निराधार माननेको बाधित होना पड़ेगा. अतः न तो उत्पत्ति प्रागभावरूप मानी जाती है और न विनाश प्रध्वंसाभावरूप ही, ब्राह्मिक सदंश सभी अवस्थाओंमें अविकृततया अनुगत रहता अनुभूत होता होनेसे. सदंशोंके अविकृत परिणामरूप इन अनेकानेक नाम-रूप-कर्मोंमें चिदंश और आनन्दांश के आविर्भाव-तिरोभावकी प्रक्रियाके अंगीकारद्वारा छहोंके छह भावविकारोंकी प्रतीति और चतुर्विध अभावोंकी प्रतीति की भी व्याख्या, वाल्लभ वेदान्त, इसी आविर्भाव-तिरोभावकी प्रक्रियाके आधारपर देना चाहता है(९). अर्थात् उत्पत्त्यादि अवस्थाओंमें गुजरते नाम-रूप-कर्म कभी गुप्ततया या सुषुप्ततया विद्यमान (latent) रहनेके कारण या तो निज अर्थक्रियाको करते रहनेपर भी अनुभूतिगोचर(manifest) नहीं होते. या अनुभूतिगोचर होनेपर भी निज-अर्थक्रियाकारी (activated) नहीं होते. अथवा कभी न तो अनुभूतिगोचर

(non-evident) होते हैं और न निज-अर्थक्रियाकारी ही (non-activated) होते हैं(१०).

इसी तरह सारी चेतनाएं उसके अविकृत चिदंशमेंसे उद्गत अणुरूप होती हैं. प्रत्येक चेतना अपने अणुस्वरूपमें दूसरी अणुरूप चेतनासे भिन्न होनेपर भी किसी विशेष नाम या विशेष रूप को प्रकट करती न होनेसे उत्पत्ति विपरिणति वृद्धि अपक्षय या विनाश अवस्थाओंको दरसाती नहीं है. अतः चेतनामें गमापगमकी क्रिया तो अनुभूत होती हैं परन्तु उत्पत्त्यादि भावविकारकी नहीं. चेतनाका ऐसा स्वरूप पाश्चात्य दर्शनोंमें स्वीकृत 'सोल' 'सेल्फ' 'आइडिया' 'थोट्' 'लोगोस्' 'मॉनाड्' या 'माइन्ड्' आदि पदोंके प्रयोगद्वारा भलीभांति अभिव्यक्त नहीं हो पाता. क्योंकि इस तरहकी कॉन्शीअसनेस्को 'सेंसेशन्' कहना भी जब शक्य नहीं, तब 'रीज़निंग्' या 'रेशनेलिटी' के रूपमें तो स्वीकारना सर्वथा अप्रासंगिक ही होगा. अतः चेतना एक ऐसी सेल्फअवेर सेंसिटिविटी है जो किसी विषयके सम्पर्कमें आनेपर विषयस्फुरणा विषयानुभूति विषयकामना विषयसंकल्प विषयस्मृति विषयकल्पना विषयसंकलना विषयाज्ञान विषयसंशय विषयभ्रान्ति अथवा विषयव्यामोह आदि अनेकविध बौद्धिक या मानसिक व्यापारोंके प्राकट्यका अन्यतर हेतु बनती है. उदाहरणतया इलेक्ट्रीसिटीको हम कम्प्युटर् टेपरेकार्डर् या टी.वी. रेफ्रीजेरेटर् आदि बिजलीके उपकरणोंमें निष्पन्न होते अनेकविध क्रियाकलापोंका अन्यतर हेतु तो मान सकते हैं परन्तु एकमात्र हेतु नहीं, क्योंकि इन उपकरणोंके न होनेपर, अकेली बिजली इन अनेकविध क्रियाकलापोंको निष्पन्न नहीं कर पाती.

५.अन्तःकरणके क्रियाकलापोंके प्रकट होनेकी रीति :

इस तरह हम देख सकते हैं कि ब्राह्मिक सदंश प्रकृति महान् अहंकार आदिसे मन पर्यन्त उत्तरोत्तर प्रवर्तित उपादान-परिणामभावापन्न होनेकी प्रक्रिया, जब पुरुषके सान्निध्यवशात् अपनेमें ब्राह्मिक चिदंशरूप चैतन्यसे कृत्रिमतया प्रतिसंक्रान्त होती है, तब वह एक व्यष्टि अन्तःकरणका

रूप धारण कर लेती है. इसके कारण अन्तःकरण स्वयं जड़ होनेपर भी चेतनायित हो कर चेतनोपम व्यवहार करने लगता है. और चिदंशरूपा चेतना स्वयंमें अन्तःकरणद्वारा निष्पन्न होती क्रियाओंको निष्पन्न करनेमें सक्षम न होनेपर भी अन्तःकरणकी उपाधिके वशात् विषयस्फुरणा विषयानुभूति विषयकामना विषयसंकल्प विषयस्मृति विषयकल्पना विषयसंकलना विषयाज्ञान विषयसंशय विषयभ्रान्ति अथवा विषयव्यामोह आदि अनेकविध सचेतनव्यापारोंके रूपमें प्रकट हो जाती है(११).

६.अन्तःकरणके विभिन्न क्रियाकलापोंके केन्द्ररूप चार विभाग:

वाल्लभ वेदान्तमें अन्तःकरणके चार विभाग : [१]चित्त [२]अहंकार [३]मन और [४]बुद्धि स्वीकारे गये हैं(१२). अतएव 'माइन्ड्'के पर्यायवाचक पदतया 'अन्तःकरण' पदको स्वीकारनेपर इस चतुर्ग्रन्थी अन्तःकरणके क्रिया-कलापोंकी जानकारी उसके विभिन्न केन्द्रों या विभागों के स्वरूपोंको जाने बिना सम्भव न होनेसे विभागशः क्रिया-कलापोंके बारेमें विमर्श करना अधिक उपयुक्त होगा.

७.अन्तःकरणके प्रथम विभाग चित्तका स्वरूप और उसके क्रियाकलाप:

पूर्वनिर्दिष्ट सच्चिदानन्द ब्रह्मकी स्वरूपकोटीके अन्तर्गत [क/२]परब्रह्मकी सत्ता चैतन्य और देश-काल-वस्तुपरिच्छेदरहितता रूपी धर्मभूत-धामभूत तथा सर्वकारणकारणभूत अक्षरब्रह्म होता है यह हमने दिखलाया. उसमें उसी ब्रह्मकी कारणकोटीमें अन्तर्भूता [ख/१-३]सत्त्वादि गुणत्रयीकी अक्षुब्ध साम्यावस्था रूपिणी [ख/४]प्रकृति प्रकट होती है. इस प्रकृतिमें [क/२/अ]कालके वश तिरोहित चैतन्य पुनः [ख/५]पुरुषचैतन्यरूपेण प्रतिसंक्रान्त होता है. इस प्रतिसंक्रान्तिके वश वह क्षुब्ध हो जाती है. परिणामतया उसमें गुणवैषम्य प्रकट होने लगता है. और इस तरह वह [ख/६]महत् तत्त्वके आकारतया पुनः परिणत हो जाती है. इस महत् तत्त्वमें सदंश तो प्राकृत ही होता है परन्तु चिदंश पौरुष. इसे 'महान्' इसलिए कहा जाता है क्योंकि आगे चल कर पैदा होनेवाले सम्पूर्ण जगत्का प्रसवहेतु

यही बनता है. यही विश्वाधाररूप होता है. डिम्बकोशसदृश प्राकृत सदंशमें रेतोबीजसदृश चिदंशका प्रतिसंक्रमण या प्रवेश होता है. और तब यह जगत्का भ्रूणरूप या अंकुररूप बनता है. यों बोध्यबोधकभावरहित तमोरूप प्राकृत सदंशमें पौरुष चिदंशके प्रतिसंक्रमणवशात् बोध्यबोधकभावका उद्भवरूप तमोनिरसन इस महत् तत्त्वके कारण शक्य बन जाता है. अतः वृक्षके बीजकी तरह अपनेमेंसे प्रकट होनेवाले विश्वकी सूक्ष्मावस्था इसमें अंकुरणाभिमुखी बनती है. अतः इसे ब्लुप्रिन्ट्की तरह जगत्प्रकाशक, वृक्षबीजकी तरह जगज्जनक तथा अतिसमर्थ तमोनाशक होनेके रूपमें भी प्रकट होता माना जाता है. यह अतिनिर्मल शान्त तथा सच्चिद्रूप होता है. परब्रह्म परमात्मा भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण(१३)की अनुभूतिका विश्वसनीय आनन्दानुभावक वासुदेवात्मक करण भी यही बनता है(१४). हमारे भीतर अन्तःकरणकी जो निगूढ़ावस्था या निगूढतम विभाग 'चित्त' नामक है, उसे इसी महत् तत्त्वका व्यष्टचंश समझना चाहिए. यह अति स्वच्छ होता है अतः इसे बुद्धिसे पृथक्तया समझना चाहिए. बुद्धि ज्ञानरूपा होनेपर भी स्वच्छ नहीं होती. चित्त, जबकि, निर्विषय केवल सुषुप्त्यवस्थासाक्षिक आत्मावबोधरूप स्वच्छ होता है.

आत्मावबोध सारे विषयावबोधोंका बीजरूप होता है. जैसे कम्प्युटर्का स्वीच ऑफ कर देनेपर भी ऑफ न होनेवाला स्वीचऑफ-अवस्थासाक्षिक CMOS (Complementary Metal Oxide Semiconductor) निजात्माव-बोधरूप होता है. अर्थात् वह स्वयंके प्रति सभान होता है तद्वत्. वह जैसे अपने हार्डडिस्क् तथा समय आदिके बारेमें कम्प्युटर्की सभानता है, वैसे ही चित्त भी निद्रावस्थामें भी अनस्तमित आत्मसभानता है. अतः यह चित्त विकाररहित होता है. कम्प्युटर्में जैसे RAM (Random Acces Memory) होती है वैसा चंचल मन, जबकि, निरन्तर विकारशील होता है, क्योंकि वह किसी भी विषयकी फाइल या प्रोग्राम को कम्प्युटरके ऑन/ऑफ करनेकी प्रक्रियाके अनुसार ही सम्हाल पाता है अथवा खो देता है.

इसी तरह शान्त घोर विमूढ़ अहंकार भी केवल शान्त कभी नहीं हो पाता, जबकि चित्त तो केवल शान्त होनेके कारण अहंकारसे भी विसदृश ही होता है. बुद्ध्युपाधिवशात् कभी-कभाक विकृत अशान्त सा कालुष्य सा इसमें प्रतीत होनेपर भी चित्त स्वभावतः तो निर्विकार शान्त ही रहता है(१६).

हमने देखा कि वैसे तो वाल्लभ वेदान्तमें आधिभौतिक आध्यात्मिक या आधिदैविक सभी रूपोंको धारण करनेवाला ब्रह्म स्वयं एकमेवाद्वितीय तत्त्व है. फिरभी सत्ता चैतन्य और त्रिविध अपरिच्छिन्नताको लिये रखनेवाला अक्षरब्रह्म प्रकृति और पुरुष के रूपमें द्विधा विभक्त होनेके बावजूद अपनी इस महद्-अवस्थामें पुनः चिदचिद्ग्रन्थिभावापन्न हो जाता है. तदनुरूप प्रत्येक प्राणीमें रहा हुआ महदंशभूत चित्त भी चिदचिद्ग्रन्थिरूप होता है.

मूलमें यही कारण है कि अपने यहां भारतवर्षमें चार्वाक मत केवल भौतिक पदार्थोंकी ही सत्ता स्वीकारता है तो विज्ञानवादी बौद्ध तथा शांकर वेदान्त केवल आत्मा या चेतन पदार्थकी ही सत्ता स्वीकारते हैं. इसी तरह यूरोपमें भी कुछ भौतिकवादी चिन्तक केवल मेटर की ही सत्ता स्वीकारते हैं तो दूसरे आत्मवादी चिन्तक केवल माइन्ड की ही सत्ता स्वीकारते हैं. दोनों ही अपने-अपने दृष्टिकोणोंके आग्रहोंके अनुरूप सारेके सारे material phenomina या mental phenomina की Mind या Matter के रूपमें व्याख्या कर पाते हैं. यह Reductionistic approach स्वयं चित्तके चिदचिद्ग्रन्थिरूप होनेसे उपपन्न भी हो जाता है. अतएव अर्नेस्ट् वाल्डफ्राईड् जोसेफ् वेंज़ेल् मॅक्को यदि Neutral Monism युक्तिसंगत लगता है तो बट्रेन्ड् रसेल "What is Mind? Does not matter. What is Matter? Never mind." उपहासद्वारा Neutral Atomic Pluralism भी प्रस्तावित कर पाते हैं!

वाल्लभ वेदान्त इस सन्दर्भमें कहना चाहेगा कि मूल तत्त्व उभयात्मक है और उभयातीत भी(१६). अतएव प्रत्येक भौतिक पदार्थकी जैसे सेंसेशनमें व्याख्या शक्य हो पाती है, वैसे ही सभी मानसिक क्रियाकलापोंकी भौतिक-रासायनिक व्याख्या भी उतनी ही सुशक्य लगती है. मूलतः यह इसीलिए सम्भव हो पाता है क्योंकि विश्वके मूलमें रहा महत् तत्त्व उभयात्मक होता है. यह महत् स्वयं जिस काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुषात्मक अक्षरब्रह्मका नाम-रूप-कर्मात्मक व्याकरण या विस्तार है वह उभयात्मक भी होता है और उभयातीत भी(१७). अतः जड़जीवात्मना विभक्त हुआ अक्षरब्रह्म महत् तत्त्वके रूपमें पुनः उभयमिश्रित हो जाता है. महत् अहंकारतया परिणत होता है. अहंकारसे विषयोंके गुणधर्मरूप तन्मात्राओंका परिणाम प्रकट होता है तथा तद्ग्राहक इन्द्रियां भी परिणत होती हैं. इन्हीं तन्मात्राओंके स्थूल परिणामरूप पंचमहाभूत होते हैं. अतः इस दृष्टिकोणसे हमारी अनुभूतिओंका आकलन करनेपर सृष्टिकी प्रक्रियामें ही चिदचिदात्मकता अन्योन्यसंक्रान्त रहती होनेसे किसी भी विषय या अनुभूति की विवेचना जिस छोरसे की जाय उस छोरसे उसका वैसा रूप दिखलाई देने लगना एक स्वाभाविक कथा लगती है. अतएव हाल ही में स्वपरबोधशील स्वतोजनक मॉलेक्यूलके निर्माण-अनुसन्धानमें निरत नॉबेल उपाधिसे पुरस्कृत श्री ज्याँ मारिए लेन्हके हाल ही में मुंबईमें Times of India समाचारपत्रको दिये एक साक्षात्कारमें उनके द्वारा प्रकट यह उद्गार सभी विचारकोंके लिए मननीय है :—

> "Imagine bricks that can get together to form a house, (if) the information is in the bricks to spontaneously assemble. Bricks can't do it, of course, but molecules can... Life for me is a much simpler problem than, say, consciousness. Indeed, the distance from non-livling matter to

living matter is much shorter than that from living matter to thinking matter. How come natural evolution has led to an entity able to think over the very thing which produced it? This ability—to be a part of nature and to be apart...—is what I find absolutely awesome."

यहां न केवल जड़-जीवके बीच आत्यन्तिक भेदका अपितु आत्यन्तिक अभेदका भी निरसन ध्वनित हो रहा है. अतः सिद्ध होता है कि तात्त्विक अभेद और नाम-रूप-कर्मगत भेद को स्वीकारने जानेकी दिशामें ही श्री ज्याँ मारिए लेन्हका अनुसन्धान अग्रसर होता जायेगा. अतः जड़विषयके बोधात्मक धर्मोंसे मण्डित होनेमें अथवा जड़विषयक बोधके स्वयं जड़ उपकरणोंसे जन्य होनेमें दर्शनशास्त्रको अब विस्मित होनेकी मनोवृत्तिपर काबू पाना पड़ेगा! क्योंकि अनुभूतिविषयरूप जड़द्रव्य या जड़द्रव्यविषयिका अजड़-अनुभूति की इतरेतरजन्यजनकता अब सहज ही समझी जा सकनेवाली बात बनने जा रही है!!

७.अन्तःकरणके द्वितीय विभाग अहंकारका स्वरूप और उसके क्रियाकलाप :

ज्ञानप्रधान महत् तत्त्वसे क्रियाशक्तिरूप व्यष्टि तथा समष्टि रूप अहंकार परिणत या प्रकट होता है. क्योंकि व्यष्टिरूप चित्त और समष्टिरूप महत् दोनों ही चिदचिद्ग्रन्थिरूप होते हैं. अतः अपने उपादानकारणानुरूप अहंकार भी उभयग्रन्थिरूप ही प्रकट होता है. तमोगुणके उद्रेकवश, इसमेंसे, तन्मात्राओंका, रजोगुणके उद्रेकवश दशविध इन्द्रियोंका और सत्त्वगुणके उद्रेकवश मनका परिणाम प्रकट होता है(१८).

शुद्ध आत्मचेतनामें कर्तृत्वबोध इसी अहंकारसे कृत्रिम तादात्म्यभावापत्तिवशात् सम्भव होता है. इसे यों कहा जा सकता

है कि आत्मचेतनाके बिना न तो अहंकाररूप अन्तःकरणके विभागमें अहंबोध शक्य हो सकता है और न आन्तरिक अहंकरणके बिना आत्मचेतनामें ही अहंवित्तिवेद्यता सम्भव हो पाती है. गाढ़ निद्रामें अहंवित्तिवेद्य आत्माके विद्यमान रहनेपर भी अहंबोध रह नहीं जाता. अतः, जैसा कि पहले ही चतुर्ग्रन्थी अन्तःकरणके बारेमें हम देख ही चुके, कम्प्युटरगत CMOS के समान जैसे चित्त होता है, वैसे ही ROM (Read Only Memory) की तरह अहंकार होता है. क्योंकि यह अहंकार भी कुछ वैसा ही उत्तरदायित्व निभाता है कि जैसा कार्यनिष्पादन कम्प्युटरमें ROM (Read Only Memory) करता है. हमारे सभी तरहके चेतनाव्यापारोंको एकसूत्र करनेवाला निजात्मसंवेदनारूप यह विभाग या आन्तरिक संकर्षणरूप उपकरण है. हमारे बाह्य शरीर और आन्तरिक मनोबुद्धिके नित्यपरिवर्तनशील होनेकी प्रक्रियामें यह अहंकार अपरिवर्तनशील ही रहता है, रीड् ऑन्ली मेमॉरी = यू कॅन् नॉट् चेंज् ओर रीमूव् व्हॉट् इज़ स्टोर्ड् इन् इट्!

इसी अहंकारमेंसे प्राण और बुद्धि के पहलु भी शनैः परिणत या प्रकट होते हैं. अतः इन्हें अहंकारके रूपान्तरतया मान्य किया गया है(१९). प्राण हमारे भीतर वह क्रियाशक्ति भरता है कि जिससे कर्मेन्द्रियां स्वस्वकार्य निष्पन्न करनेमें समर्थ हो पाती हैं. बुद्धि इसी तरह ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारसे विषयोंको गृहीत बना कर विषयबोध विषयस्मृति विषयाज्ञान विषयसंशय विषयविभ्रम विषयस्वप्न या निद्रा उत्पन्न करती है. इसका विवेचन आगे किया जायेगा.

८.अन्तःकरणके तृतीय विभाग मनका स्वरूप और उसके क्रियाकलाप :

जैसा कि हम कह चुके अहंकारमें सात्त्विक गुणके उद्रेकवशात् मनस्तत्त्व रूपी परिणाम प्रकट होता है. यह मन भी क्रिया और बोध उभयविध गुणधर्मोंसे युक्त होता है. इसका स्वरूप संकल्प-विकल्पात्मक होता है(२०).

जो भी कुछ कर्म हमें अपने स्वभावके अनुरूप करने पड़ते हैं या सामर्थ्यके अनुरूप हम करना चाहते हैं, उन्हें करनेका संकल्प और उनकी कामना हमारे सक्रिय मनके भीतर पैदा होती मानी गयी हैं. इसी तरह जिस विषयका हमें बोध होता है उसके याथार्थ्यके सारे सम्भावित और असम्भावित विकल्प भी सभान मनके भीतर ऊहापोहके रूपमें उभरते-डूबते रहते हैं. उदाहरणतया घटके बोधके समय वह किस/किन उपादान और किस/किन निमित्त कारणोंसे निर्मित हुआ है, वह किस/किन रंगोंका है या हो सकता है, वह जलधारणार्थ है या संगीतगोष्ठिमें तालवादनार्थ है, वह अपने समानवर्गीय अन्य घटोंकी तुलनामें छोटा है या बड़ा है, यह अस्वामिक है या व्यक्तिविशेषस्वामिक है, आदि-आदि अनेकानेक विकल्पोंका ऊहापोह मन घटानुभूतिकी आद्यक्षणके शतांशमें कर लेता है. अतएव सुख-दुःख राग-द्वेष दया-नैष्ठुर्य काम-अकाम क्रोध-अक्रोध लोभ-अलोभ मोह-अमोह मद-अमद मात्सर्य-अमात्सर्य संकल्प-विचिकित्सा श्रद्धा-अश्रद्धा धैर्य-अधैर्य लज्जा-अलज्जा अथवा भय-अभय आदि सभी मनोवृत्तियां मनःकरणिका ही होती हैं. हमारी विषयानुभूतिओंको हमारी भावनाओंके रंगमें रंग देनेका काम भी मन ही करता रहता है. गुणत्रयीके सात्त्विकसात्त्विक सात्त्विकराजस सात्त्विकतामस, राजससात्त्विक राजसराजस राजसतामस अथवा तामससात्त्विक तामसराजस तामसतामस आदि इतरेतरगुणित अनेकविध निमित्तोंके वश क्षुब्ध हो कर मन ही इन अनेकविध मनोभावनाओंको प्रकट करता है. यह तो हम देख ही चुके हैं कि यह मन कैसे कम्प्युटरके RAM (Random Acces Memory) जैसा चंचल होनेके कारण निरन्तर परिवर्तनशील ही रहता है.

सभी ज्ञानेन्द्रियां और सभी कर्मेन्द्रियां मनके आधीन रहती हैं. अतएव इसे अनिरुद्धरूप माना गया है. क्योंकि बिरले योगी ही इसे निरुद्ध कर पाते हैं(२१). निद्राकालमें तो यह मन अहंकारकी ही तरह सक्रिय नहीं रहता परन्तु स्वप्न-जागरणमें अहंकारकी ही तरह

जाग उठता है. इसका सामर्थ्य भी अन्तःकरणके समान अन्य सभी विभागोंपर बहुधा बलवत्तर ही होता है. इसके सहयोग बिना कोई भी इन्द्रिय अपने रूपरसादि विषयोंके ग्रहणार्थ समर्थ नहीं हो पाती. अतएव प्रत्यक्षानुभूति अपने प्राथमिक स्तरपर निर्विकल्पक सन्मात्रग्राहिणी होनेके कारण इस अवस्थामें प्रत्यक्ष मनःसंयुक्त इन्द्रियोंसे जन्य माना गया है(२२). मन जिन विकल्पोंका उद्भावन करता है वह उन्हें बुद्धिके स्मृतिकेन्द्रमेंसे ही बाहर निकालता है और स्वसंयुक्त इन्द्रियोंद्वारा प्रापित विषयसूचनाओंके साथ-साथ गृहीत-वस्तु-देश-काल-से सम्बद्ध या असम्बद्ध अनेकानेक विकल्पोंका अवगाहन बुद्धिसे यह मन ही करवाने लग जाता है.

९.अन्तःकरणके चतुर्थ विभाग बुद्धिका स्वरूप और उसके क्रियाकलाप :

अहंकारमें राजस गुणके उद्रेकवश बुद्धितत्त्वका प्राकटच होता है. मन, यदि, इन्द्रियोंका प्रेरक बनता है तो बुद्धि इन्द्रियोंपर अनुग्रह करनेवाली मानी गयी है. कर्मेन्द्रियोंसे जो कुछ हम कर पाते हैं या ज्ञानेन्द्रियोंसे जो कुछ हम जान पाते हैं, वह उस क्रिया या उस विषय के बुद्ध्चारूढ़ होनेपर ही शक्य हो पाता है. अतएव बुद्धिकी सात्त्विकादि अवस्थाओंके अनुरूप हमसे कोई कार्य या विषय भिन्न-भिन्न रीतिसे सम्पन्न या गृहीत हो पाते हैं. यह बुद्धिका कार्य है. बुद्धिका स्वरूप यों समझाया गया है कि किसी भी घटादि सदृश विषयके स्फुरण होनेपर शब्द या संस्कार अथवा आलोक के वश जो विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है वह बौद्धिक ही होता है(२३). अर्थात् हमारा सारा सविकल्पक ज्ञान बुद्धिजन्य ज्ञान ही होता है. समनस्क इन्द्रियोंद्वारा बुद्धिके विभागमें उपस्थापित सामान्यज्ञानविषयीभूत विषयोंके साथ यथार्थ/अयथार्थ विविध विकल्पोंका समायोजन बुद्धिद्वारा ही विशेषज्ञानके रूपमें निष्पादित होता है(२३).

कम्प्युटर्के बेज़िक फंक्शन्स्के उदाहरणोंमें चतुर्थ BIOS (Basic

Input/Output System) के समानान्तर अन्तःकरणमें बुद्धिका विभाग होता है. जैसे BIOS कम्प्युटरके अन्य सारे क्रिया-कलापोंमें सहायक बनता है, ऐसे ही बुद्धि भी चित्त अहंकार एवं मन के आधीन रह कर उन्हें सर्वविध कार्योंको सम्पन्न करनेमें सहायिका बनती है. BIOS जैसे ROM के भीतर स्टॉई होता है, इसी तरह बुद्धि भी हमारे अहंकारपर आश्रित होती है. अतएव गाढ़निद्रावस्थामें अहंकारके भी सो जानेपर चित्त तो जगता है परन्तु बुद्धि सो जाती है. अन्तःकरणमें स्फुरित (input) द्रव्यकी सत्त्वादिगुणहेतुक स्फुरणाओंमें तारतम्यवश बुद्धि भी तरतमभावापन्ना हो जाती है. यों वह भी नानाविधा बन जाती है. अतः बुद्धिके Output ,नामशः, संशय विपर्यास=भ्रम निश्चय स्मृति स्वप्न रूपिणी पंचविध वृत्तियां होती हैं(२५). यों बुद्धिके क्रिया-कलापोंकी भी अनेक विधाएं प्रकट होती हैं.

इसमें आवश्यकतया अवधेय बात यही है कि सामान्यतया वस्तुके विकल्पोंका अवगाहन करनेवाला साराका सारा बौद्धिक ज्ञान वैसे तो राजस स्वभावका माना गया है. मूलमें, क्योंकि, अहंकारके भीतर राजसगुणोद्रेकका ही परिणाम बुद्धिको माना गया है. इसे वाल्लभवेदान्तके पुनः सद्यःप्रकट प्रस्थानरत्नाकर(२६)के अनुसार देख लेना उपकारक होगा :

संशय : उस मौलिक राजसताके अन्तर्गत किसी एक धर्मीके बारेमें विरुद्ध नानाकोटिक धर्मोंका अवगाहन करनेवाला संशयरूप ज्ञान पुनः राजस-राजसरूप ज्ञानका एक प्रकार होता है. सम्भावना और तर्क को, वाल्लभ वेदान्तमें, संशयकोटिक ज्ञानके अर्न्तभूत ही मान लिया गया है.

विपर्यास : अर्थात् इन्द्रियोंसे गृहीत विषयसे भिन्न किसी विषयकी स्फुरणा करानेवाला राजस-तामसरूप ज्ञानका प्रकार भ्रमरूप होता है. यद्यपि प्रस्थानरत्नाकरकारके अनुसार यह

विषयदोष और/अथवा करणदोष के वश पैदा होता है. एतावता सोपाधिभ्रम तथा निरुपाधिभ्रम दोनों तरहके भ्रमभेद वाल्लभ वेदान्तमें अमान्य या अव्याख्येय नहीं हो जाते.

निश्चय : अर्थात् यथार्थ अनुभूति. इसे 'प्रमा' भी कहा जाता है. ज्ञानके इस प्रकारमें अनुभूति अर्थानतिवर्तिनी होती है. अर्थात् जिस देश-कालमें जो वस्तु जैसी हो उसका उसी देश-कालमें उसी तरह अनुभूत होना. यह राजस-सात्त्विकरूप प्रकार ज्ञानका होता है. इस निश्चयाकारक ज्ञानके प्रत्यक्ष और परोक्ष यों दो भेद स्वीकारे गये हैं. निश्चयान्तर्गत प्रत्यक्षके अवान्तर प्रभेद निर्विकल्पक अर्थात् सन्मात्रग्राही सामान्यज्ञान होता है — सविकल्पक अर्थात् विकल्पावगाही विशिष्टज्ञान होता है. परोक्ष ज्ञानके प्रकारोंमें अनुमिति शाब्द और ऐतिह्य को गिनाया गया है. अन्य जो उपमान अर्थापत्ति अनुपलब्धि आदि अन्यान्य दर्शनोंद्वारा प्रस्तावित किये गये परोक्षप्रमाके प्रकार हैं उनका अनुमितिमें अन्तर्भाव स्वीकार लिया गया है.

स्मृति : बाह्य विषयके उपक्रमके बिना ही पूर्वानुभूत वस्तुविषयक संस्कारोंके कारण पैदा होनेवाला स्मृतिरूप बौद्धिक ज्ञान राजस-राजस प्रकारका होता है. यह बाह्यार्थजन्य न होनेके कारण अर्थात् केवल आन्तरिक संस्कारवश पैदा होनेके कारण अप्रमाणतया माना गया है. अतएव स्मृतितया स्मृतिके प्रामाणिक होनेपर भी अर्थात् दृष्टार्थसंवादिनी होनेपर भी, केवल आन्तरिक करणोंके व्यापारपर निर्भर जन्यताके कारण स्मृति प्रमेयसिद्धिमें साधिका नहीं बनती है. अतः इस पारिभाषिक अर्थमें स्मृतिको अप्रमाण ज्ञानके प्रकारतया माना गया है.

स्वप्न : अर्थात् निद्रा और जागरण के बीच प्रकट होता बौद्धिक ज्ञान राजस-तामस प्रकारका ज्ञान होता है. इसकी गाढ़ अवस्थामें जानेपर अर्थात् बुद्धिके समेत मन और अहंकार के सो जानेपर सुषुप्तिरूप चित्तकरणक ज्ञान प्रकट होता है. अर्थात् बुद्धिकी निष्क्रियताके रूपमें इसे बौद्धिक ज्ञानका भेद माना जा सकता है वर्ना यह चित्तकरणक ज्ञानका प्रकार है जिसे हम देख ही चुके हैं.

बौद्धिक ज्ञानके इन पांच प्रकारोंमें प्रमाणतया जो निश्चयाकारक ज्ञानको माना गया है उसका स्पष्टीकरण स्वयं श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभु इन शब्दोंमें देते हैं **''अर्थोहि ज्ञानस्य अर्धम् अङ्गम्; अतएव, स्मृतिः न निश्चयात्मिका अर्थाभावात्'' (२७)**.अर्थात् अनुभूयमान पदार्थ अनुभूतिका आधा अंग होता है. अतः जब कोई अनुभूति अनुभूयमान पदार्थसे उत्पन्न न हो कर अन्यान्य कारणोंसे उत्पन्न हो जाती है तो उस बौद्धिक घटनाको पूर्णतया घटित न मान कर अर्धघटित घटनाके रूपमें स्वीकारना चाहिए. जैसे एक भाषामें कही गयी किसी बातका दूसरी भाषामें अनुवाद होता है, उसी तरह देश-कालमें घटित किसी वास्तविक घटना या वस्तु का देशकालातीत चेतनामें पुनः अनुघटित हो जाना 'अनुभूति' कहलाती है. ''यद् भवति तदेव अनुभूयते'' ऐसा होनेपर ही भूतवस्तुका अनुभव यथार्थ होता है. अन्यथा तद्देशवर्तिता तत्कालवर्तिता तद्धर्मविशिष्टता से रहित अनुभूति भूतवस्तुकी अनुकारिणी न होनेके कारण अयथार्थ(=स्मृति संशय भ्रम स्वप्न रूपिणी) बन जाती है. बावजूद इसके वाल्लभ वेदान्तमें भ्रमज्ञानको अन्यथाख्यातिरूप न मान कर अन्यख्यातिरूप जो माना गया है, उसका हेतु केवल यही है कि सारे भ्रमज्ञान इन्द्रियसम्प्रयुक्त देश-काल-वस्तुप्रकारसे भिन्न किसी देश-काल-वस्तुप्रकारविषयक होते हैं. यह विषयगत आन्तरिक/बाह्य दोषोंके और/अथवा ज्ञानके आन्तरिक/बाह्य करणोंके दोषोंके वश घटित होता होनेसे अन्यख्यातिरूप माना गया है.

वाल्लभ वेदान्ताभिमत अन्तःकरणका स्वरूप और उसके क्रियाकलापोंके निरूपणमें इस तरह सांख्याभिमत ज्ञान प्रक्रियाका भगवद्गीता और भागवतपुराण के अनुसार उपनिषदोंके साकारब्रह्मवादके साथ समन्वयका निदर्शन स्पष्ट होता है.

मूलवचनसन्दर्भ

१. ''अखण्डं कृष्णवत् सर्व यथा तत्तु निरूपितं आत्मैव सर्वं सृज्यते सृजति प्रभुः त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः 'आत्मैव तदिदं सर्व' 'ब्रह्मैव तदिदं' तथा इति श्रुत्यर्थमादाय सार्ध्य सर्वैः यथामति, अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितम्'' त.दी.नि.२।१८२-१८४.

२. '' 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इति स्वस्यैव कर्मकर्तृभावात्, 'सुकृत'त्ववचनाच्च अलौकिकत्वं तथापि ज्ञानार्थम् उपपत्तिम् आह 'परिणामात्', परिणमते कार्याकारेणेति अविकृतमेव परिणमते सुवर्णं सर्वाणि च तैजसानि... तस्माद् ब्रह्मपरिणामलक्षणं कार्यमिति जगत्समवायिकारणत्वं ब्रह्मणएव इति सिद्धम्'' अणुभा.१।४।२६.

३. ''संहतैः उपचितैः अवयवैः गुप्तो अवयवी प्रकटीक्रियते'' सुबो.२।१।२४.

४. ''प्रमेयं हरिरेवैकः सगुणो निर्गुणश्च सः गुणाः कार्यं तथा धर्मः क्रियोत्पत्त्यादयश्च सः... बुद्धिसौकर्यसिद्धचर्थं त्रिरूपेणोपवर्ण्यते कारणेन च कार्येण स्वरूपेण विशेषतो अष्टाविंशतिभेदास्तु कारणे तत्त्वभेदतः भगवत्त्वं यतस्तेषां तस्मात्तत्त्वानि तानि तुः'' त.दी.नि.२।८४-८६.

५. ''स्वरूपेतु त्रयो भेदाः क्रियाज्ञानविभेदतः विशिष्टेन स्वरूपेण क्रियाज्ञानवतो हरेः'' त.दी.नि.२।८९.

६. द्रष्ट.त.दी.नि.२।९८-११६.

७. ''सत्त्वं रजस्तमश्चैव पुरुषः प्रकृतिर्महान् अहंकारः पच्चमात्रा शब्दस्पर्शाकृती रसः गन्धो भूतानि पञ्चैव खं वायुर्ज्योतिरष्क्षितिः क्रियामयानीन्द्रियाणि वाग्दोर्-मेण्ढ्राङ्घ्रिपायवः श्रोत्रं त्वग्घ्राणदृग्जिह्वा मनः षडिति भेदतः'' त.दी.नि.२।९४-९५.

८. द्रष्ट.त.दी.दि.२।११८-१२०.

९. ''सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तद् अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च विरुद्धसर्वधर्माणामाश्रयं युक्त्यगोचरम् आविर्भासतिरोभावैः मोहनं बहुरूपतः'' त.दी.नि.१।७०-७२.

१०. द्रष्ट.त.दी.नि.२।१४१-१४६.

११. द्रष्ट.त.दी.नि.१।२७-३३.

१२. ''एकमेव अन्तरात्मकम् अन्तःकरणं मनोबुद्ध्यादिभेदेन चतुर्धा लक्ष्यते'' सुबो.३।२६।१४ .

१३. ''यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम् अक्षरादपि च उत्तमो अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः'' भग.गीता.१५।१८.

१४. ''चित्ते भगवत्प्रेम सम्पादनीयम्. ततः प्रेमसंवलितं चित्तं सर्वत्र विद्यमानं भगवन्तं विषयीकरिष्यति. यथा यथा रसेनेन्द्रियसहिता जिह्वा द्रव्येषु विद्यमानान् रसान् स्वयमेव गृह्णाति, नतु तद्रसज्ञानं पूर्वम् अपेक्षते. तथा भक्त्याविष्टं चित्तं स्वयमेव भगवन्तं गृह्णाति. प्रतिनियतेन्द्रियवद् भगवद्व्यक्तिः'' सुबो.२।६।३३.

१५. द्रष्ट.सुबो.३।२६।१९-२२.

१६. ''प्रापञ्चिकपदार्थानां सर्वेषां तद् विलक्षणं जगतः समवायि स्यात् तदेव च निमित्तकम्'' त.दि.नि.१।६७-६८,''मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना'' भग.गीता.९।४, ''विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितं जगत्'' तत्रैव १०।४२.

१७. ''परं बह्मतु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहद् द्विरूपं तद्धि सर्वं स्याद् एकं तस्माद् विलक्षणम्'' सिद्धा.मुक्ता.३.

१८. द्रष्ट.प्रस्थानरत्नाकर कोटीत्रयनिरूपक कल्लोलगत द्वितीय तरंग.

१९. तत्रैव.

२०. ''संकल्पविकल्परूपत्वं स्वरूपलक्षणं कामजनकत्वं कार्यलक्षणं'' सुबो.३।२६।२७.

२१. द्रष्ट.तत्रैव.३।२६।२८.

२२. द्रष्ट.प्रस्थानरत्नाकरीयप्रमाणपरि.प्रथमकल्लो.द्वितीयतरं.

२३. द्रष्ट.सुबो.३।२६।२९.

२४. तत्रैव.

२५.तत्रैव.

२६. द्रष्ट.प्रस्था.रत्ना.प्रमा.परि.प्रथमकल्लो.द्विती.तरं.

२७. सुबो.३।२६।२९.

कार्यकारणभावमीमांसा

(वाल्लभ वेदान्त तथा बारुक स्पिनोज़ाके मतका तुलनात्मक विमर्श)

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यका वेदान्तचिन्तन न तो उनका अपना कोई मौलिक चिन्तन है और न वैसा कोई दावा ही उन्होनें कहीं किया है. ''**अर्थोऽयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यैः रामायणैः सहितभारतपञ्चरात्रैः अन्यैश्च शास्त्रवचनैः सहतत्त्वसूत्रैः निर्णीयते सहृदयं हरिणा सदैव**''[१] की उद्घोषणा करनेवालेसे ऐसे दावेकी अपेक्षा रखनेका औचित्य भी क्या हो सकता है! महाप्रभुका तो इस विषयमें सुस्पष्ट अभिप्राय यही है कि ''**वेदार्थब्रह्मणो वेदानुकूलविचारः. किम् अत्र युक्तं? व्याख्यानम् इति, व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः**''-''**पुरुषार्थस्य शास्त्रार्थस्य वा स्वरूपं शास्त्रैकसमधिगम्यं न स्वबुद्धिपरिकल्पितम्. अतः स्वबुद्ध्या शास्त्रार्थं परिकल्प्य तत्र वेदं योजयन्तो महासाहसिकाः सद्भिः उपेक्ष्याः**''[२]. वैसे इसके अलावा यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है कि श्रीशंकराचार्यसे पूर्वकालीन कई एक वेदान्तव्याख्याताओंकी मान्यताओंके यत्र-तत्र मिलते उद्धरणोंके अवलोकन करनेपर, नामशः, ब्रह्मनन्दी भर्तृप्रपञ्च ब्रह्मदत्त आदि अनेक शुद्धाद्वैतवादी वेदान्तिओंके विद्यमान होनेके संकेत मिलते ही हैं.[३]

परन्तु प्रस्थानरत्नाकरकार गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीके ज्येष्ठ समकालिक बारुक स्पिनोज़ा (जन्म: ई.स. २४ नवं. १६३४ एम्स्टर्डम्, मृत्यु: २१ फर. १६७७) का चिन्तन अपने पूर्ववर्ती विचारकोंसे प्रभावित होनेपर भी, अर्थात् सत्कार्यवादी धारणाओंसे विपरीत न होनेपर भी(!), किसी ग्रन्थके व्याख्यानतया प्रकट हुवा न हो कर उसकी अपनी विचाररीति एवं ज्ञानमीमांसासम्बन्धी धारणाओंके आधारपर प्रकट हुवा चिन्तन है. बारुक स्पिनोज़ा Rationalistic Monism तार्किकतावादी अद्वैतवादके प्रमुख चिन्तकोंमें से एक हुवे हैं. बर्ट्रेंड् रसेल् अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विज़्डम ऑफ वेस्ट'में कहते हैं कि

स्पिनोज़ाका दर्शन पाश्चात्य दर्शनके श्रेष्ठतम स्मारकोंमेंसे एक है[४] . इसे स्पिनोज़ासे पूर्वकालीन युनानी चिन्तकों — थेल्स अनॅक्ज़ीमेंदर अनॅक्ज़ीमाईन पार्मेनाईड्स् हॅराक्लीतस; इसी तरह, मध्यकालीन अन्य भी फीलो, प्लॉटिनस, जॉन स्काटस एरिजेना, ब्रूनो, तोमासो कॅम्पानॅला सदृश आधुनिक यूरोपिय दार्शनिकोंकी मान्यताओंके अवलोकन करनेपर स्पष्टतया इसे देखा जा सकता है.[५]

कार्य-कारणभावके बारेमें वाल्लभ वेदान्तकी धारणाओंके मूलमें शुद्धाद्वैतवादी श्रौत प्राग्धारणा काम कर रही हैं. द्वैत या अद्वैत के बारेमें किस सम्प्रदायका क्या दृष्टिकोण है इस आधारपर तत्तत् सम्प्रदायोंको पहचाननेकी वेदान्तदर्शनोंकी रूढि प्रचलित हुयी है. अतः वेदान्तके अन्यान्य सम्प्रदायोंकी भांति ही वाल्लभ वेदान्तकी भी पहचान ''जड़जीवात्मक जगत् और ब्रह्म के बीच द्वैत है या अद्वैत है?'' प्रश्नके समाधानरूप 'शुद्धाद्वैत'तया प्रचलित हुयी है. यह महाप्रभुके बहोत बाद गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीके भी कुछ बाद ही प्रचलित हुयी है. स्वयं महाप्रभु अपने मतको 'ब्रह्मवाद' कहना पर्याप्त समझते थे. महाप्रभुके कनिष्ठात्मज गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण 'साकारब्रह्मवाद' कहना. बादमें 'शुद्धाद्वैत'नामाभिधान द्वारा वाल्लभ वेदान्तकी पहचान अधिक रूढ़ हो गयी. इसका भी अपना कुछ औचित्य तो है ही. अतः कार्यकारणभावके विमर्शसे पहले इसे एक बार बुद्धिगत कर लेना उपयुक्त होगा. तदनुसार अधोनिर्दिष्ट तुलनात्मक तालिकाके आधारपर इसे सरलतासे बुद्धिगत किया जा सकता है:

(१)[१]''एकमेवाद्वितीयं'+[२]''नेह नानास्ति किञ्चन'=शाङ्कर वेदान्त
पारमार्थिक अद्वैत + मायिक द्वैत = केवलाद्वैत

(२)'एकमेवाद्वितीयं'+[३]'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्...'=रामानुज वेदान्त
विशिष्ट-अद्वैत + विशेषण - विशेष्य - द्वैत = विशिष्टाद्वैत

(३) 'एकमेवाद्वितीयं' + [४]''ज्ञाज्ञौ द्वाजावीशानीशौ' = माध्व वेदान्त
औपचारिक अद्वैत + पारमार्थिक द्वैत = केवलद्वैत

(४) 'एकमेवाद्वितीयं (+) तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' = वाल्लभ वेदान्त
स्वाभाविक अद्वैत (में) ऐच्छिक द्वैत = शुद्धाद्वैत
(१.छान्दो.उप.६।२।१, २.बृह.उप.४।४।१९, ३.बृह.उप.३।७।१५,
४.श्वेता.उप.१।९)

यहां सावधानतया अवधारणीय कुछ तथ्य हैं. सर्वप्रथम तो प्रत्यक्षागम्य या प्रत्यक्षविरुद्ध ऐसे अद्वैतके श्रौत प्रतिपादनमें प्रत्यक्षविरोधका परिहार कैसे करना? एतदर्थ द्वैतके विवक्षित स्वरूपकी निरूपिका अन्यान्य घटक श्रुतियां योजित करनी पड़ती हैं. हम देख सकते हैं कि इन्हीं घटक श्रुतिओंके आधारपर तत्तद् वेदान्तोंकी मौलिक धारणायें प्रकट हुयी हैं. वाल्लभ वेदान्तकी, परन्तु, यह मौलिक धारणा कि ब्रह्मके स्वाभाविक अद्वैतमें जागतिक नाम-रूप-कर्मोंकि द्वैत, स्वयं ब्रह्मकी सर्वभवनसामर्थ्य तथा उसके सत्यसंकल्प के कारण प्रकट हुवे हैं, किसी अन्य घटक वचनकी अपेक्षा नहीं रखता. स्वयं ब्रह्माद्वैतकी प्रतिपादिका जो श्रुति है वही ऐच्छिक द्वैतके प्रतिपादनद्वारा प्रत्यक्षविरोधके परिहारसहित शुद्ध अद्वैतका प्रतिपादन करती है. दूसरे इस इच्छया प्रकट हुवे द्वैतको इदमित्थंभावेन परिसीमित न किया जाये तो वह द्वैत मायिक द्वैत भी हो सकता है, विशेषण-विशेष्यपर्यवसायि द्वैत भी, पारमार्थिक द्वैत भी यों अन्य भी अनेक रूपोंमें उसे स्वीकारा जा सकता है. अतएव उस परमतत्त्वके चार पहलु [१]अक्षरब्रह्म [२]परमात्मा=अन्तर्यामी [३]भगवान्=पुरुषोत्तम [४]श्रीकृष्ण क्रमशः यथायथ [१]केवलाद्वैतवादी श्रौत मांग, [२]विशिष्टाद्वैतवादी श्रौत मांग, [३]केवलद्वैतवादी श्रौत मांग तथा [४]स्वकृतवरणैकलभ्यताकी श्रौत पुष्टिभक्तिकी मांग को भी पूर्ण करनेवाले हैं. अतएव कुल मिला कर अन्यान्य दर्शनोंकी भी मौलिक मांगोंको पूर्ण करनेकेलिये महाप्रभु कहते हैं:

क. यह प्रपञ्च न तो प्राकृत है, न परमाणुओंसे जन्य, मायिक भ्रमारोपरूप ही, न जीवात्माओंके पूर्वकृत कर्मोंके निमित्तवशात् प्रकट हुवा ही; और, न पहले असत् होनेपर भी बादमें सद्रूपतया प्रकट हुवा है. यह तो भगवान्का बनाया हुवा है. अर्थात् परमकाष्ठापन्नवस्तु परब्रह्मकी कृतिसे प्रकट हुवा तदात्मक अर्थात् भगवद्रूप कार्य है.

ख. अक्षरब्रह्मके दो रूप होते हैं : एक रूपमें तो वह सब कुछ बना हुवा होता है और दूसरे रूपमें वह सबसे विलक्षण भी. परब्रह्ममें जगदात्मना परिणत अक्षरब्रह्मके बारेमें तत्तद् वादिओंकी बहुविध धारणायें प्रकट हुयी हैं कि वह मायिक आभास है, त्रिगुणात्मिका प्रकृतिकी विकृति है, अनेक परमाणुओंके परस्पर जुड़ जानेसे उत्पन्न हुवा कार्य है, स्वतः या जीवात्माओंके कर्मोंके वश उत्पन्न-विनष्ट होती रहती एक आदि-अन्तहीन प्रक्रिया है, इत्यादि अनेक प्रकारकी धारणायें हैं. श्रुतिका मत, परन्तु, यही है कि वह परब्रह्म ही सब कुछ बना है.[६].

अतएव श्रौत वचनोंके आधार लिये बिना विचारकोंद्वारा स्वतः उत्प्रेक्षित इन प्रकृति परमाणु माया अदृष्टरूप कर्म अभाव आदिके आत्यन्तिक निरास करने बजाय इनकी केवल अब्रह्मात्मिकी कारणताका ही निरसन वाल्लभ वेदान्तको अभिप्रेत है. ब्रह्मके बहुधाभवनका, यथाश्रुत, प्रकार वाल्लभ वेदान्तको मान्य है, एतावता बहुविध दर्शनोंद्वारा उत्प्रेक्षित अन्यान्य तत्त्वोंकी आत्यन्तिक अस्वीकृति भी वाल्लभ वेदान्तको अभिप्रेत होगी ही ऐसे नहीं मान लेना चाहिये. अतएव परब्रह्मकी स्वाभाविक सामर्थ्यके रूपमें माया जैसे मान्य है, उसी तरह सच्चिदानन्द परब्रह्मके धर्म या धाम रूपी अक्षरब्रह्म[७]में काल कर्म स्वभाव प्रकृति और पुरुष के अन्तर्गत न केवल काल कर्म और स्वभाव ही अपितु आनन्दांशके तिरोधानकी प्रक्रियावश पुरुष और चिदानन्दांशके तिरोधानकी

प्रक्रियावश प्रकृति भी साङ्ख्यप्रक्रियाकी तरह ही मान्य है. इसी तरह ब्रह्मका अणुसे भी अणुतर या परमाणुरूप होना भी वाल्लभ वेदान्तको स्वीकार्य है. सृष्टिके आरम्भमें पूर्वकल्पीया सृष्टिके अभुक्तशेष ब्रह्मात्मक कर्म भी नूतन सृष्टिमें तत्तद्रूप वैविध्यके निमित्त बनते हैं, यह वाल्लभ वेदान्तको मान्य है. इसी तरह प्रागभावादि-चतुष्टय मान्य न होनेपर भी सृष्टिको परमेश्वरकी आत्मनिर्मिति या कृति माननेके कारण, कार्य-कारणभावानुरोधी, सृष्टिका आविर्भाव या तिरोभाव भी स्वीकारा गया है. ये आविर्भाव-तिरोभाव ही तत्तद् दैशिक कालिक एवं स्वरूपात्मना हमारी परिच्छिन्न भावाभावानुभूतियोंके निमित्त बनते हैं, ऐसी वाल्लभ वेदान्तकी धारणा है.

एतदर्थ शुद्धाद्वैतवादकी कार्य-कारणभाव सम्बन्धी धारणाओंके मूलमें, जो कुल नौं श्रौत प्राग्धारणायें काम कर ही हैं, उनका श्रुत्युपन्यासपूर्वक परिगणन कर लेना अत्युपकारक होनेसे तदर्थ प्रवृत्त होना हम चाहेंगे :

(१)ब्रह्मवाद :

श्रौत सन्दर्भ : **(क)**तं तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि (बृह.उप.३।९।२६), **(ख)**ब्रह्म ते ब्रवाणि (बृह.उप.२।१।१), **(ग)**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते... तद् ब्रह्म (तैत्ति.उप.३।१)**(घ)**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तैत्ति.उप.२।१), **(ङ)**किंस्विद् वनं क उ स वृक्ष आस...? (ऋक्संहि.१०।८१-।४), ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आस...! (तैत्ति.ब्राह्म.२।८।९।१-७)**(च)**सर्वं खलु इदं ब्रह्म (छान्दो.उप.३।१४।१).

शुद्धाद्वैतिनिष्कर्ष : आत्मैव तदिदं सर्वं सृज्यते सृजति प्रभुः त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः, आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वैः यथामतिः, अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितम् (त.दी.नि.२।१८३-१८४)

(२)विरुद्धधर्माश्रयतावाद :

श्रौतसन्दर्भ : (क)अणोः अणीयान् महतो महीयान्... (कठोप.१।३।२०), **(ख)**यद् एकम् अव्यक्तम् अनन्तरूपम्... (म.ना.उप.१।५), **(ग)**बृहच्च तद् दिव्यम् अचिन्त्यरूपं...दूरात् सुदूरे तद् इह अन्तिके च...(मुण्ड.उप.३।१।७), **(ग)**यदिदं किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्... सच्च त्यच्च अभवत् निरुक्तञ्च अनिरुक्तञ्च निलयनञ्च अनिलयनञ्च विज्ञानञ्च अविज्ञानञ्च सत्यञ्च अनृतञ्च सत्यम् अभवत् (तैत्ति.उप.३।६), **(घ)**द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैव अमूर्तञ्च मर्त्यञ्च अमृतञ्च स्थितञ्च यच्च सच्च त्यच्च (छान्दो.उप.२।३।१), **(ङ)**ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तद् आत्मानमेव अवेद 'अहं ब्रह्मास्मि'. तस्मात् तत् सर्वम् अभवद् (बृह.उप.१।४।१०).

शुद्धाद्वैतिनिष्कर्ष : नहि स्वबुद्ध्या वेदार्थं परिकल्प्य तदर्थं विचारः कर्तुं शक्यः. ब्रह्म पुनः यादृशं वेदान्तेषु अवगतं तादृशमेव मन्तव्यम्. अणुमात्रान्यथाकल्पनेऽपि दोषः स्यात् (ब्र.सू.भा.१।१।१)

(३)अभिन्ननिमित्तोपादनकारणतावाद :

श्रौतसन्दर्भ : (क)यथा ऊर्णनाभिः सृजते गृह्यते च यथा पृथिव्याम् ओषधयः सम्भवन्ति, यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि सम्भवन्ति तथा अक्षरात् सम्भवति इह विश्वम्... (मुण्ड.उप.१।१।७-९), **(ख)** सत्त्वेव सौम्य इदमग्र आसीद् एकमेव अद्वितीयं तद् ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेय इति (छान्दो.उप.६।२।३). **(ग)**तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत (तैत्ति.उप.२।७).

शुद्धाद्वैतिनिष्कर्ष : जगतः समवायि स्यात् तदेव च निमित्तकं कदाचिद् रमते स्वस्मिन् प्रपञ्चेऽपि क्वचित् सुखं, यत्र

येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा स्याद् इदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः (त.दी.नि.१।६८-६९).

(४)अविकृतस्वरूपपरिणामवाद :

श्रौतसन्दर्भ : (क)वाचारम्भणं 'विकारो' नामधेयं 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम् (छान्दो.उप.६।१।४), **(ख)**सर्व खलु इदं ब्रह्म 'तज्जलान्' इति शान्तः उपासीत (छान्दो.उप.३।१४।१).

शुद्धाद्वैतिनिष्कर्ष : ''तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत'' इति स्वस्यैव कर्मकर्तृभावात्... तथापि ज्ञानार्थम् उपपत्तिम् आह 'परिणामाद्' इति, परिणमते कार्याकारेणेति अविकृतमेव सुवर्णं, सर्वाणि च तैजसानि. वृद्धेश्च अलौकिकत्वाद् ब्रह्मकारणत्वएव घटते. पूर्वस्य अन्यथाभावस्तु कार्यश्रुत्यनुरोधाद् अङ्गीकर्तव्यः. वक्ष्यतिच ''श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वाद्'' इति (ब्र.सू.भा.१।४।२६).

(५)सत्कारणतावाद :

श्रौतसन्दर्भ : (क)सन्मूलम् अन्विच्छ सन्मूलाः सौम्य! इमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः (छान्दो.उप.६।८।४).

शुद्धाद्वैतिनिष्कर्ष : अयं प्रपञ्चो... नापि असतः सत्तारूपः (त.दी.नि.प्र.१।२३).

(६)सत्कार्यवाद :

श्रौतसन्दर्भ : (क)सदेव सौम्य इदम् अग्र आसीद् एकमेव अद्वितीयं. कथम् असतः सद् जायेत ? (छान्दो.उप.६।२।१-२).

शुद्धाद्वैतिनिष्कर्ष : ''असद् वा इदम् अग्र आसीद्'' इति श्रुत्या प्राग् उत्पत्तेः कार्यस्य असत्त्वं बोध्यते इति चेत्, न, अव्याकृतत्वेन धर्मान्तरेण तथा व्यपदेशः. कुतो ? वाक्यशेषात्, ''तद् आत्मानमेव स्वयम् अकुरुत'' इति स्वस्यैव क्रियमाणत्वात्, 'आसीत्' पदप्रयोगात् च (ब्र.सू.भा.२।१।१७).

(७)कार्य-कारणतादात्म्यवाद तथा अंशांशितादात्म्यवाद :

श्रौतसन्दर्भ : (क)त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा. आत्मो एकः सन् एतत् त्रयम् (बृह.उप.१।६।३) **(ख)**स य एषो अणिमा ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्. तत् सत्यम्. स आत्मा. तत् त्वम् असि (छान्दो.उप.६।९।४).

शुद्धाद्वैतिनिष्कर्ष : द्विविधा हि वेदान्ते सृष्टिः : भूतभौतिकं सर्व ब्रह्मणएव विस्फुलिङ्गन्यायेन एका. अपरा वियदादिक्रमेण, साच अनामरूपात्मनः नामरूपत्वेन अभिव्यक्तिः, सा जडस्यैव कार्यत्वात्. तस्य जीवस्यतु अंशत्वेनैव न नामरूपसम्बन्धः. अनित्ये(जडे) जननं नित्ये परिच्छिन्ने (जीवात्मनि) समागमः, नित्यापरिच्छिन्नतनौ (भगवत्स्वरूपे) प्राकट्यं चेति सा(सृष्टिः) त्रिधा (ब्र.सू.भा.२।३।१), यदा अखण्डाद्वैतभानं सुवर्णग्राहकवत् तत्त्वेनैव सर्वं गृह्णाति तदा अवान्तरविकल्पविषयिणी बुद्धिः 'घटः'-'पटः' इति सा बाध्यते, सर्वत्र ब्रह्मैवेति. नतु स्वरूपतोऽपि घटपटादिपदार्थोऽपि धर्मी बाध्यते इति अर्थः(त.दी.नि.प्र.१।-९१).

(८)आविर्भाव-तिरोभाववाद :

श्रौतसन्दर्भ : (क)तद्धेदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तत् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत "असौ नामायम्-इदं रूपम्" इति (बृह.उप.१।४।७).

शुद्धाद्वैतिनिष्कर्ष : आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः... सर्वाकारस्वरूपेण भविष्यामीति या हरेः वीक्षा यथा यतो येन तथा प्रादुर्भवत्यजः, मृदादि भगवद्रूपं घटाद्याकारसंयुतं मूलेच्छातस्तथा तस्मिन् प्रादुर्भावो हरेस्तथा, तिरोभावस्तथैव

स्याद् रूपान्तरविभेदतः (त.दी.नि.२।१४१-१४२).

(९)लीलार्थसृष्टिवाद :

श्रौतसन्दर्भ : (क)स वै नैव रेमे तस्माद् एकाकी न रमते. स द्वितीयम् ऐच्छत्. सह एतावान् आस. यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेव आत्मानं द्वेधापातयत्. ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम् (बृह.उप.१।४।३).

शुद्धाद्वैतिनिष्कर्ष : 'लोकवत् लीला', नहि लीलायां किञ्चित् प्रयोजनम् अस्ति, लीलायाएव प्रयोजनत्वात्, ईश्वरत्वादेव न लीला पर्यनुयोक्तुं शक्या, सा 'लीला'. 'कैवल्यं' मोक्षः, तस्य लीलात्वेऽपि अन्यस्य तत्कीर्तने मोक्षः इति अर्थः. लीलैव केवला इति वा (ब्र.सू.भा.२।१।३३), नमो भगवते तस्मै कृष्णायाद्भुतकर्मणे रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः (त.दी.नि.१।१).

इस प्रक्रियानवकमें प्रत्येक पूर्वपूर्वकोटि उपनयोपम होती है तथा उत्तरोत्तरकोटि निगमनोपम. इस सन्दर्भमें यह अवधेय है कि यद्यपि बारुक स्पिनोज़ाका मत किसी शास्त्र, नामशः बायबल, पर अवलम्बित न होनेपर भी उसके शब्दोंका प्रामाण्य स्पिनोज़ाको मान्य है ही. न केवल इतना प्रत्युत शब्दप्रामाण्यवाद और तदनुसारी शास्त्रीय वचनोंके व्याख्यानके आवश्यक नियम और रीति का प्रतिपादन करनेवाले *'थियोलॉजिको-पॉलिटिकल ट्रीटिज़'* नामक ग्रन्थमें इस विषयकी गम्भीर तथा सुविशद मीमांसा उन्होंने की है. इस ग्रन्थकी भूमिकामें स्वयं ग्रन्थकार कहते हैं :

> अपनी इस शास्त्रमीमांसामें मुझे ऐसा कुछ भी बायबलमें मिला नहीं कि हमारी समझके साथ जिसका मेल न खाता हो या जो उससे विरुद्ध जाता हो, और जैसाकि

मैंने देखा कि भगवत्प्रेरितात्मा लेखकोंने ऐसा कोई भी उपदेश नहीं दिया है कि जो सरलतासे सभीके समझमें न पाये, साथ ही साथ उन्होंने अपने उपदेशको ऐसी शैलीका बाना भी पहनाया है कि वे तर्कसंगत लगनेके साथ-साथ जनमानसको परमेश्वरकी भक्तिकेलिये प्रेरित कर पाते हैं. एतावता मैं पूर्णतया आश्वस्त हूं कि बायबल हमारी तार्किक बुद्धिको सर्वथा अपराधीन ही रखना चाहती है. अतः बायबलकी दर्शनशास्त्रके साथ न तो कोई समानता हो सकती है और न बायबलशास्त्रीय साक्षात्कारों और दर्शनशास्त्रीय धारणाओं के आधार ही कभी समान हो सकते हैं.[९].

शास्त्रव्याख्याताओंके प्रभेद कुछ इस प्रकारके प्रायः दृष्टिगोचर होते हैं:

(१)व्या ख्ये य शा स्त्र प्रा मा ण्य वा दी

क. यथोपदिष्टग्राही ख. यथोपदिष्टग्राही

ख-१. तर्काश्रितश्रद्धावादी

ख-२. श्रद्धाश्रिततर्कवादी

(२)व्या ख्ये य शा स्त्रा प्रा मा ण्य वा दी

इस वर्गीकरणके अनुसार यदि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यको (१)/क वर्गान्तर्भूत मानें तो बारुक स्पिनोज़ाको (१)/ख-१ वर्गान्तर्भूत स्वीकारा जा सकता है.

बारुक स्पिनोज़ाके उल्लिखित ग्रन्थके सारांशतया शास्त्रीय व्याख्याकारोंके समक्ष विचारणीय प्रमुख समस्या इस तरहकी उपस्थित होती हैं:

१. जिनके दिव्य साक्षात्कारमूलक वचनोंको प्रमाणतया

मान्य किया जाता है उन मन्त्रदृष्टाओंके ऋषित्व या तत्त्वदर्शीओंके आप्तत्व के निकष क्या? क्या वैसा ऋषित्व या आप्तत्व उन्हींमें ही केवल सम्भव है अन्य भी उनके अनुगामी या अननुगामिओंमें भी वह सम्भव हो सकता है?

२. उनके प्रत्येक वचन; अथवा, कैसे और कौनसे वचन शास्त्रतया मान्य रखने चाहिये और कैसे या कौनसे वचन नहीं?

३.उनके स्वयंके ही निरूपण या उपदेश में ही जब कभी परस्पर विसंवाद प्रतीत होता हो तो —

क. समग्र शास्त्रके तात्पर्यविषयीभूत अर्थके अनुरोधवश प्रकरणों वाक्यों एवं पदों के तात्पर्यविषयीभूत अर्थोंका निर्धारण करना चाहिये या पदों वाक्यों और प्रकरणों के अनुरोधवश समग्र शास्त्रके तात्पर्यविषयीभूत अर्थकी उद्गंकना करनी चाहिये?

ख. पदोंके अभिहितार्थोंके अनुरोधवश वाक्यार्थ-निर्धारण करना चाहिये या वाक्यार्थानुरोधवश पदोंके अभिहित या गौण अर्थोंको तात्पर्यविषयीभूत मानना चाहिये?

ग. जहां एक ही पदके अनेक अर्थ प्रसिद्ध हों वहां किसी वाक्यविशेषमें प्रयुक्त कोई पद किस अर्थविशेषका वाचक है यह कैसे निर्धारित करना?

घ. अस्पष्टार्थक पदोंके तात्पर्यविषयीभूत अर्थोंका निर्धारण कैसे करना?

ङ. जिन पदोंके अर्थ ही अप्रसिद्ध हो गये हों उनके रहते वाक्यार्थनिर्धारण कैसे करना?

४. प्रत्यक्ष या तर्क से बाधित अर्थका कहीं निरूपण मिलता हो तो वहां प्रामाण्यनिर्वाह कैसे करना ?

इस तरहके अनेकानेक मुद्दोंकी सुविशद मीमांसा स्पिनोज़ाके उल्लिखित ग्रन्थमें की गयी है. इसका प्राचीन भारतीय व्याख्याशास्त्र या वाल्लभ वेदान्त के साथ तुलनात्मक अध्ययन एक स्वतन्त्र ग्रन्थकलेवरकी अपेक्षा रखता है. इस लघुकाय निबन्धकेलिये उस विस्तारमें तो प्रवेश अशक्य ही है.

१. फिरभी प्रथम मुद्देके बारेमें महाप्रभु और उनके अनुगामी प्रस्थानरत्नाकरकार गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी के विचारोंके आधारपर कुछ निष्कर्ष यों निकाले जा सकते हैं. यथा —

क. प्रत्यक्षानुमितिरूप लौकिक प्रमाणोंके लौकिकव्यवहारोपयोगी स्वतःप्रामाण्यके आधारपर निगमनात्मिका युक्तिका अवलम्बन कर श्रुतिका इतरप्रमाणनिरपेक्षतया स्वतःप्रामाण्य वाल्लभ वेदान्तमें स्वीकार्य है.

ख. श्रुतितात्पर्यकी विविदिषादशामें श्रुत्यविरुद्धतया एवं श्रुत्यर्थसन्देहवारकतया भगवद्गीता ब्रह्मसूत्र भागवतपुराण का भी वैसा ही प्रामाण्य स्वीकार्य है.

ग. श्रुत्यर्थके निःसन्दिग्धतया निर्धारित हो जानेपर सकल वेदाविरोधी शास्त्रोंका प्रामाण्य स्वीकार्य है.

घ. इन शास्त्रीय प्रमाणोंके प्रमेयके साक्षात्कारके बाद विद्वद्दशामें लौकिकालौकिक शब्दमात्रका प्रामाण्य स्वीकार्य है.[१०]

इसके विपरीत यद्यपि स्पिनोज़ाके अनुसार ज्ञानके प्रभेद यों स्वीकारे गये हैं : [१] ऐतिह्यमूलक बोध, [२] अनालोचितानुभूतिमूलक बोध, [३] तार्किकालोचनमूलक बोध तथा [४] अन्तःस्फूर्त तत्त्वबोध.[११] इन प्रभेदोंके

अन्तर्गत तृतीय एवं चतुर्थ प्रकारके बोधोंसे अविरुद्ध शास्त्रवचनोंका वे मुख्य प्रामाण्य स्वीकारते हैं अन्यथा गौणप्रामाण्य. फिरभी शास्त्रव्याख्यानरीतिका निरूपण करते समय वे यह भी सुस्पष्टतया स्वीकारते हैं—

> हमें इस बातकी विशेष सावधानी रखनी चाहिये कि किसी शास्त्रवचनके अभिप्रायकी मीमांसा करते समय हमें अपने स्वाभाविक बोधकी धारणापर आधृत तर्कोंके झोंकेमें नहीं खिंच जायें (पूर्वाग्रहका तो प्रश्न ही नहीं उठता) कि इस तरहके बोधलब्ध तथ्योंसे हम शास्त्रवचनके अभिप्रायको जोड़ने लग जायें, वह तो शास्त्रीय शब्दोंके मुख्यार्थके विमर्शद्वारा ही और शास्त्रेतर अन्य किसी भी आधारपर अनवलम्बित तर्कद्वारा ही उट्टंकित करना चाहिये. हम शास्त्रवचनके अर्थको अपने तर्क या अपनी पूर्वगृहीत धारणा के आदेशानुसार अनुकूल बनानेको तोड़मरोड़ नहीं सकते. बायबलका सम्पूर्ण बोध हमें बायबलके ही आधारपर उट्टंकित करना चाहिये[१२].

उल्लिखित १-४ ही मुद्दोंके बारेमें वाल्लभ वेदान्त (तुलनीय : पूर्वोदाहृत ब्र.सू.भा.१।१।१-१।१।३) और स्पिनोज़ाके मत की तुलनात्मक विवेचना अतीव अभीष्ट होनेपर भी इसे यहीं उपसंहृत कर कार्य-कारणभावकी मीमांसार्थ अग्रसर होना आवश्यक होनेसे उसी दिशामें अब आगे बढ़ना उपयुक्त होगा.

(१)ब्रह्मवादसम्बन्धी धारणाकी तुलना :

औपनिषद ब्रह्मका स्वरूप "**एकमेवाद्वितीयम्**" (छान्दो.उप.६।२।१), "**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**" (तैत्ति.उप.२।१) तथा "**स आत्मानं स्वयम् अकुरुत**" (तैत्ति.उप.२।७) आदि वचनोंमें सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदरहित

सच्चिदानन्द(=सत्+चित्+आनन्द) रूप तथा इस जड़जीवात्मिका सृष्टिके एकमात्र उपादान और कर्ता के के रूपमें प्रतिपादित हुवा है. एक ही तत्त्व परब्रह्मत्वेन जगत्कर्तृतया पुरुषविध भी है और वही अक्षरब्रह्मत्वेन जगदुपादानतया अपुरुषविध भी होता है. यह अक्षरब्रह्म भी ''पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णम् आदाय पूर्णमेवावशिष्यते'' (ईशा.उप.१) वचनके अनुसार विश्वात्मक भी है और विश्वातीत भी. ऐसा स्वीकारनेमें उपस्थित होती तार्किक अनुपपत्तियोंके निराकरणार्थ किसी तार्किक प्रत्युपपत्तिकी अनावश्यकता भी स्वयं महाप्रभु यों प्रकट करते हैं :

> ब्रह्म व्यापक होनेपर भी प्रादेशमात्र भी हो सकता है और इसमें किसी तरहका विरोधाभास भी नहीं सोचना चाहिये क्योंकि ब्रह्मनिरूपणमें शास्त्रप्रमाणका अनुसरण करना चाहिये नकि युक्तिका... युक्तिगम्या तो अब्रह्मविद्या होती है. फिरभी विरोधाभासके उपशमनार्थ कोई वेदानुसारिणी युक्ति तो देनी चाहिये, वाक्यार्थमीमांसार्थ प्रवृत्त हुवे होनेसे. इस अपेक्षाके समाधानतया महाप्रभु कहते हैं कि सर्वप्रथम तो विरोधाभास सोचना ही नहीं चाहिये, शास्त्रीय प्रमेयके वस्तुस्वभावके विचारानुरोधवश... क्योंकि सर्वत्र स्वभाव और प्रमिति से बढ़ कर कोई उपपत्ति हो ही नहीं सकती है.''[१३]

इस वचनके विमर्श करनेपर महाप्रभुकेलिये व्याख्येय शास्त्रमें तर्कातीत उभयविधता उपलब्ध है. स्पिनोज़ाके लिये, परन्तु , प्रमाणतया व्याख्येयोंमें न तो बायबलमें, न तार्किकालोचनमूलक बोधमें और न अन्तःस्फूर्तबोधमूलक तर्कोंमें ही ऐसी उभयविधताकी उपलब्धि शक्य होनेसे स्पिनोज़ाके *गॉड* को ब्रह्मतुल्य माना जा सकता है या नहीं ?

ऐसी विचिकित्सा तो स्वाभाविक है परन्तु इसके प्राथमिक समाधानतया

यह कहा जा सकता है कि वाल्लभ वेदान्तमेंसे परब्रह्म या पुरुषोत्तम को निकाल दिया जाय तो वह सर्वथा स्पिनोज़ाका *गॉड* ही बन जायेगा; और, स्पिनोज़ाके *गॉड* में औपनिषदिक पुरुषविध ब्रह्मको मिला दिया जाये तो वह वाल्लभ वेदान्ताभिमत ब्रह्म बन जायेगा. फिरभी थोड़ी और गम्भीरताके साथ इन दोनों मतोंको अभिमत मूलतत्त्वकी तुलना करनी चाहिये. स्वयं स्पिनोज़ाको जो *गॉड* का स्वरूप अभिमत है उसे वे इस तरह प्रस्तुत करते हैं—

> क. *'गॉड'* पदसे ऐसा सत्य या तत्त्व अभिप्रेत है जो सर्वथा अपरिच्छिन्न हो, अर्थात् ऐसा पदार्थ कि जिसमें अपरिच्छिन्न गुणधर्म हों; और उनमेंके प्रत्येक गुणधर्म उसके मूलस्वरूपकी कालातीत नित्यता और अपरिच्छिन्न तत्त्वता को प्रकट करते हों.
>
> ख. अतः यह सुस्पष्टतया सिद्ध होता है कि ब्रह्माण्डमें *'गॉड'* एकमेवाद्वितीय तत्त्व ही हो सकता है और वह ऐसा द्रव्य है कि वह सर्वथा अपरिच्छिन्न है.
>
> इससे पुनः यह भी सिद्ध हो जाता है कि जड़ और चेतना अंग्रेज़ीमें (extension and thought) या तो उसके गुणधर्म हैं या गुणधर्मके कार्य हैं.
>
> ग. जो भी कुछ होता है वह *'गॉड'* में ही होता है; और, बिना *'गॉड'* के न तो कुछ हो सकता है और न सोचा ही जा सकता है.[१४].

इन परिभाषा निष्कर्ष और प्रतिज्ञा की तुलना महाप्रभुको अभिमत ब्रह्मके अपरिच्छिन्न सामर्थ्यकी परिभाषा ''कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुं समर्थ होने''से करनेपर, *गॉड* कर्तुं अपरिच्छिन्न सामर्थ्यवान् होनेपर भी अकर्तुं या अन्यथाकर्तुं समर्थ नहीं है. क्योंकि स्पिनोज़ाके अनुसार,

स्वयं उनके ही शब्दोंमें —

> क. गॉड ने जिन वस्तुओंको जिस किसी रूपमें प्रकट किया उससे अन्यथा प्रकारसे या अन्यथा क्रमसे वे प्रकट हो ही नहीं सकती थी. ख. टिप्पणी -.कुछ लोग परमेश्वरके देहवान् मनोवान् तथा मनआवेगवान् होनेका प्रतिपादन करते हैं. ऐसे लोग तथ्यसे कितनी दूर भटक गये हैं, यह पूर्वनिरूपणके आधारपर समझा सकता है.[१५]

वह अपुरुषविध है. फिरभी द्रव्यगत अपरिच्छिन्न असंख्य सामर्थ्यके वश ही तद्गुणधर्मरूपा या गुणधर्मपरिणामरूपा यह परिच्छिन्न देश-काल-वस्तुरूपा यह जड़जीवात्मिका सृष्टि जब प्रकट हुयी है, तो परिच्छिन्नता और अपरिच्छिन्नता रूपी दोनों विरुद्ध धर्मोंका आश्रय तो उसे स्वीकारना ही पड़ेगा. फिर परस्परविरुद्ध पुरुषविध और अपुरुषविध उभयविधतया उसे स्वीकारनेमें स्पिनोज़ाको अन्तःस्फूर्त तत्त्वबोधाश्रित तर्कसे विरुद्ध क्यों लगता था! अस्तु.

(२)विरुद्धधर्माश्रयतावादसम्बन्धी तुलना :

ब्रह्मके स्वरूपके बारेमें अनेक प्रकार सोचे जा सकते हैं यथा : [१]निर्गुण-निराकार [२]सगुण-निराकार [३]सगुण-साकार [४]निर्गुण-साकार. बायबलके पूर्वखण्डमें सगुण-निराकारकी धारणा प्रबल थी परन्तु उत्तरखण्डमें, रोमन केथोलिक देवशास्त्रकी प्रवृत्ति उसे सगुण-साकारतया निरूपित करती सी प्रतीत होती है.

वाल्लभ वेदान्तमें **''उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्''** (ब्र.सू.३।२।२-७)न्यायसे औपनिषद् ब्रह्मको पुरुषविध और अपुरुषविध यों उभयविधतया मान्य रखा गया है :

ब्रह्म सच्चिदानन्दरूप, व्यापक, अव्यय, सर्वशक्ति, स्वतन्त्र, सर्वज्ञ, प्राकृत गुणोंसे अपने मूलरूपमें वर्जित, सजातीय-विजातीय-स्वगत-द्वैतवर्जित, सत्यादि सहस्रों सहज गुणोंसे सदा भरपूर, वस्तुमात्रका आधार, मायाको वशमें रखनेवाला, उत्तम आनन्दाकार, प्रापञ्चिक सभी पदार्थोंसे विलक्षण, जगत्का समवायी अर्थात् उपादान कारण भी और निमित्त कारण भी वही होता है. वह स्वयंके सुखसे कभी आत्मरमण करता है तो कभी आत्मनिर्मित प्रपञ्चमें भी.[१६]

हम देख गये कि इस महाप्रभुप्रदत्त ब्रह्मनिरूपणमें जो भी पुरुषविधता प्रकट करनेवाले गुणधर्म हैं वे स्पिनोज़ाको मान्य नहीं होंगे परन्तु अवशिष्ट गुणधर्मोको स्पिनोज़ा भी पूर्णहृदयसे स्वीकार करना चाहेंगे.

(३)अभिन्ननिमित्तोपादनकारणतावादसम्बन्धी तुलना :

गॉड को अभिन्ननिमित्तोपादानतया मान्यता स्वयं स्पिनोज़ाके विधानोंके आधारपर भी समझमें आ जाती है :

क. *गॉड* के अलावा अन्य कोई भी पदार्थ न तो हो सकता है और न सोचा ही जा सकता है. ख. *गॉड* एकमेव अद्वितीय होता है, क्योंकि ब्रह्माण्डमें द्रव्य एकाधिक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि जगत्कारणतया अभिमत जो भी द्रव्य होगा उसका सर्वथा(देशतः कालतः और स्वरूपतःप्रस्तुत अनुवादकद्वारा योजित) अपरिच्छिन्न होना अनिवार्य है.ग. इससे यह भी सिद्ध होता है कि जड़ और चेतना या तो *गॉड* के गुणधर्म होते हैं या गुणधर्मके कार्य. घ. अतएव यह भी सिद्ध हो जाता है कि बुद्धिगम्य जो कुछ अस्तित्ववान् वस्तु हैं उनका निमित्त कारण भी *गॉड*

ही है. ङ. *गॉड* अपने स्वभावके ही अनुरोधवश किसी क्रियाको करता है, स्वेतर किसी भी वस्तुके द्वारा नियन्त्रित या बाधित हो कर नहीं, च. क्योंकि उससे पृथक् या बाह्य ऐसी किसी वस्तुका अस्तित्व ही सम्भव नहीं, जो उसके कर्तृत्वकी उपाधि या नियामक बन पाये. अतः जो कुछ करता है वह अपने स्वभावके अनुरोधवश ही. छ. अतः यह सिद्ध हो जाता है कि *गॉड* के स्वभावसे भिन्न ऐसे किसी स्वेतर आभ्यन्तर या बाह्य कारणका अस्तित्व ही नहीं है, जो उसे किसी कर्मको करनेकेलिये प्रेरित कर पाये. ज. *गॉड* की कार्यजननाकूल कृतिक्षमता कार्यवस्तुओंको केवल अस्तित्व प्रदानकी ही क्षमता नहीं अपितु कार्यवस्तुको उसके तात्त्विकस्वरूपको प्रदान करनेकी भी क्षमता है. क्योंकि यदि ऐसा नहीं स्वीकारा जाता तो उत्पन्न कार्योंका तात्त्विक स्वरूप *गॉड* के तात्त्विक स्वरूपके बिना भी सिद्ध होने लगेगा तब तो द्रव्यद्वैतापत्ति उठ खड़ी होगी[१७].

प्रस्थानरत्नाकरमें वाल्लभ वेदान्ताभिमत उपादान कारणके प्रभेद एवं उनकी परिभाषा गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीने इस तरह दिखलायी है:

> कारणके दो प्रभेद होते हैं: समवायी और निमित्त. जहां समवायसम्बन्धसे कार्य उत्पन्न होता हो उसे 'समवायी कारण' कहा जाता है. 'समवाय' और 'तादात्म्य' परस्पर पर्यायवाची पद हैं. उपादान दो प्रकारके होते हैं: क. परिणाम्युपादान का. विवर्तोपादान. स्वसमानसत्ताक कार्याकारेण जो आविर्भूत होता हो उसे परिणाम्युपादान समझना चाहिये. क्योंकि उपादानसमसत्ताक अन्यथाभाव परिणाम होता है. यह अन्यथाभाव भी पुनः दो तरहसे

सम्भव है: क/१.अविकृततया और क/२.विकृततया. प्रथमके उदाहरण सुवर्णनिर्मित आभूषण हैं. द्वितीयके उदाहरण मृत्तिकासे बने घट-आदि होते हैं. उपादानसे विषमसत्ताक अन्यथाभाव 'विवर्त' कहलाता है, उदाहरणतया शुक्तिप्रत्यक्ष होनेपर बुद्धिवृत्तिका शुक्त्याकारात्मना प्रकट होनेके बजाय रजताकारेण परिणत हो जाना. समवायिकारणसे भिन्न जो भी कारण हों वे निमित्तकारण होते हैं. उदाहरणतया घड़ेको बनानेवाला कुम्हार और दंडा चक्का आदि.[१८]

इस प्रतिपादनके साथ तुलना करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि स्पिनोज़ा *गॉड* को न केवल परिणाम्युपादान कारण अपितु निमित्त कारण भी स्वीकारते हैं.

यह तो भारतीय दर्शनके इतिहासविदोंको अनवगत नहीं है कि अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावाद इस देशमें अनेक प्रकारभेदोंसे प्रस्तुत होता रहा है. उनमेंसे कौनसे प्रकारका अभिन्ननिमित्तोपादानतावाद स्पिनोज़ाको अभिप्रेत होगा इसके निर्धारणार्थ उन प्रकारभेदोंपर एक सरसरी निगाह फेर लेना अच्छी बात होगी.

सर्वप्रथम तो स्वयं शाङ्कर दर्शनके ही 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' नामक ग्रन्थमें एतद्विषयक दस-ग्यारह एकदेशिमत संकलित किये गये हैं.

कोई कहता है कि शुद्धब्रह्म उपादान बनता है तो अन्यके अनुसार मायोपहित. कुछ एकदेशी शुद्धब्रह्मके बजाय ईश्वराश्रित मायाका परिणाम माननेवाले वियदादि पाञ्चभौतिक जगत्का ईश्वरको विवर्तोपादान और ईश्वराश्रितमायाको अन्तःकरणादिका परिणाम्युपादान मानते हैं. इनके पुनः एकदेशी जीवाश्रित अविद्याका परिणाम अन्तःकरणादिको स्वीकारते

हैं. कुछ अन्य अन्तःकरणादिका उपादान जीवको ही मानते हैं. दूसरे कुछ समग्र व्यावहारिक प्रपञ्चका उपादान ब्रह्मको तथा प्रातिभासिक पदार्थोंका उपादान जीवको मानते हैं. अन्य विचारकोंका कहना है कि ईश्वरके सहित समग्र द्वैतप्रपञ्चका उपादान जीव ही होता है. शुद्धब्रह्म स्वयं तो कार्यकारणभावातीत होनेसे उपादान हो नहीं पाता परन्तु मायाके साथ मिल कर उपादान बन पाता है. अन्य विचारकोंका कहना है कि ब्रह्म उपादान होता है और माया द्वारकारण बनती है. जीवाश्रित अविद्याविषयीभूत ब्रह्म जगत्का उपादान बनता है ऐसा श्रीवाचस्पति मिश्रका अभिप्राय है.[१९]

केवलाद्वैतवादिओंके इन सभी प्रकारोंमें मिथ्याप्रपञ्चके उपादान कारण मिथ्या ही माने गया हैं — चाहे वह माया हो, या अविद्या, या मायोपहितब्रह्म, या अविद्योपहित जीवचैतन्य या मायिक परमेश्वर=शबलब्रह्म — अर्थात् ये सभी अपारमार्थिक ही होते हैं. अतः ऐसी किसी भी धारणासे स्पिनोज़ाके मतकी संगति तो कदापि बैठ नहीं पायेगी. किन्हीं केवलाद्वैती एकदेशिओंके मतमें यदि पारमार्थिक ब्रह्मको उपादानतया स्वीकारा भी गया है तो वह विवर्तोपादानतया ही.

जैसे स्पिनोज़ा जड़-चेतनात्मिका सृष्टिको *गॉड* के गुणधर्मोंका परिणाम मानता है, वैसे ही श्रीभास्कराचार्य भी औपाधिकद्वैताद्वैतवादी दृष्टिकोण अपना कर जगत्को ब्रह्मकी शक्तिका परिणाम मानते हैं; तथा, शक्तिमान् और शक्ति के बीच स्वाभाविक भेदाभेद स्वीकारते हैं. सम्भव है कि श्रीभास्कराचार्यका अभिप्राय शक्ति और शक्तिमान् के बीच स्वाभाविक भेदाभेद परन्तु शक्तिपरिणामरूप जगत् और शक्तिमान् ब्रह्म के बीच औपाधिक भेदाभेद को मान्य करनेमें रहा होगा. श्रीभास्कराचार्यके अनुसार अग्नि और उसकी दाहिका प्रकाशिका आदि अनेक शक्तिओंका अग्निके साथ न तो आत्यन्तिक भेद होता है और न आत्यन्तिक अभेद ही. वे कहते हैं: "**अप्रच्युतस्वभावस्य शक्तिविक्षेपलक्षणः परिणामो यथा**

तन्तुनाभस्य पटतन्तुवद्''[२०] यह भास्करवचन अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावादकी गवाही तो अवश्य देता है. फिरभी स्पिनोज़ाके मतके साथ इसका तालमेल बैठता नहीं लगता. क्योंकि उसके अनुसार ''*गॉड* के स्वभावसे भिन्न किसी स्वेतर आभ्यन्तर या बाह्य कारणका अस्तित्व ही नहीं है, जो उसे किसी कर्मको करनेकेलिये प्रेरित कर पाये'' इस पूर्वोद्धृत स्पिनोज़ाके अभिप्रायके विमर्श करनेपर, विशेषतया तादात्म्यरूप अभेदके जगह भेदाभेद स्वीकारनेके कारण श्रीभास्कराभिमत ब्रह्मशक्ति ब्रह्मेतर आभ्यन्तर उपाधिवश कार्य करती सी प्रतीत होती है. और स्पिनोज़ाको वह कितनी मान्य हो पायेगी यह कहना मुश्किल लगता है, क्योंकि स्पिनोज़ा स्पष्टतया यह निरूपण करते हैं कि *गॉड* की सामर्थ्य या शक्ति का *गॉड* के स्वरूपके साथ सर्वथा तादात्म्य होता है. *गॉड* के स्वरूपमात्रके अनुरोधवश यह सिद्ध होता है कि वह स्वयम्भू है और कार्यमात्रका कारणभूत है. अतः उसकी वह शक्ति कि जिससे वह और सकल वस्तु विद्यमान रहती हैं और तत्तद् अर्थक्रियाकारितामें सक्षम होती हैं, उस शक्तिका *गॉड* के स्वरूपके साथ तादात्म्य होना चाहिये''[२१]. अतः श्रीभास्कराचार्यके मतमें जब तक इदमित्थंभावेन ''भेदाभेद=तादात्म्य'' का समीकरण मान्यतया निर्धारित नहीं हो जाता, तब तक कुछ भी विधान करना एक वैचारिक धांधली होगी. यह तादात्म्यरूप भेदाभेद भी पुनः उसी अर्थमें होना चाहिये कि ब्रह्मरूप द्रव्याभेदमें नाम-रूप-कर्मोंके भेद जो प्रकट हुवे हैं वे द्रव्याभेदको निभाते हुवे ही प्रकट होते हैं.

इसी तरह भास्करमतमें निश्चयेन ब्रह्म अभिन्ननिमित्तोपादान कारण होता ही है. परन्तु इस निरूपणके विरुद्ध भास्करमतालोचकोंद्वारा विकल्पोंका एक जटिल जाल बुना गया है: यह द्वैतघटक उपाधि ब्रह्मस्वरूपात्मिका होती है या अब्रह्मात्मिका? यदि ब्रह्मात्मिका तो भेद सिद्ध नहीं होगा और यदि अब्रह्मात्मिका तो अभेद सिद्ध नहीं हो पायेगा. ऐसे विकल्पजालसे श्रीभास्कराचार्यको छुड़ानेवाले कोई उत्तराधिकारी व्याख्याकार

आगे नहीं आये. अतः श्रीभास्कराचार्यका निष्कृष्ट अभिप्राय जान पाना दुष्कर प्रतीत होता है. स्वयं महाप्रभु भी भास्करीय प्रक्रियाके साथ अपनी असहमति जताते हुवे कहते ही हैं—

> कार्यकारणके बीच स्वाभाविक भेदाभेदके निराकरणार्थ ही ''वाचारम्भणं 'विकारो' नामधेयं 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्'' श्रुतिमें मृत्पिण्ड आदिके उदाहरण दिये गये हैं. एतावता सिद्ध होता है कि एकत्र ज्ञात होनेपर ब्रह्म सर्वत्र अभिज्ञात हो जाता है. इसे न तो सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिमें खपाया जा सकता है और न कार्यको अलीक मान कर ही, क्योंकि कार्योंकी कारणत्वेन सत्ता यहां इस वचनमें विवक्षित है नकि कारणभिन्नत्वेन.[२२]

अतएव ''कारण ही केवल सत्य होता है या कार्य भी'' इस बारेमें ''वाचारम्भणं 'विकारो' नामधेयं 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्''[२३] वचनमें किसी तरहकी विप्रतिपत्तिकी कोई सम्भावना ही दृष्टिगोचर नहीं होती. क्योंकि यदि कारणरूपा केवल मृत्तिकाका ही सत्यत्व यहां अभिप्रेत होता तो वचन ''मृत्तिकेत्येव सत्यं''के बजाय ''मृत्तिकैव सत्या'' होना चाहिये था.

'इति'शब्द हेतु प्रकार स्वरूप समाप्ति विवक्षाऽनियम शब्दप्रादुर्भाव एवमर्थ प्रकर्ष व्यवस्था प्रकृति वक्ष्यमाणपरामर्श समुच्चय आद्यर्थ निदर्शन अवधारण प्रत्यक्ष मान प्रकाश आदि अर्थोंमें प्रयुक्त होता है. इनमेंसे मृत्तिकात्व न तो सत्यत्वका हेतु, न प्रकार, प्रातिपदिकार्थ ही हो सकता है, क्योंकि तब तो द्वैतापत्ति होगी. वाक्यार्थस्वरूप समाप्ति विवक्षाऽनियम शब्दप्रादुर्भाव प्रकर्ष व्यवस्था वक्ष्यमाणपरामर्श समुच्चय आद्यर्थ प्रत्यक्ष मान और प्रकाश अर्थ तो अप्रासंगिक ही हैं. अतः शब्दस्वरूप एवमर्थ और निदर्शन यों तीन ही अर्थ बच जाते हैं.

इनके उदाहरण क्रमशः यों प्रसिद्ध हैं: १. ''कृष्ण' इति मङ्गलं नाम'' २. ''क्रमाद् अमुं नारद इति अबोधि स'' ३. ''आपो 'नारा' इति प्रोक्ताः''. इनमें प्रथम और तृतीय प्रकारोंके अनुसार तो 'मृत्तिका'पदसे 'इति'पद जुड़ेगा नकि मृत्तिकारूप पदार्थके साथ. द्वितीय प्रकारके सन्दर्भमें 'सत्यं'पदके साथ समानलिङ्गी 'नामधेय'पद जब वाक्योपात्ततया परामृष्ट हो सकता है तब असमानलिङ्गी मृत्तिकारूप अर्थसे जुड़ा हुवा माननेका कोई औचित्य नहीं रह जाता है.

इसी तरह यदि विकारोंका मिथ्यात्व ही अभिप्रेत होता तो उदाहरण रज्जुसर्प शुक्तिरजत या स्वप्न दिये जाने चाहिये थे. उदाहरण तो विवर्तोपादानके बजाय परिणाम्युपादानके ही श्रुतिमें दिये गये है. इससे श्रुत्यभिप्रायका कुछ विशेष संकेत मिलता ही है.

यहां एक शंका यह उठ सकती है कि लोहमणि-लोह और नखनिकृन्तन-कार्ष्णायस तो अविकृतपरिणामवादी उदाहरण हैं परन्तु मृत्पिण्ड-मृत्तिका तो, स्वयं प्र.र.स्वीकृतिवश भी, विकृतपरिणामवादी उदाहरण हैं. श्रुति परन्तु विकृतपरिणामवादानुसारी उदाहरणके बलपर भी कार्य-कारणमें जब तादात्म्यका प्रतिपादन कर रही हो तब अविकृतपरिणामवादानुसारी कार्य-कारणभावमें तो तादात्म्यके विद्यमान होनेके बारेमें किसी तरहकी शंकाका कोई अवकाश ही नहीं रह जाता है. अतएव घटादि कार्योदाहरणोंका सच्चा नाम 'मृत्तिका'आदि होता है 'मृद्विकार'आदि नाम सच्चे नहीं होते. क्योंकि मृद्-घटके बीच तादात्म्यघटित भेदके बजाय असत्कार्यवादकी धारणाओंका अनुसरण कर अन्योन्याभावरूप भेद यदि स्वीकारा जाता हो ऐसी स्थितिमें 'मृद्विकार'आदि नाम मिथ्या अर्थात् अर्थहीन सिद्ध होंगे, मृत्तिकासे पृथक् घटके सिद्ध न होनेके कारण.

यों वास्तविक नामके निरूपणद्वारा कार्यकारणके बीच द्वैत, द्वैतात्यन्ताभाव और द्वैताद्वैत तीनोंके ही निराकरणपूर्वक **''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं स**

आत्मा तत् त्वम् असि''[२४] श्रुत्युक्त ब्रह्मतादात्म्य या ब्रह्मैतदात्म्य रूप अभेद ही 'इदं'पदाभिहित जड़सृष्टि और 'त्वं'पदाभिहित जीवसृष्टि का विवक्षित है. तदनुसार भास्करमतीया शक्ति या उपाधि ब्रह्मस्वरूपान्तर्भूत न हो तो वह स्वरूपेण भेदाभेदात्मना अवस्थित आभ्यन्तरपदार्थ होनेसे स्पिनोज़ाके मतके साथ औपाधिकद्वैताद्वैत वेदान्तकी सङ्गतिमें वह व्यवधान बन जायेगी.

प्रत्यभिज्ञादर्शन तो सर्वथा शुद्धाद्वैतवादी ही शैवचिन्तन था. अतएव राजानक श्रीरामकवि (वि.सं.१००६) तथा महामाहेश्वर राजानक श्रीअभिनवगुप्ताचार्य (वि.सं.११२४), जो महाप्रभुसे भी पांचसौ-छस्सौ वर्षपूर्व हुवे, उनकी भगवद्गीताकी 'सर्वतोभद्रा' तथा 'गीतार्थसंग्रह' नामिका व्याख्याओंमें सुस्पष्टतया अभिन्ननिमित्तोपादानता प्रतिपादित करते हुवे शिवकी परमशक्तिको पारमार्थिकी तथा शिवसे अपृथक्तया मान्य रखते हैं[२५]. अतः उनके मतकी संगति तो स्पिनोज़ाके मतसे वाल्लभ वेदान्तकी तरह ही सर्वथा सुनिरूप्य हो जाती है.

कर्णाटकके विशेषाद्वैतवादी श्रीपतिभगवत्पादाचार्य स्वयंको श्रीभास्करमतानुगामी मानते हैं[२६]. वैसे इनके भाष्यमें उद्धृत अगस्त्यमुनिकृत ब्रह्मसूत्रवृत्ति दुर्वासास्मृति स्कान्दपुराण आदि अनेक ग्रन्थोंके जो उद्धरण उपलब्ध होते हैं, वे महाप्रभुके लेखनमें भी वैष्णव पदावलीके साथ अविकल ज्योंके त्यों प्रयुक्त हुवे हैं. अतएव इनके निरूपणका वाल्लभ वेदान्तसे अतिशय सामीप्य भी निगाहोंमें उड़ कर आनेवाला तो एक तथ्य तो है ही. ये भी अपने-आपको कण्ठतः अभिन्ननिमित्तोपादानतावादी बताते हैं[२७]. फिरभी जिस अंशमें विशेषाद्वैत और शुद्धाद्वैत वेदान्तोंके चिन्तनमें प्रभेद है, वह इनके ही शब्दोंमें देख लेना उचित होगा :

क. परमशिवशक्ति अपनी संकुचितावस्थामें कारण होती है तथा परमशिवशक्तिकी प्रसारितावस्था कार्य है अतः भेद होनेपर भी अभेद उपपन्न हो जाता है. ख. सृष्टिकालमें

भेद होता है प्रलयकालमें अभेद होता है. ग. जैसे लोहा पत्थर काठ तरु गुल्म आदि अचेतनतया सजातीय पदार्थोंमें परस्पर भेद स्वभावसिद्ध होता है तद्वत् जीव और ईश्वर के बीच भी चेतनतया साजात्य होनेपर भी स्वाभाविक भेद होता है. जैसे हीरा लसुनिया गोमेदक माणिक्य आदि रत्नजातीय होते हैं और उनसे भिन्न स्वर्ण रजत आदि धातुजातीय होते हैं. इस तरहका भेद भी जीव और ईश्वर के बीच भी होता ही है. घ. मेरुपर्वतपर पहुंच जानेपर कौआ भी जैसे सुनहरा बन जाता है तद्वत् अपनी भक्तिसे शिवको पा लेनेवाला जीव भी शिव बन जाता है.[२८]

श्रीपतिभगवत्पादाचार्य उपाधिकी समस्यासे अछूते बचनेकेलिये शिवशक्तिको उपाधिके रूपमें प्रतिपादित नहीं करना चाहते हैं. फिरभी अपने-आपको स्वाभाविकद्वैताद्वैतवादी मानते ही हैं. गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीकी विवेचनाके आधारपर विमर्श करनेपर, ये विकृतपरिणामवादका अनुसरण करते हुवे अभिन्ननिमित्तोपादानता स्वीकारते हैं, ऐसा कहा जा सकता है. इनके मतमें जगदुपादानकारणभूत शिवके विकारतया जड़जीवात्मक जगद् उत्पन्न होता है और शैवसाधनाके द्वारा ही वह पुनः शिवस्वरूपात्मना अवस्थित हो पाता है. अतः यहां भी स्पिनोज़ाके साथ सहमति खोज पाना शक्य नहीं है.

श्रीविज्ञान भिक्षु तो आकाशवत् आधारकारणताकी सर्वथा नूतन धारणाके पुरस्कर्ता होनेके कारण उनके मतके साथ तो संगतिका विचार ही अप्रासंगिक होगा.

(४)अविकृतस्वरूपपरिणामवाद :

इस तरह अभिन्ननिमित्तोपादानताके अन्तर्गत विकृतपरिणाम और अविकृतपरिणाम की विभिन्न धारणाओंके सूक्ष्म विवेकवश स्पिनोज़ाके

चिन्तनमें अविकृतपरिणामकी प्रक्रियाका अवलोकन अब क्रमप्राप्त होता है. तदर्थ पुनः उन्हींके शब्दोंमें :

> क. *गॉड* सभी वस्तुओंका वस्त्वन्तर्निहित कारण होता है, वह परिवर्तनशील (अर्थात् कार्योत्पत्तिप्रक्रियामें नष्ट हो जानेवाला) कारण नहीं. क्योंकि सभी कुछ जो अस्तित्ववान् हैं, वे *गॉड* में ही हैं और *गॉड* के प्रत्ययान्तर्भूत हो कर ही प्रत्यायित हो पाते हैं. क्योंकि जो कुछ *गॉड* से जन्य है वह उसीमें विद्यमान रहता है. क्योंकि *गॉड* के अलावा अन्य तो कोई पदार्थ है ही नहीं. अतः उससे बहिर्भूत भी कुछ हो नहीं सकता है. ख. *गॉड* और उसके सभी गुणधर्म शाश्वत होते हैं. ग. *गॉड* की सत्ता और स्वरूप परस्परात्मक होते हैं. घ. एतावता यह सिद्ध होता है कि *गॉड* और उसके गुणधर्म अपरिवर्तनशील या अविकारी होते हैं.[२९]

इससे यह सिद्ध होता है कि जगदात्मना परिणत होनेपर भी न तो स्वरूपांशमें और न अपने गुणधर्मांश *गॉड* के स्वरूपमें किसी तरहकी तत्त्वान्तरता प्रकट होती है. अतः वाल्लभ वेदान्त जिसे 'अविकृतपरिणाम'तया परिभाषित करना चाहता है, वह प्रक्रिया स्पिनोज़ाको भी मान्य होनी ही चाहिये.

शुद्धाद्वैतवादकेलिये प्राणभूत इस अविकृतपरिणामवादकी धारणाका प्राचीन उल्लेख व्याकरणमहाभाष्यमें भी इन समर्थ शब्दोंमें उपलब्ध होता है :

> तथा सुवर्णं कयाचिद् आकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिम् उपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिम् उपमृद्य

स्वस्तिकाः क्रियन्ते. पुनः आवृत्तः सुवर्णपिण्डः पुनः अपरया आकृत्या युक्तः... आकृतिः अन्या च अन्या भवति द्रव्यं पुनः तदेव. आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेव अवशिष्यते... अथवा न इदमेव नित्यलक्षणं—''ध्रुवं कूटस्थं अविचाल्यनपायोजना-विकार्यनुत्पत्त्यवृद्धच्यव्ययोगि यत् तत् नित्यम्''. तदपि नित्यं यस्मिन् तत्त्वं न विहन्यते. किं पुनः तत्त्वं? तद्भावः तत्त्वम्. आकृतावपि तत्त्वं न विहन्यते''[३०]

अतः सिद्ध होता है कि अविकृतपरिणामवादी विचारधारा महाप्रभुसे बहोत पहले भी भारतवर्षमे प्रचलित थी ही.

[क]द्रव्यस्वरूपपरिणाम अथवा [क]द्रव्यस्वरूपसे अपृथक्सिद्ध किसी [ख]द्रव्यान्तरका [ग]द्रव्यान्तरत्वेन या धर्म्यन्तरत्वेन परिणाम, गुणान्तराश्रयत्वेन या धर्मान्तराश्रयत्वेन परिणाम, आकृत्यन्तराश्रयत्वेन परिणाम, अर्थक्रियान्तराश्रय-त्वेन परिणाम यों परिणामवादके भी अवान्तरप्रभेद तो कई सम्भव हैं ही. परिणामवादके विमर्शमें इन सूक्ष्मताओंको दृष्टिसे ओझल नहीं देना चाहिये. वाल्लभ वेदान्तमें [क]द्रव्यस्वरूपपरिणाम अभिमत है और तदविसंवादितया ही गुणान्तराश्रयत्वेन या धर्मान्तराश्रयत्वेन परिणाम, आकृत्यन्तराश्रयत्वेन परिणाम, अर्थक्रियान्तराश्रयत्वेन परिणाम अभिमत होते हैं. [क]द्रव्यस्वरूपसे अपृथक्सिद्ध किसी [ख]द्रव्यान्तरका [ग]द्रव्यान्तरत्वेन या धर्म्यन्तरत्वेन परिणाम वाल्लभ वेदान्तकी कथा नहीं.अस्तु.

इस ऐसे अविकृतपरिणामवादको यूरोपीय दर्शनके अन्तर्गत हम स्पिनोज़ाके चिन्तनमें सुस्पष्टतया पहचान पाते हैं, यह हमने देखा.

(५)सत्कारणतावाद :

असत्कारणवादका निराकरण स्वयं ब्रह्मसूत्रके द्वितीयाध्याय द्वितीयपादके २६-२७वें सूत्रोंमें उपलब्ध होता है. असत्कारणतावादमें प्रमुख आपत्ति

वहां यही दिखलायी गयी है कि असत्कारणसे कार्योत्पत्ति स्वीकारनेपर शशशृंगसे भी कुछ पैदा होता होना स्वीकारनेमें क्या बाधा रह जायेगी? क्योंकि अभावसे भावोत्पत्ति स्वीकारनेपर, जो भावपदार्थ कार्यजननार्थ उदासीन हो, उससे भी कार्य उत्पन्न होना चाहिये. फिर तो कृष्यादिरूप किसी कार्यकी उत्पत्तिकेलिये उसके बीजादिरूप उपादानकारण और कृषीवल-हल-जलादिरूप कर्ता उपकरण या निमित्त कारणों की भी अपेक्षा रह नहीं जानी चाहिये[३१]. कारणसामग्रीके कार्योत्पत्तिक्षणमें विद्यमान रहनेपर पुनःकार्योत्पत्तिकी आपत्ति तो कार्योत्पत्तिके बाद भी कार्यसामग्र्यभावके अविशेषेण अनुवर्तमान रहनेके कारण ही असत्कारणवादमें भी असमाधेय ही है. अतः कार्योत्पत्तिसे अव्यवहितपूर्वक्षणमें कारणसामग्रीकी विशेष विद्यमानताके आधारपर ही समाधान खोजना उचित होता है. इस सन्दर्भमें स्पिनोज़ाके विधानोंका विमर्श अब क्रमप्राप्त होता है:

> क. द्रव्य स्वभावतः अपने परिणामोंसे पूर्ववर्ती होता है. ख. प्रत्येक वस्तु जिसका अस्तित्व हो वह या तो स्ववृत्ति होती है या परवृत्ति... द्रव्य या उसके परिणामोंके अलावा और कुछ अस्तित्ववान् नहीं हो सकते. ग. एक द्रव्यसे द्रव्यान्तर उत्पन्न हो नहीं सकता. अतः ब्रह्माण्डमें दो द्रव्योंका होना सम्भव ही नहीं है. घ. द्रव्य निज अस्तित्वमें आत्मनिर्भर होता है जबकि परिणाम निज अस्तित्वके हेतु अपनेसे भिन्न किसीपर निर्भर होता है. अतः उसका प्रत्यय भी अपने आश्रयीभूत द्रव्यके प्रत्ययपर निर्भर होता है.[३२]

इन विधानोंका अवलोकन करनेसे स्पिनोज़ाके सत्कारणवादी होनेमें किसी तरहके संशयको अवकाश नहीं रह जाता है.

(६)सत्कार्यवाद:

ब्रह्मसूत्राणुभाष्य द्वितीयाध्यायके प्रथमपादके १४-२० सूत्रोंके भाष्यमें

सत्कार्यवादका मण्डन तथा असत्कार्यवादका निरसन किया गया है. प्रस्थानरत्नाकरकारने इस विषयमें एक यह उपपत्ति और भी दिखलायी है कि **''सदेव इदम् अग्र आसीद्'' ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'' ''पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्''**[३३] ब्रह्मज्ञानसामयिक ही नहीं प्रत्युत व्यवहारदशामें भी दृश्यमान प्रपञ्चकी उत्पत्तिसे पूर्व, उत्पन्न होनेके पश्चात् तथा नाश के बाद भी जो ब्रह्मरूपता निरूपित हुयी है, उसके आधारपर जन्यताहेतुक/नाशहेतुक अब्रह्मता निरस्त हो जाती है. असत्की सत्ता और सत्की असत्ता भगवद्गीता[३४]में अस्वीकृत होनेसे प्रतीयमान उत्पत्ति-नाशको आविर्भाव-तिरोभावतया ही स्वीकारना चाहिये[३५]. अतः प्रागभावप्रतियोगितया सिद्ध होती कार्यकी असत्-ता शुद्धाद्वैत वेदान्तमें भ्रान्तिरूपा होती है.

स्पिनोज़ाके मतमें परिणामकी परिभाषाका अवलोकन करने मात्रसे उनके सत्कार्यवादी होनेका तथ्य सर्वथा स्फुट हो जाता है :

> ''mode (=रूपसे) मेरा तात्पर्य द्रव्यके परिणामोंके बारेमें है अथवा जो अन्य किसीमें विद्यमान रहता हो और जिसका प्रत्यायन भी अन्यप्रत्ययावलम्बित हो.''[३६]

स्पष्ट है कि रूपविशेषात्मना परिणत द्रव्यके प्रत्ययमें रूपप्रत्ययका अन्तर्भाव अङ्गीकृत होनेसे तथा द्रव्यके स्वरूप और सत्ता के बीच तादात्म्य मान्य होनेसे तत्तद्रूपात्मना सकल द्रव्यपरिणतिओंकी सत्ता भी स्वीकारनी पड़ेगी.

(७)कार्य-कारणतादात्म्यवाद तथा अंशांशितादात्म्यवाद :

वाल्लभ वेदान्तके अनुसार सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म और उसकी सदंशरूपा जड़सृष्टि के बीच परिणाम्युपादान और तत्तद् (नियत) नाम-रूप-कर्मोंकी वहां नियताविर्भूततारूपा या परिणामरूपा कार्यता अभिप्रेत

है. अंशिरूप सच्चिदानन्द ब्रह्मकी चिदंशरूपा जीवसृष्टिमें नियत नाम-रूप-कर्मोंकी नियताविर्भूततारूपा या परिणामरूपा कार्यता अभिप्रेत न हो कर केवल चिदंशरूपता ही अभिप्रेत है. अतः कार्य-कारण और अंशांशी दोनोंके बीच यथायथ उपादानोपादेयभावात्मक और अंशांशिभावात्मक द्विविध तादात्म्य विद्यमान रहता है. यह उभयविध तादात्म्य ''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं स आत्मा तत् त्वम् असि''[३७] श्रुतिमें एकहेलया प्रतिपादित हुवा है. रह जाती है आनन्दांशरूप भगवान्के विविध आधिदैविक रूपोंकी बात तो वहां तो मूलरूपके साथ तादात्म्य अनुक्तसिद्ध होता ही है, ''आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्''[३८].

इस विषयमें स्पिनोज़ाका अभिप्राय स्वयं उनके शब्दोंमें देखना हो तो इस तरह मिलता है :

> क. Thought (=ज्ञान) *गॉड* का एक गुणधर्म है और *गॉड* ज्ञानवान् पदार्थ है. ख.Extention (=जड़) *गॉड* का एक गुणधर्म है और वह देशवर्ती पदार्थ है. ग. मैं यह प्रतिपादित करना चाहता हूं कि मनुष्यकी परिच्छिन्न चेतना उस *गॉड* की अपरिच्छिन्न चेतना शक्तिसे अभिन्न है... और उसके अपरिच्छिन्न ज्ञानका एक अंश है.[३९]

इस तरह कार्य-कारणतादात्म्य और अंशांशितादात्म्य की स्वीकृतिपरक विधानके विमर्श कर लेनेपर, सामान्य कार्यकारणभावसम्बन्धी अन्तिम निगमन आविर्भाव-तिरोभाववाद वैचारिक क्रमप्राप्त होता है. मूलमें १-७ धारणाओंको स्वीकार लेनेपर या उनके सिद्ध हो जानेपर सामान्य कार्यकारणभाव सम्बन्धी अन्तिम आठवां निगमन तो अर्थापत्तिलब्ध ही हो जाता है. क्योंकि फिर प्रागभावप्रतियोगिताक उत्पत्ति तो सिद्ध या स्वीकार्य ही नहीं हो पाती. क्योंकि जो अब तक तिरोभूत था वही आविर्भूत हो गया ऐसे माने बिना फिर कोई चारा नहीं रह जाता. नवम

संक्षेपमें यह देख लेना उपयुक्त होगा कि सामान्यतया सदंशभूत जड़पदार्थोंका आविर्भाव किसी नियत नाम - रूप - कर्मके साथ होता है और यह नियति पुनः नित्यनियति नहीं होती. अतएव किसी एक नाम - रूपमें प्रकट पदार्थ निमित्तान्तरवशात् अपर नाम - रूपात्मना भी पुनः प्रकट हो पाता है. अर्थात् अनुभवगोचर हो पाता है. ये सारे प्रकार वाल्लभ वेदान्तमें महाप्रभु और पुरुषोत्तमजी के उपपादनके आधारपर उट्टंकित किये जा सकते हैं परन्तु स्पिनोज़ाके चिन्तनमें ऐसी उट्टंकना अनधिकारचेष्टा सिद्ध होगी, एतद्विषयक कोई सूत्रात्मक उक्ति जब तक मिल नहीं जाती. एतावता आविर्भाव - तिरोभावकी धारणा भी स्पिनोज़ाके चिन्तनमें असङ्गत हो जाती हो ऐसा कहा नहीं जा सकता है.

एकमेवाद्वितीय ब्रह्म जब **''सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाभिवदन् यद् आस्ते''** - **''यद् एकम् अव्यक्तम् अनन्तरूपम्''**[४२] श्रुत्युक्तरीत्या जब अनेकानेक नाम रूप तथा कर्मों को प्रकट कर रहा है तो उसके स्वाभाविक अद्वैतमें अनन्तविध नाम - रूप - कर्मोंके द्वैत **''लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्''**[४३] ब्रह्मसूत्रके प्रमाण्यके अनुरोधवश वाल्लभवेदान्त इसे भगवल्लीलाके रूपमें देखना चाहता है.

वैसे श्रीगौड़पादाचार्यने —

विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः।
स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैः विकल्पिता।।
इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः।
कालात् प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः।।
भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे।
देवस्यैष स्वभावोऽयम् आप्तकामस्य का स्पृहा ?।।[४४]

यहां स्पिनोज़ाको अभिमत स्वभाववाद या विस्तारवाद का ही

प्रत्याख्यान नहीं प्रत्युत इच्छावाद - सङ्कल्पवाद और लीलावाद का भी प्रत्याख्यान किया है. भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्य इन कारिकाओंपर अपने भाष्यमें विवेचन करते हैं कि —

> सृष्टिचिन्तनमें परायण चिन्तक ईश्वरका विस्तार मानते हैं वे परमार्थचिन्तनमें परायण नहीं हो पाते! इसी तरह ''संकल्पमात्रसे सृष्टि प्रकट हुयी है'' ऐसा कहनेपर तो सृष्टि संकल्पनामात्र सिद्ध होती है उससे अतिरिक्त नहीं. भूतोंकी सृष्टि कालसे हुयी है ऐसा कालचिन्तक (अर्थात् यहां भी परमार्थचिन्तक नहीं ऐसा समानन्यायेन लिया जा सकता है.) मानते हैं. कुछ चिन्तक भोगार्थ या क्रीड़ार्थ परमेश्वरने यह सृष्टि प्रकट की ऐसा मानते हैं. इन सभी पक्षोंका निराकरण कारिकाकार ''देवस्य एष स्वभावो अयम्'' अंशद्वारा कर देते हैं, क्योंकि आप्तकामके भीतर स्पृहा तो प्रकट नहीं हो सकती है. अज्ञानस्वभावके बिना रस्सीकी सर्पाकारेण परिणति सम्भव नहीं.[४५]

यहां स्वभाववादको स्वीकार करनेके बावजूद देवस्वभाव स्वयं देवका स्वभाव न हो कर देवसम्बन्धी अविद्याका स्वभाव मान लिया गया है.

अतः यह न तो स्पिनोज़ाको मान्य होगा और न वाल्लभ वेदान्तमें ही, देव और देव-अविद्या के बीच जब तक तादात्म्य नहीं स्वीकारा जाता तब तक. अतः पूर्वोदाहृत ''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं'' श्रुतिसे संगत व्याख्या नहीं लगती है. श्वेताश्वतरोपनिषद्में ''स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः देवस्यैष महिमातु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्''[४६] इस वचनमें देवमहिमाका ही निरूपण नकि देवसम्बन्धी अविद्याकी महिमाका. अतः ऐसी व्याख्यानरीति स्वीकार कर वाल्लभ वेदान्त देवमहिमा खण्डित करके अविद्याकी महिमा बढ़ाना

नहीं चाहता है. अतएव महाप्रभु पूछते हैं कि ''कोऽयं ब्रह्मवादे प्रद्वेषो येन मिथ्यावादः परिकल्प्यते? अज्ञानाद् इति चेत् पीतशङ्खप्रतिभानवद् युक्तं मतकरणम्.''[४७]

केवलाद्वैतवादिओंमें प्रायः उपासनार्थ आरोपित द्वैत या भक्त्यर्थ कल्पित द्वैत को उपादेयदृष्टिसे बखाना जाता है ''भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्!'' परन्तु वाल्लभ वेदान्तका अभिप्राय इस विषयमें ऐसा सोचा जा सकता है कि केवलाद्वैतववादके अनुसार जीव भी मायिक है और ईश्वर भी मायिक फिरभी यह क्या कारण है कि जीवद्वारा उपासनार्थ कल्पितद्वैत श्रेयस्कर माना गया है और ईश्वरद्वारा रमणार्थ कल्पितद्वैत हानिकर. यदि श्रुतिओंमें द्वैतकी निन्दा निरूपित हुयी है, ऐसा समाधान दिया जाता है तो उपासनार्थ कल्पितद्वैत भी निन्दित होना चाहिये था. यदि उपासनार्थ कल्पितद्वैत मोहावरणकी निवृत्तिके बाद स्वेच्छया आरोपित होनेसे हानिकारक नहीं होता ऐसे सोचा जाये तो परमेश्वरद्वारा रमणार्थ संकल्पित द्वैत भी स्वाभाविक न हो कर ऐच्छिक ही है एतावता उसे आविद्यक मानना तो आवश्यक नहीं रह जाता! यदि श्रुत्युक्त द्वैतनिन्दापरक वचनोंको कहीं सावकाश बनानेकेलिये आत्मरमणार्थ ईश्वरसंकल्पित द्वैतमें अवकाश खोजनेकी बात सोची जाये तो वह इसलिये अनिवार्य नहीं लगता कि भगवल्लीलारूप द्वैतके अलावा आत्यन्तिक, स्वाभाविक, औपाधिक अथवा मायिक द्वैतमें द्वैतनिन्दापरक श्रुतिवचनोंको सावकाश माना जा सकता था! अतः आत्मरमणार्थ भगवत्संकल्पित लीलात्मक द्वैतको स्वीकार कर अब लीलावादके विमर्शार्थ प्रवृत्त हुवा जा सकता है.

(९)लीलार्थसृष्टिवाद :

प्रस्तुत निबन्धके प्रारम्भमें उद्धृत शुद्धाद्वैतवादनिरूपिका ''सत्त्वेव सौम्य इदमग्र आसीद् एकमेव अद्वितीयं तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति'' श्रुति तथा लीलावादनिरूपिका श्रुति ''स वै नैव रेमे तस्माद्

एकाकी न रमते. स द्वितीयम् ऐच्छत्. सह एतावान् आस. यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेव आत्मानं द्वेधापातयत्. ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम्'' इन दोनों वचनोंमें एकमेवाद्वितीय सन्मात्र तत्त्वकी बहुभवनविषयिणी इच्छाका निरूपण उपलब्ध होता होनेसे सन्मात्र तत्त्वातिरिक्त सदसदनिर्वचनीय माया या अविद्या के वश बहुभवनका कोई प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता.

यदि एकमेवाद्वितीय सन्मात्र तत्त्वमें श्रुतिसिद्ध बहुभवनकामनाके अन्यथा अनुपपन्न होनेके कारण माया या अविद्या की कामना स्वीकारनी आवश्यक लगती है, ऐसा सोचा जाये तो जैसे उस तत्त्वकी सत्ता छह भावविकाररहित होती है, जैसे उसकी ज्ञानरूपता आन्तर-बाह्य करण एवं विषयों से अजन्य होती हैं, ऐसे ही उसकी कामनाको भी अज्ञानी जीवोंमें पैदा होती कामनासे विसदृश मान कर भी काम चलाया जा सकता है. एतावता माया या अविद्या को बीचमें लाना बहोत आवश्यक नहीं लगता.

शास्त्रोंमें माया या अविद्या का निरूपण मिलता होनेसे उन्हें सदसदनिर्वचनीय उपाधिके रूपमें लाना आवश्यक लगता हो तो ''न **तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च**''[४८] वचननिर्दिष्ट दिशामें अग्रसर हो कर माया-अविद्या आदि शक्तिओंको भी उसके सत्यज्ञानान्दात्मक स्वभावके अनुरूप ही स्वीकारना चाहिये. एतावता लीलाबोधमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं आ पायेगी. अतएव उसकी बहुभवनकामनाका भी स्वरूप उसके सत्यज्ञानानन्दात्मक स्वभावके अनुरूप स्वीकार लेनेपर श्रीगौड़पादाचार्योक्त ''**देवस्यैष स्वभावोऽयम्**'' एक समीचीन उपपत्तिके रूपमें वाल्लभ वेदान्तको मान्य हो सकती है. अतः रह जाता है ''**आप्तकामस्य का स्पृहा?**'' अनुपपत्तिके परिहारकी चिन्ता तो ''*आप्तकामस्यापि आत्मन्येव आत्मना सह आत्मरमणात्मिकेयं स्पृहा न आप्तकामताविरुद्धा*'' कह कर वाल्लभ वेदान्त परिहार करना उचित मानेगा !

इस मुकामपर पहुंचनेपर ब्रह्ममें सृष्टिका प्रादुर्भाव चाहे ब्राह्मिक स्वभाववश हुवा हो अथवा ब्राह्मिक काम या संकल्प के वश हुवा हो, कुछ भी स्वीकारा जाये बहोत अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि ''कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं''रूप या ''अघटितघटनापटीयसीत्व''रूप सामर्थ्य भी ब्राह्मिक स्वभावानुपाति ही मान्य करना पड़ेगा नकि मायिक स्वभावानुपाती. अतएव महाप्रभु लीलाकी व्याख्या करते हुवे कहते हैं ''**सृष्टि आदिको भगवल्लीलाके रूपमें जान पानेपर भगवद्भक्ति प्रकट हो पाती है केवल भगवत्कार्यतया जान लेनेपर नहीं.**''-''**अनायास हर्षोद्रेकवशात् की जाती चेष्टा 'लीला' कहलाती है.**''[४९] अतएव सच्चिदानन्द ब्रह्मके समग्र सत् चित् तथा आनन्द अंशोंसे की जाती लीलाको महाप्रभु लीलानिरूपक स्वनिष्कर्षवचनमें —

१. ''यः (सच्चिदानन्दात्मा स्वसर्वांशः) क्रीडति'' के आधिदैविक रूपोंमें योगमाया या आत्ममाया रूपिणी शक्तिद्वारा की जाती भगवल्लीलाके रूपमें प्रतिपादित करते हैं.

२. जहां आनन्दांशके तिरोधानद्वारा अनेक आध्यात्मिक रूपोंमें जीवात्मना प्रकट हो कर अथवा चिदानन्दांशके तिरोधानद्वारा विविध आधिभौतिक जड़रूपोंमें प्रकट हो कर भगवान् लीला करते हैं उसकी पहचान महाप्रभु सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया शक्तिद्वारा की जाती लीला ''**यः जगद् भूत्वा क्रीडति**'' के रूपमें कराना चाहते हैं.

३. इसके अलावा अपने स्वरूपको भुलाया न जा सके ऐसी विद्यारूपा शक्तिकी तरह भगवत्स्वरूपको भुलाया भी जा सके ऐसी अविद्या शक्ति भगवान्में रहती है. इस अविद्या शक्तिकेद्वारा भगवदंशरूप जीव निज अंशीके स्वरूप स्वभाव और सामर्थ्य को भूल कर स्वयंके क्षुद्र स्वरूप एवं स्वभाव के अधीन अपनी क्षुद्र द्रष्टृत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूपा सामर्थ्योंके कारण लीलाबोधसे

वंचित निजस्वरूपको विस्मृत कर प्राणाध्यास अन्तःकरणाध्यास इन्द्रियाध्यास तथा देहाध्यास से ग्रस्त हो कर अहन्ताके सीमित बोधसे तथा उन अहन्तास्पद देहादिसे जुड़े अन्यान्य जड़-चेतनपदार्थोंमें सीमित ममताके भावसे बंध जाता है. इसे महाप्रभु ''यतो जगत् क्रीडति'' लीलाके निरूपित करते हैं.

स्पिनोज़ासे ऐसे औपनिषदिक निरूपणकी अपेक्षा यद्यपि अप्रासंगिक ही कहलायेगी फिरभी तुलनात्मक विमर्शार्थ इस विषयमें भी उनके कुछ उद्गारोंको उद्धृत कर देना चाहूंगा :

> *क. गॉड* की सामर्थ्य उसके स्वरूपसे अपृथक्सिद्ध ही होती है. ख. जिस तरहकी बुद्धि और कामना हम *गॉड* स्वरूपको घड़नेवाली बुद्धि और कामना के रूपमें देखना चाहते हैं वे जिस तरहकी बुद्धि और कामना हमारी होती हैं उनसे उन्हें सर्वथा विसदृश ही समझनी चाहिये... क्योंकि वे तो इस सृष्टिकी सभी वस्तुओंके स्वरूप और सत्ता की कारणरूपा होती हैं. ग. *गॉड* स्वयं और उसके गुणधर्म कालापरिच्छिन्न शाश्वत होते हैं घ. व्यष्टि वस्तुएं *गॉड* के गुणधर्मोंके परिणाम या गृहीत रूप होती हैं. ङ. कोई भी एक व्यष्टि वस्तु जैसी नियत अर्थक्रियाकारितावाली होती उसकी वैसी नियति *गॉड* ने ही निर्धारित कर दी होती है. क्योंकि जो जिस तरह *गॉड* द्वारा निर्धारित न हो वैसे उसका स्वतोनिर्धारित होना असम्भव है[५०].

इस तरह देखा जा सकता है कि लौकिक बुद्धिजन्य ज्ञान और लौकिक कामना से विसदृश बोध एवं काम स्पिनोज़ाको भी उनके *गॉड* में मान्य तो हैं ही. तदनुसार यह सृष्टि भी लौकिक

लीलाओंसे विसदृश कोई *''आप्तकामस्य आत्मन्येव आत्मना सह आत्मरमणात्मिकेयं स्पृहा''* जन्य आधिदैविकी लीला हो उसमें क्या आपत्ति हो सकती है!

बर्ट्रेंड रसेलने स्पिनोज़ाकी चिन्तनके बारेमें एक मननीय विधान किया है कि **''स्पिनोज़ाकी चिन्तनप्रणाली एकीकृत विज्ञानके भावी संकलित व्याख्यानके प्रारूप जैसी है.''**[५१] इसी तरहका विधान फ्रित्ज़ोफ काप्राने आधुनिक विज्ञानके बारेमें अपने प्रसिद्ध 'द ताओ फिज़िक्स' नामक ग्रन्थमें किया है कि **''क्वान्टम थिअरी हमें बाधित करती है कि हम जगत्को भौतिक वस्तुओंके केवल संघातके रूपमें देखनेके बजाय किसी एकीकृत समग्र तत्त्वके विविध अंगोंके परस्पर जटिल जालके रूपमें देखनेका प्रयास करें.''**[५२]

इसके अलावा एक और अतीव मननीय उद्गार हाल ही फ्रांसके प्रसिद्ध रसायनविज्ञानमें संशोधनार्थ नोबलपुरस्कारविजेता ज्यां मारिए लेहनने यहां मुंबईके समाचारपत्रको दिये साक्षात्कारमें प्रकट किया कि —

> **चेतनाकी तुलनामें जीवन मेरेलिये काफी सरल समस्या है. क्योंकि अचेतन और चेतन पदार्थोंकी तुलनामें अजीवित और जीवित पदार्थोंके बीच रहा अन्तर बहोत सिकुड़ गया है. प्राकृतिक विकासमें ऐसा कैसे हुवा होगा कि कोई वस्तु ऐसी प्रकट हो जाये कि वह जिससे प्रकटी है उसके बारेमें सोच पाये? एक ऐसा सामर्थ्य कि कुछ प्रकृतिका अंश होनेके बावजूद प्रकृतिसे भिन्नता भी दरसता हो!**

मुझे लगता है कि न केवल स्पिनोज़ाका चिन्तन ही अपितु महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यका वेदान्तव्याख्यान भी इन विरुद्धधर्माश्रयी तत्त्वोंसे

जुड़ी समस्याओंको सुलझानेमें काम आनेवाली वैचारिक चोखट अपने कार्यकारणभाव तथा अंशांशिभाव सम्बन्धी विचारोंके द्वारा प्रदान करनेवाले चिन्तन हैं.

सन्दर्भ

१. त.दी.नि.१।१०४

२. ब्र.सू.भा.१।१।१, तत्रैव १।१।३,

३. द्रष्टव्य : ब्रह्मसूत्राणुभाष्य(३)गो.श्या.म.लिखित भूमिका. श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेशप्रभुचरण आ.हो. ट्रस्ट(कोल्हापुर). प्रकाशनवर्ष : वि.सं.२०४५

४. बर्ट्रेंड रसेलकृत 'विज़्डम ऑफ वेस्ट' पृ.२०१.क्रेज़ेंट बुक्स न्यूयार्क प्रकाशनवर्ष : १९८९. विल डूरांकृत 'द स्टॉरी ऑफ फिलॉसफी' प्रक.४, तथा वर्क्स ऑफ स्पिनोज़ा भाग-२ : संकलित पत्रव्यवहार पृ.२९८. डॉवर पब्लिकेशन्स्, आईएनसी. न्यूयार्क. प्रकाशनवर्ष : १९५१. आर.एच.एम.ए-ल्विसकृत आंग्लानुवादके तत्तद् अंशोंका हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत निबन्धकारद्वारा.

५. पाश्चात्यदर्शनेतिहास : स्पिनोज़ाप्रकरण : 'हिस्टॉरी ऑफ मॉडर्न फिलॉसफी'-ले.रिचार्ड फाल्कनबर्ग, 'द बेज़िक टीचिंग ऑफ द ग्रेट फिलॉसफर'-ले.एस.ई.फ्रास्ट, 'द स्टॉरी ऑफ फिलॉसफी'-ले.विल डूरां.

६. त.दी.नि.प्र.१।२३,श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेशप्रभुचरण आ.हो. ट्रस्ट(कोल्हापुर). प्रकाशनवर्ष : सिद्धा.मुक्ता.३-५,

७. द्रष्ट.भग.गीता.भाग.पुरा. ,

८. द्रष्ट.भग.गीता. भाग.पुरा. ,

९. वर्क्स ऑफ स्पिनोज़ा द प्रिफेस पृ.९,

१०. त.दी.नि.प्र.आ.१।७-१२,श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेशप्रभुचरण आ.हो. ट्रस्ट(कोल्हापुर). प्रकाशनवर्ष : २०३९. प्र.र.श्रीवल्लभ- विद्यापीठ-श्रीविट्ठलेशप्रभुचरण आ.हो. ट्रस्ट(कोल्हापुर). प्रकाशनवर्ष : २०५६.

११. स्पिनोज़ास् त्रेक्तस द इन्तलेक्त ईमांदेशन=एच.एच.जोआकिम पृ.२५-३३ ऑक्सफर्ड प्रका.वर्ष : १९५८.

१२. तत्रैव परि.७ पृ.१०१, १०३

१३. ब्र.सू.भा.१।२।३२

१४. दी एथिक्स.क. परिभाषा-१।६, ख. निष्कर्ष.१।१४।१-२ तथा ग.प्रतिज्ञा.१।१५

१५. दी एथिक्स.क. १।३०, ख. १।१५

१६. त.दी.नि.१।५८-६५

१७. दी एथिक्स. क. प्रतिज्ञा.१।१४/ ख. १।१४-निष्कर्ष-१. ग. १।१४/निष्कर्ष-२. घ. १।१६/निष्कर्ष-१. ङ. १।१७, च. १।१७/प्रमाण-१, छ. १।१७/निष्कर्ष-१, ज. १।२५.तथा तत्रैव प्रमाण.

१८. प्रस्थानरत्नाकर पृ.३९,४४.श्रीवल्लभविद्यापीठ श्रीविट्ठलेशप्रभुचरण आ.हो.-ट्रस्ट(कोल्हापुर) प्रकाशनवर्ष : वि.सं.२०५६.

१९. सिद्धान्तलेशसंग्रह : १।१७-२७.

२०. ब्रह्मसूत्रभास्करभाष्य : २।१।१४.

२१. दी एथिक्स : प्रतिज्ञा.१।२४-प्रमाण.

२२. ब्रह्मसूत्राणुभाष्य : १।४।२३.

२३. छान्दो.उप.६।१।४.

२४. छान्दो.उप.६।८।१०.

२५. द्रष्ट.सर्व.४।६, ७।४-६-१०-१४ तथा गी.सं.४।६-९, ७।६-१४.

२६. ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य : १।१।१९.

२७. तत्रैव : १।४।२४.

२८. दी एथिक्स : क.२।१९. ख. २।२२. ग.२।२३. घ.तत्रैव : २।२२.

२९. तत्रैव : क. प्रति.१।१८ तथा प्रमा. ख. प्रति.१।१८, ग. प्रति.१।१९, घ. प्रति.१।२०-निष्क.२.

३०. महाभाष्य : १।१।१.

३१. द्रष्टव्य.ब्रह्मसूत्राणुभाष्य-प्रकाश : २।२।२६-२७.

३२. दी एथिक्स : क. प्रतिज्ञा.१।१, ख. प्रमाण.१।४, ग. प्रतिज्ञा.१।६, घ. प्रतिज्ञा.-१।८/टिप्पणी-२.

३३. छान्दो.उप.१।२।१, तत्रैव.३।१४।१, पुरुषसूक्त.२.

३४. भग.गीता.२।१६.

३५. प्र.र.पृ.१८९.

३६. दी एथिक्स : परिभाषा.१।५.

३७. छान्दो.उप.६।८।१०.

३८. तैत्ति.उप.३।५.

३९. दी एथिक्स : क. प्रतिज्ञा.२।१, ख. प्रतिज्ञा.२।२, ग. स्पिनोज़ा'स् कॉरस्पॉन्डेस्

लेटर.१५.
४०.धातुपाठ.दिवादि-४३-तत्रैव-९०.
४१. त.दी.नि.१।७२.
४२. तैत्ति.आर.३।१२।७-महानारा.उप.१।५.
४३. ब्रह्मसूत्र.२।१।३३.
४४. माण्डु.उप.गौड़पादकारिका.१।७-९.
४५. तत्रैव.
४६. श्वेता.उप.६।१ .
४७. ब्र.सू.भा.१।३।१५.
४८. श्वेताश्वतरोपनिषद्.६।८.
४९. सुबो.१।१।४ तथा सुबो.१।१।१७.
५०. क. दी एथिक्स.१।३४, ख. तत्रैव.प्रतिज्ञा.१।१७-निष्कर्ष.२-टिप्पणी, ग. तत्रैव.१।१९. घ. तत्रैव.१।२५-निष्कर्ष, ङ.तत्रैव.१।२६.
५१. विज़्डम ऑफ वेस्ट, पृ.
५२. 'द ताओ फिज़िक्स'-ले.फ्रित्ज़ काप्रा. पृ.१३८तृतीय संस्करण शंभल प्रकाशन बोस्टन प्रका.वर्ष : १९९१.

वाल्लभवेदान्त निबन्ध संग्रह : धर्म

- शुद्धाद्वैतवाद और लीलावाद के सन्दर्भमें व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी मीमांसा
- धर्मोंकी विविधता और विश्वमें शान्ति
- श्रीस्वामिनारायण मतीय वेदान्तसिद्धान्त और भक्तिसाधना की विकसनप्रक्रिया(१)
- श्रीस्वामिनारायणीय दर्शनसिद्धान्त और भक्तिसाधना की विकसनप्रक्रिया(२) (साधु श्रीश्रुतिप्रकाशदासजीके समाधानात्मक आलेखपत्रकी समीक्षा)

शुद्धाद्वैतवाद और लीलावाद के सन्दर्भमें व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी मीमांसा

औपक्रमिक पूर्वपक्ष :

[१]शुद्धाद्वैतवादके अनुसार की जाती भगवच्छरणागतिके उपदेशमें निःसाधनताकी भावनाका उपदेश मनुष्यको अकर्मण्य बनाता है. [२]परमेश्वरको कर्ता-कारयिता और समग्र ब्रह्माण्डको लीलाके रूपमें प्रस्तुत करनेवाले इस सिद्धान्तके कारण जीवात्माको स्वयंके पुरुषार्थमें विश्वास खोनेका प्रसंग आये बिना नहीं रह सकता. अतः [३]शुद्धाद्वैतवाद कृत कर्मोंके प्रति उत्तरदायित्वकी भावना खतम करनेवाली विचारधारा लगती है. [४]कर्मके प्रति उत्तरदायित्वको गौण बनानेपर कर्मके बारेमें सदसद्विवेककी शक्तिके प्रयोगकी प्रेरणा भी रुंध जाती हो ऐसा लगता है. अतः हमारा [५]बोधस्वातन्त्र्य इच्छास्वातन्त्र्य और प्रयत्नस्वातन्त्र्य यदि हम नहीं स्वीकारते तो धर्माधर्मका विभाग भी निभ नहीं पाता. [६]परिणामरूपेण व्यक्तिस्वातन्त्र्यके अभावमें पुष्टिसम्प्रदायके भी विधि-निषेध अन्तमें अर्थहीन साबित होंगे. अतः यह मुद्दा गम्भीर विचारणा मांगता है.

इस समस्याका समाधान खोजनेसे पहले एक प्रमुख प्रश्न यह विचारणीय है कि जगत्का मूल कारण यदि ब्रह्म परमात्मा भगवान् न हो तो दूसरा और क्या हो सकता है?

व्यक्तिस्वातन्त्र्य जड़क्रियाके वश ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिके सन्दर्भमें :

जड़रूपमें भासित होता यह ब्रह्माण्ड स्वयंकी जड़रूप कारणावस्थामें प्रकटी किसी जड़प्रक्रियाके कारण ही इस कार्यावस्थामें प्रकटित हो तो कारणावस्थामें क्या उत्पत्तिप्रक्रियाको स्वतःसिद्ध अर्थात् स्वभावसिद्ध माननी? अथवा तो परतःसिद्ध अर्थात् बाह्य प्रभावके कारण प्रकटित

माननी? यदि बाह्य प्रभावके कारण मानते हैं तो अन्तमें अनवस्था दोष प्रकट होता है. क्योंकि वैसा स्वीकारने पर इस अनुत्तरित प्रश्नको यहांसे धकेल कर वहां भेजा जा रहा है परन्तु एतावता निराकरण तो हो नहीं पाता. अतः यदि स्वाभाविक प्रक्रियाके रूपमें उत्पत्ति स्वीकारते हैं तो अपने बोध इच्छा या प्रयत्न के स्वातन्त्र्यको भी उस स्वभावके आधीन स्वीकारना पड़ेगा. अब यदि जड़नियमोंके आधीन मनुष्यमें बोध इच्छा और प्रयत्न उत्पन्न होते स्वीकारते हों तो उन्हें ब्रह्मके आधीन उत्पन्न होते स्वीकारनेमें भी आपत्ति तो होनी नहीं चाहिये. क्योंकि ऐकान्तिक स्वातन्त्र्यका पक्ष तो इस कल्पमें छोड़ ही दिया गया है.

इस समस्याके समाधानरूपेण ऐसी भी एक धारणा प्रस्तुत की जाती है कि समग्र ब्रह्माण्डको एक कार्य मान कर उसके किसी एक कर्ताकी खोज स्वयंमें एक ग़लत शुरुआत है. क्योंकि ब्रह्माण्ड तो कार्य-कारण-अवस्थाकी निरन्तर चलती एक शृंखला है. अतः उसमें प्रत्येक कार्यका कोई एक निश्चित कारण खोजा जा सकता है परन्तु कार्यसमष्टिकी कारणसमष्टि खोजनेकी धांधल एक भूल भरी विचाररीति है. उदाहरणरूपेण कोई वंश पच्चीस पीढ़ी ('क' से 'म') तक चला हो तो पच्चीसमें 'म' व्यक्तिसे आरम्भ कर 'ख' व्यक्ति तक कौन किसका पिता यह खोजबीनके बाद जाना जा सकता है. बादमें कोई पूछे कि अब यह बताओ कि 'क' से 'म' तक चले समग्र 'क-म'वंशका पिता कौन? तो इसमें ध्यानमें रखने लायक बात यह है कि 'क'के पिताके रूपमें 'अः'को खोज भी लें परन्तु उस 'अः'का पितृत्व भी 'क' के हेतु ही सीमित रहेगा. उसे समग्र 'क-म' वंशके पिताके रूपमें दरसाया नहीं जा सकेगा.

इस विचारसरणीके अनुसार ब्रह्माण्डसमष्टिके सर्वकर्ता या सर्वकारण होनेके रूपमें ब्रह्म या परमेश्वर को नकारा जा सकता है. इस अस्वीकारके

बावजूद 'क' से 'म' तककी कार्यशृंखलामें प्रत्येक 'क' 'ख' आदिकी 'ख' या 'ग' आदिको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य स्वतःसिद्ध माननी पड़ेगी. अतः ऐसे जड़ या चेतन स्वभावके आधीन 'क' से 'म' तकका स्वातन्त्र्य भी स्वीकारना पड़ेगा. अन्यथा तो उत्पादन स्वभावसिद्ध परन्तु उत्पन्न होनेवाले उन-उन व्यक्तिओंकी अन्य सभी क्रियाओंको व्यक्तिस्वातन्त्र्यसे मण्डित करने पर तो वह स्वातन्त्र्य फिर किसी निश्चित दायरेमें हिर-फिर सकने या उठ-बैठ सकनेवाले खूंटीसे बंधे बैलके जैसे स्वातन्त्र्यकी तरह ही प्रकट होगा. और इस तरहके संकुचित सामर्थ्यके बारेमें यदि आपत्ति न हो तो, अर्थात् अकर्मण्य बनानेवाली धारणा लगती न हो तो, ब्रह्मके बारेमें भी इसी तरह सोचना चाहिये.

अतः सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म परमात्मा भगवान्से सृष्टिकी उत्पत्तिकी धारणा; अथवा तो जड़ पदार्थोंकी परस्पर कारण-कार्यभावकी शृंखलामें निरन्तर उत्पन्न होती सृष्टिकी धारणा, इन दोनों धारणाओंके बीचमें अन्तर इतना सा ही रह जाता है कि एक धारणाके अनुसार कारण चेतन है तो दूसरी धारणाके अनुसार जड़. दोनोंमेंसे किसी भी एकसे उत्पन्न होनेवाले कार्यपर कारणपदार्थकी जकड़में भेद प्रकट नहीं होता!

यद्यपि भगवान् बुद्धने इस समस्याके समाधानार्थ किसी भी एक कारणसे कार्यकी उत्पत्ति स्वीकारने बजाय कारणतया अवभासित बहोत सारे पदार्थोंके एकत्रित होने पर कार्यकी उत्पत्तिके आभासका सिद्धान्त प्रस्थापित किया था. इसमें कारण और कार्य दोनों असत् होने पर भी केलिडोस्कॉप्के भीतर रंगबिरंगे चूड़ियोंके टुकड़े जैसे डिज़ाइन्का आभास प्रकट करते हैं वैसे ही अनेक हेतुओंके संघातमें कार्य-कारणभावका आभास प्रकट होता स्वीकारा गया है. इस रूपमें देखने पर निरात्मक द्रव्योंके संघातमें आत्माभासरूपा व्यक्तिचेतना कार्यरूपमें या कारणरूपमें एक आभास ही सिद्ध होती है, वस्तुभूत नहीं. यों व्यक्तिचेतना स्वयं यदि आभास हो तो उसमें अनुभूत स्वतन्त्रता भी एक आभास

ही सिद्ध होगी. अब बहुविध हेतुसामग्रीके कारण अवभासित होती व्यक्तिचेतनाका स्वातन्त्र्य या भगवल्लीलाके कारण अवभासित होती व्यक्तिचेतनाका स्वातन्त्र्य, दोनों ही अन्तमें तो ऐकान्तिक सत्य न हो कर आंशिक सत्य ही सिद्ध हो पायेंगे. इस बारेमें बौद्ध और वाल्लभ चिन्तनके बीच मतभेद रह नहीं जाता है.

व्यक्तिस्वातन्त्र्य चेतनकर्मसे ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिके सन्दर्भमें :

अब जड़ स्वयंको या दूसरेको देख या जान नहीं पाता परन्तु सचेतन प्राणी स्वयंको भी और अपनेसे इतरको भी देख-जान पाता है. इस तथ्यके आधारपर जड़ावस्थामें यद्यपि सभी कुछ स्वभावाधीन होने पर भी विकसित अवस्थामें चैतन्यकी तरह स्वातन्त्र्य भी प्रकट होता स्वीकारें तो ब्रह्माण्डकी समग्रतामें इस चेतना या स्वातन्त्र्य को या तो आकस्मिक स्वीकारनी पड़ेगी अथवा तो जड़ पदार्थमें निगूढ़ रहनेवाली सम्भाव्यता (potentiality) या शक्ति (power) . ऐसी सम्भाव्यता या शक्ति के कारण यदि स्वीकारते हैं तो उसे वस्तुयाथार्थ्य (Reality) में परिणत करनेवाले परिबल कैसे या क्या माननें? क्या जड़ पदार्थके नियमोंको उनके आधीन मानना या स्वतन्त्र? जड़ पदार्थके नियमोंके आधीन माननेपर बात वहांकी वहीं लौट आती है. और उसे स्वतन्त्र माननेपर उन परिबलोंका स्वातन्त्र्य प्रमुख स्वातन्त्र्य कहा जायेगा परन्तु मानवीय बुद्धि इच्छा या प्रयत्न का स्वातन्त्र्य पुनः स्वयंसे इतर किसीपर अवलम्बित सिद्ध होगा.

अतः ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय क्रियाके अन्तर्गत प्रकट होनेवाली विविध जड़ क्रियाओंको ही किसी तबक़ेपर जा कर हमें सचेतन पदार्थके कर्मतया रूपान्तरित होता स्वीकारना हो तो वह शक्य है. उस कर्मको, परन्तु, या तो [१]स्वभावरूप मानना पड़ेगा या [२]जीवननिर्वाहार्थ संघर्षमय वातावरणमें स्वयंको अथवा तो स्वयंके वंशसातत्यको बचाये रखनेके उपायरूपेण विकसित सामर्थ्यके रूपमें मानना पड़ेगा. अर्थात्

करोड़ों वर्षोंसे चल रहे संघर्षमें विकसित आनुवंशिक सामर्थ्यके रूपमें मानना पड़ेगा. [३]अथवा तो ब्रह्म जैसे तत्त्वके अस्तित्वको स्वीकारे बिना भी स्थिरास्थिरचेतना या प्रवाहस्थिरचेतना के अनेक पूर्वजन्मके कर्मोंके नियम या वासना के कारण विकसित हुयी सामर्थ्यके रूपमें मानना पड़ेगा.

[१]इसमें प्रथम पक्ष आधुनिक विज्ञानके प्रादुर्भावसे पहले भौतिकवादिओंको, जैसे कि अपने देशमें चार्वाक आदि हुवे उनको, मान्य पक्ष है. ऐसे बचकाने भौतिकवादको, परन्तु, आज कोई भी स्वीकारता नहीं है.

[२]दूसरा पक्ष आधुनिक विज्ञानद्वारा प्रस्तुत होनेवाला पक्ष है. इस सन्दर्भमें एक बात अतिशय याद रखने लायक यह है कि आधुनिक विज्ञानके अनुसार मानवीय चेतना स्वयं एक पदार्थ न हो कर इलेक्ट्रो-केमिकल् स्पन्दन या बायोकेमिकल् कम्पाउंड् के अलावा अन्य कुछ हो नहीं सकती. तो उसके कारण होते बोध इच्छा या प्रयत्न का स्वातन्त्र्य भी ब्रेइनकी अनूठी संरचना अथवा तो उसमें सम्पन्न होती एक प्रक्रिया है, इसे अलग प्रकारकी चिप्स् बिठाने पर, अर्थात् अधुनाविकसित जेनेटिक टेक्नोलोजीके कारण मनपसंद सांचेमें प्रकट किया सकता है. उसके कारण नये ढंगसे सुधारा या विकसित किया जा सकता है. ऐसे भीषण मोड़पर जब वैज्ञानिक विकास पहुंच रहा हो तब बोधस्वातन्त्र्य या इच्छास्वातन्त्र्य या प्रयत्नस्वातन्त्र्य का वस्तुनिष्ठ मूल्य कितना बच पायेगा ?

[३]तीसरे पक्षके अन्तर्गत प्रथम पक्ष जैनोंके चिन्तनद्वारा प्रस्तुत हुवा है. जबकि तीसरेके अन्तर्गत द्वितीय पक्ष बौद्धोंके चिन्तनद्वारा प्रस्तुत हुवा है. उसमें जैन चिन्तन जीवात्माको, अपने अनेकान्तवादी अभिप्रायके अनुरूप, स्थिरास्थिर चेतना मानता है. बौद्ध चिन्तन, जबकि,

जीवात्माको अनादिसान्त चेतनाप्रवाहके रूपमें स्वीकारता है.

इन दोनों चिन्तनोमें असंख्य पूर्वजन्मोमें किये गये कर्मफल या कर्मवासना के कारण मनुष्यके वर्तमान जन्माधिगत बोध इच्छा या प्रयत्न पंकिल माने गये हैं. पर पूर्वजन्मोंमें हम कभी वनस्पति तो कभी कीट सरीसृप जलचर थलचर या नभचर भी अवश्य बने होंगे ही. इन योनिओमें स्वातन्त्र्यको निभा पायें ऐसा बोधशक्तिका विकास सोचा नहीं जा सकता है. अतः तन्मूलक इच्छास्वातन्त्र्य या प्रयत्नस्वातन्त्र्य की तो कल्पना ही अशक्यप्राय है. अब कर्मनियम जो जड़ हो तो केवल मानवयोनिको ही लागू पड़ते हैं मानवेतर योनिको नहीं ऐसा कैसे कहा जा सकता है? वातावरण या गुरुत्वाकर्षण के जड़नियम सभी योनिओंके प्राणिओंपर समानरूपेण प्रभावशाली होते हैं. तदुपरांत चौरासी लाख योनिओंमें किये कर्मोंके फलका प्रभाव अन्तिम मानवयोनिमें निरस्त हो कर अचानक स्वतन्त्रता यदि प्रदान करता हो तो वह तो पंख काट कर पक्षीको पींजरेमेंसे मुक्त करने जैसी बात लगती है. क्योंकि जब तक मानवेतर योनिओंमें किये गये कर्मोंके फलसे या उसकी वासनासे भी जो मुक्ति दी नहीं जाती तब तक बोधेच्छाप्रयत्नस्वातन्त्र्यका मूल्य कितना?

लक्ष्यमें रखने लायक बात इसमें यह है कि मानव जैसे सामाजिक पशुके उदाहरणमें तो उसके वैयक्तिक कर्मकी तरह सामुदायिक कर्मका भी उत्तरदायित्व उसका स्वीकारे बिना कोई चारा नहीं. तदुपरांत वैयक्तिक बोध इच्छा या यत्न की तरह सामुदायिक बोध इच्छा या यत्न का परस्पर तारतम्य और परस्पर प्रभावजनकता भी स्वीकारनी पड़ती ही है. जापान देशकी सरकारने दूसरे विश्वयुद्धके समय साम्राज्यवादी नीति अपना ली थी. उसके परिणामरूपेण हिरोशिमा-नागासाकीके कितने निर्दोष नागरिकोंको अणुबमकी विनाशकारी ज्वालाओमें जल कर राख बनना पड़ा था! ऐसी परिस्थितिमें व्यक्तिगत बोध इच्छा या प्रयत्न

में अनुभूत होती स्वतन्त्रताका मूल्य कितना बच जाता है!

अतः सचेतन प्राणिओंके कर्मसे प्रकट होते ब्रह्माण्डके सन्दर्भमें भी व्यक्तिका बोधेच्छाप्रयत्नस्वातन्त्र्य अक्षुण्ण तो नहीं रह पाता.

व्यक्तिस्वातन्त्र्य सामाजिक प्राणी या मानवीय व्यवहार के सन्दर्भमें :

इस शीर्षकके अन्तर्गत चार प्रकाराके स्वातन्त्र्य विचारे जा सकते हैं : [१]कानूनी व्यक्तिस्वातन्त्र्य, [२]नैतिक व्यक्तिस्वातन्त्र्य, [३]धार्मिक व्यक्तिस्वातन्त्र्य; और [४]भक्तिमार्गीय व्यक्तिस्वातन्त्र्य.

[१]कानूनी व्यक्तिस्वातन्त्र्य : कोई भी समाज उसके लिखित या अलिखित कानूनके बिना टिक नहीं सकता है. अतः समाज ही व्यक्तिको कानूनी व्यक्तिस्वातन्त्र्य प्रदान करता है. यह कानूनी स्वातन्त्र्य न तो स्वाभाविक होता है और न ऐकान्तिक ही. तदुपरांत तत्तद् देश-कालमें तत्तत् समाज अपने-अपने नये-नये कायदे-कानून घड़ते रहे थे, रहते हैं और घड़ते रहेंगे. पहले कभी दो व्यक्ति अपने विवाद या अपमान के निकालके हेतु तलवारके द्वन्द्वयुद्धार्थ एक-दूसरेको ललकारते थे. इसमें यदि किसकी जान निकल जाये तो जान लेनेवालेको हत्याका अपराधी नही माना जाता था. तब ऐसा प्राणघातक स्वातन्त्र्य मान्य था. अब किसी भी सभ्य समाजमें ऐसे स्वातन्त्र्यको मान्यता प्रदान नहीं की जाती. अतः सिद्ध होता है कि व्यक्तिका कानूनी कर्मस्वातन्त्र्य समाजद्वारा प्रदत्त और तत्तत् समाजकी तत्तद् देश-कालकी मान्यताओंपर निर्भर होता है. स्वाभाविक या ऐकान्तिक नहीं. यही बात बोध, अभिव्यक्ति, इच्छा या प्रयत्न के स्वातन्त्र्यके बारेमें भी हम लागू कर सकते हैं. कई बातें व्यक्ति जान ले; या जान गया हो तो सरेआम उसे प्रकट करता फिरे; अथवा तो समाजमें प्रतिबंधित की गयी किसी बातके कोई मनसूबे रख कर षड़यन्त्र घड़ते हुवे पकड़ा जाता है तो भी समाज व्यक्तिको अपराधी घोषित कर दण्डनीय मान लेता है.

अर्थात् मोटे तौरपर प्रत्येक व्यक्तिके बोध या इच्छा को घड़नेमें समाजका प्रदान बड़ा भारी होता है. अतः एक सामाजिक व्यक्ति स्वयंके बोध या इच्छा के अनुरूप कोई प्रयत्न करना चाहता हो तब भी उसका समाजके अनुरूप होना या समाजद्वारा अनुज्ञप्त होना अनिवार्य हो जाता है. क्योंकि प्रयत्न कर पानेमें अनुकूल वातावरण समाज ही व्यक्तिको उपलब्ध कराता है. अब यदि यहां ऐसे समाजाधीन व्यक्तिस्वातन्त्र्यके कारण अकर्मण्य या अपुरुषार्थी होनेमें आपत्ति लगती न हो तो परमेश्वराधीन जीवस्वातन्त्र्य क्यों आपत्तिजनक लगता है ?

[२]नैतिक व्यक्तिस्वातन्त्र्य : नीतिशास्त्रमें किसी भी कृत्यके नैतिक मूल्यांकनके हेतु कुछ कसौटी विचारी गयी हैं. उदाहरणतया कोई कृत्य कानूनकी दृष्टिसे आपत्तिजनक न भी हो तब भी नीतिकी दृष्टिसे अयुक्त हो सकता है. इसी तरह कानूनकी दृष्टिसे कोई कृत्य आपत्तिजनक लगता हो तब भी नैतिक दृष्टिसे अनुसरणीय हो सकता है. अतः कानूनी अपराधका दण्ड बाह्य, शारीरिक या आर्थिक आदि, रूपोंमें होता है. नीतिका दण्ड, परन्तु, स्वयंकी अन्तरात्माको कचोटनेवाला होता है. कानूनके जालमें कहीं भी फंस न पाये ऐसी सम्पूर्ण सावधानी बरत कर एक व्यक्ति जब किसी दूसरे व्यक्तिका अहित करता है तब वह कृत्य उसके अन्तरात्माको तो कचोटता ही है. कानूनकी दृष्टिसे प्रतिबन्धित होने पर भी अन्तरात्माकी नैतिक प्रेरणाके आधीन हो कर महात्मा गांधीने चंपारन जिलेमें प्रवेश किया था और अंग्रेज़ न्यायाधीशको अंग्रेज़ी कायदेके अनुसार जो दण्ड योग्य हो उन्हें देनेको बेझिझक ललकारा भी था !

अतः नीतिशास्त्रद्वारा विचारित अनेक निकषोंके अन्तर्गत कुछ निकष यों दरसाये गये हैं : [क]**''बहुजन सुखाय''**, [ख]**''बहुजन हिताय''**, [ग]**''आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्''**. इनके अन्तर्गत प्रथम और दूसरे [क-ख]कल्पोंकी बाबतमें हम देख सकते हैं कि समाजके किसी

एक व्यक्तिके कृत्यसे बहोत सारे लोगोंका सुख या हित यदि सिद्ध न होता हो तो ऐसा कृत्य अनैतिक कृत्य बन जाता है. यह तथ्य किसी सीमातक सच लगता होनेपर भी कैसे कृत्यके कारण समाजके बहुसंख्य जनोंको कष्ट या उनका अहित होता है इसमें भी कालभेदवश समाजमें बहुमतका एकमत होना अनिवार्य नहीं होता. विधवाविवाह या जातपांतके भेदोंको हिंदुसमाजमेंसे दूर करनेको हिंदुओंका बहुमत पहले स्वयंका अहित मानता था. अब इसमें स्वयंका हित मानने लगा है. अब स्वयं समाजमें ही जो वैचारिक परिवर्तनोंके प्रति एकरूप धारणा निभती न हो तो व्यक्तिको अपने कैसे कृत्यको नैतिक मानना या कैसे कृत्यको अनैतिक? अर्थात् जातपांतके भेद स्वीकारने या न स्वीकारने? किसमें व्यक्तिकी नीतिमत्ता प्रकट होगी? आज विवाहसंस्थाको बन्धनकारी मान कर स्त्रीपुरुषोंके अविवाहित सहजीवनमें अनैतिकता जैसी कोई बात न मानने कई लोग खुश हैं तो अन्य नाखुश. इसमें बहुजनसुख या बहुजनहित का निर्धार करना कठिन हो जाता है.

"अतः अन्तमें "**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**" सूत्रको नैतिकताके निकषके रूपमें स्वीकारनेको ऐसे कहा जाये कि हमारे साथ किये जाते जैसे व्यवहारको हम योग्य न मानते हों, वैसा व्यवहार हमें भी दूसरोंके साथ करना नहीं चाहिये. नैतिकताके ऐसे आदर्शमें भी कुछ कठिनाईयां तो हैं ही. क्योंकि स्वयंको मार दिये जानेकी परवाह न करनेवालेका दूसरे किसीको मारनेका अधिकार नैतिक माना जा सकता है क्या? उदाहरणतया न्यूयोर्क शहरके W.T.C. के दोनों टावर्सके साथ अपने विमानोंको टकरा कर स्वयं और अन्य अनेक निर्दोषोंको मार देनेवाले उद्दामवादिओंका कृत्य क्या नैतिक कृत्यके रूपमें मान्य रखा जा सकता है? अतः वैयक्तिक बोध इच्छा या प्रयत्न और सामाजिक बोध इच्छा या प्रयत्न के बीच विरोधाभासका प्रश्न विकराल बन जाता है. मोटे तौरपर व्यक्ति समाजका अंग होनेसे उसके बोध इच्छा या प्रयत्न भी समाजके बोध इच्छा या

प्रयत्न के अंग होने चाहिये इस मान्यताके आदर्शके अनुरूप व्यक्तिको समाजविरोधी निरंकुश स्वातन्त्र्य प्रदान करना समाजमें मान्य नहीं हो पाता है. अब यहां यदि समाजाधीन व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी धारणाका अंगीकार आपत्तिजनक न लगता हो तो ब्रह्माधीन जीवस्वातन्त्र्य भी आपत्तिजनक लगना तो नहीं चाहिये.

[3]धार्मिक व्यक्तिस्वातन्त्र्य : धर्मोंके दो वर्ग प्रमुख दिखलायी देते हैं. एक वर्ग इस सृष्टिकी तरह धार्मिक विधि-निषेधोंको भी ईश्वरीय विधान गिननेवालोंका है. दूसरा वर्ग सृष्टिकर्ताके रूपमें ईश्वरको नकारनेवालोंका होनेसे सिद्ध पुरुषोंके दिव्य ज्ञानके आधारपर साक्षात्कृत धर्मनियमोंको स्वीकारनेवालोंका है. इन दोनोंमेंसे कोई भी धर्मसम्प्रदाय अपने-अपने धर्मग्रन्थोंमें मिलते विधि-निषेधोंसे विरुद्ध न जाते होने पर ही उतने अंशोंमें केवल मनुष्यके स्वयंके बोध आकांक्षा या प्रयत्न के स्वातन्त्र्यको मान्य रखते हैं. मूलमें तो स्वयंके धर्मग्रन्थोमें उपदिष्ट बोधसे विपरीत जाने पर किसी भी बोधको ये धर्मसम्प्रदाय अन्यथाबोध ही मानते होनेसे उनकी निन्दा ही करते हैं. अतः व्यक्तिबोधके आधारपर उद्भूत इच्छा या आकांक्षा और तदनुरूप प्रयत्न को भी अधर्मके रूपमें ही घोषित करते हैं. अतः धार्मिक व्यक्तिस्वातन्त्र्य भी उन-उन खूंटिओंसे बंधा ही व्यक्तिस्वातन्त्र्य सिद्ध होता है.

उदाहरणतया वैदिक यज्ञयागोमें पशुओंकी आहुतिको धर्म माननेवाली वैदिकी श्रद्धाको जैन धर्म अन्यथाबोध मानते हैं. वैसे यज्ञानुष्ठानोंकी आकांक्षाको अधर्मेच्छा और अनुष्ठानको साक्षात् पापाचरण ही मानते हैं. इसी तरह जैनोंके अठ्ठम जैसे व्रतोंको अपनी भगवद्गीताके **''अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः दम्भाहंकारसंयुक्ताः... कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्रामम् अचेतसो मां चैव अन्तःशरीरस्थं तान् विद्धि आसुरनिश्चयान्''** (भगवद्गीता : १७।५-६) वचनके अनुसार हम आसुर कर्मानुष्ठान मानते हैं. यहूदी-मुस्लिम धर्म मूर्तिपूजनको महान् पाप मानते हैं. मुसल्मान

अतः मन्दिरों और मूर्तिओं को तोड़ देना महान् पुण्यकार्य मानते हैं. जबकि देवमूर्तिकी, यदि प्राणप्रतिष्ठा हुयी हो तो उसे अपूजित रखनेमें हम बड़ा भारी पाप मानते हैं. ईसाइ धर्ममें प्राचीन कालमें, हालमें जानना मिला कि, शुक्रवारको मांस खानेवालोंको नरकगामी माना जाता था. अब निषिद्ध होनेपर भी उस अपराधको नरकदायी नहीं माना जाता है. किसी भी संजोगमें इसमें व्यक्तिके बोध आकांक्षा या प्रयत्न की तुलनामें धर्मसंस्थाओंके बोध और निर्धार को ही प्रमुख माना जाता है.

४भक्तिमार्गीय व्यक्तिस्वातन्त्र्य : सामान्य बोलचालकी भाषामें भक्तिको धर्मके रूपमें ही मान लिया जाता है. अतः धार्मिक स्वातन्त्र्य और भक्तिमार्गीय स्वातन्त्र्य को पृथक्तया विचारना आवश्यक नहीं. धर्मकी, परन्तु, शास्त्रीय परिभाषा या स्वरूप का विचार यदि गम्भीरतया किया जाये तो भक्तिको धर्ममें खपाया नहीं जा सकता है. अलग-अलग समुदायोंद्वारा समादृत शास्त्रोमें उपदिष्ट विधि-निषेधोंके कारण जो कृत्य=व्यवहार वाणी या विचार हमारेलिये स्वीकरणीय या अस्वीकरणीय हों उन्हें धर्म या अधर्म माना जाता है. ऐसा होने पर भी कोई भी शास्त्र स्वयंकी समग्र दिव्यता या श्रेष्ठता के उपरांत भी खुदके आदेशमात्रसे किसी भी मनुष्यके भीतर कर्मानुष्ठान व्यवहार विचार या भावना या आराध्य वस्तु या व्यक्ति के प्रति स्नेह उत्पन्न करने सक्षम हो नहीं पाता. अन्यथा शास्त्रोंके हठात् कराये गये परायणमात्रसे लोगोंकी धारणा या भावना में नास्तिकता निवारी जा सकती थी! अर्थात् हठात् कोई बात किसीको समझायी जा सकती हो परन्तु हठात् किसीके भी भीतर स्नेहभाव प्रकटाया नहीं जा सकता है. अतः कभी कोई किसीसे बलात् बाह्यादर प्राप्त कर पाता है परन्तु किसीकी हार्दिक भक्तिके भाजन होना केवल आदेश या उपदेश के आधारपर शक्य नहीं होता. स्नेहकी भावनापर स्वयं भावुक व्यक्तिका बस भी कभी चलता नहीं है तो दूसरे किसीका आदेश या उपदेश तो कैसे चल

पायेगा! अतः धार्मिक स्वातन्त्र्यकी तुलनामें भक्तिमार्गीय स्वातन्त्र्य पृथक् विचार मांगता है.

भक्तिसाधना विश्वके लगभग सभी धर्मोंमें उपलब्ध होनेवाली विश्वव्यापी मनोवृत्ति है. फिरभी कण्ठोक्त विधि-निषेधवश या प्रचलित व्यवहारवश सभी भक्तिसम्प्रदाय अपने-अपने एक इष्टदेव या एकाधिक इष्टदेवों के अलावा दूसरे देवोंकी भक्तिको कभी अनावश्यक, तो कभी अनुचित भटकाव, तो कभी पाप भी मानते हैं. अतएव ''**अन्याश्रयो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः**'' कहा जाता है. यद्यपि आधुनिक युगमें धार्मिक सम्प्रदायोंके साथ बंध कर न रहनेकी धर्मनिरपेक्षवादकी अंधाधुंधीके कारण बहोत सारे धर्मसम्प्रदायोंके अनुगामिओंने बिनमांगी छूट इस बाबतमें ले कर सभी देवमन्दिरोंमें पूजा-दर्शनभक्ति करनेवाला एक नया सम्प्रदाय खड़ा किया है. इसका उपाय न तो शास्त्रके और न उसके उपदेशकोंके पास ही उपलब्ध है. आधुनिक युगकी इस अंधाधुंधीके कारण दिनानुदिन बिफरनेवाला स्वधर्मनिष्ठाक्षय ही इसमें हेतु लगता है, सर्वधर्मनिष्ठा नहीं. सभी धर्मोंके बीच निरन्तर चलती प्रतिस्पर्धा भी इसमें दूसरा प्रमुख कारण बनी है. किसी भी तरहके अधिकारिताके विवेकको वापरे बिना प्रत्येक धर्मोपदेशकोमें अपने चेले मूंडनेकी मनोवृत्तिका प्रबल हो जाना भी आधुनिक युगकी एक बड़ी विडम्बना है. इसीके कारण प्रत्येक धर्मसम्प्रदायोमें उसे संनिष्ठापूर्वक अनुसर पायें ऐसे अनुगामी अब अल्पसंख्यक रह गये हैं. अन्यथा किसी भी धर्मसम्प्रदायमें अपने मूल उपदेशके प्रति निष्ठाशील रहनेपर भक्तिस्वातन्त्र्य व्यक्तिको दिया गया दिखलायी नहीं देता. वैयक्तिक पारिवारिक या सामाजिक सहजताके कारण अपने-अपने आराध्यकेलिये भक्तिभावना रखनेकी छूट मान्य होन पर भी दूसरोंके आराध्यके प्रति भक्तिभावनामें भक्तिसम्प्रदायोंको आधिदैविक व्यभिचार जैसा कुछ लगता है. वह अनन्यभक्तिका भाव भी आज लग्नसंस्थाकी तरह टूटनेवाली कगारपर खड़ा हुवा है.

समाजशास्त्री लग्नसंस्थाके तीन प्रकार समझाते हैं : [१]बहुपत्नीवाद पितृप्रधान समाजकी प्रमुख चारित्रिक विशेषता मानी गयी है [२]बहुपतिवाद मातृप्रधान समाजकी [३]एकपतिपत्नीवाद उभयप्रधान समाजकी. तदनुरूप ही कुछ भक्तिसम्प्रदाय [४]आराध्य-प्रधान होनेके कारण ऐकान्तिक भक्तिसम्प्रदाय होते हैं. रामानुज माध्व वाल्लभ शैव शाक्त आदि सम्प्रदायोंको इस श्रेणीमें गिनना चाहिये. आराध्यके चयनमें ऐसे सम्प्रदाय व्यक्तिका स्वातन्त्र्य मान्य रखते हैं परन्तु निजाराध्यसे इतर आराध्यकी भक्तिका स्वातन्त्र्य व्यक्तिका मान्य नहीं होता. [२]आराधक-प्रधान भक्तिसम्प्रदायोंमें एक आराधकके अनेक आराध्य होनेकी रीति निर्दोष मानी गयी है. वस्तुतया, परन्तु, ऐसे स्मार्त या उपासनावादिओं के मतके अनुसार भक्ति लक्ष्य न हो कर लक्ष्य तक पहुंचनेके एक सुगममार्गतया मानी जाती है. [३]उभय-प्रधान भक्तिसम्प्रदाय प्रायः वन्यजातिओंमें दिखलायी देते हैं. जहां उन-उन जातिओंके अपने-अपने विभिन्न आराध्य देवता होते हैं. अपने देशमें भी आधुनिक नागरी संस्कृतिके प्रबल होनेसे पूर्व ग्रामदेवता या कुलदेवता अलग-अलग माने जाते थे. [४]तदुपरांत प्राचीन वर्णाश्रमी व्यवस्थामें भी पृथक्पृथक् कर्मदेवता उत्सवदेवता और स्थानदेवता की आराधनाविधि उपलब्ध होती है. तदनुसार जो कर्म या जिस प्रसंग या जिस स्थानमें जिस देवताके पूजनका विधान हो उसकी जगह अन्य देवताके यजन-पूजनको अविहिताचरण माना जाता था. [५]अब पांचमी रीत एक आधुनिक फेशनकी अविवाहित सहजीवन जैसी भक्तिभावमें भी चल पड़ी है. इसमें स्वयंके आराध्यके अलावा दूसरोंके आराध्यको भी भजने या न भजने का सम्पूर्ण स्वातन्त्र्य व्यक्तिका मान्य हो गया है. अधिकांश राजनीतिज्ञोंको यह मनोवृत्ति समाजके प्रत्येक वर्गके वोट् पानेको अधिक रास आती है. वैसे इस प्रकारमें भक्तिभाव कितना और दिखावा या देखादेखी कितनी यह तो शान्त चित्तसे विचारनेकी बात है!

व्यक्तिस्वातन्त्र्य लीलात्मिका क्रियारूपमें ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिके सन्दर्भमें :

स्वयंकी स्वार्थसिद्धि या दूसरोंको छलने के हेतु किये जाते

दम्भ या कपटपूर्ण निष्ठुर व्यवहारोंसे विलक्षण, इसी तरह रसानुभूतिके हेतु अभिनीत व्यावसायिक नाटकोंसे विलक्षण, अथवा तो दो प्रणयी युगलके बीच प्रणयभावके दृढ़ीकरणार्थ मिथ्या प्रणयवचन या प्रणयक्रीड़ा से भी पृथक् कोई एक वास्तविकता लीलाभावकी होती है.

इस लीलाके तथ्यके प्रमुख तो दो प्रकार पर एक गौण भी, ऐसे कुल तीन प्रकार सम्भव हैं : [१]रसानुभवार्थ [२]रसानुभावनार्थ और [३]भगवद्गीतोक्त स्थितप्रज्ञता.

[१]प्रथम प्रकारका लोकसिद्ध उदाहरण बाल्यावस्था या किशोरावस्था के चोर-सिपाही जैसे खेलका लिया जा सकता है. ऐसी क्रीड़ाओंमें न तो कोई किसीको छलना चाहता है और न निश्छल खेल-कूदद्वारा रसानुभूति पानेके सिवाय दूसरा कोई गम्भीर हेतु ही सोचा जा सकता है. जो बालक चोर बनता है उसकी चोर होनेकी अहन्ता जैसे लीलात्मिका होती है, वैसे ही उस अहंबोधके कारण खेल-खेलमें चोरी करनेकी इच्छा भी लीलात्मिका होती है. और वैसी लीलात्मिका इच्छाके कारण खेलमें चोरी करनेकी चतुराई भी लीलात्मिका ही होती है. सामने पक्षमें जो बालक सिपाही बना हो उसका ''मैं सिपाही हुं; और मुझे चोरको पकड़ना चाहिये'' ऐसा आत्मबोध और कर्तव्यबोध दोनों ही लीलात्मक होते हैं. उसके कारण प्रकट होता पुरुषार्थ भी लीलात्मक ही होता है.

शुद्धाद्वैतवादमें सृष्टिको भगवल्लीलाके रूपमें बिरदाया जाता है. तदनुसार ब्रह्मने भी स्वयंकी एकमेवाद्वितीयतामेंसे अनेक नाम-रूप-कर्मोंके द्वैत प्रकट किये. इन अनेकविध नाम-रूप-कर्मोंके प्राकट्यकी पृष्ठभूमिमें लीलाभावके अलावा अन्य किसी गम्भीर हेतुको नकारा गया है :

''न प्रयोजनवत्त्वात् लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'' (ब्रह्मसूत्र : -

२।१।३२-३३). अतएव भाष्यकार भी खुलासा करते हैं कि ''‘सवै नैव रेमे तस्माद् एकाकी न रमते. स द्वितीयम् ऐच्छत्. स ह एतावान् आस' इत्यादि श्रुतिओंके आधारपर, 'एष उ एव' इस श्रुतिके आधारपर भी उन-उन साधनोंको करवा कर उन-उन फलोंको देते हुवे भगवान् स्वक्रीडार्थ ही जगद्रूपेण आविर्भूत हो कर क्रीड़ा कर रहे हैं ऐसा वैदिकोंका निर्णय है''.

(अणुभाष्य : १।१।११).

यह बात ब्रह्मके स्वरूपको लक्ष्यमें रख की गयी है. भगवल्लीलाके सन्दर्भमें यही बात कुछ और आगे कैसे बढ़ती है उसे भी महाप्रभुके शब्दोंमें देख लेना उचित होगा –

''यही निश्चित करके श्रीकृष्णने अर्जुनको कहा कि 'जो मेरी शरणमें आते हैं वे ही मेरी इस मायाका पार पा सकते हैं' यहां 'ही' लगा कर भगवान्ने अपने अलावा सभी साधनोंकी अनुपायता कह दिखाई है. क्योंकि कर्म ज्ञान या भक्ति आदि सभी भगवान्के ही आधीन सदा होते हैं. अतः सभी साधनों या उपायों में विश्वास छोड़ कर कृष्णको ही भजना चाहिये, जिनका भगवत्प्राप्तिके उपायतया निरूपण हमने किया वे भी विष्णुकी कृपा हो तो ही फलप्रद होते हैं अन्यथा नहीं. अतः जो ज्ञानादि उपायतया कहे गये हैं वे तो केवल लोगोंको भगवान्की ओर अभिमुख बनानेको कहे गये उपाय हैं. बावजूद इसके ऐसे नहीं मान लेना चाहिये कि शास्त्रोक्त साधन सर्वथा निरर्थक ही होते हैं. क्योंकि भगवान्की कृपा होनेपर वे ही फलसाधक बन जाते हैं. अतः उपदेश प्ररोचनार्थ होनेपर भी वस्तुतस्तु भगवत्कृपा ही एक मुख्य साधनतया सिद्ध

होती है... भगवत्कृपाके अलावा अन्य कोई साधन नहीं इस बारेमें प्रमाण है 'जो न योगसे न सांख्यसे न दान व्रत तप या यज्ञयागादिसे अथवा वेदोंके व्याख्यान या स्वाध्याय से या संन्याससे ही बहुत प्रयत्न कर लेने पर भी पाया जा सकता है उसे पाना हो तो विधि-निषेध प्रवृत्ति-निवृत्ति और श्रोतव्य-श्रुत की चिन्ता छोड़ कर, सभी देहधारिओंके आत्मरूप केवल एक मेरी शरणमें सर्वात्मभाव रख कर आ जाओ, तुम्हें कहींसे भयभीत होनेका कोई भी कारण बच नहीं जायेगा' यह भागवतके एकादशस्कन्धोक्त उपदेशका प्रमुख सार है. इसे स्वयं भगवान्ने समझाया है और स्वयं भगवान्के अलावा भगवान्को अधिक कौन जान सकता है? अतः जो कोई कुछ भी कहता हो उसे मिथ्यावचन ही समझना चाहिये. कर्मयोग ज्ञानयोग या भक्तियोग आदिमें कुछ भी कृष्णको प्रकट करनेके हेतु अपनाने चाहिये पर हमें यदि कृष्णकी तुलनामें साधनोंपर अधिक निष्ठा होगी तो भगवान् भी उदासीनतया ही प्रकट होंगे! और स्वयं भगवान्पर निष्ठा होना भगवान्की उदासीनताको दूर करनेका हेतु बनेगा... यह ठीक है कि भगवान् अपने वाक्योंको सत्यापित करनेको कर्मयोगादिमें भी प्रकट तो होते ही हैं परन्तु आग्रहवश ही...

(त.दी.नि.प्र.२।३०४-३१२).

अब यह सिद्धान्त जिसे न रुचता हो वह व्यक्ति इसका प्रत्याख्यान कर सकता है. परन्तु जो सम्भव नहीं वह यही कि लीलावाद स्वीकारनेके बाद जीवात्माके ऐकान्तिक व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी मनोभ्रमणा. क्योंकि प्रत्येक जीवात्मा अन्तमें तो परमात्माके धारण किये हुवे रूपान्तर ही हैं. अतः इन रूपान्तरोंमें जो स्वयंका स्वातन्त्र्य प्रतीत होता है उसे वास्तविक अनुभूति तभी मानी जा सकती है जब

अनुभवकर्ता स्वयंकी सत्तामें परमात्माका भी अनुभव करता हो. अन्यथा तो जो कुछ स्वातन्त्र्य अनुभूत हो रहा है वह वैसे लीलार्थ परिगृहीत स्वरूपको वैसे स्वरूपकी मर्यादामें प्रदत्त स्वातन्त्र्य ही है. यह व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी सीमा व्यक्तिके बोध आकांक्षा प्रयत्न या फलप्राप्ति को भी किसी सीमामें परिच्छिन्न कर देती है. लीलार्थ सृष्टिमें किसी भी एक व्यक्तिकी बोधक्षमता इच्छाक्षमता या कृतिक्षमता अथवा तो वस्तुकी, क्रियाकारक या फलप्रापक साधनक्षमता भगवन्निर्धारित सीमित ही हो सकती है. संख्याकी दृष्टिसे पचीस या पचास में वे क्यों न गिनी जाती हों! अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति या वस्तु अपने परिसीमित सामर्थ्यके अनुसार कुछ या बहुत कुछ कार्य करनेको समर्थ होनेपर भी आत्यन्तिक स्वतन्त्र या सक्षम हो नहीं पाता.

[२]लीलाका दूसरा प्रकार लोकसिद्ध उदाहरणमें देखना-जानना हो तो प्राचीन कालमें उन-उन देवताओंके भक्तोंद्वारा किये जानेवाले अपने आराध्यदेवोंके चरित्रोंका लीलानुकरण गिना जा सकता है. भक्तगण परस्पर मिल कर अपने आराध्यदेवके रूप गुण या चरित्रो में रहनेवाली रसात्मकताका अनुभव एक-दूजेको करने-करानेके हेतुसे ही रामलीलासदृश लीलानुकरण करते थे. अतएव भगवान् गीतामें कहते हैं "**अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्तते इति मत्वा भजन्ते मां बुधाः भावसमन्विताः, मच्चित्ताः मद्गतप्राणाः बोधयन्तः परस्परं कथयन्तः च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च, तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकं ददामि बुद्धियोगं तं येन माम् उपयान्ति ते, तेषामेव अनुकम्पार्थम् अहम् अज्ञानजं तमो नाशयामि आत्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता**" (भगवद्गीता : १०।८-११). यहां भगवान्को सर्वकारण और सर्वप्रवर्तक मान कर भावपूर्वक भजन करनेवालोंके अज्ञानका नाश करके जीवको भगवत्प्राप्ति करानेवाला बुद्धियोग भी भगवान् स्वयं देते हैं, इतना ही केवल मान कर कोई विशेष अपवादका उदाहरण इसे मानता हो तो यह कथा उतनी मात्र नहीं है. क्योंकि इससे पहले स्वयं भगवान्ने यह खुलासा

कर रखा है कि ''बुद्धिः ज्ञानम् असम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः सुखं दुःखं भवो अभावः भयं च अभयमेव च अहिंसा समता तुष्टिः तपो दानं यशो अयशो भवन्ति भावाः भूतानां मत्तएव पृथग्विधाः''(भगवद्-गीताः १०।४-५). अतः निरपवादतया भक्त या अभक्त सभीके भीतर नानाविध भाव भगवान् ही प्रकट करते हैं. अपनी भक्तिमार्गीय साधनाके मूल इसी रसानुभावनाकी मनोवृत्तिमें रहे हुवे हैं. इसीलिये भागवतमें भी ''उपगायन् गृणन् नृत्यन् कर्माणि अभिनयन् मम मत्कथाः श्रावयन् शृण्वन्...'' (भागवत : ११।२७।४४) यह भजनरीति दिखलायी गयी है.

आधुनिक युगमें प्रत्येक प्रकारके लोग प्रत्येक सम्प्रदायमें घुस गये होनेसे उस रसानुभावनाका हेतु गौण बन गया. आज तो व्यावसायिक नीतिमत्ताकी मर्यादा भी लांघ कर अपने पेट भरनेके छलप्रपञ्चके रूपमें भक्तिसाधना एक सार्वजनिक व्यावसायिक नौटंकीके रूपमें विकृत हो गयी है! ऐसे भक्तिभावविहीन लोग भक्तिसम्प्रदायमें या तो प्रकट(!?) हो गये हैं या प्रविष्ट हो गये हैं कि जिसके कारण उनके हृदयमें लीलानुभावनका मनोभाव तो जाग ही नहीं पाता है. अतएव तो नंगाईपर उतर कर पारिवारिक धंधेके रूपमें भगवत्सेवा और भगवत्कथा द्वारा अपने परिवारका पेट भरते हैं. दूसरे कुछ चालाक लोग जनसेवा या सम्प्रदायप्रचार के हेतु चंदा जुटानेके मुखौटे पहर कर भगवत्सेवाकी झांकी और भागवतसप्ताह आयोजित करते होते हैं! पुष्टिमार्गमें प्रविष्ट ऐसे प्रवाही जीवात्माओंकी कथा तो अलग है! हमें इनका विचार नहीं करना है हमें तो मूल आदर्शका ही विचार करना है.

अतः लीलाके प्रथम प्रकारमें परब्रह्म परमात्मा भगवान्के स्वरूपाद्वैतमें निगूढ अनन्तविध नाम-रूप-कर्मोंके लीलात्मक द्वैतोंकी रसानुभूति यदि शक्य हो और वही हेतु बनती हो तो लीलाके इस दूसरे प्रकारमें उस भगवल्लीलाकेलिये प्रकट हुवे पुष्टिजीवोंका प्रतिभाव या भक्तिरसानुभाव

है. अन्तमें ''ब्रह्म लटका करता है ब्रह्मके सामने'' का तथ्य कभी भूलना नहीं चाहिये. अतः लीलात्मक स्वातन्त्र्य होनेपर भी स्वरूपात्मक स्वातन्त्र्यकी कल्पना यहां भी शक्य नहीं.

[३]लीलाके तीसरे प्रकारतया भगवद्गीतामें वर्णित स्थितप्रज्ञता हमने गिनायी. मूलमें उसका सार इतना ही है कि **''विहाय कामान् यः सर्वान् पुमान् चरति निःस्पृहः निर्ममो निरहंकारः स शान्तिम् अधिगच्छति''** (भगवद्गीता : २।७१). अब थोड़ी धीरज रख कर यदि विचार करें तो समझनेमें लेशमात्र क्लेश नहीं होगा कि यदि सचमुचमें अहन्ता-ममतारहित चेतना विकसित हो पाये तो उसमें स्वातन्त्र्य जैसा कुछ भी बच कैसे जायेगा? क्योंकि यदि ''स्व=अहं'' समीकरण सच हो तो ''निरहंकार=निःस्व'' भी कबूल करना पड़ेगा. अब विचारो कि चेतनामें स्वका भास न होता हो तो स्वतन्त्रताका भास कैसे हो सकता है? तब प्रश्न उभरता है कि क्या स्थितप्रज्ञकी चेतना सुषुप्तोपम बन जाती होगी? नहीं! भगवान् स्वयं इसका रहस्य समझाते हैं **''एषा ब्राह्मी स्थितिः... स्थित्वा अस्याम् अन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणम् ऋच्छति''** (भगवद्गीता : २।७२). अब यह जो ब्राह्मी स्थिति हो तो क्या **''ये चैव सात्त्विकाः भावाः राजसाः तामसाः च ये मत्तएव इति तान् विद्धि...त्रिभिः गुणमयैः भावैः एभिः सर्वम् इदं जगत् मोहितं नाभिजानाति माम् एभ्यः परम् अव्ययं, दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया मामेव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एतां तरन्ति ते''** (भगवद्गीता : ७।१२-१४) यह भगवच्छरणागति, जिसके कारण भगवान् स्वयं त्रिगुणात्मिका मायासे पार पानेका आश्वासन देते हैं, वह क्या ब्राह्मी स्थितिके बिना सम्भव होगी? यह यदि शरणागतिकी साधनावस्थामें अशक्य लगता हो तो स्थितप्रज्ञके बारेमें भी तो भगवान् अन्तकालके उपरांत ब्रह्मनिर्वाणकी फलश्रुति प्रतिपादित कर रहे हैं. अतः बात वहीं कि वहीं खड़ी रहती है. अतः ब्राह्मी स्थिति साधनावस्था है और फलावस्थामें ब्रह्मनिर्वाण सिद्ध हो जाता है.

एतावता निष्कर्षरूपेण हम कह सकते हैं कि उस एक परमतत्त्वके ब्रह्म होनेके पक्षके अनुरूप ज्ञानमार्ग है जिसमें शरणागतिके स्थानपर स्थितप्रज्ञताका उपदेश दिया गया है. उसी ब्रह्मके भगवान् होनेके पक्षके अनुरूप स्थितप्रज्ञताके स्थानपर शरणागतिका उपदेश दिया गया है. आत्मभावस्थित भगवान् जिसे कर्मयोगानुरूपा बुद्धि देते हैं उसे कर्मरूपेण प्राप्त होना चाहते हैं या मिले होते हैं. जिसे ज्ञानयोगानुरूपा बुद्धि देते हैं उसे ज्ञेय ब्रह्मरूपेण प्राप्त होना चाहते हैं या मिले होते हैं. जिसे भक्तियोगानुरूपा बुद्धि देते हैं उसे भजनीय परमात्माके रूपमें प्राप्त होना चाहते हैं या मिले होते हैं. जिसे शरणागति प्रदान करना चाहते हैं उसके साथ किसी भी कर्म ज्ञान या भक्ति रूप साधन या साधना की अपेक्षा रखे बिना उसे प्राप्त होना चाहते हैं या मिले होते हैं. अतः भाष्यकार कहते हैं कि किसीको सुखी तो किसीको दुःखी बनानेवाले भगवान् अन्तमें इस सृष्टिका कभी प्रलय भी करते होने पर भी विषम या निष्ठुर नहीं माने जा सकते. लीलामें कर्मके अनुसार फलप्रदानकी व्यवस्था है. बाकी स्वरूपदृष्ट्या तो स्वयं अधिगृहीत अनेकविध रूपोंके साथ भगवान् निजानन्दका ही आस्वादन स्वयं ही कर रहे होते हैं. (अणुभाष्य : २।१।३०-३७).

इस तृतीय प्रकारको गौण कहनेका हेतु इतना ही है कि भक्तिके दो पहलु माने गये हैं : [१]माहात्म्यज्ञान और [२]सुदृढ-सर्वतोधिक स्नेह. परब्रह्म परमात्मा भगवान्के स्वरूपगत अद्वैत और लीलार्थ प्रकट नाम-रूप-कर्मोंके द्वैत इन दो पहलुओंके प्रति सकल एवं योग्य प्रतिभाव भक्तिके ये दोनों पहलु होते हैं. जबकि दोमेंसे एक पहलुकी बाकी करने पर या तो उस परमतत्त्वके स्वरूपके हेतु अथवा तो उसमें प्रकट होनेवाली लीलाके हेतु सांगोपांग प्रतिभावके स्थानपर आधा-अधूरा प्रतिभाव ही प्रकट होता है. वह ज्ञानमार्गीयको लीलाके आनन्दानुभवमें बाधक बनता है. उसी तरह कर्ममार्गीय या भक्तिमार्गीय साधकको वह उस परमतत्त्वके स्वरूपानन्दकी आनन्दानुभूतिमें बाधक बन जाता

है. इसी तरह शरणागतिमार्गीयको भगवत्स्वरूपके माहात्म्यके समक्ष केवल दैन्य प्रकट करनेमें सफल होता है पर स्नेह प्रकटानेमें सफल हो नहीं पाता. यों सांगोपांग प्रतिभाव प्रकट करनेमें सफल न होनेके कारण गौण कहा जाता है.

अतः जब तक भक्ति विकसित नहीं हो पाती तब तक भक्तिमार्गके अंगतया शरणागतिको एक अनुकल्पतया स्वीकारा गया है. किसी कारणवश जीव कर्म ज्ञान या भक्ति के हेतु अधिकारी न भी हो तो उन सभी उपायोंके विकल्परूपेण भी शरणागतिका मार्ग तो सर्वदा सहायक होता ही है.

उपसंहार :

अतः उपक्रममें यह जो कहा गया कि [१]''शुद्धाद्वैतवादके अनुसार शरणागतिके उपदेशमें निःसाधनताकी भावनाका उपदेश मनुष्यको अकर्मण्य बनाता लगता है''. उसके समाधानार्थ कहा जा सकता है कि शरणागतिके उपदेशद्वारा जिसके भीतर अकर्मण्य होनेका मनोभाव प्रबल होता हो उसके द्वारा भगवान् कोई कर्म कराना नहीं चाहते होंगे. अन्यथा तो भगवान् स्वयं कहते हैं ''**अथ चेत् त्वम् अहंकारात् न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि, यद् अहंकारम् आश्रित्य न योत्स्ये इति मन्यसे मिथ्या एष व्यवसायः ते प्रकृतिः त्वां नियोक्ष्यति, स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा कर्तुं नेच्छसि यद् मोहात् करिष्यसि अवशोऽपि तत्**'' (भगवद्गीता · १८।५८-५९).

दूसरी आशंका [२]''परमेश्वरको कर्ता-कारयिता और समग्र ब्रह्माण्डको लीलारूपेण प्रस्तुत करनेवाले इस सिद्धान्तके कारण जीवात्माको स्वयंके पुरुषार्थमें विश्वास खोनेका अवसर उपस्थित होगा ही'' ऐसे जो दरसाया गया उसके बारेमें वह जान रखना उपयुक्त होगा कि भगवान्ने अर्जुनको ''**मयैव एते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्!**'' — ''**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे अर्जुन तिष्ठति भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया**

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत'' (भगवद्गीता : ११।३३ — १८।६१-६२) कहा. इस उपदेशके अनुरूप भगवान्ने अपने विराट स्वरूपमें महाभारतकी लीलाका साक्षात्कार करा कर अपना कर्ता-कारयिता होना भी समझा दिया. तदुपरांत अर्जुनने अपने कर्तृत्वमें विश्वास खोनेके बजाय पूर्वापेक्षया उत्तम कोटीका विश्वास प्रकट करते हुवे ''**नष्टो मोहः स्मृतिः लब्धा त्वत्प्रसादाद् मया अच्युत! स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव**'' (भगवद्गीता : १८।७३) कहा. अतः लीलार्थ सृष्टिके सिद्धान्तको और भगवान्के कर्ता-कारयिता होनेके सिद्धान्तको श्रवण करनेका जो अधिकारी होगा उसका तो कभी स्वयंके पुरुषार्थमें विश्वास खोनेका प्रसंग नहीं आयेगा. जिसे आ सकता हो उसका अधिकार आसुरी जीव होनेका भगवान्ने निर्धारित किया ही है. अतएव इस विषयको भी भगवान्ने वहीं स्पष्ट कर रखा है कि ''**इदम् अद्य मया लब्धम् इमं प्राप्स्ये मनोरथम् इदम् अस्ति इदमपि पुनः भविष्यति पुनः धनं... सिद्धोऽहं बलवान् सुखी... यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये इति अज्ञानविमोहिताः**'' (भगवद्गीता : १६।१३-१५). अतः ऐसे आसुरी जीवोंके बारेमें भगवान्ने जो गति निर्धारित कर रखी हो उसमें ननु-नच हमें करनी नहीं चाहिये.

उसके बाद जो [३]''शुद्धाद्वैतवाद कृत कर्मोंके प्रति उत्तरदायित्वकी भावनाको खतम करनेवाली विचारधारा लगती है'' आक्षेप किया गया उस बारेमें यह जान लेना चाहिये कि शुद्धाद्वैतवाद ही एक ऐसा वाद है जो ''**अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयः तथा**'' — ''**भूतभावोद्भवकरो विसर्गः 'कर्म'संज्ञितः**'' (भगवद्गीता : ७।६ - ८।३) इन दोनों वचनोंकी एकवाक्यताके अनुरोधवश कर्मको भगवत्स्वरूप ही मानता है. अतः भगवल्लीलासे जैसे विरक्त नहीं हुवा जाता वैसे ही कर्मसे भी उदासीन हो नहीं सकता.

उसके बाद आता है [४]''कर्मके प्रति उत्तरदायित्वको गौण बनानेपर

तो कर्मके बारेमें सदसद्विवेक वापरनेकी शक्तिके प्रयोगकी प्रेरणा भी रुंध जायेगी'' इस आक्षेपके समाधानरूपेण जान रखना चाहिये कि कर्ताका त्रैविध्य भगवान्ने समझाया ही है तदर्न्तगत ''मुक्तसंगो अनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः सिद्धचसिद्धचोः निर्विकारः कर्ता सात्त्विकः उच्यते'' (भगवद्गीता : १८।२६) वचनके आधारपर कर्मके बारेमें लीलाभाव रखते हुवे जो कर्माचरणमें प्रवृत्त होता हो वही सात्त्विक माना जायेगा. दूसरे तो या तो राजस या तामस ही कर्ता माने जायेंगे. अतः कर्मके प्रति उत्तरदायित्वको तान कर कर्मकर्ताके भीतर राजस या तामस भावोंको उकसाना शुद्धाद्वैतवाद उचित नहीं मानता है. क्योंकि ''सर्वभूतेषु येन एकं भावम् अव्ययम् ईक्षते अविभक्तं विभक्तेषु तज् ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्'' आदर्शके अनुरूप शुद्धाद्वैतवादी कर्ता स्वयंके विभक्त कर्तृत्वमें उस परमात्माके अविभक्त कर्तृत्वको निहार पानेकी भगवदाज्ञासे बंधा हुवा रहेगा ही.

अतएव [५]''बोधस्वातन्त्र्य इच्छास्वातन्त्र्य और प्रयत्नस्वातन्त्र्य यदि जीवात्माके भीतर स्वीकारे न जाते हों तो धर्माधर्मका विभाग भी निभ नहीं पायेगा'' आक्षेपके बारेमें भी वाल्लभ दर्शनका सुस्पष्ट अभिप्राय यही है कि भगवान्ने ''बुद्धिः बुद्धिमताम् अस्मि... ये चैव सात्त्विकाः भावाः राजसाः तामसाः च ये मत्तएव इति तान् विद्धि'' (भगवद्गीता : ७।१०-१२) कह कर सभी बौद्धिक ऐच्छिक या कार्मिक भावोंके प्रवर्तक होनेके रूपमें स्वयंको बिरदाया है. अतः भगवान्से अपराधीन जीवात्माका बोधस्वातन्त्र्य इच्छास्वातन्त्र्य प्रयत्नस्वातन्त्र्य सम्भव नहीं. अतः शुद्धाद्वैतवाद-पुष्टिमार्गका सिद्धान्त तो भगवत्प्रदत्त दिव्यदृष्टिद्वारा कराये गये स्वयंके विराट् स्वरूपके तात्त्विक साक्षात्कारका शाब्दिक साक्षात्कार जैसा सिद्धान्त है. अतः निमित्तमात्र बननेमें पुष्टिमार्गीयको कभी क्षुद्र बन जानेकी पीड़ा नहीं सताती है.

सर्वान्तमें [६]''परिणामरूपेण पुष्टिसम्प्रदायके भी विधि-निषेध अन्तमें

अर्थहीन साबित होंगे'' यह विधान ऐतिहासिक मूल्यांकनके रूपमें हो तो कहना पड़ेगा कि आक्षेप यदि सच होता तो पुष्टिसम्प्रदाय पांच-पांच शताब्दीकी लंबी अवधिमें टिक नहीं पाता. जो भविष्यवाणीके रूपमें हो तो हालमें तो ऐसा कुछ दीख नहीं रहा है. तब व्यर्थ ही अनिष्टभावनाके उद्रेकवश आत्मपीड़नका औचित्य क्या? क्यों न भविष्यकी चिन्ता छोड़ कर हालमें तो पुष्टिमार्गको उसके सच्चे स्वरूपमें समझ लेनेके बाद ही कोई अपना अभिप्राय उसके बारेमें प्रकट करना चाहिये. पुष्टिमार्गके विधि-निषेधोंके प्रति आधुनिक पुष्टिमार्गीय निष्ठाहीन हो गये हैं ऐसे आरोप लगाना प्रयोजन हो तो सबसे पहले तो ऐसा आरोप कौन लगा रहा है? पुष्टिमार्गी या अपुष्टिमार्गी? जो पुष्टिमार्गी तो पुष्टिमार्गके सिद्धान्त उसे अप्रिय हो नहीं सकते. क्योंकि स्वयं महाप्रभुने इस बातका खुलासा दे रखा है—

> ''प्रवर्तक तो सर्वदा श्रीकृष्ण ही होते हैं विध्यर्थ नहीं. वे किस कर्मके द्वारा कैसा फल मिल सकता है ऐसा बोध उत्पन्न करके जीवात्माके कर्मप्रवर्तक बनते हैं'' — ''वेदोंमें निरूपित साधन और फल दोनों ही श्रीहरिके द्वारा लिये गये विविध रूप हैं. अतः भगवान् जिस साधन या जिस पुरुषार्थ के रूपमें जिस जीवात्माके भीतर प्रकट होते हैं तदनुसार अपना फलरूप भी वे उस जीवात्माकेलिये प्रकट कर देते हैं. साधनरूप और फलरूप यों उभयात्मक श्रीहरिका वेदोंमें निरूपण मिलता है. अतः तदनुसार भगवान्की अभिव्यक्ति होने पर सारे पुरुषार्थ सिद्ध होते माने जाते हैं, क्योंकि भगवान् ही सर्वपुरुषार्थरूप बने हैं.''
>
> (त.दी.नि.प्र.२।१७७ — १७)

अब यदि ऐसी आशंका प्रकट करनेवालेको अपुष्टिमार्गी मानें

तो कौनसे धर्म या सम्प्रदाय में उसके अनुगामी अपने-अपने धार्मिक सिद्धान्तोंको सम्पूर्ण सन्निष्ठासे अपना पाये हैं कि केवल पुष्टिमार्गके बारेमें विशेष चिन्ता करनेका प्रसंग खड़ा किया जा रहा है?

एतावता यह मुद्दा शुद्धाद्वैतवाद-पुष्टिमार्गके गम्भीर विचार किये बिना उपस्थापित किया लगता है. जो महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण और उनके आत्मज श्रीप्रभुचरण विरचित ग्रन्थोंका कोई गम्भीर अध्ययन करे तो ऐसे मुद्दे उपस्थित हो नहीं सकते.

बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु!

धर्मोंकी विविधता और विश्वमें शान्ति

उपक्रम :

हम सभी धर्मप्रेमी विश्वमें शान्ति तो चाहते हैं परन्तु ऐसी शान्ति तो कौन चाहेगा कि जिसे 'श्मशानशान्ति' कहा जाय! इसी तरह हम सभी अपनी-अपनी धर्मभावनाके तो प्रेमी होते ही हैं. परन्तु फिर भी हमारे धर्मसम्प्रदायसे इतर धर्मोंकी भावनाको टिकाये रखनेवाले, उसकी जीवनप्रणालीको घड़नेवाले उन-उन धर्मानुष्ठानोंके प्रति, क्यों हमारे भीतर आदर तथा सहिष्णुता के मनोभाव पनप या निभ नहीं पाते? जो धर्ममात्रके बारेमें स्वयं अश्रद्धालु हों उनसे तो ऐसी अपेक्षा रखनेकी बात नहीं कही जा सकती. परन्तु श्रद्धालुओंसे ऐसी अपेक्षा नहीं रखें तो किससे रखनी? अतएव मानवसमुदायको ऐसी सुविधा प्रदान करनेवाले स्वयं हमारे धर्मके अलावा अन्य धार्मिक केन्द्रोंके निर्बाध अस्तित्व तथा उनमें सम्पन्न होती गतिविधि को क्यों हृदयसे हम सह नहीं पाते हैं? धर्मको जीवनप्रणाली न मान कर केवल आस्थाप्रणाली माननेवालोंकी कथा तो दूसरी हो सकती है. परन्तु जो जीवनप्रणाली मानते हों उनके लिये यह समस्या आज अधिक विकट बनती जा रही है.

दूसरी ओर एक तथ्य यह भी विचारणीय लगता है कि यदि ये ही धर्मके केन्द्र, स्वधर्मके निर्वाहके स्थल होनेके बजाय एक-दूसरेके साथ प्रतिस्पर्धा तिरस्कार तथा पारस्परिक विद्वेष के प्रचार एवं प्रसार के केन्द्र बन जाते हों तब क्या करना?

यह ऐतिहासिक हकीकत है कि विभिन्न धर्मोंके केन्द्र ही मानवसमुदायके भीतर सुदूर भूतकालसे आपसी अशान्ति फैलानेवाले बनते पाये गये

हैं, इस तथ्यको भी छिपाया तो नहीं जा सकता है. तब क्या करना ?

अतः विश्वशान्ति और धर्मोंकी विविधता की बात चलते ही आज हमारा हृदय दुविधासे भर जाता है. क्या हमारी विश्वशान्तिकी चाहना शेखचिल्लीके खयाली पुलाव हैं? अथवा धर्मोंके मौलिक स्वभावके बारेमें हमारी समझ ही कहीं ग़लत तो नहीं?

कमसे कम विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय तो विश्वमें अशान्तिके हेतु न बनें, ऐसी हमारी महत्त्वाकांक्षा क्या सचमुचमें मरुमरीचिकासे तृषा शान्त करनेकी कोई हमारी मनोभ्रान्ति है! यदि हमारी ऐसी इस मनोग्रन्थिकी मानसचिकित्सा भी करा लेनेंको हम उद्यत हो जायें तो क्या यह स्वीकार कर लेना कि सभी धर्मोंके मिट जानेपर ही सच्ची शान्ति विश्वमें सम्भव होगी? सभी धर्मोंका मिट जाना उन-उन धर्मोंमें दृढ़तर आस्था रखनेवाले मानवसमुदायके मिटे बिना कैसे शक्य हो पायेगा? फलतः ऐसे पाशविक मनोभाव विश्वमें क्या श्मशानशान्तिके हेतु नहीं बन जायेंगे?

यदि हम ऐसा सोचते हों कि दूसरे धर्मके अनुगामिओंको अपने धर्मके अनुगामी बननेको प्रेरित करना ही हमारे स्वधर्मका सच्चा निर्वाह है. तो सिद्धान्ततः मान लो कि जिस दिन सारे मानव ऐसे किसी एक धर्मके अनुगामी बन भी गये, तो उस दिनसे वह धर्म स्वतः ही अनुष्ठेय नहीं रह जायेगा! और यों हमारे अवश्यकर्तव्यरूप धर्मके निर्वाहसे हमें वञ्चित होना पड़ेगा!

ऐसी स्थितिमें क्यों न आज ही ऐसे धार्मिक उन्मादसे हम अपने-आपको मुक्त कर लें? स्वयंके ऐसे इस कर्तव्यके अलावा भी कोई तो अन्य कर्तव्य धर्मतया नियत होंगे ही, उन्हें क्यों हम

प्रधानता देना नहीं चाहते? वस्तुतः तो क्या ऐसी स्वीकृति या ऐसी गतिविधि विश्वमें अशान्तिको ही और अधिक बढ़ानेकी हेतु नहीं बन जायेंगी? अतः स्पष्ट होता है कि ऐसी तो धारणा ही स्वतोव्याहत है.

यूनानी चिन्तक सुकरातके अनुसार मनुष्य एक बुद्धिमान पशु है "Man is a rational animal" अतः मानवजातिकी बुद्धिशीलताने ही तो कहीं उसे धर्मोन्मादी होनेका अभिशाप तो नहीं दे दिया है, क्या ऐसे स्वीकार लेना? अथवा मानवजातिकी धर्मशीलताने उसे बौद्धिक होनेका वरदान दिया है, ऐसे स्वीकारना? ईश्वरास्तित्वसे प्रतिबद्ध न होनेवाले विकासवादी विज्ञानके अनुसार तो पहले मानवजाति बुद्धिशील प्राणीके रूपमें विकसित हुई और तब उसमें धर्मभावना भी जागृत हुयी. परन्तु ईश्वरास्तित्वसे प्रतिबद्ध धर्मशास्त्रोंके अनुसार तो मनुष्य अपने धर्माधर्मका विवेक भलीभांति कर पाये, इसी प्रयोजनवश परमेश्वरने मानवको बुद्धिशील प्राणी बनाया है. अतएव हम देख सकते हैं कि परिभाषाके तौरपर "मनुष्य एक धार्मिक पशु है" = "Man is a religious animal" विधान भी उतना तर्कसंगत तो लगता है जितनी कि "Man is a rational animal" परिभाषा.

आज हमारी आवश्यकता परन्तु हमारी बौद्धिकता तथा धार्मिकता के इन दो विभागोंके बीच परस्पर समन्वित हो कर काम करनेवाले दो विभागोंवाली सुव्यवस्था घड़नेकी अधिक है. अर्थात् धार्मिक आस्थाका बुद्धिसंगत उपयोग एवं बौद्धिक सामर्थ्यका धर्मसंगत उपयोग करनेकी अधिक है. यह इस लिये और अधिक अनिवार्य प्रतीत होता है; क्योंकि यदि ऐसा नहीं मानते तो या तो हमारी बौद्धिकताके भीतर हमें अधार्मिकताके बीज खोजने पड़ेंगे, अथवा हमारी धार्मिकताके भीतर अबौद्धिकताके! जो मानव स्वभावतः धार्मिक भी है और बौद्धिक भी, उसे क्या ऐसी खोज *डॉक्टर् जेकिल् एंड मिस्टर् हाईड्* नहीं बना देगी? अतः मानवव्यक्तिके व्यक्तित्वमें इस तरहका अन्तर्निहित

द्वन्द्व पैदा न करना हो तो हमारी धार्मिकता तथा बौद्धिकता के समन्वित प्रयोग करनेकी तात्कालिक ही नहीं प्रत्युत ऐतिहासिक या शाश्वत आवश्यकता आज तीव्रतर हो गयी है.

डार्विनके *सर्वाइवल् ऑफ फिटेस्ट्* सिद्धान्तमें हम धर्मनिष्ठोंने ही जाने या अनजाने आस्था रख कर, विगत अनेक शताब्दिओंमें अपनी धर्मास्थाको फिटेस्ट् मान कर दूसरे धर्मोंको मिटा देनेके भरसक पुरुषार्थ एवं संघर्ष करके तो देख लिये! सुपरिणाम, किन्तु, कुछ मिला हो ऐसा तो नहीं कहा जा सकता है. हम भलीभांति जानते हैं कि न तो आज तक किसी भी एक धर्मकी ऐसी उन्नति हो पायी कि उसके अलावा अन्य धर्मोंको लोग भूल पायें. और न ऐसी सर्वातिशायिता ही किसी भी एक धर्मकी स्वीकार्य हो पायी कि कोई एक ही धर्म, भविष्यमें, मानवजातिका एकमात्र बुद्धि हृदय एवं व्यवहार को सन्तुलित रखनेवाला धर्म मानने लायक घोषित किया जा सके.

परधर्मसहिष्णुताको स्वीकारनेके धार्मिक हेतु :

हम भलीभांति जानते हैं कि जितना शाश्वत शुभ परमेश्वर है उतना ही शाश्वत अशुभ 'शैतान' कहो, 'मिथ्यादृष्टि' कहो, 'मायाविद्या' कहो; अथवा 'निषिद्ध पापाचरण' कहो, वह भी है ही.

स्वयं परमेश्वर ही इस सृष्टिमें शैतानके अस्तित्वकी कुछ उपयोगिता स्वीकारता न होता तो सर्वज्ञ-सर्वसमर्थके लिये उसे खतम कर देनेके उपाय न खोज पाना हमारे समझमें न आनेवाली बात है! पराये धर्मको अधिकाधिक शैतानी प्रेरणाका परिपाक मान सकते हैं. परन्तु वह शैतान स्वयं यदि परमेश्वरकी कृति हो और परमेश्वरकी अनुज्ञा या उपेक्षा के वश सृष्टिमें कार्यरत हो तो भी परधर्मके सर्वाइवल्में परमेश्वरके शुभसंकल्प शुभप्रेरणा अथवा शुभ-अनुज्ञा तो स्वीकारनी पड़ेगी.

क्योंकि परमेश्वर कुछ भी अशुभ तो सोच नहीं सकता और न होने दे सकता है!

इसी तरह किसी भी दृष्टिका मिथ्या होना उस दृष्टिके बौद्धिक विश्लेषणको सह न पानेके कारण ही तो माना जाता है. परन्तु आज तक ऐसा कोई भी बौद्धिक विश्लेषण मानव समुदायमें प्रकट नहीं हो पाया है कि जो सभीके लिये बुद्धिग्राह्य बन पाये! परधर्मको मिथ्यादृष्टि माननेवाले धर्म-सम्प्रदायोंमें भी बहुधा आन्तरिक मतभेदवाली मिथ्यादृष्टिका एक-दूसरेपर आरोपण विश्वधर्मके इतिहासमें अनवगत कथा नहीं है.

इसी तरह मायिक अज्ञानकी निवृत्तिके बारेमें धार्मिक हठाग्रही उपदेशकोंके मतमें भी शुद्ध ब्रह्मचैतन्य भी यदि मायाविद्याका अधिष्ठान और प्रकाशक न होता तो उस ब्रह्मके केवलाद्वैतमें मायाविद्याका अस्तित्व ही भासित कैसे हो पाता? अतः इस माया या अविद्या रूपी शैतानका निर्वाहक पुनः परमेश्वरस्थानीय शुद्ध ब्रह्मचैतन्य ही सिद्ध होता है.

धर्मशास्त्रोंद्वारा निषिद्ध कर्तव्य 'पाप' कहलाते हैं परन्तु 'पुण्य' किसे कहना और 'पाप' किसे कहना इस विषयमें यदि सभी धर्म एकमत होते तो धर्मसम्प्रदायोंके बीच विवाद या कलह की कोई आवश्यकता ही नहीं उठ पाती!

''कृण्वन्तो विश्वम् आर्यम्'' का वैदिक आदर्श या आदेश भी यदि अपने अलावा अन्य मानवसमुदायको अनार्य मान कर आर्य बनानेकी दुर्दान्त अहंकार भरी मनोवृत्तिसे ग्रस्त हो तो प्रत्येक संवेदनशील मानव पूछना चाहेगा कि अनार्य बने रहनेमें क्या आपत्ति हो सकती है?

हमारे पौराणिक शिव दुर्गा गणपति कार्तिकेय हनुमान राम विष्णु

या कृष्ण के एकमात्र कल्याणकारी, या एकमात्र विघ्नहारी, या एकमात्र सर्वव्यापी; अथवा एकमात्र मानवीय आदर्शके मूर्तिमान अथवा बहुआयामी देवाधिदेव (Multidimensional divinity) स्वरूप होना, प्रचारमाध्यमोंके प्रचुर उपयोगके बाद, भी विश्वमें सभीको मान्य हो पाता हो ऐसे लक्षण तो दिखलायी नहीं देते हैं.

यद्यपि केवलाद्वैत वेदान्तने मायाविद्याको अनादिसान्त मान कर उसे अर्धशाश्वत बनानेका एक रोचक उपाय प्रस्तुत किया है. फिर भी यह सान्तता मायाविद्याके स्वरूपापेक्षया न हो कर मुमुक्षु ब्रह्मज्ञानी व्यक्तिकी वैयक्तिक अपेक्षाका ही अनुसरण करती है. अतः स्वयंको ब्रह्मज्ञानद्वारा मुक्त बना लेनेवाले समर्थ ब्रह्मज्ञानी भी विश्वमें अशान्तिकी जड़ मायाविद्याका वैश्विक सन्दर्भमें निवारणकी सोच नहीं पाता.

मानवीय धर्मचेतनाकी ऐसी दुरवस्था इस तथ्यकी साक्षी है कि तथागत बुद्ध भगवान्के सर्वदृष्टिप्रहाणार्थ दिये गये **''सर्वं शून्यम्''** उपदेशका भी स्वयंको सर्वदृष्टिओंसे ऊपर उठानेके बजाय हमने अपने अलावा अन्य सभी दृष्टियां कैसे मिथ्यादृष्टि हैं, इसी उलझन और टकराव में अपने-आपको भरसक फंसाये रखनेमें अधिक उपयोग किया है.

सर्वदृष्टिओंके अप्रहाणार्थ भगवान् महावीरके अनैकान्तिकवादसे अनुप्रेरित हो कर भी हमने स्याद्वादके अंगभूत न हों ऐसे अस्वकीय नयोंको अप्रमाणिक ही मान कर शान्तिस्थापनाके प्रयासोंमें पुनः अशान्त कलहोंकी ही बढ़ोत्तरी की है. वाद-प्रतिवादोंकी कड़ीको लम्बी बनानेको एक वादान्तरकी और बढ़ोत्तरी की है. फलतः सर्वदृष्टिओंपर अनुगृह हो नहीं पाया.

न ईसाइयतके धर्मयुद्ध और न इन्क्वीज़िशन् और न दीन-दुःखिजनोंकी शिक्षा-चिकित्सा आदिके जनसेवाके श्लाघ्यतम पुरुषार्थ ही जगत्में सभीको

आज तक ईसाई बना पाये.

इसी तरह न तलवारके बलपर और न श्लाघ्यतम सूफी सन्तोंकी प्रेमभावनाके प्रचारके बलपर ही आजकी तारीख तक तो समग्र जगत्को मुसल्मान बनाया जा सका है.

अतः परस्पर प्रतिस्पर्धा अविश्वास तथा असहिष्णुता के मनोभावोंपर कथञ्चित् काबू पाना आजकी सबसे बड़ी आवश्यकता है : परधर्मके प्रति अपने सहिष्णु बर्तावको एक धार्मिक व्रतके रूपमें स्वीकारना आज मानवसमुदायके परमधर्मतया हमें स्वीकृत होना चाहिये. 'सहिष्णुता' का अर्थ यह नहीं कि किसी एक धर्म-संप्रदायके अनुसार जो धारणा या कर्तव्य अनुसरणीय न हो उसे भी अपना लेना. परन्तु अन्य कोई व्यक्ति या समुदाय अपने धर्मके आदर्शोंसे विपरीत भी कोई धारणा या कर्तव्य निभाना चाहता हो तो उसे रोकना-टोकना या उन्हें छोड़ देनेको किसीको बरगलाना नहीं चाहिये. बशर्ते, वह धारणा या कर्तव्य अन्य धर्मसमुदायको अभीष्ट धारणा एवं कर्तव्य को नष्ट करनेका कोई षडयन्त्र न हो तो!

परधर्मसहिष्णु होनेमें बुराई क्या है? :

यदि यह हम नहीं स्वीकारते तो सोचनेको बाधित होना पड़ता है कि आखिर कब तक विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय आपसी प्रतिस्पर्धा अथवा केवल अपने धर्मको ही एकमात्र विश्वधर्म मानने और मनवानेके निरर्थक भ्रम आत्मसम्मोह या आयासोंमें अपने-आपको उलझाये रखेंगे?

विश्वमें जनमनेवाले किसी भी व्यक्तिके लिये अनुसरणीय धर्म होनेके अर्थमें तो कोई भी धर्म-सम्प्रदाय विश्वधर्म हो सकता है. परन्तु विश्वमें जनमनेवाला प्रत्येक व्यक्ति जिसे अनुसर पायें ऐसे विश्वधर्म होनेके अर्थमें तो मुझे नहीं लगता कि अद्यावधि प्रकट किसी भी

धर्मका दावा यथार्थ सिद्ध हो पायेगा!

अतः क्यों न सभी धर्म-सम्प्रदाय प्रचार-प्रसारवादी बननेके बजाय स्वस्वधर्मानुष्ठानमें तत्पर रह कर अपने-अपने अनुगामिओंको स्वधर्माभिप्रेत दिशामें अधिकाधिक अग्रसर बनानेके किसी नूतन पुरुषार्थका शुभारम्भ करें! ऐसा करनेमें किसी भी धर्म-सम्प्रदायको कोई हानि पहोंच सकती नहीं और धर्म-सम्प्रदायोंके कारण विश्वमें आये दिन बढ़ते विवाद या कलह से पैदा होनेवाली अशान्तिको दूर किया जा सकेगा.

परधर्मसहिष्णु बननेसे लाभ क्या होगा?:

विभिन्न धर्म-सम्प्रदायोंके बीच आपसी छीना-झपटी नहीं रह जायेगी तो अवश्य आपसी प्रतिस्पर्धा कम हो जायेगी. आपसी प्रतिस्पर्धा कम होनेके परिणामतया आपसी विश्वास भी अवश्य ही पनप पायेगा. अन्तमें वह आपसी विश्वास आपसी सद्भाव और सौहार्द में क्यों खिल नहीं पायेगा! अन्तर्धार्मिक विवाहके जो भी कुछ लाभालाभ समाजशास्त्री दिखलाते हों मैं बहोत समर्थक न होनेपर भी एक शुभलक्षण इसमें इतना अवश्य मानता हूं कि हम धर्मसंकीर्णताकी मनोवृत्तिवाले प्रौढ पीढीकी तुलनामें क्षीणतर धर्मनिष्ठावाली युवापीढी एक-दूसरेके प्रति विश्वास तो प्रकट कर पाती है! उचित होता कि अपने-अपने धर्म-सम्प्रदायके प्रति दृढ़ प्रतिबद्धता रखते हुवे हम इन नवयुवक-नवयुवतिओंके जैसा पारस्परिक विश्वास जगा पाते! अतः स्पष्ट होता है कि विश्वशान्तिके हेतु आपसी सद्भाव और सौहार्द के अभिवृद्धचर्थ आपसी छीना-झपटी बन्द होनी चाहिये.

सभी धर्म-सम्प्रदायोंमें धर्मोपदेशकोंने त्यागी विरक्त सन्त महापुरुष होनेके तथा स्वधर्मके प्रचार-प्रसारके हेतु ममतास्पद भौतिक सुखसुविधाओंके त्यागके उच्चतर आदर्श जनतामें निश्चय ही स्थापित किये ही हैं. परन्तु आज उस अहन्ताके त्यागकी आवश्यकता अधिक है जो अहन्ता

हमें हमारे अलावा सभीको हमारे अपने धर्मका अनुगामी बनानेके विविध उपायोंको अपनानेको हमें उकसाती रहती है!

धर्मोंकी विविधता इस सृष्टिका सच्चा सौन्दर्य है!:

मैं नहीं मानता कि सभी धर्मोंको या किसी भी एक धर्मको हठात् दूसरे किसी धर्मके साथ मिल जाना चाहिये अथवा सभी धर्मोंके अनुगामिओंको सभी धर्मोंके केन्द्रोंमें नॉन्-कम्मिटेड् टुरीस्ट्स् अर्थात् अप्रतिबद्ध सैलानीकी तरह लटार लगानी चाहिये.

क्योंकि यदि किसी उद्यानके भीतर वृक्षों एवं पुष्पों की विविधता विवाद या कलह का हेतु नहीं बनती. यदि किसी खेत या खलिहान में खाद्यान्नों तथा खाद्यफलों की विविधता विवाद या कलह का हेतु नहीं बनती. यदि किसी होटल-रेस्टोरेंटमें खाद्यसामग्रीकी विविधता जब विवाद या कलह का हेतु नहीं बनती तो फिर क्या कारण है कि मानवजातिमें परमेश्वर और धर्म की संकल्पनाओंकी विविधताको हमने इतने विवाद, इतने कलह; और इतनी अशान्ति का हेतु बना रखा है? किसीको गुलाबकी सुगन्ध भाती हो तो क्या कोई चमेलीवादी बन कर या मोगरावादी बन कर उसके साथ प्रतिस्पर्धा की सोच पाता है! और किसीके चमेलीवादी या मोगरावादी बन जानेपर क्या गुलाबकी न्यूनता या अवहेलना का मनोभाव कभी-किसीके मनमें उभरता है क्या?

फिरभी विवाद और कलह तब बढ़ जाते हैं जब कोई चमेलीवादी बन कर या मोगरावादी बन कर गुलाबके उद्यानोंको उजाड़ देनेके मनोरथ प्रतिज्ञा या योजना चुपचाप या चौड़ेधाड़े घड़ना चाहता है. अथवा गुलाबप्रेमिओंको अपनी चमेलीवादी या मोगरावादी क्षुद्र मानसिक रुग्णताके वश कोई गुलाब पुष्पकी चाहना छुड़वा कर चमेली या मोगरे का चाहक बनाना चाहता है. बस वहांसे विवाद और परस्पर

अविश्वास बढ़ने लग जाता है. न किसीको ब्रेड या बिस्किट खाते देख कर पूरी या लड्डु खानेके शोखीनको अपने प्रिय भोज्य पदार्थकी न्यूनता या अवहेलना लगती है और न इसमें किसी तरह प्रतिस्पर्धाका भाव ही किसी मनुष्यके भीतर जगता है.

धर्मोंकी विविधता कलहका हेतु नहीं परन्तु एकाधिकारिताकी मनोग्रन्थिमें ही सारे कलहके बीज रहते हैं :

अतः सिद्ध होता है कि धर्मोंकी विविधता कलहका हेतु नहीं परन्तु केवल अपने ही धर्मको सबके उद्धारका एकमात्र उपाय मानना कलहका बीज बनता है. जब अन्य समुदाय ऐसी महत्ता किसी एक धर्मकी स्वीकार न पाये तब अपने धर्मग्रन्थ धर्मप्रवर्तक तथा अपने परमेश्वरके स्वरूपकी अवहेलना मानना ही विश्वमें धार्मिक अशान्ति और कलह का मूल हेतु सिद्ध हुवा है.

विश्वोद्धारके एकाधिकारी होनेकी मनोग्रन्थिपर काबू कैसे पाया जा सकता है ? :

अतः इस दुविधाको मिटाना हो तो सभी धर्मोंके निष्ठाशील अनुगामिओं एवं प्रचारकों के लिये एक उपयोगी उपाय यह उचित लगता है कि सभी धर्म-सम्प्रदाय यदि ईश्वरवादी हों तो अपने-अपने परमेश्वरके स्वरूपके अनुसन्धानमें तत्पर बनें. अथवा अनीश्वरवादी हों तो उनको अभिमत सृष्टिके संचालक शाश्वत नियमोंके अनुसन्धानमें तत्पर बनें. विश्वशान्तिके हेतु पुनः इनका स्वरूपानुसन्धान करें तथा उस स्वरूपके प्रति अपनी आस्थाको स्वयं दृढ़ताके साथ निभायें. यों अन्यान्य धर्मोंके अनुसरण करनेवाले मानवसमुदायके उद्धारकी चिन्ताका अन्तमें त्याग कर दें.

परधर्मानुयाईओंके उद्धारकी चिन्ताको त्याग देनेके कतिपय हेतु :

(१)मौलिक नियामककी एकता : विश्वधर्म होनेके दावेदार प्रायः

सभी धर्म, यदि ईश्वरवादी होते हैं तो, उस परमेश्वरकी एकता उन सभी धर्मोंकी आधारभूत धारणा स्वीकारी हुयी दिखलाई देती है. जो धर्म ईश्वरवादी नहीं वे भी अपने-अपने धर्मसम्प्रदायको अभिप्रेत विश्वनियामक शाश्वत धर्मनियमकी एकतामें तो विश्वास रखते ही हैं. ऐसी स्थितिमें विश्वकर्ता और/अथवा विश्वनियम के एक होनेपर प्रत्येक धर्ममें आस्था रखनेवालेका यह कर्तव्य हो जाता है कि विश्वमें सभी व्यक्तिओंको उस परमेश्वरके सत्य एवं शुभ संकल्पके अनुसार; अथवा उन सत्य एवं शुभ नियमके अनुसार, प्रेरित तथा शासित मानें. क्योंकि यदि कोई एक ही परमेश्वर या एक ही धर्म सबका एकमात्र नियामक हो तो; और, वह अशुभशक्ति न हो कर सर्वथा सर्वज्ञ सर्वशक्ति सर्वशुभ हो तो किसका कब किस धर्मोपायसे उद्धार करना यह उसके संकल्प और सामर्थ्य अथवा ऐसे नियम के भरोसे चलनेवाली बात होनी चाहिये. व्यर्थमें अन्यधर्मोंको अनुसरनेवालोंकी चिन्ता किसी एक धर्मको अनुसरनेवाले असर्वज्ञ असमर्थ मानवको क्यों करनी चाहिये? अपने धर्मग्रन्थके अनुसार अन्य कोई धर्म अधर्मकी तरह लगता भी हो तो भी. सभी सभ्य समाजमें सामाजिक अपराधकर्ताको दण्ड जैसे न्यायालय ही देता है नागरिक नहीं, उसी तरह धार्मिक समाजमें दण्डदाता होनेका एकाधिकारी परमेश्वरको ही मानना चाहिये. कानूनको उस परमेश्वरके हाथमेंसे छीनना भी एक अनीश्वरवादिताका लक्षण माना जाना चाहिये. अर्थात् परमेश्वरकी न्यायिताके भरोसे एक-दूसरेको छोड़ देना चाहिये. बजाय के उस परमेश्वरके अधिकारको अपने हाथमें छीन लेनेके. यदि हम धर्मप्रेमी इतना भी संयम नहीं निभा पाते तो उसकी एकतामें, उसकी सर्वज्ञतामें, उसकी सर्वशक्तिमत्ता और न्यायपूर्णता में स्वयं हमने ही आस्था खो दी ऐसा माननेको बाधित होना पड़ता है. एतदर्थ हम देख सकते हैं परमेश्वरकी एकता कैसे विभिन्न धर्मोंके लिये आधारभूत धारणा रही है.

यद्यपि हिन्दुओंको आरम्भमें एकेश्वरवादिओंने बहुदेववादी मान

लिया था! वस्तुतः तो हिन्दुओंके देवोंकी बहुलता उनके ब्रह्मकी एकमेवाद्वितीयताके अन्तर्गत ही स्वीकारी गयी धारणा है. जैसे एकेश्वरवादिओंमें अनेक सन्तोंका स्वीकार एकेश्वरवादके त्यागका प्रमाण नहीं माना जा सकता ठीक वैसे ही. ऐसे ही हिन्दुओंमें देवगणोंकी अनेकता भी उनके एकमेवाद्वितीय ब्रह्मके एकत्वको भूल कर मान्य नहीं रखी गयी है. इसे हम इन श्रुतिवचनोंमें सुस्पष्टतया देख सकते हैं :—

१. हिन्दुधर्म :

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा यो देवानां नामधा एकएव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या.

(ऋक्संहिता : १०।८२।३)

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च.

(श्वेताश्वतरोपनिषद् : ६।११)

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ - कति देवाः? याज्ञवल्क्य! इति. सह एतयैव निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविदि उच्यन्ते. त्रयः च, त्री च शतात्रयः च, त्री च सहस्रा इति. ओम् इति होवाच.

कत्येव देवाः? याज्ञवल्क्य! इति. त्रयस्त्रिंशद् इति. ओम् इति होवाच. कत्येव देवाः? याज्ञवल्क्य! इति. षड् इति. ओम् इति होवाच. कत्येव देवाः? याज्ञवल्क्य! इति. त्रयः इति. ओम् इति होवाच. कत्येव देवाः? याज्ञवल्क्य! इति. द्वौ इति. ओम् इति होवाच. कत्येव देवाः? याज्ञवल्क्य! इति. अर्धः इति. ओम् इति होवाच. कत्येव देवाः? याज्ञवल्क्य! इति. एकः इति. ओम् इति होवाच... सहोवाच महिमानएव एषाम् एते देवाः.

(बृहदारण्यकोपनिषद् : ३।९।२)

स यथा ऊर्णनाभिः तन्तुना उच्चरेद् यथा अग्नेः क्षुद्राः

विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेव अस्माद् आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति. तस्य उपनिषत् सत्यस्य सत्यम् इति प्राणाः वै सत्यं तेषाम् एष सत्यम्.

(बृहदारण्यकोपनिषद् : २।१।२०)

उपनिषदोंके जैसा सर्वोपादान सर्वनियामक सर्वात्मक तत्त्व बौद्ध धर्ममें मान्य नहीं है. फिर भी मौलिक रूपमें जगत्को शून्य मानना और उस शून्यको अ-नाना मानना सभी भेदोंके भीतर भरी हुयी किसी मौलिक एकताका स्वीकार तो है ही. यथा—

२.बौद्धधर्म :

अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैः अप्रपञ्चितम्
अविकल्पम् अनानार्थम् एतत् तत्त्वस्य लक्षणम्.

(मध्यमकशास्त्रम् : १८।९)

अतएव लंकावतारसूत्रमें तो यहां तक निरूपण किया गया है कि ऐसे शून्यमें आभासित होते रूपों और नामों को भुला कर देखनेका प्रयास करनेपर सारे भेदग्राही प्रत्यय विलुप्त हो जाते हैं. रूपनामरहित तत्त्वकी अनुभूतिमें वस्तुतत्त्वके बारेमें किसी भी तरहके विकल्पका विधान शक्य नहीं रह जाता है. इसे ही वस्तुतत्त्वकी 'तथता' कहा जाता है. यह सर्वसामान्य अविभक्त अविवेच्य तथता ही परम सत्य है. किन्तु इसे ही 'सत्य' 'विज्ञान' 'लोकातीतप्रज्ञा' 'विवेकपरिपाक' आदि कहा जाता है. यह निराकार संविद् ही परम सत्यका चरमस्वरूप है जिसे सभी बुद्धोंने धर्म घोषित किया है. जब इसके अनुसार सारी तथ्योंको समझनेका उद्यम होता है तब कोई पारमार्थिक ज्ञानसे सम्पन्न हो पाता है (द्र.लंकावतारसूत्रम् : ८३). जब जगत्के प्रति हम ऐसी शून्यदृष्टिकी महत्ता स्वीकार सकते .हों

तो कारण क्या कि ऐसे जगत्के अन्तर्गत प्रकटे धर्मसम्प्रदायोंके बारेमें उसी शून्यदृष्टिकी महत्ता न मानें! इस सन्दर्भमें शून्यदृष्टिकी उपादेयताको कैसे इन्कारा जा सकता है? पारमार्थिक शून्यतामें ही धर्मसम्प्रदायोंके रूपनामात्मक प्रभेद भी स्वीकारनेपर इन प्रभेदोंमें रही आधारभूत शून्यैकताका इन्कार भी शक्य नहीं.

इस तरह देखनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध धर्मके अनुसार जब सारे जागतिक भेदोंके पीछे वास्तविकता शून्याद्वयकी हो तो धर्म-सम्प्रदायोंके विभेदके पीछे भी वही शून्याद्वय स्वीकार लेनेमें कोई आपत्तिजनक कथा होनी नहीं चाहिये. यही तथ्य यहुदी धर्मके भी ईश्वरसम्बन्धी विधानोंके आधारपर कहा जा सकता है.

३.यहुदीधर्म :

> परमेश्वरने इसरायल्से कहा, ''क्योंकि तुमने मुझे अनेकानेक रूपोंमें देखा है इसलिये ऐसे मत मान लेना कि परमेश्वर अनेक होते हैं. परमेश्वर तो सदा एक ही होता है. मैं ही एकाकी तुम्हारा परमेश्वर हूं''. रबाइ लेवीने कहा, ''परमेश्वर एक दर्पणकी तरह उनके सामने प्रकट हुवा कि जिसमें अनेक मुख प्रतिबिम्बित हो जाते हैं; हजारों लोग उसे देख सकते हैं और अपना प्रतिबिम्ब निहार सकते हैं.'' अतएव परमेश्वर जब इसरायलिओंसे बात करने लगा तो प्रत्येकको ऐसी प्रतीति हुयी कि परमेश्वर व्यक्तिशः उसीके साथ बात कर रहा था.
>
> (पेस्तिका कहाना १०९बी-१०ए)

अधिक दूर जाना सर्वथा अनावश्यक है केवल इस दिव्य रहस्यको हम हृदयसे स्वीकार पायें कि प्रत्येक धर्मसंस्थापकों हुई परमेश्वरकी

दिव्यानुभूतिमें परमेश्वरने यह अपनी परमप्रेमपूर्ण कृपालुता प्रकट की ही थी कि सभी धर्म ऐसा समझ पायें कि परमेश्वर केवल उस धर्मके स्थापक और उसके अनुगामिओंके लिये ही विशेषतः अनुग्रहशील है. जब तक एकदूसरेके धर्मग्रन्थोंको देख पानेकी सुविधा उपलब्ध नहीं थी तब यह परमेश्वरकी अनुग्रहशीलताका लाभ किसी एक धर्मका एकाधिकार *मोनोपोली* मानना एक बालसुलभ भोलापन हो सकता था. और ऐसे इस भोलेपनके कारण हुवे धार्मिक कलह भी बालकलहकी तरह क्षम्य माने जा सकते हैं. आज परन्तु जब हम एक-दूसरेके धर्मग्रन्थोंको देख पाते हैं, उन्हें सच्चे सन्दर्भमें समझ पाते हैं, तब भी केवल अपने ही धर्मको परमेश्वरकी कृपाका एकाधिकारी मानना हमारी आध्यात्मिक रहस्योंको भलीभांति न समझ पानेकी मूढ़ता ही लगती है. अतएव ईसाई धर्ममें भी यह परमेश्वरकी एकता उतने ही भारपूर्वक स्वीकारी गयी है. यथा—

४.ईसाईधर्म :

> मैं तुम्हारा परमेश्वर हूं और मेरे सिवा दूसरा कोई है नहीं. मेरे सिवा दूसरा कोई परमेश्वर है ही नहीं.
>
> (ईसाइआ : ४५.५).

परमेश्वरका ऐसे कहना कि "मैं तुम्हारा परमेश्वर हूं" यदि सिर्फ सेमेटिक जातिके लिये होता तो स्वीकारना पड़ेगा कि अन्य नॉन-सेमेटिक जातिके लिये वह परमेश्वर नहीं होता. तब तो परमेश्वर होना कोई चाचा या ताउ जैसे इतरेतरसापेक्ष सम्बन्धकी कथा सिद्ध होगी. परमेश्वरके निरपेक्ष स्वरूपकी नहीं. बायबल् परन्तु ऐसे सापेक्ष सम्बन्धके अर्थमें उसे परमेश्वर नहीं मानती अपितु "मेरे सिवा दूसरा कोई परमेश्वर नहीं है" विधानद्वारा उसका निरपेक्ष स्वरूप ही परमेश्वर होनेका निरूपित करती है. तब तो सिद्ध हो गया कि वह सभीके लिये परमेश्वर है. ऐसी स्थितिमें सेमेटिकोंको लगे कि वह उनका परमेश्वर है. हेमेटिकोंको

लगे कि उनका है. इसी तरह अन्य भी विश्वकी नीग्रो, रेड इंडियन्स्, मंगोलियन या भारतीय आदि सभी मानवजातियोंको लगे कि परमेश्वर केवल उनपर ही कृपाशील है. तो इसे स्पर्धा या ईर्ष्या का हेतु न बना कर परमेश्वरके प्राणिमात्रपर अनुग्रहशील होनेके आश्वासनके रूपमें स्वीकार लेना ही वास्तविक आध्यात्मिक सूझबूझ कहालायेगी.

५.<u>इस्लाम</u> :

कुल् हुवल्लाहु अहदुन्, अल्लाहुस्समदु, लम् यलिद्,
व लम् यूलद्, व लम् यकुल्लहु कुफुवन् अहदुन्.
(कुर्आन-शरीफ,सूरतुल् इख्लासि : ११२)

अर्थात् ''कहो कि अल्लाह एक है. अन्याधाररहित अल्लाह ही सबका आधार है. न वह किसीकी औलाद है और न उसकी कोई औलाद होती है. और न कोई उसके समान ही हो सकता है.'' ये कुर्आन शरीफका विधान भी यद्यपि ईसाईओंके होली फादर और होली सन् के द्वैतवादी सिद्धान्तके विरुद्ध जाती बात लगती है. परन्तु कुर्आन शरीफमें यह स्पष्टतया स्वीकारा गया है कि ''य्युअ्तिल्-हिक्मत मैंयशाउ'' (कु.श.सूरतुल् बक़रः : ३।२६९) अर्थात् ''वह जिसको चाहता है उसे ही समझ देता है.'' तो या तो उसे पक्षपाती मानना पड़ेगा कि किसीको सच्ची समझ देता है और किसीको खोटी. अथवा फिर वही एक अल्लाह सबको एकजैसी समझ नहीं देता हो तो. जैसी समझ वह जिसे देता है उसी समझको अनुसरना उसकेलिये धर्म होना चाहिये. चाहे अन्योंको उसने वैसी समझ न भी दी हो तब भी अपनेको दी हुयी समझके अनुसार बरतना ही उसकेलिये धर्म हो पायेगा! अन्यथा उस एकमेव अद्वितीयकी इच्छाके विपरीत भी किसीको चलता माननेपर, या तो उसकी सामर्थ्यमें किसी तरहकी न्यूनता सिद्ध होगी; अथवा उसकी इच्छाके विपरीत चलनेका अपराधी बनना पड़ेगा. अतएव कुर्आन-शरीफमें यह बयान भी फर्माया गया

है, ''हमने (समय-समयपर) तुममेंसे हर एक (फिर्के)के लिये एक शरीयत और तरीकः दिया और अगर अल्लाह चाहता तो तुम सबको एक ही दीन पर कर देता. लेकिन (अलग-अलग शरीयत और तरीकः देनेमें) यह मक़सद रहा है कि (समय-समय पर) जो हुक्म तुमको दिये जाते रहे हैं उन (ही)में तुमको आज़माये. सो (ईमानवालो) तुम नेक कामोंकी तरफ एकदूसरेसे आगे बढ़नेकी कोशिश करो'' (कु.श.सूरतुल् माइदः : ५।४८). अतएव यहीं अल्लाहने जो एक आज्ञा मुसल्मानोंको दी है, ''या ऐयुहल्लजीन आमनू ला तत्तखिजुल्-यहूद वन्नसारा औलियाअ'' (कु.श.सूरतुल्माइदः : ५।५१) अर्थात् मुसल्मानोंको यहुदी और ईसाईओंके साथ कभी दोस्ती नहीं रखनी चाहिये. इस आज्ञाका भी मूल तात्पर्य उनके धर्मोंको नष्ट करनेमें न हो कर उन्हें जिस तरहसे धर्माज्ञा दी गयी हैं उन आज्ञाओंसे स्वयंकी धर्मनिष्ठाको मुसल्मान कहीं शिथिल न बना लें इतने ही अभिप्रायके अनुसार लेनी चाहिये. क्योंकि कुरानेपाकमें अल्लाह त्आालाने यह भी फर्माया है, ''वल्लाहु ला युहिब्बुल मुफ़्सिदीन'' (वहीं : ५।६४) अर्थात् अल्लाह फसाद फैलानेवालोंको दोस्त नहीं रहने देता. अतः धर्मके नामपर फसाद फैलाना अल्लाहको भी पसन्द नहीं है, यह तो सिद्ध होता ही है.

एतावता सिद्ध हुवा कि इन सभी धर्मोमें परमेश्वर एक ही होता है दूसरा कोई परमेश्वर तो हो नहीं सकता. सो अब उसे 'ब्रह्म' 'शून्य' 'यहोबा' 'होलीफादर' या 'अल्लाह' जो चाहो नाम दे दो ये सारे नामभेद ही हो सकते हैं तत्त्वभेद तो नहीं. यदि इतनी बात समझमें आये तो दूसरे धर्मोंकि परमेश्वरके प्रति आशंकित या आतंकित होनेकी जरूरत क्या है?

एक अन्य सन्दर्भमें महात्मा गांधीके कहे एक उद्गार, मुझे लगता है, यहां भी लागू करने चाहियें. उन्होंने कहीं कहा था कि ''यह धरती अपने ऊपर जनमनेवाले हर इन्सानके पेटको भरने लायक

अनाज तो पैदा कर सकती है परन्तु हर जमाखोरके भण्डारको भरापूरा रख पाये इतना अनाज पैदा नहीं कर सकती.'' इसी तरह परमेश्वरककी एकलता प्रत्येक धर्मसम्प्रदायके मुमुक्षुका उद्धार करने तो समर्थ हो सकती है परन्तु प्रत्येक धर्मसम्प्रदायके जगत्के प्रत्येक मनुष्यके उद्धारके एकाधिकारके दावेको न्यायोचित नहीं ठहरा पायेगी! किसी भी धर्मसम्प्रदायाभिमत परमेश्वरके एकत्वमें उतनी सामर्थ्य नहीं है उसके सर्वजनोद्धारके एकाधिकारके दावेका वह निर्वाह कर पाये!

अतः प्रत्येक धर्मसम्प्रदायको अभिमत परमेश्वरके एकत्वका विचार करनेपर धर्मोंकी विविधता कलह नहीं प्रत्युत परमेश्वरके जीवात्माओंके उद्धारोपयोगी सामर्थ्यके विविध सौन्दर्योंके रूपमें स्वीकारना ही विश्वशान्तिके लिये एक महत्त्वपूर्ण हेतु बन सकता है.

(२)परमेश्वरका सर्वातिशायी तथा सर्वशक्तिमान् होना : परमेश्वरका सर्वातिशायी तथा सर्वशक्तिमान होना भी सभी धर्मोंको अभिमत है. अतः परमेश्वरके ऐसे सामर्थ्यका विचार करनेपर भी परधर्मानुयायीके उद्धारकी चिन्तासे सभी धर्मसम्प्रदायोंको मुक्त होना आवश्यक लगता है, विश्वशान्तिके हक़में. क्योंकि जब वह सर्वातिशायी है ही तब अन्यान्य धर्मोंको अभिमत रूपवाले परमेश्वरकी लोग आराधना करें इस बारेमें उसकी मौन अनुमति माने बिना कोई गति ही नहीं रह जाती है. क्योंकि परधर्माभिमत परमेश्वरका यदि अस्तित्व न हो तो डरनेका कोई कारण नहीं और हो तो प्रत्येक धर्मको स्वधर्माभिमत परमेश्वरके सर्वातिशायी होनेके तथ्यको भुला नहीं देना चाहिये! अतः न तो ब्रह्मसे शून्यकी कोई प्रतिस्पर्धा हो सकती है. न शून्यसे यहोबा ही प्रतिस्पर्धा कर सकता है. न यहोबासे होलीफादर प्रतिस्पर्धा कर सकता है. और न होलीफादरसे अल्लाह ही! क्योंकि ये सभी सर्वातिशायी सर्वशक्तिमान हैं! अतएव ये अनेक हो नहीं सकते. अतः इन्हें नामभेदसे ही केवल भिन्न होना पड़ेगा. और ऐसा स्वीकारते ही परधर्मानुयायीके

उद्धारकी चिन्तासे सभी धर्मसम्प्रदायोंको मुक्त हो जाना आज हमारा परमधर्म होना चाहिये. सभीने अपने-अपने परमेश्वरको सर्वातिशायी सर्वशक्तिमान कैसे माना है, यह देख लेना भी अतः प्रासंगिक ही होगा.

१.हिन्दुधर्म :

तम् ईश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतं पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशम् ईड्यं, न तस्य कार्यं करणं विद्यते न तत्समः च अभ्यधिकः च दृश्यते. परास्य शक्तिः विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च.

(श्वेताश्वतरोपनिषद् : ६।७-८)

अतः सिद्ध होता है कि उस देवाधिदेवके बराबर कोई जब हो नहीं सकता तो फिर उसकी इच्छाके विपरीत बौद्ध जैन यहुदी ईसाई या इस्लाम आदि विविध धर्म विश्वमें चल कैसे सकते हैं? अतः इन धर्मोको अनुसरनेवालोंके उद्धारकी निरर्थक चिन्ता हम हिन्दुओंको क्यों करनी चाहिये? जैन तथा बौद्ध धर्मोंके आद्य प्रवर्तकोंको पुराणोंमें भगवान्के विष्णुके अवतारूपेण माना जाना भी स्पष्टतया इस तथ्यको पुष्ट करता है कि हम हिन्दुओंके परमाराध्य भगवान् विष्णुके संकल्पवशात् ही हिन्दुधर्मके विरोधी धर्मोंकी भी प्रवर्तना जगत्में हुयी है.

२,३.यहुदी तथा ईसाई धर्म :

परमेश्वर ही सदा और सर्वदा शासन करता है.

(बायबल्-एक्ज़ोडस् : १५।१८)

मनुष्यके लिये कोई काम अशक्य हो सकता है परन्तु परमेश्वरके लिये कोई काम अशक्य नहीं.

(बायबल् मार्क : १०।२७)

एतावता सिद्ध हो जाता है कि यहुदी और ईसाई धर्मोंके अनुसार भी यदि परमेश्वरको विविध धर्म चलने न देने होते तो उन्हें बन्द करवा देना उसके लिये अशक्य नहीं था. फिर अन्य किसी भी धर्मको अनुसरनेवाले लोगोंके उद्धारकी चिन्ता यहुदी या ईसाईओं को भी क्यों करनी चाहिये?

४.इस्लाम :

(क)लिल्लाहि मुल्कुस्समावाति वल्अर्ज़ि व मा फिहिन्न व हुव अला कुल्लि शैइन क़दीरुन्.''

(कु.श.सूरतुल्माइदः : ५।१२०)

(ख)अलम् तर अन्नल्लाह खलक़स्समावाति वल्अर्ज़ बिल्हक़्क़ि ईंयशअ् युजहिब्कुम् व यअ्ति बिखल्क़िन् जदीदिन्.

(कु.श.सूरः इब्राहिम् : १४।१९)

अर्थात् (क)आकाश और भूमि के बीचमें जो कुछ है, उस सबपर उस अल्लाहका ही अधिकार है. वह सर्वशक्तिमान है. (ख) (ऐ इन्सान!) क्या तूने इस बातपर नज़र नहीं की कि अल्लाहने आकाश और भूमि को अपनी इच्छाके अनुरूप बनाया है. अगर वह चाहे तो तुमको हटा कर नई सृष्टि भी प्रकट कर सकता है.

यह कितने बड़े सत्यका विधान है! अतः इस सृष्टिमें अल्लाहकी इच्छाके विपरीत तो कुछ हो ही न सकता हो तो व्यर्थ ही हम हिन्दु और मुसल्मान आपसमें एकदूसरेके साथ द्वेष विवाद या कलह, जो अल्लाहको पसन्द भी नहीं है, उसमें उलझ कर व्यर्थमें क्यों विश्वमें अशान्ति फैलाते हैं?

(३)परमेश्वरका सर्वशुभ तथा सर्वकल्याणकारी होना : तीसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सभी धर्मोंमें परमेश्वरको शुभतम एवं कृपालु माना

गया है. फिर नाहकमें हम अपने अलावा दूसरोंके धर्मोंके कारण कुछ अशुभ हो जानेकी चिन्तासे क्यों ग्रस्त रहते हैं? वह परमेश्वर जिनपर कृपा करता है उन्हींके लिये शुभ होता है अन्यथा अशुभ भी, ऐसा तर्क देनेपर तो यह प्रश्न उठ सकता है कि तब वह कृपा किसपर करता है? किसी निश्चित समुदायपर अथवा किन्हीं सन्मति सदाशय और सदाचार निभानेवालोंपर ही? यदि चुने हुवे समुदायविशेषपर तो या तो अन्य समुदायोंपर वह अपना ऐश्वर्य स्वीकारता नहीं होना चाहिये अथवा खुदकी पैदा की हुई सृष्टिमें पक्षपात करनेवाला अन्यायी सिद्ध होगा. परमेश्वर अन्यायी तो हो सकता नहीं, अतः चुने हुवे समुदायविशेषपर मानें तो कठिनाई यह आती है कि वह अपना ऐश्वर्य जब स्वीकारता न हो तो ऐसे समुदायको अपने धर्मनियमोंके तहद् अपराधी या पापी कैसे मान पायेगा? यदि सन्मति सदाशय और सदाचार के अनुसार वह कृपा करता हो स्वयं सन्मति सदाशय और सदाचार उस परमेश्वरकी सृष्टिमें विभिन्न देश और विभिन्न कालमें एकरूपमें तो प्रकट हुवे नहीं है तब; और जो विविधता इस बारेमें प्रकट हुयी है वह उसकी इच्छाके विपरीत एक क्षण भर भी टिक नहीं सकती हो तब, एक समुदायकी धारणाके विपरीत दूसरे समुदाय सन्मति सदाशय या सदाचार के बारेमें अपनी अलग-अलग धारणा रखते हों तो उनमें उनका क्या दोष हो सकता है? सदुपदेशरूप अलग-अलग धर्मसन्देश विश्वमें सभीको मिले हैं परन्तु वे भी एकरूपतया तो मिले नहीं है. अब जिस मानवसमुदायको जैसा धर्मसन्देश उनके बीचमें प्रकट होनेवाले जिस धर्मस्थापक या धर्मोपदेशक द्वारा मिला हो उन्हें वह न मान कर दूसरोंको जो सन्देश मिला वह क्यों माने? किसी एक धर्मग्रन्थके अनुसार जिस तरहका उपदेश जब मिल ही गया हो तो दूसरे धर्मग्रन्थोंमें क्या-कैसे उपदेश दिये गये हैं, इसकी चिन्ता निरर्थक सिद्ध होती है. उदाहरणतया भारतमें रहनेवालेको अमरीकामें वाहन दायीं ओर चलाना नियम है परन्तु बायीं ओर चलाना मार्गनियमोंका भंग है, इसमें डरनेकी बात क्या हो सकती

है ? अतः केवल अपने ही धर्मग्रन्थको समग्र मानवजातिके लिये परमेश्वरके द्वारा भेजा गया एकमात्र सन्देश माननेवालोंको सबसे पहले यह खुलासा करना चाहिये तब परमेश्वरने उस धर्मके प्रवर्तकको प्रत्येक मानवके पास पहुंच पाये ऐसी सामर्थ्य या सुविधा क्यों नहीं दी ? क्यों अलग-अलग मानवसमुदायोंके भीतर अलग-अलग धर्मप्रवर्तक पैदा होने दिये ?

फलतः यह सोचनेको बाधित होना पड़ता है कि सभी मानवसमुदाय किसी एक ही धर्मके अनुगामी बन जायें ऐसा स्वयं परमेश्वरको भी अभिलषित होना नहीं चाहिये. तब एक धर्मको अनुसरनेवालेको दूसरे धर्मके अनुसरनेवालेके उद्धारकी चिन्ता क्यों करनी चाहिये! ऐसी अनेकानेक धार्मिक आस्था जगत्मे विद्यमान तो हैं ही. अतः या तो अनेकेश्वरवादको प्रामाणिक मानना या फिर एक ही परमेश्वरके जो सर्वनियामक है उसके 'परब्रह्म' 'शून्य' 'यहोबा' 'होलीफादर' या 'अल्लाह' आदि अनेक नाम एवं रूप हो सकते हैं, ऐसा मान लेना चाहिये. इसे सच मानें तो किसी भी नामसे उसे पुकारा जाये उसकी इन विभिन्न नामों और रूपों के साथ जुड़ी धार्मिक आस्थाओंको टिकाये रखनेकी इच्छाके बिना सम्भव नहीं, यह सिद्ध हो जाता है.

फिर हम हमारी धार्मिक आस्थाके विपरीत आस्थाओंसे घबरा कर उनके प्रति आशंकित या आतंकित क्यों होते रहते हैं? हमारे परमेश्वरके सर्वसमर्थ सर्वकर्ता सर्वनियामक सर्वव्यापी सर्वज्ञ सर्वशुभ होनेमें हमें आस्था क्यों खोनी चाहिये? इसे भी विभिन्न धर्मोंके इस विषयमें मिलते विधानोंके आधारपर अच्छी तरह जांच-परख लेना चाहिये —

१.<u>हिन्दुधर्म</u> :

असन्नेव स भवति असद् ब्रह्म इति वेद चेद्. अस्ति ब्रह्म इति चेद् वेद सन्तम् एनं ततो विदुः... सो अकामयत् बहु स्यां प्रजायेय इति... इदं सर्वम् असृजत. यदिदं

किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्रावीशत्. तदनुप्रविश्य सत् च त्यत् च अभवत्, निरुक्तं च अनिरुक्तं च, निलयनं च अनिलयनं च, विज्ञानं च अविज्ञानं च, सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत्.

(तैत्तिरीयोपनिषद् : २।६)

आनन्दाद्धचेव खलु इमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति.

(तैत्तिरीयोपनिषद् : ३।६)

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्यो अन्तरो. यं सर्वाणि भूतानि न विदुः. यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्. यः सर्वाणि भूतानि अन्तरो यमयति. एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः.

(बृहदारण्यकोपनिषद् : ३।७।१५)

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः.

(श्वेताश्वतरोपनिषद् : ३।११)

न अयम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेव एष वृणुते तेन लभ्यो तस्य एष आत्मा विवृणुते तनुं स्वां. न अविरतो दुश्चरिताद् न अशान्तो न असमाहितो न अशान्तमनसो सापि प्रज्ञानेन एनम् आप्नुयाद्.

(कठोपनिषद् : १।२।२३-२४)

इन वचनोंके आधारपर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उपनिषदोंके अनुसार सारे जगत्में प्रत्यक्ष या परोक्ष, साधार या निराधार, विज्ञान या अविज्ञान अथवा सत्य या अनृत जो भी कुछ है वह सब उसीके लिये हुवे रूप हैं. वह स्वयं आनन्दरूप है और सारे जगत्को अपने आनन्दमेंसे उत्पन्न करता है, उत्पन्न जगत्का आनन्दमें ही पालन करता है, कर अन्तमें अपने स्वरूपभूत आनन्दमें

ही लीन कर लेता है. ऐसा परमेश्वर सभी प्राणियोंके भीतर बिराजमान हो कर उन्हें भलीभांति जानता है, चाहे वे उसे जान पायें या नहीं. क्योंकि वह इन्हें अपना शरीर बना कर इन सबके भीतर बस जाता है और सभी प्राणियोंका भीतरसे नियमन भी करता है. ऐसा वह परमेश्वर हम सभीकी अमृत आत्मा होता है. अतएव हमारे सारे चेहरे और गर्दन उसके ही चेहरे और गर्दन हैं. वह सभी प्राणियोंको गुहा बना कर उसमें छिप कर बैठा हुवा है. ऐसा वह सर्वव्यापी सर्वगत शिव है. यहां यह भी कहा गया है कि वह परमात्मा न तो वेदके प्रवचनसे मिलता है और न अपनी बुद्धिकी धारणाशक्तिसे और न बहुत सारे शास्त्रोंके श्रवण कर लेनेसे ही. वह तो उसे ही मिलता जिसका वह वरण मिलनेके हेतु करता है. और वह जिसका वरण करता है उसके समक्ष ही वह अपने स्वरूपको प्रकट करता है. जो दुराचरमें परायण हों, जो अशान्त हों या असमाहित हों उन्हें वह प्रकृष्ट ज्ञानसे भी मिल नहीं पाता. यों हम देख सकते हैं कि यहां ऐसा कुछ भी कहा नहीं गया है कि वह केवल हिन्दुओंके भीतर ही रहता है बौद्ध जैन यहुदी ईसाई मुसल्मानों या ऐसे अन्य किसीके भीतर नहीं. प्रत्युत उसे सर्वव्यापी और सर्वगत होनेके कारण ही 'शिव' कहा जा रहा है. साथ ही साथ वह जिसे मिलता है उस मिलनके विधानात्मक हेतुतया जहां स्वयं उसके वरणको कारण कहा गया है, वहीं किसीके प्रज्ञानी होनेपर भी दुराचारी अशान्त या असमाहित होना उसके न मिलनेके निषेधात्मक हेतुतया भी गिनाया है.

हिन्दुधर्मके बाद अब बौद्धधर्मके दृष्टिकोणसे देखें तो पारमार्थिकी शून्याद्वयताके साक्षात्कारार्थ जहां अष्टांगिक मार्ग और वैराग्यधर्म को श्रेष्ठ कहा गया है ''मग्गानट्ठंगिको सेट्ठो... विरागो सेट्ठो धम्मानं'' (धम्मपद : २०।१) वहां सम्यग्दृष्टि, सम्यक्-संकल्प और सम्यग्-वचन धर्मानुष्ठानार्थ यद्यपि ''अत्ता हि अत्तनो नाथ को हि नाथ परो सिया''

(धम्मपद : १२।४) का उपदेश दिया गया है. बावजूद इसके व्यावहारिकी करुणा का भी बौद्धधर्ममें कितना स्थान है. यह तो अधोनिर्दिष्ट विधानके आधारपर हम समझ सकते हैं—

२.बौद्धधर्म :

एकएव धर्मो बोधिसत्त्वेन स्वाराधितः कर्तव्यः सुप्रतिविद्धः. तस्य करतलगताः सर्वे बुद्धधर्माः भवन्ति...एवमेव भगवन् येन बोधिसत्त्वस्य महाकरुणा गच्छति तेन सर्वे बुद्धधर्माः गच्छन्ति.

(बोधिचर्यावतारपञ्जिका : ९।७६)

अतएव इसके आधारपर इतना तो आवश्यक लगता है कि आर्यसत्यचतुष्टयीके अन्तर्गत दुःख और निरोधगामिनी प्रतिपद्के भी अनादरपूर्वक जब ''मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणापि अरसेन किम्'' (बोधिचर्या : ८।१०६) यह माना गया है तो बौद्धधर्मके अनुसार भी करुणाका सर्वातिशायी महत्त्व तो है ही. वह करुणा यदि मिथ्यादृष्टिवालोंपर शक्य न हो तो 'महाकरुणा' पदमें प्रयुक्त 'महा' विशेषण निरर्थक ही सिद्ध होगा. स्पष्ट है महायानी धारणा कि सांसारिक दुःखोंसे कष्ट पानेवाले प्राणिओंके उद्धारके हेतु भगवान् बुद्ध पुनःपुनः आप्रलय प्रकट होते रहेंगे, इसके बावजूद यदि करुणाका यह सन्देश सभी प्राणिओं तक पहोंच न पाता हो तो या तो ऐसे बुद्धावतारकी व्यर्थता माननी पड़ेगी अथवा विभिन्न रूपोंवाली साधनाओंमें भी उद्धारकी शक्यताको कथञ्चित् स्वीकारना ही एक बुद्धिगम्य समाधान लगता है.

३,४.यहुदी तथा ईसाई धर्म :

भगवान् तो कृपालु और दयालु हैं, वे रोष करनेमें मन्द परन्तु दृढ़ स्नेहसे सदा छलकते रहते हैं. भगवान्

सभीके प्रति भले ही होते हैं और उनकी बनायी सृष्टिमें उनकी सभीके प्रति दयापूर्ण सहानुभूति सर्वत्र-सर्वदा उपलब्ध रहती ही है.

(बायबल् साम : १४५।८-९)

परमात्मा स्नेहरूप है.

(बायबल् १जॉहन : ४.८)

कितना स्पष्ट उल्लेख है! फिरभी ऐसे कैसे सोचा जा सकत है कि यहुदीधर्म या ईसाईयत के द्वारा ही भगवान् अपनी कृपा या दया प्रकट करते हैं. ऐसा सोचना या तो ग़ैरयहुदी और ग़ैरईसाईओंको यहोबा या होलीफादर के द्वारा निर्मित सृष्टिसे भिन्न किसी सर्जनहारकी कृति माननेमें पर्यवसित होगा. अन्यथा हिन्दु मुसल्मान बौद्ध जैन तथा अन्य भी आदिवासिओंके धर्मोंको अनुसरनेवाले मानव समुदायको भी भगवत्कृपाभाजन मानना ही पड़ेगा. और वह स्वीकारते ही यह सिद्ध हो जाता है कि अन्यान्य धर्मोंद्वारा भी भगवत्कृपाभाजनोंका उद्धार शक्य है ही.

५.इस्लामधर्म :

क़ाल अज़ाबी उसीबु बिह मन् अशाउ व रहमती वसिअत् कुल्ल शैइन्.

(कु.श.सूरतुल् अऽराफि : ७।१५६)

अर्थात् ''रोष या दण्ड तो मैं जिसे चाहता हूं देता हूं पर मेरा दयाभाव तो सभीपर एकसमान है.'' ऐसी स्थितिमें कुरानशरीफके अलावा भी जो धर्मग्रन्थ प्रकट हुवे हों उन्हें अनुसरनेवालोंपर अल्लाहको कोई नाराज़गी होगी तो वह दण्ड देनेमें समर्थ है ही तब मुसल्मानोंको परधर्मिओंके बारेमें नाहक विरोधी भाव क्यों रखने चाहिये? क्यों अल्लाहके दयाभावके सभीको पात्र मान कर दयाभाव नहीं निभाना चाहिये?

निष्कर्ष :

इस तरह विश्वके प्रमुख धर्मोंमें परमेश्वरके बारेमें जो धारणायें हैं उनका विचार करनेपर धार्मिक अशान्ति या कलह हमारी धार्मिक आस्थाके विवेकपूर्ण उपयोग प्रतीत नहीं होते. ऐसी तो अन्य भी बहोत समानरूपता दिखलायी जा सकती हैं. वैसे इनके अलावा भी सभी प्रमुख धर्मग्रन्थोंका दिव्य अन्तःप्रेरणावश ही प्राकट्य माना गया है, उसमें एकको इन्कारनेपर दूसरेको भी इन्कारा जा सकता है. और एकके प्रामाण्यको स्वीकारनेपर उन्हीं आधारोंपर दूसरे धर्मग्रन्थोंके प्रामाण्यको भी स्वीकारना ही पड़ेगा. अपने-अपने धर्मग्रन्थोंके अनुसार धार्मिक जीवन जीनेवालोंके दिव्य चरित्र भी प्रायः सभी धर्मोंके अनुगामिओंके जीवनवृत्तान्तोंमें उपलब्ध होते ही हैं.

निष्कर्षके तौरपर पुनः यही दोहरा देना उचित होगा कि आज सभी धर्मगुरु स्वयंके जगद्गुरु होनेकी अहंपीडासे ग्रस्त हो कर अपने-अपने धर्मको विश्वधर्म मनवानेपर जो तुले हुवे हैं, इसके कारण धार्मिक जगत्में भीषण प्रतिस्पर्धा तथा पारस्परिक अविश्वास एवं विद्वेष भर कर वे अशान्तिकी ही बढ़ोत्तरी कर रहें हैं. संस्कृतभाषाके अनुसार 'जगत्' पदका अर्थ गमनशील होता है उस अर्थमें तो जगत्के इस कोनेसे दूसरे कोनेमें निरन्तर धर्मोपदेशार्थ या शिष्यान्वेषणार्थ गमनशील जितने भी गुरु हैं सभी जगद्गुरु माने जा सकते हैं, इसमें कोई आपत्तिजनक बात भी नहीं है. आवश्यकता परन्तु अन्य धर्मोंके अनुगामिओंके उद्धारकी चिन्तासे स्वयं इन जगद्गुरुओंके मुक्त होनेकी अत्यधिक है. आखिरमें सेम्युअल् बेकेट्के *''वेटिंग फॉर गोदो''* के कथानायक एस्ट्रागोनकी तरह मानवजातिके एकमात्र उद्धारककी प्रतीक्षाके त्राससे कभी तो मानवजातिको मुक्त कर देना, क्या सभी धर्मसम्प्रदायों एवं उसके उपदेशकोंके लिये एक दयापूर्ण सद्भाव नहीं होगा! मुझे उमर खैयामकी एक रुबाइ याद आती है कि ''हाजी बराहेकाबा रफ्ते दारद, आशिक बमय दोसाला जब्तेदारद, मालूम न शुद कि यार मशगुल ब कीस्त?

हरकस खयालेखेश खप्तेदारद.'' वह कहना चाहता है कि आखिर हमारे पास निश्चिति क्या है कि हमारी धर्मसाधना ही परमेश्वरको प्रिय लगती है, दूसरी नहीं. आवश्यकता अपनी-अपनी धर्मसाधनाकी दिव्य आध्यात्मिक मस्तीभरे जीवन जीनेकी है. परमात्मा सभीको ऐसी सामर्थ्य दे!

माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मां ब्रह्म निराकरोद्!
अनिराकरणम् अस्तु अनिराकरणं मे अस्तु!!

श्रीस्वामिनारायण मतीय वेदान्तसिद्धान्त और भक्तिसाधना की विकसनप्रक्रिया

(१.उपक्रम)

श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा।
सर्वभक्तसमुद्धारे विस्फुरन्तं परं नुमः ।।
स श्रीकृष्णः परं ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः।
उपास्यः इष्टदेवो नः सर्वाविर्भावकारणम् ।।
विशिष्टाद्वैतवादस्य कृष्णभक्तेश्च पोषकः।
शिक्षापत्र्युपदेशेन लोकोद्धारपरायणः ।।
सहजानन्दस्वामी यः सहजानन्दवर्धकः।
तमस्मन्मार्गसुहृदं हृदयेन वयं नुमः ।।

प्रस्तुत आलेखपत्रमें हम श्रीसहजानन्द स्वामीजी, इतःपर 'श्रीजी महाराज' पदेन अभिधेय, द्वारा लिखित *शिक्षापत्री* तथा *वचनामृत* की ही तरह उनके अनुगामी परवर्ती क्रोशस्तम्भरूप ग्रन्थकारों द्वारा भी निरूपित इस नूतन वेदान्तसम्प्रदायमें उत्तरोत्तर परिलक्षित होते यथावभात विकासका कुछ लेखा-जोखा प्रस्तुत करना चाहेंगे.

सभी सम्प्रदायोंमें बहुत सारी बातें प्रायः मूलरूपमें मतप्रर्वतक आचार्यद्वारा स्वशिष्यसमुदायको सम्बोधित कर उपदिष्ट होती हैं. परवर्ती कालमें, परन्तु, अन्यान्य मतोंके साथ होनेवाले संवाद-विवादकी प्रक्रियाके वश अर्थात् मूलोपदेशोंके बीजभावमें रही विकसनक्षमताके अंकुरित होनेके बाद प्रतिपक्षी मतोंके भी प्रभाववश बहुतर मत विलक्षण रीतिसे पल्लवित पुष्पित तथा फलित होते हुवे भी दिखलायी देते हैं. श्रीस्वामिनारायणीय मतका भी विकास इस प्रक्रियाके अपवादरूपेण हुवा हो ऐसा लगता

तो नहीं है. क्योंकि प्रत्येक जीवित सम्प्रदाय एक प्रवहमाण नदीकी तरह होता है. नदियोंका प्रवाह प्रायः कुछ सहायक नदियोंको आत्मसात कर कभी प्रचुर तथा गम्भीर बन जाता है, तो कहीं उसका प्रवाह किसी अन्तर्द्वीपके व्यवधानके कारण विभक्त हो कर दो विभिन्न दिशाओंमें बंट जाता है; अथवा कहीं उस नदीके तटपर अवस्थित कृत्रिम या अकृत्रिम ह्रदोंमें कभी आंशिक पर्यवसानके के कारण भी जलप्रवाह क्षीण हो जाता है, तो कहीं-कभी दूसरी ही नदियोंको पुनः आत्मसात कर वही जलप्रवाह पुनः प्रबल एवं गम्भीर भी हो पाता है.

तदनुसार श्रीजी महाराजने स्वकीय सिद्धान्त और साधना के बारेमें अपने अभिप्रायोंको बीजरूपेण *शिक्षापत्री* में तथा अंकुररूपेण *वचनामृत* में प्रकट किये हैं. इनमें अधिकांश वचनामृत मौखिक रूपमें दिये गये उपदेश हैं. इनका संकलन किन लोगोंने किया इस बारेमें तथा इनकी संख्याके बारेमें भी कुछ मतभेद सा प्रतीत होता है. क्योंकि मयाशंकरात्मज गिरिजाशंकर शास्त्रिकृत संस्कृतानुवादरूप वचनामृतकी अहमदाबादसे जो प्रथमावृत्ति विक्रम संवत् १९९६ में प्रकाशित हुयी थी, इस संस्करणमें वचनामृतोंकी संख्या २७३ बतायी गयी थी. इसमें संकलनकर्ताओंके नाम ''**मुक्तानन्दो अथ गोपालानन्दो मुनिः उदारधीः ब्रह्मानन्दमुनिः नित्यानन्दः शुकमुनिः तथा तैः पञ्चभिः सुसंगत्य श्रीहर्युक्तिसुधोदधिः लिखितः शोधितः चापि यथामति यथाश्रुतम्**'' (वचना.३।२७३) उपलब्ध होते थे. बादमें विक्रम संवत् २०३६ में भारतीयविद्याभवनद्वारा प्रकाशित तथा श्रीरामवल्लभ शास्त्री द्वारा हिन्दीभाषामें अनूदित संस्करणमें वचनामृतोंकी संख्या २६२ तथा संकलनकर्ताओंके नाम **मुक्तानन्दः च गोपालानन्दो मुनिः उदारधीः नित्यानन्दशुकानन्दौ चत्वारो मुनयस्तु ये एतैः संगत्य लिखितानि इत्थं धर्मजनेः हरेः वचोऽमृतानि सर्वाणि यथामति यथाश्रुतम्**'' (वचना.३।३९=२६२) यों वचनामृतसंख्या तथा संकलनकारों के नामोंमें भी विवरणान्तर उपलब्ध होता है. अर्थात् ११ वचनामृतोंको परिशिष्टतया प्रकाशित किया गया है. सम्मान्य प्राध्यापक श्री ज.आ. याज्ञिक महोदयका

कहना है कि श्रीजी महाराजके निजी सचिवकल्प श्रीशुकमुनिके प्राथमिक प्रारूपके पश्चात् श्रीजी महाराजके अन्य तीन शिष्य मुक्तानन्दस्वामी गोपालानन्दस्वामी और नित्यानन्दस्वामी यों अन्ततः इन चारों अनुगामिओंके सम्पादकमण्डलने मिल कर प्रश्नों तथा समाधानों के चयनके द्वारा इन्हें लिपिबद्ध किया (द्रष्ट.'द फिलोसोफी ऑफ श्रीस्वामिनारायण' पृ.८-९). इन वचनामृतोंको लिपिबद्ध करनेकी श्रीजी महाराजकी आज्ञाके अनुसार अनुष्ठित यह लेखनकार्य उनकी विद्यमानतामें हुवा या उनके पश्चात् यह जतानेको भी **''एवं हि तानि सर्वाणि त्रिनगाक्षिभिः** (पा.भे.द्विरसाक्षिभिः) **सन्ति संलिखितानि श्रीमहाराजनिदेशतः... आप्यायन् निजजनान् स्वकीयवच-नामृतैः जयति श्रीहरिस्वामी श्रीमद्दुर्गापुरे प्रभुः''** (तत्रैव ३।३९=२६२) विवरण भी ग्रन्थोपसंहारमें दिया गया है. इस उल्लेखके आधारपर श्रीजी महाराजकी विद्यमानतामें लिपिबद्धीकरण भी प्रतीत तो अवश्य होता है. इस संकलनका प्रमापण, परन्तु, स्वयं श्रीजी महाराज द्वारा हुवा या नहीं इस बारेमें साम्प्रदायिक ऐतिह्यप्रमाण क्या हैं कमसे कम मुझे तो अवगत नहीं है. किसी भी सूरतमें इतना सर्वमान्यतया ध्रुव सत्य लगता है कि *शिक्षापत्री* स्वयं उनके करकमलोंसे लिखी गयी है. ऐसी स्थितिमें इन दोनों ग्रन्थोंमें से प्रकृष्ट प्रामाण्य स्वामिनारायणसम्प्रदायमें किसका माना जाना चाहिये! कई विद्वानोंके अभिप्रायके अनुसार, परन्तु, ये दो ही प्रामाणिकतया श्रीजीमहाराजके वचन हैं. अन्योंका प्रामाण्य सर्वमान्य न होनेसे वे यहां विमर्शार्थ अनिवार्य नहीं लगते हैं.

जहां तक कालिक पौवापर्यका प्रश्न है तो संवत् १८७६ की मार्गशीर्ष शुक्ला चतुर्थीसे ले कर संवत् १८८२ की माघशुक्ला तृतीया के बीच गढडा सारंगपुर कारियाणी लोया पंचाला पुनः गढडा तथा वडताल में जो कुछ उपदेश दिया वह *वचनामृत* का अधिकांश भाग *शिक्षापत्री* से पूर्व ही प्रकट हुवा माना जाता है. *शिक्षापत्री* संवत् १८८२ की माघशुक्ला पंचमीके दिन इसके बाद वडतालमें लिखी गयी. बादमें वि.सं.१८८२ से लेकर १८८६ तकके अहमदाबाद

और गढडा में दिये गये उपदेश अन्त्यप्रकरणतया यहां लिपिबद्ध किये गये हैं. इनके अलावा भी कतिपय ग्रन्थ प्रकट हुवे माने जाते हैं किन्तु उनका प्रामाण्य सर्वमान्य है कि नहीं यह तो जिज्ञास्य ही है.

(२.विचिकित्सा)

अस्तु, इन दोनोंमे स्वयं श्रीजीमहाराजके दिव्य अभिप्रायोंका स्वहस्ताक्षरालेखित सारोपदेश या श्रोतृजनोंद्वारा यथास्मृत उपदेश जो उपलब्ध होता है यह यों है :

(१)''वेदाः च व्याससूत्राणि श्रीमद्भागवताभिधं पुराणं भारतेतु श्रीविष्णुनामसहस्रकं तथा श्रीभगवद्गीता नीतिश्च विदुरोदिता धर्मशास्त्रान्तरगता च याज्ञवल्क्यऋषेः स्मृतिः. एतानि अष्ट मम इष्टानि सच्छास्त्राणि भवन्ति हि. स्वहितेच्छुभिः एतानि मच्छिष्यैः सकलैरपि श्रोतव्यानि अथ पाठ्यानि कथनीयानि च द्विजैः...शारीरकाणां भगवद्गीतायाः च अवगम्यतां रामानुजाचार्यकृतं भाष्यम् आध्यात्मिकं मम. एतेषु यानि वाक्यानि श्रीकृष्णस्य वृषस्य च अत्युत्कर्षपराणि स्युः तथा भक्तिविरागयोः मन्तव्यानि प्रधानानि तान्येव इतरवाक्यतः. धर्मेण सहिता कृष्णभक्तिः कार्या इति तद्ग्रहः''—''मतं विशिष्टाद्वैतं मे गोलोको धाम च ईप्सितं तत्र ब्रह्मात्मना कृष्णसेवा मुक्तिः च गम्यतां''—''सर्ववैष्णवराजश्रीवल्लभाचार्यनन्दनः श्रीविट्ठलेशः कृतवान्... सेवारीतिः च कृष्णस्य ग्राह्या तदुदितैव हि''(शिक्षापत्री : ९३-१०२,१२१ तथा ८१-८२).

(२)''हम अपना अभिप्राय संक्षेपमें कहते हैं : और वह यह है कि शंकरस्वामीने जिस प्रकारका अद्वैत ब्रह्मका प्रतिपादन किया है, उसमें हमारी रुचि नहीं है. रामानुज स्वामीने जिस प्रकार क्षर-अक्षरसे परे पुरुषोत्तम भगवान्का

निरूपण किया है, उन पुरुषोत्तम भगवान्‌की तो हम उपासना करते हैं. गोपियोंके समान उन पुरुषोत्तम भगवान्‌की हम भी भक्ति करते हैं. शुकजी तथा जड़भरत के सदृश हमें भी वैराग्य और आत्मनिष्ठा है. यह हमारा अभिप्राय तथा रुचि है. हमारी इस वार्ता तथा हमारे द्वारा मान्य हमारे सम्प्रदायोंके ग्रन्थोंपर जो बुद्धिमान पुरुष पूर्वापर दृष्टिसे विचार कर उन्हें देखेगा, उसे उनकी सभी बातें समझमें आ जायेंगी''(वचनामृत : लो.प्र.१४।१२२).

इस तरह हम देख सकते हैं कि *शिक्षापत्री* में उप्त बीजभावोपम उपदेशके साथ-साथ *वचनामृत* में अंकुरित हुवे उसके रूपके बीच क्या-कितना तारतम्य प्रकट हुवा. स्वमान्य शास्त्रोंकी, परन्तु, व्यावहारिकी इयत्ता, उन शास्त्रोंके निःसन्दिग्ध तात्पर्यावगमार्थ पूर्वाचार्यपरम्परागत भाष्य, उनका किस प्रयोजनविशेषवश आश्रयणकी तरह ही उस प्रयोजनविशेषकी पूर्तिके हेतु तदानुसरणीय साधनाप्रणाली का भी इससे अधिक निश्छल एवं सुस्पष्ट शब्दोंमें निरूपण एवं स्वीकार शक्य नहीं है. इन उपदेशोंके आधारपर संक्षेपमें श्रीस्वामिनारायणीय मतको संख्याशास्त्रीय समीकरणकी रीतिमें अभिव्यक्त करना हो तो कहा जा सकता है—

''रामानुजीय वेदान्त + पुष्टिमार्गीया श्रीकृष्णभक्ति = श्रीस्वामिनारायणीय मत''

वैसे यह समीकरण जितना सरल प्रतीत होता है, वस्तुतः कथा उतनी अब सरल नहीं रह गयी है. क्योंकि यह तो अपनी बीजभावावस्थाका द्योतक ही समीकरण हो सकता था. वैसे *शिक्षापत्री* गत ''शारीरकाणां भगवद्गीतायाः च अवगम्यतां रामानुजाचार्यकृतं भाष्यम्''—''मतं विशिष्टाद्वैतं मे'' विधानोंका ही केवल अवलम्बन करनेपर तो स्पष्टतया ही इतना झलक जाता है कि श्रीजीमहाराजके मतमें न केवल विशिष्टाद्वैतवाद अंगीकृत है अपितु रामानुजीय विशिष्टाद्वैतवाद ही मान्य है. यह वचनामृत

''उद्धवजी स्वयं रामानन्दस्वामिरूप थे. श्रीरंगक्षेत्रमें उन रामानन्दस्वामीने स्वप्नमें साक्षात् रामानुजाचार्यसे वैष्णवी दीक्षा प्राप्त की. इसलिये रामानन्दस्वामीके गुरु रामानुजाचार्य हैं. उन रामानन्दस्वामीके शिष्य हम हैं. ऐसी गुरुपरम्परा जाननी'' (वचना.वरता.१८।२१८) के भी आधारपर अपरिहार्य बन जाता है.

ऐसी स्थितिमें एक सम्प्रदायमें दीक्षित होनेके बाद भी उस सम्प्रदायके सिद्धान्तोंसे अपना पीछा छुड़ानेकी मनोवृत्तिको मान्य करनेपर तो कल स्वयं स्वामिनारायण सम्प्रदायमें ही दीक्षित हो कर श्रीजी महाराजको अभिप्रेत मतसे पृथक् मत प्रकट करनेकी भी स्वतन्त्रता कोई क्या श्रीजीमहाराजके नामपर ले सकता है या नहीं?

यों रामानुजीय विशिष्टाद्वैतवाद न केवल दीक्षापरम्पराधिगत है अपितु निजास्थाभ्युपगत भी है ही. अन्यथा अंशतो रामानुजीय मतका स्वीकार, उदाहरणतया नारायणके सर्वान्तर्यामी होनेका, विशिष्टाद्वैतको स्वीकारे बिना भी द्वैतवादी तथा शुद्धाद्वैतवादी वेदान्तसिद्धान्तोंमें भी प्रसिद्ध ही है. इसी तरह अंशतो विशिष्टाद्वैतवादका अंगीकार भी रामानुजीय मतको माने बिना भी शैवविशिष्टाद्वैतवादमें भी प्रसिद्ध ही है. परन्तु *रामानुजाचार्यकृत भाष्यानुसारी विशिष्टाद्वैतवाद* का श्रीजीमहाराजद्वारा निजकण्ठोक्त अंगीकार यहां गम्भीर समस्या खड़ी कर देता है. जैसा कि हम देख सकते हैं कि बादमें इस समीकरणको जिस तरह अंकुरित पल्लवित पुष्पित तथा फलित किया गया उसकी विलक्षणतापर दृष्टिपात करनेपर श्रीस्वामिनारायणीय मतकी विकासरेखा निश्चय ही जटिलतर होती चली जाती है.

(३.श्रीरामानुजमत)

एतदर्थ रामानुजीय वेदान्तकी मौलिक विशेषताओंको यदि संक्षेपमें दृष्टिगत करना हो तो जो रामानुजीय वेदान्ताभिमत तत्त्वविभाग श्रीवेदान्तदेशिकने

अपने *तत्त्वमुक्तकलाप* नामक ग्रन्थमें जिस तरह प्रतिपादित किया वह यों है :

> ''पदार्थ = द्रव्य + अद्रव्य. द्रव्य = जड + अजड. जड = अव्यक्त + काल. अजड = प्रत्यक् + पराक्. प्रत्यक् = जीव + ईश. पराक् = नित्या भूति$^{(शुद्धसत्त्व)}$ + मति''.
>
> (तत्त्वमुक्ताकलाप : ६).

इस तत्त्वविभाजनके चित्रको विशिष्टाद्वैतवादकी चौखटमें कैसे जड़ा गया यह देखनेको पुनः श्रीवेदान्तदेशिककी ही *न्यायसिद्धाञ्जन* ग्रन्थगत यह एक सूक्ति ही पर्याप्त है :

> ''अशेषचिदचित्प्रकारं ब्रह्म एकमेव तत्त्वम्. तत्र प्रकारप्रकारिणोः प्रकाराणां च मिथो अत्यन्तभेदेऽपि विशिष्टैक्यविवक्षया एकत्वव्यपदेशः... इदमेव इत्थम्भूतं सामान्यतः प्रमाविषयतया विशेषतः प्रकर्षेण मेयतया च प्रमेयम् उक्तम्. तदन्तर्गतञ्च सर्वं द्रव्याद्रव्यात्मना विभक्तम्. उपादानं द्रव्यम्. अवस्थाश्रयः उपादानम्''.
>
> (न्यायसिद्धाञ्जन : जडद्रव्यपरिच्छेद).

(४.श्रीस्वामिनारायणीय आधुनिक सिद्धान्तमें प्रकट होता अन्तर्विरोधाभास)

अब श्रीस्वामिनारायणीय वेदान्त यदि यथोक्त रामानुजीय तत्त्वविभाग तथा सामान्य सिद्धान्त के दो किनारोंके बीचमें न बह कर स्वतन्त्र तत्त्वविभाजन तथा नूतनरीतिके विशिष्टाद्वैतवाद को प्रस्तावित करना चाहता हो तो और तदनुसार श्रुति गीता सूत्र पुराण आदिकी भी व्याख्या प्रस्तुत करने लग जाये तो उसकी मौलिकता तो मान्य हो पायेगी परन्तु रामानुजभाष्यानुसारी विशिष्टाद्वैतवादिता या प्रामाणिकता नहीं! और इसके अभावमें श्रीजी महाराजका उल्लिखित उद्घोष निश्चयेन वदतोव्याघातार्थक होनेसे अप्रामाणिक सिद्ध होगा. कोई भी श्रीजी महाराजका अनुगामी

श्रीजी महाराजके वचनोंके फलितार्थसे अपने-आपको बन्धनमुक्त कैसे मान सकता है? अतः इस विरोधाभासके परिहारके अनुष्ठानमें तत्पर कोई ग्रन्थ या तो उपलब्ध ही नहीं या मुझे प्राप्त नहीं हो पाया है. यह एक गम्भीर समस्या मुझे खटकती है, श्रीजी महाराजके मूलवचनोंका वास्तविक अभिप्राय हृद्‌गत करनेमें. इस बारेमें श्रीस्वामिनारायणीय विद्वानोंके क्या स्पष्टीकरण सम्प्रदायमान्य हैं, यह मुझे ज्ञात नहीं हैं. अतः मुझे लगता है कि इस *शिक्षापत्री* के बाद *वचनामृत* आदि ग्रन्थोंमें जो-जैसा प्रतिपादन उपलब्ध होता है उसकी संगति कुछ न कुछ बैठानी ही चाहिये.

क्योंकि जहां तक तत्त्वविभागका प्रश्न है तो चिदचिद्‌विशिष्ट-ईश्वररूप तत्त्वत्रयीका तो *शिक्षापत्री* के इन श्लोकोंमें हम प्रतिपादन सुस्पष्ट शब्दोंमें पाते ही हैं. इस प्रसंगपर भी इस बीजोपदेशरूप ग्रन्थरत्नमें, जहां तत्त्वपञ्चककी स्वीकृति अतीव प्रसक्त थी, उसका उपदेश प्राप्त न होना अतीव विस्मयकारी बात लगती है. द्रष्टव्य यथा :

ज्ञानञ्च [१]जीव[२]माया-[३]ईशरूपाणां सुष्ठु वेदनम्।
[१]हृत्स्थोऽणुसूक्ष्मश्चिद्रूपो ज्ञाता व्याप्याखिलां तनुम्।
ज्ञानशक्त्या स्थितो जीवो ज्ञेयोऽच्छेद्यादिलक्षणः॥
[२]त्रिगुणात्मा तमः कृष्णशक्तिर् देहतदीययोः।
जीवस्य चाहंममताहेतुर् मायावगम्यताम्॥
[३]हृदये जीववद् जीवे योऽन्तर्यामितया स्थितः।
ज्ञेयः स्वतन्त्र ईशोऽसौ सर्वकर्मफलप्रदः॥
स श्रीकृष्णः परं ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः।
उपास्य इष्टदेवो नः सर्वाविर्भावकारणम्॥
स राधया युतो ज्ञेयो राधाकृष्ण इति प्रभुः।
रुक्मिण्या रमयोपेतो लक्ष्मीनारायणः स हि॥
ज्ञेयोऽर्जुनेन युक्तोऽसौ नरनारायणाभिधः।
बलभद्रादियोगेन तत्तन्नामोच्यते स च॥

एते राधादयो भक्ताः तस्य स्युः पार्श्वतः क्वचित्।
क्वचित् तदंगेऽतिस्नेहात् सतु ज्ञेयः तदैकलः ।।
(शिक्षापत्री : १०४-१११).

यहां अतिरिक्त दो तत्त्वों, नामतः ईश्वर और अक्षरब्रह्म, का अनुल्लेख साथ ही साथ मूर्तीभूत अक्षरब्रह्मके भीतर पुरुषोत्तमकी अवस्थितिके बजाय स्वयं साक्षात् पुरुषोत्तमके भीतर इन तथाकथित ईश्वरके मूर्तिरूप पार्श्ववर्तिओंकी अतिस्नेहवश अवस्थानकी कथा सर्वथा विपरीत कथा ही लग रही है.

श्रीनित्यानन्द मुनिकृत *शाण्डिल्यसूत्रभाष्यम्* के साथ इसका संवाद भी उपलब्ध होता है यथा "**क्षरं प्रधानम् अक्षरं पुरुषः. अनेन मिथः संसृष्टत्त्वस्वभावकथनात् तुषातण्डुलयोरिव एकीभूय बीजभावः परमात्मनः उपादानभावे द्वारम् इति विशेषः च आचितोः दर्शितः... एवं मायाजीवेशानां स्वरूपस्वभावनिर्णयम् उक्त्वा प्रकृतम् अनुसरति**" (शा.सू.भा.२।१।१७-१८). यहां हम देख सकते हैं कि समूचे ग्रन्थमें तत्त्वपञ्चक कहीं भी वर्णित नहीं हुवा है प्रत्युत उद्धृत वाक्यांशमें कण्ठतः अक्षरब्रह्माऽद्वारक अर्थात् तुषातण्डुलन्यायेन प्रधानपुरुषद्वारक परमात्माकी उपादानता तथा मायाजीवेशकी त्रिपुटी ही प्रतिपादित हुयी है! भूलना नहीं चाहिये कि इन्हीं श्रीनित्यानन्द मुनिका नाम *वचनामृत* के संकलनकारोंमें भी उल्लिखित है. अतः इनका यह तत्त्वपञ्चकके बारेमें मौन अतिशय विषम स्थितिमें तत्त्वपञ्चककी धारणाके प्रामाण्यको रख देता है. यही कथा एतत्सम्प्रदायानुसारि श्रीगोपालानन्द स्वामिकृत ब्रह्मसूत्रभाष्यके अवलोकन करनेपर भी प्रकट होती है. यहां यद्यपि तत्त्वपञ्चककी धारणा तो प्रस्तुत हो गयी है परन्तु फिरभी अक्षरब्रह्मके मूर्तिमान स्वरूपतया स्त्री-आकारवाली राधालक्ष्मी आदिके निष्कासनपूर्वक पुरुषाकार श्रीगुणातीतानन्द स्वामीकी धारणा कमसे कम मुझे कहीं दिखलायी नहीं दी. द्रष्टव्य : "**महामुक्तैः सेवितम् अन्यं क्षराक्षरपुरुषभिन्नम् ईशं सर्वनियन्तारं राधालक्ष्मीपतिम्**"

(ब्र.सू.भा.र.१।२।११). यह विधान *शिक्षापत्री* के पूर्वोद्धृत "एते राधादयो भक्ताः तस्य स्युः पार्श्वतः क्वचित् क्वचित् तदंगे अतिस्नेहात् सतु ज्ञेयः तदा एकलः" से सर्वथा सुसंगत भी लगती है.

फिरभी सम्माननीय प्राध्यापक श्रीरमेश दवेका एक विलक्षण वदतोव्याघात कि "Akshar too has a divine personality...in human form. However, the mayika distinction of male or female do not apply to him for he is beyond the three gunas of maya" (द भक्तभगवान् रिलेशनशिप पृ.१२७) यह तो श्रीजी महाराजकी मूलविचारधारासे असंगत सा ही प्रतीत होता है, यह मूलासंगति पंचालामें दिये गये उपदेशके आधारपर भी सिद्ध होती है—

> "श्रीजी महाराज बोले कि हमने बहुत दैर तक विचार किया और समस्त शास्त्रोंपर दृष्टि डाल कर देखा तो हमें ऐसा ज्ञात हुवा कि 'श्रीकृष्ण जैसा सर्वशक्तिसम्पन्न कोई अन्य अवतार नहीं हुवा'... वह किस प्रकार? सुनिये : सर्वप्रथम स्वयं श्रीकृष्ण भगवान्ने देवकीकी कोखसे जन्म लिया तब शंख-चक्र-गदा-पद्म धारण कर उन्हें चतुर्भुजरूपमें दर्शन दिया. इसके द्वारा उन्होंने लक्ष्मीपति वैकुण्ठनाथका भाव अपने स्वरूपमें दिखलाया. उन्होंने माता यशोदाको अपने मुखमें विश्वरूप दिखाया. इससे उन्होंने सहस्रशीर्षरूप द्वारा अनिरुद्धभाव स्वयंके स्वरूपमें दिखाया तथा अक्रूरको यमुनाकी धारामें दर्शन दिया. इससे शेषशायिभाव दिखाया. तथा युद्धस्थलमें अर्जुनको विश्वरूप दिखलाया... इस प्रकार अनन्त ब्रह्माण्ड दिखलाकर पुरुषोत्तमभाव बताया. तथा स्वयं श्रीकृष्णने कहा कि 'यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम् अक्षरादपि च उत्तमः अतो अस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' इस प्रकार श्रीकृष्णने स्वयं अपना

पुरुषोत्तमभाव दिखाया. गोलोकवासी राधिकासहित श्रीकृष्ण भी स्वयमेव थे...इस दृष्टिसे भी कृष्णावतार जैसा कोई अवतार नहीं है. वस्तुतः यही सर्वोपरि है.'' (वचना.पंचा.६।१३२).

अतएव मुझे यही अब अतीव जिज्ञासित है. क्योंकि मानवीय स्वरूप या तो पुरुषाकार होता है या स्त्र्याकार, पृथक तो होता नहीं. ऐसी स्थितिमें केवल रामानुजमताभिप्रेत लक्ष्मीसेवित नारायणकी परमपुरुषताके स्थानपर पुरुषाकारद्वयीकी परमपुरुषताके प्रतिपादनकी संगति कैसे बैठानी! वह न तो श्रीजी महाराजकी स्वघोषित अनुगामिताके आधारपर और न उनके *शिक्षापत्री* में उपलभ्यमान कण्ठोक्त वचनोकें आधारपर निरस्त हो पायेगी. ऐसी स्थितिमें श्रीगुणातीतानन्दजीको अक्षरब्रह्मके मूर्तिमान स्वरूपके रूपमें प्रस्तुत करना केवल *वचनामृत* के भी आनुमानिक आधारपर ही सम्भव है. अर्थात् *शिक्षापत्री* का इस विषयमें काष्ठमौन अतिशय खटकनेवाली बात मुझे लगती है. इसके अलावा वचनामृतमें उपलभ्यमान उपदेशोंका भी इस सन्दर्भमें अवगाहन करनेपर इस विषयमें एक और बात स्फुरित होती है. यथा ''जब भगवान् मायामें आते हैं तब माया भी अक्षरधामरूप हो जाती है. यदि चौबीस तत्त्वोंमें प्रविष्ट हों तो चौबीस तत्त्व भी ब्रह्मरूप हो जाते हैं'' (वचना.वरता.७।२०७) ऐसा सुस्पष्ट शब्दोंमें सिद्धान्तित है ही. फिर भी व्यर्थ ही रामानुजाभिमत श्रीशक्तिको मायिक मानना या परोक्षवृत्तिसे उसकी गौणता ध्वनित करनी, इसमें प्रयोजन क्या है यह स्पष्ट नहीं हो पाता! जबकि स्वयं भागवतपुराणके ''निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः'' (भाग.पुरा.२।४।१४) वचनकी रामानुजी व्याख्यामें तो यद्यपि नहीं परन्तु जिनकी श्रीकृष्णसेवारीतिको नियतानुसर्तव्य घोषित किया गया ऐसे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी सुबोधिनीमें तो '' 'निरस्तसाम्ये'ति काचिद् भगवतः सिद्धिः अस्ति 'राधस्'शब्दवाच्या. न तादृशी सिद्धिः क्वचिद् अन्यत्र नवा ततोऽपि अधिका. तया सिद्धचा भगवान् स्वगृहएव रमते. तच्च

अक्षरात्मकं बह्म. 'रंस्यन्' इति स्वनिष्ठमेव रसं तत्सम्बन्धाद् अभिव्यक्तं करोति इति. एतावता स्वरूपस्थितिव्यतिरेकेण न अन्यत्र रंस्यति इति भगवदीयो रसः तत्रैव प्राप्तव्यः. गृहञ्च तस्यैव. तत्साधनं च निरस्तसाम्यातिशया सिद्धिः.'' — ''यदा भगवान् स्वशक्तिरूपेण आविर्भूतः तदा शक्तीनां मध्ये श्रीः प्रथमा. सा शरीरएव बलवत् पूर्वं स्थिता. यदा भगवान् प्रभुत्वेन आविर्भूतः तदा सापि भोग्यत्वेन आविर्भूता भार्येव... तस्याः शरीरन्तु ब्रह्मानन्दरूपम्...साहिअक्षरस्यआनन्दरूपा.'' (भाग.सुबो.२।४।१४ — २।९।१३) अतः महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्याविर्भावित श्रीकृष्णसेवारीतिको अनुसरना अनिवार्य हो तो ''श्री+कृष्ण=श्रीकृष्ण'' समीकरणसिद्ध राधासहित कृष्ण ही सर्वाधिक्येन भजनीय होते हैं. बजाय कि श्रीगुणातीतानन्दस्वामिसहित श्रीसहजानन्दजीके भजनके.

(५.प्रकटपुरुषोत्तमताकी प्रयोगान्वितिमें सीमा)

खैर, सभी सम्प्रदायोंने अपने-अपने मूलाचार्योंको भगवदवतार तो माना ही है. इस सन्दर्भमें मेरे वचनोंको अन्यथा आशयमें न लिया जाये तो कहना चाहूंगा कि केवलाद्वैत सम्प्रदायके प्रवर्तक ''अहं ब्रह्मास्मि''के उपदेष्टा भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यने स्वयंके पूजामन्दिर नहीं प्रत्युत सामान्यशास्त्रसिद्ध विविध देवताओंकी ही मूर्तिओंके ही मन्दिर सिद्ध करवा कर पञ्चदेवोपासना अथवा शैव शाक्त स्कान्द गाणपत्य सौर तथा वैष्णव आराधनाके षड्विध मार्गोंका प्रचार किया था. यतिवर श्रीरामानुजाचार्य भी शेषावतारतया मान्य होनेपर भी श्रीलक्ष्मी-श्रीनारायणके ही मन्दिर स्थापित कर गये. यही कथा माध्वसम्प्रदायमें भी है. स्वयं श्रीचैतन्य महाप्रभुको भी श्रीकृष्णके अवतार माना जाता है, कहीं तो श्रीकृष्णसे अधिक भी परन्तु श्रीराधाकृष्णको गौण बना कर उनकी पूजाको बढ़ावा देनेवाले मन्दिर अल्प ही है. वाल्लभ सम्प्रदायमें भी महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यको ''वस्तुतः कृष्णएव'' (गोस्वामिश्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणकृत श्रीवल्लभाष्टक श्लो.८) माना गया है साक्षात् श्रीकृष्णमुखारविन्दके अवताररूप. हालमें इधर सो-डेढ़ सो वर्षमें अनधीतसिद्धान्त अनुगामिओंने

हम अयोग्य महाराजश्रीओंमें अपनी श्रद्धा खो देनेके कारण नवीन वल्लभपन्थ अवश्य चलाया है. अन्यथा आराधनार्थ श्रीकृष्णकी महत्ता कभी वाल्लभ सम्प्रदायमें गौण नहीं बनायी गयी.

श्रीसहजानन्दजीके भी साक्षात् पुरुषोत्तमस्वरूप होनेमें, अतः सम्प्रदायद्वेषरहित किसीको भी किसी तरहकी कोई सैद्धान्तिक आपत्ति तो हो ही नहीं सकती. और न श्रीजीमहाराजके सहयोगी श्रीगुणातीतानन्दजीके अक्षरब्रह्मस्वरूप होनेमें भी. जो बात, परन्तु, सैद्धान्तिक विवेचनाके अन्तर्गत समझ नहीं आती वह यह है कि एतावता स्वामिनारायणीय मन्दिरोंमें श्रीकृष्ण या श्रीलक्ष्मीनारायण की जो अब गौणता प्रदर्शित करनेको श्रीजीमहाराजके पार्श्वमें उनको प्रतिष्ठापित किया जाता है, उसकी वाचनिक संगति कैसे बैठानी? इस विरोधाभासके उपशमनार्थ क्या-कैसी उपपत्तियां हैं यह भी मुझे जिज्ञास्य लगता है.

(६.आधुनिक एतन्मताभिज्ञोंके मत एवं कर्तव्य)

श्रीस्वामिनारायण सम्प्रदायके आधुनिक विद्वानोंका ऐसी स्थितिमें यह अवश्यानुष्ठेय कर्तव्य बन जाता है कि इस विषयमें साम्प्रदायिक समाधान प्रकट करें. यदि इन पांच तत्त्वोंका अन्तर्भाव रामानुजीय तत्त्वत्रयीमें करना अभिप्रेत माना होता, जैसे कि तत्त्वत्रयीकी व्याख्याके रूपमें श्रीवेदान्तदेशिकने द्रव्याद्रव्यादिके विभागका प्रतिपादन किया है, तो प्रकट होता अन्तर्विरोधाभास अवश्य ही कुछ शिथिल बन जाता. यह तत्त्वपञ्चककी कल्पना परन्तु इतनी अधिक न केवल रामानुजमतासहिष्णु है प्रत्युत स्वयं *शिक्षापत्री* के साथ भी कितनी असहिष्णुता प्रकट करती है, यह देख कर अतीव विस्मय होता है! एतदर्थ श्रीजीमहाराजके वचनोके साथ स्पष्टतया झलकते विरोधाभासको देखना हो तो इस सम्प्रदायके आधुनिक विद्वानोंके उद्गारोंके साथ मूलवचनोंका तुलनात्मक विमर्श आवश्यक लगता है. एक नहीं प्रत्युत अनेक विद्वान समवेत स्वरोंमें निरन्तर अपने दार्शनिक सिद्धान्तको अरामानुजीय तथा अपनी

आराधनाप्रणालीको अपुष्टिमार्गीय सिद्ध करनेकी भरसक चेष्टा करते रहते हैं. यह अपने अधुनाविकसित रूपमें एक निष्ठुर सत्य हो सकता है परन्तु निजाचार्योक्तिके प्रामाण्यनिर्वाहका विकराल प्रश्न असमाहित रह जाता है.

वैसे धर्म-दर्शनोंकी विविधताको मैं भारतीय चेतनाकी आत्मा मानता हूं. सो आज नहीं तो कल यह होना तो था ही. यह, वैसे, नितान्त अभिनन्दनीय भी होता है! क्योंकि प्रत्येक धर्मसम्प्रदायोंमें कुछ कालके बाद इतनी सारी निर्दय रूढि तथा श्रद्धालु जनताकी श्रद्धाके शोषणके इतने मलिन रूप उभर जाते हैं कि नवीन सम्प्रदाय उभर कर उनका प्रतीकार न करें तो जनसाधारण आध्यात्मिकताके ऊपर ही विश्वास खो देनेके कगार तक पहुंच जाता है! प्रश्न यहां, किन्तु, धार्मिक आस्थाकी विशुद्धिके निर्वाहका उतना नहीं है जितना कि श्रीजीमहाराजके वचनोंके अभिप्रायोंकी यथोपदिष्टमीमांसाका है. एतदर्थ पूर्वोदाहृत उपदेशोंको दोहरा कर अधुनाप्रकट विरोधाभासको देख लेना प्रासंगिक होगा —

(१)''शारीरकाणां भगवद्गीतायाः च अवगम्यतां रामानुजाचार्यकृतं भाष्यम् आध्यात्मिकं मम''.

(२)''मतं विशिष्टाद्वैतं मे''.

(३)''ज्ञेयः स्वतन्त्र ईशोऽसौ सर्वकर्मफलप्रदः स श्रीकृष्णः परं ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः उपास्य इष्टदेवो नः सर्वाविर्भावकारणं स राधया युतो ज्ञेयो राधाकृष्ण इति प्रभुः. रुक्मिण्या रमयोपेतो लक्ष्मीनारायणाभिधः''(यथापूर्वोद्धृत).

विरुद्ध

'' 'In Gujarat there is an active reforming sect called Swami-Narayanis *who worship*

Krishna and Radha. The founder, Sahajanand or Swami-Narayan, disgusted with the gross immorality of the Vallabhas, began shortly aftter 1804 to denounce them and to teach a purer system. He soon gathered a large compny of follwers and a sect was formed... *Their philosophy is the Vishishtadvaita of Ramanuja, but in their theololgy they follow Vallabha... They retain the Vallabh mantra...'* Thus we see that Farquhar has allotted only one paragraph to Swāminārāyaṇism; and even in such a small description, he has made more than five false statements which have been put by us in italics'' (श्री ज.आ.याज्ञिककृत 'द फिलोसॉफी ऑफ श्रीस्वामिनारायण' पृ.१०).

वैसे तो वाल्लभ देवशास्त्र भी श्रीजी महाराजको मान्य है ही और इसे शिक्षापत्रीके आधारपर सिद्ध भी किया जा सकता है. इस तथ्यकी, परन्तु, उपेक्षा भी कर के चलें तब भी इतना तो ध्रुव निश्चित है कि उपरि निर्दिष्ट विरोधाभासके चलते श्रीजी महाराजकी रामानुजमतानुगामिताके निजकण्ठोक्त वचन अब या तो अप्रामाणिक ठहराने पड़ेंगे या फिर रामानुजमतानुगामिताविशिष्ट विशिष्टाद्वैतवादिता स्वीकारे बिना कोई समाधान ही दृष्टिगत नहीं होता.

सम्माननीय विद्वान् श्री ज.आ.याज्ञिक महोदयने ६६वें इंडियन् फिलोसोफिकल् कॉन्ग्रेस्में प्रस्तुत किये आलेखपत्र ''विशिष्टाद्वैत ऑफ् स्वामिनारायण''के द्वितीय परिच्छेदमें स्वामिनारायणीय वेदान्तको रामानुजीय

विशिष्टाद्वैतवादसे पृथक् सिद्ध करनेको छह हेतु दिये हैं. इनमें रामानुजीय विशिष्टाद्वैतवादकी धारणामें दोषोद्भावना भी की गयी है.

वैसे वह मुझे इतनी गम्भीर नहीं लगती परन्तु उन्हें मान कर भी चलें तो मुझे यह कहनेकी तो इच्छा प्रबल ही होती है कि ये सारे दोष स्वयं श्रीजी महाराजके **''शारीरकाणां भगवद्गीतायाः च अवगम्यतां रामानुजकृतं भाष्यम्''** — **''मतं विशिष्टाद्वैतं मे''** (यथापूर्वोद्धृत) वचनोंपर लागू हो कर उनके वचनोंके प्रामाण्यको निरस्त ही कर देंगे!

इसमें प्रथम हेतु तत्त्वपञ्चककी अंगीकृतिको बनाया गया है. इसका विचार तो हमने कर ही लिया. द्वितीय हेतुतया रामानुजधारणाके बारेमें सर्वपल्ली श्रीराधकृष्णन्द्वारा उद्भावित दोषको सम्मान्य श्रीयाज्ञिक महोदयने प्रस्तुत किया है. वह दोष यह है कि रामानुजीय विशिष्टाद्वैतवादमें भगवान् सर्वेसर्वा हैं तथा जीवात्मा तथा शरीर तो उनके केवल उपकरणरूप होते हैं. इसे श्रीयाज्ञिक महोदय भगवान्की परिपूर्णता लोकोत्तरता तथा अपराधीनता के विरुद्ध जाती बात मानते हैं और कहते हैं कि ऐसा दोष स्वामिनारायणीय दृष्टिमें नहीं खोजा जा सकता, क्योंकि केवल अन्तर्यामिशक्तिके द्वारा ही यहां शरीरशरीरिभाव स्वीकारा गया है. अब अपृथक्सिद्ध शरीरशरीरिभावके बारेमें श्रीयाज्ञिक महोदयका कहना है कि रामानुजमतमें, क्योंकि, अपृथक्सिद्ध चिदचिच्छरीरविशिष्ट माना गया है, अतः परमतत्त्वके स्वरूपमें शरीरनिर्भरतया चिदचिदतीतता सिद्ध नहीं हो पाती. जबकि केवल अन्तर्यामितामूलक शरीरशरीरिभावमें यह दोष प्रसक्त नहीं होता. मुझे इस विषयमें यों लगता है कि इस आधुनिक स्वामिनारायणीय सिद्धान्तमें भी यदि सृष्टिसे पूर्व पुरुषोत्तम सूक्ष्मचिदचिच्छरीरविशिष्ट न हों तो चार या पांच ही गति अवलम्बनार्थ बच जाती हैं:

(१)या तो सूक्ष्म चिदचित्को अनित्य मानना. (२)या

उन्हें सूक्ष्मावस्थामें पुरुषोत्तमके अशरीरभूत किसी तत्त्वरूप या तज्जन्य मानना. (३)या फिर आकाशोपम केवल आधारभूत पुरुषोत्तमके स्वरूपमें हुवा प्रकट मानना. (४)या सुवर्णोपम अविकृतपरिणामि-उपादानरूप पुरुषोत्तमके स्वरूपमेंसे परिणत मानना. (५)या शुक्तिरजतोपम मिथ्या मान लेना.

(१)अनित्य माननेपर तत्त्वपञ्चकका शाश्वत तत्त्व होना निरस्त हो जायेगा. (२)पुरुषोत्तमके अशरीरभूत किसी तत्त्वरूप या तज्जन्य माननेपर पुरुषोत्तमकी व्यापकता इस तरह निरस्त हो जायेगी कि वह अन्तर्यामी भी सिद्ध नहीं हो पायेगा. अन्यथा पुरुषोत्तमकी परमव्यापकता उसमें शरीरितया अनुक्तसिद्ध ही रहेगी. (३)कल्पमें या तो विज्ञानभिक्षुके वेदान्तमें प्रवेश गलेपतित होगा. (४)कल्पमें वाल्लभ वेदान्तमें स्वामिनारायणीय मतका अनुपदिष्ट समावेश गलेपतित होगा. (५)कल्पमें शांकरवेदान्तमें स्वामिनारायणीय मत पर्यवसित हो जायेगा.

सृष्टिके आधारतया यहां परब्रह्मको प्रस्तुत करनेके बजाय अक्षरब्रह्मको प्रस्तुत किया गया है. तथा उस अक्षरब्रह्मको भी पुनः स्वरूपेण नहीं परन्तु स्थूल जगत्के स्वरूपेण परिणामि-उपादानरूप प्रकृति-पुरुषके व्यापकत्वेन तथा नियामकत्वेन शरीरिकारण माना गया है.

भारमापक यन्त्रपर साक्षात् रखे बिना कोई पुरुष अपने सामानको निज कन्धोंपर लाद कर अपना भार मापना चाहे तो उसमें सामानका भार क्या व्यक्तिभारके साथ जुड़ नहीं जायेगा! यों केवल अक्षरतत्त्वको तथा प्रकृति-पुरुषतत्त्वोंको अन्तर्गडु बनानेसे भी आपत्ति टल तो नहीं पायेगी और टलती होगी तो रामानुजीय वेदान्तमें भी टल जायेगी. क्योंकि आत्यन्तिक भेद तो दोनों ही मतोंमें समान है और इसी तरह विशिष्टका ऐक्य भी. अतः एकान्तरित द्वयन्तरित अथवा त्र्यन्तरित शरीरापेक्षाके व्याजवश रामानुजमतका प्रत्याख्यान सम्भव नहीं लगता.

इसी तरह सृष्टि स्वार्थ है या परार्थ इस समस्याके बारेमें भी मुझे तो यही लगता है कि जीवानुकम्पार्थ माननेपर भी अनुकम्पा यदि परमात्माका स्वभाव हो तो स्वार्थ ही सिद्ध होगी तथा प्रार्थित उपकारप्रदर्शन हो तो सृष्टिपूर्व वह अप्रसक्त ही होनेसे हेतु नहीं बन पायेगा.

तृतीय दोषतया रामानुजमतमें चिदचिच्छरीरोंकी अनिवार्यताको गिनाया गया है किन्तु वह भगवान्के metaphysical aspect सृष्टिकर्तृरूपमें अनिवार्य होनेपर भी theological aspect भगवान्के दिव्यधामस्थित स्वरूपमें वह रामानुजमतमें भी अनिवार्य मानी नहीं जा सकती. श्रीयाज्ञिक महोदय कहते हैं "Thus Viśiṣṭādvaitism of Sri Svāmināràyaṇaṅ does not regard the world of matter and souls as an organic to the nature of God" (तत्रैव पृ.७) परन्तु शरीरितया अन्तःप्रवेशके बावजूद ऑर्गनिक नहीं मानना वदतोव्याघात ही है. हम कह चुके हैं कि आत्यन्तिक भेद तो उभयमतोंमें मान्य है. धार्यधारकभावरूपा विधृति इतरेतरव्यापृति interaction के बिना शक्य नहीं हो पाती. तदायत्तोत्पत्तिकत्व तदायत्तस्थितिकत्व तदायत्तप्रवृत्तिकत्व आदि शरीरीके उत्पादक आधार प्रेरक हुवे बिना शक्य नहीं. और इससे बचनेको जो उपपत्ति खोजी जायेगी उसका लाभ रामानुजीय मतको भी मिलेगा ही.

श्रीयाज्ञिक महोदय कहते हैं कि रामानुजमतमें परस्परापेक्षा दोष है जो स्वामिनारायणीय मतमें नहीं. मुझे लगता है कि यदि अक्षरब्रह्मको धाम माना जाता है तो पुरुषोत्तमको अपने अवस्थानार्थ उसकी अपेक्षा रहेगी ही. प्रत्युत नियतधाम होनेके कारण अक्षरब्रह्ममें धर्मिरूपताकी और परब्रह्ममें अक्षरब्रह्मके धर्मरूप होनेकी आशंका भी उठ सकती है, धर्मकी व्याख्या ही "तद्वृत्तिमत्त्वम्" (न्यायकोश पृ.३८६) मानी जाती होनेसे.

अस्तु यह तो स्थालिपुलाकन्यायेन कुछ समाधान हैं जो मुझे

श्रीजी महाराजको मान्य विशिष्टाद्वैतकी उपपन्नताके हेतु स्फुरित होते हैं. आवश्यकता इस बातकी नहीं परन्तु स्वयं श्रीजी महाराजके वचनोंकी ऐसे आधुनिक विधानोंके साथ क्या संगति बैठानी इसकी ही महती है.

इनके अलावा 'द भक्त भगवान्' संगोष्ठीमें साधु श्रीहरिदासजजीने अपने आलेखपत्रमें कहते हैं "Swaminarayan accepts the fundamental principles of Ramanuja as basis of his philosophy, but goes much beyond him" ('द भक्त भगवान् रिलेशनशिप' पृ.१८९) इस रामानुजवेदान्तातिगामिताकी सिद्धि जीवात्माओंके उद्धारार्थ ब्रह्माण्डोत्पत्तिके द्वारा आधुनिक स्वामिनारायणीय मतमें की है. जिज्ञास्य इस विषयमें यही है कि सृष्टिनिर्माण यदि जीवात्माओंके प्रति करुणातिरेकवश उद्धारके गम्भीर प्रयत्नरूप मानी जाये तो पुरुषको प्रकृतिके साथ जोड़ना और फिर उद्धार करना "**प्रक्षालनाद् हि पंकस्य दूराद् अस्पर्शनं वरम्**" न्यायेन उन्मत्तपुरुषवत् दुष्क्रमावलम्बन है. इसके बजाय तो रामानुजाचार्यकी निष्प्रयोजन कन्दुकक्रीडा "**न प्रयोजनवत्त्वात् लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्**" (ब्र.सू.२।१।३२-३३) सौत्र आक्षेप और समाधान के साथ अधिक सुसंगत प्रतीत होते हैं.

इसके अलावा रामानुजमतमें ब्रह्मपरिणामवाद अंगीकृत है जबकि आधुनिक स्वामिनारायणीय मतमें परब्रह्मप्रशासित प्रकृतिपरिणामवाद माना गया है, ऐसा साधु श्रीहरिदासजीका कहना है. प्रश्न यहां यह उठता है कि क्या रामानुजमतमे अचित्प्रकृति परब्रह्मप्रशासित नहीं है? श्रीरामानुजाचार्यका इस बारेमें क्या कहना है यह देखना हो तो : "**तस्मात् क्षेत्रज्ञकर्मानुगुणं मदीया प्रकृतिः सत्यसंकल्पेन मया अध्यक्षेण ईक्षिता सचराचरं जगत् सूयते अनेन क्षेत्रज्ञकर्मानुगुणमदीक्षणेन हेतुना जगद् विपरिवर्ततइति मत्स्वाम्यं सत्यसंकल्पत्वं नैर्घृण्यादिदोषरहितत्वम् इत्येमादिकं वसुदेवसूनोः ऐश्वरं योगं पश्य**" (गीताभा.९।१०) इससे कौन सी अधिक बात परब्रह्मप्रशासित प्रकृतिपरिणामवादतया कही जा रही है!

(७.साधनाप्रणाली)

वैसे श्रीजी महाराजसे ३०३ वर्ष पूर्व हुवे श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभुने भी अक्षरब्रह्मके बारेमें शुद्धाद्वैतवादका अवलम्बन कर के बहोत सारी वे ही बातें स्वीकारी तथा निज ग्रन्थोंमें अनेकत्र प्रतिपादित भी की हैं, यथा, अक्षरब्रह्म भगवद्धामरूप होता है, अद्वयज्ञानमार्गीयोपासनाद्वारा अक्षरब्रह्मसायुज्य होता है, अक्षरब्रह्मको अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके देशकालवस्तुपरिच्छेदरहित आधारतया तथा उसके सकलकारणकलापोंके उपादानकारणतया एवं निजदहराकाशतया भी निहार कर उसमें परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णको अवस्थित मान कर भजन करनेवाला अक्षरब्रह्मात्मक व्यापिवैकुण्ठमें अक्षरात्मक देह प्राप्त कर भगवद्भजनका मोक्षावस्थामें भी निर्वाह कर पाता है आदि-आदि. अतः वाल्लभ वेदान्तकी दृष्टिसे अक्षरब्रह्मकी स्वीकृति भगवान् पुरुषोत्तममें सुदृढ-सर्वतोधिक स्नेहके पूर्वांगरूप माहात्म्यज्ञानके अंगतया अनिवार्य होनेसे सहज सम्भव है कि पुष्टिमार्गीय भक्तिके अनुसरणार्थ रामानुज मतमें इदमित्थतया अंगीकृत न होनेपर भी उसे अपना लिया गया हो. तथा रामानुजमतीय विशिष्टाद्वैतसे वह असंगत न हो जाये एतदर्थ पुरुषोत्तमसे उसे अत्यन्त भिन्न तथा शरीररूप भी मान लिया गया हो. यों रामानुज वेदान्त तथा वाल्लभ वेदान्त का एक अद्भुत समन्वय यहां करनेका प्रयास जो प्रकट होता वह अवश्य भारतीय दर्शनशास्त्रके इतिहासमें एक उल्लेखनीय अध्यायको जोड़ा गया माना जाना चाहिये. फिर भी श्रीजी महाराजके वचनोंके प्रामाण्य और आन्तरिकसंगतिकी समस्याका समाधान क्या ?

(८.समाधानोपायकी सम्भावित रूपरेखा)

इस दिशामें कुछ संशोधन तथा समाधान प्राप्त हों तदर्थ **''मद्रूपमिति मद्वाणी मान्या इयं परमादरात्''** उनकी आज्ञाको शिरोधार्य करे बिना कोई उपाय समाधानकारी प्रतीत नहीं होता. क्योंकि अधुनाविकसित श्रीस्वामिनारायणीय मतमें न तो श्रीवेदान्तदेशिकोल्लिखित तत्त्वविभाजनको

किसी तरहकी सैद्धान्तिक मान्यता दी जाती है और न निजाचार्यकण्ठोक्त रामानुजीयविशिष्टाद्वैतवादको ही आधुनिक श्रीस्वामिनारायणीय मतके विद्वान यथावत् स्वीकारने उद्यत हैं. कभी 'विशिष्टविशिष्टाद्वैतवाद' तो कभी 'नव्यविशिष्टाद्वैतवाद' कह कर रामानुजीय विचाररीतिसे अपने-आपको पृथक्तया प्रस्थापित करनेका ही प्रयास अधिक मुखरित होता पाया जाता है. एतावता यह सिद्ध होता है कि रामानुजीय विशिष्टाद्वैतवादमें भी अब एतन्मतानुयायिओंको कोई गहरी विप्रतिपत्ति कहीं-कुछ खटकती होगी. वैसे यह तो, कहना पड़ेगा कि, निजाचार्यके आदेशके प्रति अनादर प्रकट किया जा रहा झलकता है!

इमामेव ततो नित्यमनुसृत्य ममाश्रितैः।
यतात्मभिः वर्तितव्यं नतु स्वैरं कदाचन।।
नेत्थं य आचरिष्यन्ति तेत्वस्मत्सम्प्रदायतः।
बहिर्भूता इति ज्ञेयं स्त्रीपुंसैः साम्प्रदायिकैः।।
शिक्षापत्र्याः प्रतिदिनं पाठोऽस्या मदुपाश्रितैः।
कर्तव्योऽनक्षरज्ञैस्तु श्रवणं कार्यमादरात्।।
वक्त्रभावेतु पूजैव कार्याऽस्याः प्रतिवासरम्।
मद्रूपमिति मद्वाणी मान्येयं परमादरात्।।
(शिक्षापत्री : २०५-२०९).

इस ऐसी आज्ञाके कारण इस दिव्यग्रन्थका अनतिसाधारण महत्त्व सिद्ध तो होता ही है. फिरभी रामानुजीय वेदान्तसे निजपार्थक्यपर भार देनेको स्वाभाविकतया वचनामृतोंका अधिकावलम्बन आधुनिक अनुगामिओंके लिये जो अपरिहार्य बना है उस सन्दर्भमें अब प्रामाण्यतारतम्य जिज्ञास्य बन जाता है. क्योंकि *वचनामृत* तथा *शिक्षापत्री* के बीच जहां एकरूपता न झलकती हो वहां समप्रामाण्यवश दोनों ग्रन्थोंका विकल्पेन आश्रयण करना अथवा तरतमप्रामाण्यवश? यदि तारत्म्यवश तो किसके आधारपर किसका व्याख्यान करना?

क्या बौद्ध धर्ममें जैसे आरुरुक्षुके अपरपर्यायरूप विनेयजन तथा आरूढके अपरपर्यायरूप विनीतजन के अधिकारिताभेदके वश दृष्टिभेदका उपदेश दिया गया, ऐसे ही व्याख्यानीति यहां भी अपनानी? अथवा जैनोंने जैसे विकलादेश तथा सकलादेश की भेदकल्पनाके द्वारा सप्तविध नय और प्रमाण के बीच आपेक्षिक भेद तथा अभेद की स्वीकृतिरूप सकलनयसमाहारके द्वारा उपदेशसामञ्जस्य बैठाया है, तद्वत् यहां श्रीजीमहाराजके दोनों ग्रन्थोंमें सामञ्जस्य खोजना? अथवा वाल्लभ सम्प्रदायमें महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके हस्ताक्षरोंमें उपलब्ध होती श्रीविष्णुस्वामिमतानुगामिता और भगवदाज्ञप्त पुष्टिभक्तिसम्प्रदायकी स्वतन्त्रताके बारेमें जैसे भाष्यरश्मिकार श्रीगोपेश्वरजीने महाप्रभु-विरचित षोडशगन्थोंमें [१]निर्गुणमत, भागवतसुबोधिनीमें [२]आधिदैविकमत, ब्रह्मसूत्रभाष्यमें [३]आध्यात्मिकमत; तथा तत्त्वार्थदीपनिबन्धमें [४]आधिभौतिकमत ऐसे चतुर्विध मतोंकी कल्पना करके कथञ्चित् सामञ्जस्य बैठाना चाहा था. ऐसे ही श्रीजीमहाराजको भी क्या रामानुजीय वेदान्त केवल आध्यात्मिक मततया ही अभिमत था? अर्थात् शिक्षापत्री में उन्हें जो मत मान्य है वह आध्यात्मिक मतका उपदेश है और *वचनामृत* में क्या उन्हें आधिदैविकतया मान्य किसी मतका उपदेश है? अथवा महाप्रभुके उभयविध हस्ताक्षरोंसे सिद्ध उनकी उभयमतानुगामिताके बारेमें स्वयं जो मुझे उचित प्रतीत होता है कि एक उनकी परम्पराप्राप्त दृष्टि थी और दूसरी उनकी स्वतन्त्रदृष्टि थी. इनमें पार्थक्य होनेपर भी विरोधाभास न होनेसे उभयदृष्टियोंको यथायथ स्वीकारा गया है. ऐसी ही कल्पना श्रीजीमहाराजकी मान्यताके बारेमें भी करनी? अथवा एकमें कर्तव्योपदेशकी प्रधानता है और दूसरेमें तत्त्वोपदेशकी इस तरह पूर्वोत्तरमीमांसान्याय क्या यहां अनुसरणीय है? अथवा आधुनिक पाश्चात्य आदर्शके अनुगामी चिन्तकोंके जैसी कालक्रमवश विचारपरिवर्तनकी कल्पनाद्वारा यहां सामञ्जस्य बैठाना? इन विविध सम्भावनाओंके बीच जो कुछ भी स्वसम्प्रदायदृष्ट्या उचित हो उसे निर्धारित करना श्रीस्वामिनारायणीय विद्वानोंका मुझे अवश्यानुष्ठेय कर्तव्य लगता है. क्योंकि क्या कारण है कि रामानुजमतीय तत्त्वविभाग इस मतमें अधुना स्वीकारा नहीं जाता

है? क्यों उसके स्थानपर परब्रह्म अक्षरब्रह्म ईश्वर जीव और माया रूपी पंचधा तत्त्वविभाग, जो वचनामृतोंमें उपलब्ध होता है उसीपर भार दिया जा रहा है? क्यों इन पंचविध तत्त्वोंका कोई भी स्पष्ट संकेत शिक्षापत्रीमें नहीं मिलता? इन तत्त्वोंके अंगीकारवश उपनिषद् ब्रह्मसूत्र या भगवद्गीता के वचनोंमें श्रीरामानुजभाष्योक्त अभिप्रायके विरुद्ध अर्थ तो स्वीकारना पड़ेगा. तब या तो रामानुजभाष्योक्त अर्थको अप्रमाण या फिर इन तत्त्वपञ्चककी कल्पनाको अप्रमाण मानना पड़ेगा. यों उभयतःपाशमें बुद्धि जकड़ जाती है. जो बात इन सबके अवलोकन करनेपर दुर्बोध लगती है, वह यही कि जिस तरहसे रामानुजमतके बारेमें अपनी निरुपाधिक स्वीकृति *शिक्षापत्री* में प्रकट होती है उसे शनैः-शनै *वचनामृतों* में क्यों शिथिल होती हुयी तथा परवर्ती विद्वानोंमें सर्वथा गौण ही नहीं प्रत्युत दोषोद्भावन पर्यन्त अनुपादेय बनायी जा रही है! क्यों परवर्ती लेखक अपने मतका रामानुजमतसे पार्थक्यको सिद्ध करनेमें अतीव आग्रहिल पाये जाते हैं? एतदर्थ निश्चय ही प्रामाण्यमीमांसा अब इस सन्दर्भमें अतीव प्रासंगिक मुझे प्रतीत होती है.

(९.उपसंहार)

तकलीफ इस बारेमें मुझे और कुछ भी नहीं सिवाय इसके कि स्वयं श्रीजी महाराजके वचनोंमें परस्पर समन्वय कैसे साधना! यही प्रक्रिया मुझे न केवल परेशान करती है परन्तु अपनी विनम्र जिज्ञासाको मुखरित करने भी उकसाती है. इति शम्.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीस्वामिनारायणीय दर्शनसिद्धान्त और भक्तिसाधना की विकसनप्रक्रिया(२)

(साधु श्रीश्रुतिप्रकाशदासजीके समाधानात्मक आलेखपत्रकी समीक्षा)

श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा ॥
सर्वभक्तसमुद्धारे विस्फुरन्तं परं नुमः ॥१॥
"स श्रीकृष्णः परं ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः ॥
उपास्यः इष्टदेवो नः सर्वाविर्भावकारणम्" ॥२॥
पुरुषोत्तमोऽयं गीतोक्तः सहजानन्देष्टदेवता ॥
परब्रह्मतया सोऽयं श्रुतिसूत्रप्रमाणकः ॥३॥
सर्वमान्येषु शास्त्रेषु यत्तु नैवोपलभ्यते ॥
श्रुतिप्रकाशदासीयं ब्रह्म तत् परमं कुतः ? ॥
ततः स्वगोष्ठिसिद्धं तत् शिष्यश्रद्धातिरेकतः ॥४॥
न मतञ्चापि तत् तत्र सहजानन्दस्वामिनाम् ॥
किञ्च सर्वैर्हि स्वगुरुः परब्रह्मतयादृतः ॥५॥
स्वगुरूक्तं परन्त्वेतैः चित्रं खल्वधरीकृतम् ॥
शास्त्रानुक्तं प्रमेयं चेत् परतत्त्वेन रूप्यते ॥६॥
बाह्यत्वापादकं तत्स्याद् वेदान्तकपटोऽथवा ॥
अस्वीकार्यस्तु सोऽयं हि गुरूक्तानादरो भृशम् ॥७॥
तस्मात्सम्प्रति चैतेषां गुरोर्वाक्यविचारणात् ॥
श्रुतिप्रकाशदासोक्तं साधूक्तं नावधार्यते ॥८॥

(१.उपक्रम)

मेरी यह सुदृढ़ धारणा है कि श्रीसहजानन्द स्वामीजी रामानुजवेदान्त

और वाल्लभवेदान्त के समन्वय द्वारा निश्चय ही एक विलक्षण और नूतन वेदान्तप्रक्रिया प्रवर्तित करना चाहते होंगे; और, इसी तरह वैष्णवी एकान्तभक्ति तथा स्मार्त पञ्चदेवोपासना के भी अतीव अनूठे संश्लेषण द्वारा एक नूतन धर्मसाधनाकी प्रणालीका भी सूत्रपात वे करना चाहते होंगे. यों उभयवेदान्तोंका एक विलक्षण समन्वित रूप ही इस उनके मतकी अपूर्वता दर्शनितिहासमें नूतन प्रदान सिद्ध करनेका पर्याप्त था! फिरभी रामानुज वाल्लभ तथा स्मार्त सम्प्रदायोंके तत्कालीन अनुगामिओंकी इस नूतनसम्प्रदायके प्रति असहिष्णुताके वश; तथा स्वयं स्वामिनारायण सम्प्रदायके अनुगामिओंमें भी पनपी प्रतिक्रियावादी मानसिकताके वश भी, स्वयंको अलग-थलग सिद्ध करनेकी दुर्दम महत्त्वाकांक्षाने वर्तमानमें इस सम्प्रदायकी दार्शनिक तथा धार्मिक धारणाओंका जो स्वरूप गढ़ा और बहुप्रचारित किया, वह स्वयं उनके श्रद्धाशील अनुगामिओंको स्वयं निजगुरुके कण्ठोक्त उपदेशोंसे अतीव दूर कहीं भटका देनेका एक विपरीत कार्य लगता है!

अपने इस अभिप्रायको प्रकट या प्रचारित करनेका न तो मेरे भीतर कोई निजसाम्प्रदायिक उत्साहातिरेक है और न वैसा परसम्प्रदायविद्वेष ही. क्योंकि श्रीसहजानन्द स्वामीजीने महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण और गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण की प्रशंसामें —

सर्ववैष्णवराजश्रीवल्लभाचार्यनन्दनः।
श्रीविट्ठलेशः कृतवान् यं व्रतोत्सवनिर्णयम्॥
कार्यास् तम् अनुसृत्यैव सर्वएव व्रतोत्सवाः।
सेवारीतिश्च कृष्णस्य ग्राह्या तदुदितैव हि॥

(शिक्षापत्री : ८१-८२).

ऐसे सौहार्दपूर्ण उदारभाव जो प्रकट किये हैं, उनके ऐसे भावोंके विपरीत कृतघ्नतापूर्ण सुहृद्द्रोह करना प्रस्तुत आलेखपत्रके लेखकको दुःस्वप्नमें

भी आचरणीय कृत्य नहीं लग सकता है. अतएव यह सविशेष उल्लेखनीय हो जाता है कि अपने अनुगामी जन निरर्थक ही अन्यसम्प्रदायसे कहीं प्रभावित न हो जायें, ऐसी भीति रखनेवाले सम्प्रदायप्रवर्तक अनेक धर्मोपदेशकोंसे विसदृश श्रीसहजानन्द स्वामीजीके जैसी निश्छल दार्शनिक तथा धार्मिक आत्मस्वीकृति सहसा उपलब्ध हो नहीं पाती!

इस देशके विभिन्न वैदिक सम्प्रदायोंके प्रवर्तक न केवल स्वयंको मान्य अपितु बहुमान्य शास्त्रोंके ही आधारपर अपनी धारणाओंकी सम्पुष्टि करते हैं. उनकी जो भी आत्मस्वीकृत धारणायें हों उनके कारण इन शास्त्रोंकी जिस पूर्वसिद्ध व्याख्यापरम्पराके साथ वे जुड़े होते हैं, उस व्याख्यापरम्परासे विरुद्ध जानेवाली परम्पराओंकी धारणाओंका भी कई बार निज धारणाके साथ समन्वय साधते हैं, यदि उन्हें निजविवेकवश वह सत्य और उचित लगता हो तो. भारतीय धर्म और दर्शन के इतिहासमें ऐसा कई बार घटित हुवा दिखलायी देता ही है.

इसे अपनी जनग्राह्यता प्राप्त करनेका छद्म मानना बहुधा साम्प्रदायिक पूर्वाग्रहवाली मानसिकता भी हो सकती है. अतएव श्रीसहजानन्द स्वामीजी या उनके सम्प्रदाय के प्रति किसी तरहके साम्प्रदायिक विद्वेष या सुहृद्द्रोह के रूपमें इस समीक्षाको देखनेके बजाय उनके प्रति विनम्र कृतज्ञताके प्रकाशनके रूपमें ही इसे लिया जाना चाहिये. प्रस्तुत आलेखनके आरम्भमें ही यह स्पष्टीकरण दे देना मुझे मेरा कर्तव्य लगता है.

विशेषमें इसलिये भी यह अपेक्षित लगता है क्योंकि स्वयं समादरणीय श्रीमान् ज. आ. याज्ञिक महोदयके साक्षात् मौखिक अत्याग्रहवश कि स्वामिनारायणसम्प्रदायके दर्शन और साधना के बारेमें, तब अहमदाबादमें आयोजित होनेवाली संगोष्ठीमें, मुझे ही आलेखपत्र प्रस्तुत करना चाहिये. सो वृद्धपुरुषके आग्रहका अनादर न करनी भावनावश ही मैंने आलेखप्रत्र प्रस्तुत करना चाहा था. अन्यान्य विद्वानोंके समक्ष तब उन्होंने यह

भी कहा कि "गो.श्या.म. यदि हमारी आलोचना भी करेंगे तो भी हम उनके आलेखपत्रको पढ़नेको उत्कण्ठित हैं" अतएव मैंने अपनी समझके अनुसार कुछ प्रश्न समाधानार्थ प्रस्तुत करने चाहे. बादमें अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, जिसके तत्त्वाधानमें वह संगोष्ठी होने जा रही थी उसके पदाधिकारी आदरणीय श्रीयुत श्रीप्रकाश दुबेजीने अपने पत्र (दि.१२।१०।०४) द्वारा मुझे यह सूचना भेजी :

"स्वामिनारायण सेश्वर वेदान्तका आपका व्याख्यान अहमदाबाद भेजा गया था, व्यवस्थाके अन्तर्गत. वहां इसे पढ़नेके उपरान्त श्रुतिप्रकाश स्वामीने बताया कि इसमें कुछ अंश ऐसे हैं जिनका वाचन वहांके मंचसे उपयुक्त नहीं होगा, परम्पराके परिप्रेक्ष्यमें कुछ संशोधन अपेक्षित है... उन्होंने कुछ संशोधन करके भेजे हैं... यदि आप इन संशोधनोंसे सहमत हों तो इन्हें यथावत् रखा जाय, वरना विवादमें न जा कर इस व्याख्यानको स्थगित करना श्रेयस्कर होगा."(अधोरेखांकन मेरेद्वारा योजित)

(२.समीक्षारम्भ)

यों उस विचारगोष्ठीमें शुभाशयोपेत प्रश्नोंपर तथा समाधानार्थ प्रस्तुत जिज्ञासाओं पर भी प्रतिबन्ध लगू किया गया. यह तो मुझे अति विस्मयजनक ही लगा! मैं समझता हूं कि सम्प्रति स्वामिनारायण सम्प्रदायके नूतन अनुगामी इन गम्भीर प्रश्नोंका समाधान न भी सोचना या खोजना चाहते हों न सोचें या न खोजें. कभी न कभी इनकी भावी पीढ़ीको भविष्यमें तो खोजने ही पड़ेंगे. क्योंकि श्रीसहजानन्द स्वामीजीकी —

"इति संक्षेपतो धर्माः सर्वेषां लिखिताः मया,
साम्प्रदायिकग्रन्थेभ्यो ज्ञेयः एषान्तु विस्तरः. सच्छास्त्राणां
समुद्धृत्य सर्वेषां सारम् आत्मना, पत्री इयं लिखिता नृणाम्

अभीष्टफलदायिनी. इमामेव ततो नित्यम् अनुसृत्य मम आश्रितैः यतात्मभिः वर्तितव्यं नतु स्वैरं कदाचन. वर्तिष्यन्ते य इत्थं हि...सिद्धिं प्राप्स्यन्ति निश्चितम्. न इत्थं ये आचरिष्यन्ति तेतु अस्मत्सम्प्रदायतः बहिर्भूताः इति ज्ञेयं स्त्रीपुंसैः साम्प्रदायिकैः. शिक्षापत्र्याः प्रतिदिनं पाठो अस्याः मदुपाश्रितैः कर्तव्यो, अनक्षरैस्तु श्रवणं कार्यम् आदरात्. वक्त्रभावेतु पूजैव कार्या अस्याः प्रतिवासरं, मद्रूपम् इति मद्वाणी मान्या इयं परमादरात्''.(शिक्षापत्री : २०३-).

इन निजकण्ठोक्त विधि-निषेधों और उनके अनुसरण या अननुसरण की उभयविध फलश्रुतिओंकी अर्थापत्तिका विचार यदि किया नहीं गया तो भारतके एक दिव्य पुरुषके साथ निरर्थक ही अक्षम्य अन्याय हो जायेगा. क्योंकि परम्पराकी दुहाई दे कर संमान्य साधु श्रुतिप्रकाशदासजी मेरे आलेखपत्रमें जैसे संशोधनार्थ मुझे प्रेरित करना चाहते हैं, वह तो सर्वथा उपपत्तिविहीन होनेसे अस्वीकार्य ही लगता है. स्वयं उनके शब्दोंमें देखना हो तो —

(१)''शास्त्र-निरीक्षणमें बलाबलन्याय सभी दर्शनोंमें स्वीकृत है... एक ही दर्शनका समस्त शास्त्रसमूह एक ही अर्थ कहता हो तो, कभी परस्पर विरोधाभास न हो तो, यह पूर्वोक्त बलाबलनिर्णय और तात्पर्यनिर्णय का प्रयास ही निरर्थक बनेगा... सम्प्रदायकी विस्तृति और प्रवृत्ति में दो प्रकार सभी साप्रदायिक दर्शनोंमें पाये जाते हैं... १.सम्प्रदायके विकासकेलिए अपने सम्प्रदायके पूर्ववर्ती सम्प्रदायोंके आश्रित मुमुक्षुओंकी भी रुचि उत्पन्न हो, इसलिए उनकी आस्थाको धीरेसे मोड़नेकेलिए पूर्ववर्ती सम्प्रदायों सिद्धान्तों के साथ समानता रखनेवाले प्राथमिक ग्रन्थोंकी रचना होती है... अन्यथा प्रथमसे ही इस सम्प्रदायसे

अपना मुंह मोड़ लेता है. इस प्रकारके शास्त्रोंको 'सदस्यग्रन्थ' अथवा 'साधारणग्रन्थ' कहते हैं. २.सम्प्रदायमें अनुरक्त मुमुक्षुविशेषकेलिए जब सम्प्रदायके रहस्यवेत्ता, मतप्रवर्तकके साथ साक्षात् समागम करनेवाले, प्रधान शिष्योंसे मिलता है. अथवा ऐसे प्रधान शिष्योंके ग्रन्थोंको अनुभवी साम्प्रदायिक विद्वानोंसे पढ़ता है तब... इस प्रकारके ग्रन्थ प्राथमिक समागत मुमुक्षुकेलिए अनुपादेय बनते हैं. क्योंकि वे मुमुक्षुके सामर्थ्यसे अधिक गम्भीर होते हैं. ऐसे ग्रन्थोंको 'रहस्यग्रन्थ' कहते हैं. (मेरे आलेखपत्रके समाधानार्थ भेजे गये पत्रमें खण्ड : ४.१).

(२)शिक्षापत्रीमें लिखित जनसाधारणता अर्थात् सदस्यता ग्रन्थान्तर्गत विषयोंसे जान सकते हैं. यहां रामानुजीय तत्त्वत्रयका निरूपण, शंकरमताभिप्रेत पञ्चदेवपूजाकी मान्यता, वल्लभाचार्यप्रोक्त उत्सवविधानका स्वीकार, निम्बार्काचार्यस्वीकृत गोलोकधामकी अभिमति, शैवसम्प्रदायके साथ संवादिताकेलिए शिवमन्दिरदर्शन और शिवपूजा का विशिष्ट विधान इत्यादि रामानुज-निम्बार्क वगैरह पूर्वसम्प्रदायोंके सिद्धान्तोंके समन्वयका हेतु समाजमेंके सभी सम्प्रदायोंके प्रति आदरभाव है. कोई एक ही सम्प्रदाय अपना सिद्धान्त नहीं है. हमारा रहस्यगत सिद्धान्त तो भिन्न है यही दिखाई पड़ता है. (तत्रैव : ४.२).

(३)''यत्परः स शब्दार्थः'' इस न्यायसे जिस ग्रन्थका जो प्रधान विषय हो उसमें उसी विषयका प्राबल्य उस ग्रन्थसे निकालना चाहिये नकि विषयान्तरको. शिक्षापत्री धर्म अर्थात् सदाचारविषयक ग्रन्थ है ऐसा, ग्रन्थके आदिमें अन्तमें और मध्यमें बार-बार कहा है... इस प्रकार सदाचारवर्णनप्रधान इस ग्रन्थमें और तत्त्वज्ञानवर्णनप्रधान वचनामृत के बीच कोई बीजांकुरसम्बन्ध नहीं है. दोनोंका

विषय ही भिन्न है. दोनोंके लेखनसमयमें भेद है... इन दोनोंमें तात्त्विक सन्दर्भकेलिए वचनामृतका ही उपयोग करना चाहिये, बजाय शिक्षापत्रीके.(तत्रैव : ४.२).

मैंने स्वयं भी अपने मूल आलेखपत्रके ८ वें खण्डमें एकाधिक समाधानोपायकी सम्भावित रूपरेखा प्रस्तावित की ही थी. उसमें सर्वप्रथम समप्रामाण्य और तरतमप्रामाण्य का विकल्प प्रस्तुत किया था. द्वितीय तरतमप्रामाण्यके अन्तर्गत आरुरुक्षु और आरूढ़ अधिकारियोंके भेदके जैसी त्रिविध प्रक्रिया प्रस्तावित की थी. श्रीश्रुतिप्रकाशदासजी इनमें तरतमप्रामाण्यके कल्पके अन्तर्गत विषयभेद और अधिकारिभेद के आधारपर शिक्षापत्री और वचनामृत गन्थोंमें प्रकट होते विरोधाभासको अनमनेसे समाहित करना चाहते हैं. यह उपर्युद्धृत उनके वचनोंके अवलोकनसे आभासित होता ही है. साथ ही साथ इसे केवल विरोधाभासके रूपमें ही दरसाना चाहते हैं पारस्परिक विरोधके रूपमें स्वीकारना नहीं चाहते. वैसे मेरेद्वारा प्रस्तावित विरोधाभासके निराकरणोपायतया दोनों ग्रन्थोंमें बीजांकुरभावका यहां निषेध करनेके बावजूद अपने प्रत्युत्तरके उपक्रममें साम्प्रदायिक सिद्धान्तविकासमें बीजांकुरभाव भी स्वीकार कर चले हैं. यथा "सम्प्रदाय सहसा वृक्षरूप नहीं बनता... इस अंकुरित अवस्थाका चित्र और विशालकाय अवस्थाके चित्रको देख कर कभी-कभी दोनोंमें विरोध दिखाई पड़ता है... विरोध और विरोधाभास को जाननेका तरीका यह है कि १.सम्प्रदायप्रवर्तकके सभी विचारोंका सामूहिक चिन्तन २.सम्प्रदायप्रवर्तककी गुरुपरम्पराके विचारोंका चिन्तन ३.समकालीन अथवा शिष्यसमूह जिन्होंने साक्षात् अपने सम्प्रदायप्रवर्तकको सुना, अनुभव किया हो ऐसे विद्वानोंके ग्रन्थोंका आकलन और चिन्तन." (तत्रैव : १.उपक्रम). अतः सर्वप्रथम तो यह मुझे कथनीय लगता है उल्लिखित दोनों ग्रन्थोंमें जब विरोध ही न हो तो प्रामाण्यमें तारतम्य क्यों स्वीकारना चाहिये? दोनों ग्रन्थोंका समप्रामाण्य उपपादित करना ही उचित होता. परन्तु यह एक कटुतर वास्तविकता है कि स्वामिनारायणपन्थके आधुनिक

अनुगामिओंको अब शिक्षापत्रीकी शब्दावली, अपनी वैचारिक धारणाके वश पर्याप्त प्रतिकूल दिखलाई पड़ती है. इस विषयको आगे चल कर अधिक स्फुट किया जायेगा. अस्तु.

साधु श्रुतिप्रकाशदासजी (इतःपर 'सा.श्रु.जी' नामसंक्षेपेण उल्लेख्य) के ऊपर दिये तीन उद्धरणोंमें चार-पांच धारणायें उभर कर सामने आती हैं : [१] शिक्षापत्री साधारणग्रन्थ है जबकि वचनामृत रहस्यग्रन्थ है. [२] शिक्षापत्री अन्यान्य सम्प्रदायके अनुयायिजनोंको अपना शिष्य बन जानेको ललचानेके हेतु दिया गया उपदेश है जबकि वचनामृत अपने शिष्योंको शुद्धभावसे दिया गया उपदेश है. [३] शिक्षापत्री स्वहस्तारालेखित होनेपर भी तत्त्वविचारार्थ अनुपयोगी सदाचारपरक ग्रन्थ है जबकि वचनामृत श्रीसहजानन्दजीके अनन्य भक्तोंद्वारा आलेखित अपने गुरुके तत्त्वविचारोंका प्रतिपादक ग्रन्थ है. [४] शिक्षापत्रीमें उल्लिखित प्रयोजनवश तत्कालमें प्रचलित अन्यान्य सम्प्रदायोंके प्रति केवल अविरोधात्मक आदरभाव दिखानेके हेतु दिया गया उपदेश है जबकि. वचनामृत अपने अन्तरंग भक्तोंके बीच ऐसे प्रयोजनसे रहित स्वमतके उपदेशोंका संकलन है.

१.अनुपपत्ति :

उपर्युद्धृत श्रीसहजानन्दजीके वचनोंमें अधोरेखांकित अंशोंका थोड़ीसी सावधानीके साथ अवलोकन करनेपर ये समाधान कुशकाशावलम्बन या अकाण्डताण्डव ही लगते हैं : [१]सर्वेषां, [२]सच्छास्त्राणां समुद्धृत्य सर्वेषां सारम् आत्मना, पत्री इयं लिखिता, [३]इमामेव ततो नित्यम् अनुसृत्य मम आश्रितैः यतात्मभिः वर्तितव्यं नतु स्वैरं कदाचन, [४]न इत्थं ये आचरिष्यन्ति तेतु अस्मत्सम्प्रदायतः बहिर्भूताः इति ज्ञेयं, [५]मद्रूपम् इति मद्वाणी मान्या इयं परमादरात्''.

स्पष्ट है कि श्रीसहजानन्द स्वामीके अनुसार [१]शिक्षापत्री निज पन्थमें आरुरुक्षु और आरूढ़ दोनोंकेलिए अर्थात् सभीकेलिए

लिखी गयी है. यहां ''उद्दिधीर्षितव्यानां प्राथमिकानां'' पदप्रयोगके बजाय 'सर्वेषां' पदका प्रयोग यही सिद्ध करता है. साथ ही साथ [२]यह शिक्षापत्री श्रीसहजानन्द स्वामीने तत्त्वरूप और धर्मरूप उभयवस्तुके प्रतिपादक सच्छास्त्रोंके निजाभिमत सारका स्वयं आत्मकृत समुद्धरण है. यह शिक्षापत्री इन्हीं सच्छास्त्रोंपर अवलम्बित होनेवाले इतर व्याख्यातृसम्प्रदायोंके सिद्धान्तोंके प्रति केवल समादरभाव प्रकट करनेवाली सूक्तियोंका संकलन नहीं. [३]श्रीसहजानन्द स्वामीपर आश्रित उनके सम्प्रदायके साधारण और रहस्यवेत्ता सभीकेलिए यही शिक्षापत्री नित्य श्रोतव्य मन्तव्य निदिध्यासितव्य उपदेश है नकि रहस्यबोधके बाद उपेक्ष्य या अननुसरणीय उपदेश. इस शिक्षापत्रीमें [४]उपदिष्ट कर्तव्योंके विपरीत आचरण करनेवालेको निजसम्प्रदायसे बहिर्भूत माननेका स्पष्ट विधान यहां किया गया है. अन्तमें [५]अन्य वचनामृत आदि तथाकथित रहस्यग्रन्थ चाहे श्रीसहजानन्दजीकी शाब्दिक काया हों या न हो पर इसे अपनी शब्दमयी कायाके रूपमें ही परमादरास्पद दिखलाना वे चाहते हैं. अतः इसके बारेमें गौणप्रामाण्य होनेका दुराशय स्वयं निजाचार्यके वचनों और व्यक्तित्व के प्रामाण्यके अवमूल्यनमें ही पर्यवसित होगा.

२.अनुपपत्ति :

शिक्षापत्रीमें तत्कालीन अन्यान्य सम्प्रदायोंके अनुगामिओंको निजाभिमुख बनानेके हेतु, उन सम्प्रदायके सिद्धान्तोंके प्रति दरसाया गया आदरभाव, सदसद् शुभाशुभ या श्रेयस्कराश्रेयस्कर के बारेमें उपदेशकर्ताके स्वयं निजी विवेक और विश्वास के अनुसार मान्य था अथवा केवल अन्यसम्प्रदायानुगामिओंके प्ररोचनार्थ या प्रतारणार्थ ही? यदि प्रथम कल्प मान्य रख कर चलें तो शिक्षापत्रीको इतरसम्प्रदायके सिद्धान्तोंका संकलन मानना असंगत हो जायेगा. क्योंकि अन्यथा मांसभक्षण मद्यपान

व्यभिचार स्तेनकर्म द्यूतक्रीडा परनिन्दा सदृश निषिद्धाचरण श्रीस्वामीने जैन-बौद्धोंके मतोंके संकलनार्थ यहां योजित किये ऐसा भी मानना पड़ेगा. क्योंकि ये उनके यहां भी निषिद्धाचरणतया वर्णित हैं. यदि इन्हें वहांसे लिये नहीं मानते तो तत्त्वत्रयनिरूपण, पञ्चदेवपूजा, उत्सवविधान, गोलोकधाम या शिवमन्दिरदर्शन रामानुज शांकर वाल्लभ नैम्बार्क या शैव मतोंके संकलनार्थ या समादरणार्थ न हो कर निजाभिप्रेत ही स्वीकारने पड़ेंगे, निजाचार्यद्वारा सर्व आप्तजनमान्य तत्त्वप्रतिपादक एवं सदाचारप्रतिपादक शास्त्रोंको अभिप्रेत पदार्थके रूपमें अभिमत होनेसे ही. द्वितीय कल्पमें तो जैसाकि श्रीधर्मकीर्ति और श्रीकर्णगोमी कहते हैं **''आगमभ्रंशकारिणां आहोपुरुषिकया तद्दर्शनविद्वेषेण तत्प्रतिपन्नखलीकरणाय धूर्तव्यसनेन अन्यतो वा कुतश्चित् कारणात् अन्यथारचनसम्भवात्.''-''यथा महायानविद्विष्टानां महायानप्रतिपन्नखलीकरणाय महायानप्रतिरूपकसूत्रान्तररचनं तत्प्रतिपन्नखलीकरणाय...व्यसनम् इदं धूर्तानां यत् परः खलीकर्तव्यः''** (प्रमा.वार्ति.३।३३२) वैसा ही कुछ आरोप श्रीसहजानन्दजी स्वामीजीपर भी लगने लगेगा! मुझे तो यह सर्वथा आपत्तिजनक लगता है. अतः शिक्षापत्रीगत उपदिष्ट वचनोंमें आधुनिक अनुगामिओंकी श्रद्धाका ह्रास इसमें प्रमुख हेतु लगता है. मूल उपदेशकके चरित्र या गुणों में अकारण ऐसी दुर्दम शिष्येषणाकी निम्नस्तरीयता खोज निकालना अच्छी बात नहीं होती!

३.अनुपपत्ति :

क्योंकि ऐसी धारणाओंको बहुप्रचारित करनेपर तो इस पन्थको विश्वके अन्यान्य भूभागोंसे कल अधिक अनुगामी जनता मिल जानेपर ''श्रुत्यादि आर्ष शास्त्रोंको भी केवल भारतीय जनसाधारणको आकर्षित करनेको मान्य रखा गया

था''. ऐसा न कहा जायेगा उसकी क्या निश्चिति? क्योंकि तब भी यह कहा जा सकेगा इस मतको 'वेदान्त' भारतीय मुमुक्षुजनोंको अपनी और आकृष्ट करनेको ही कहा गया था. हमारे तो 'सत्संगिजीवन' आदि ही प्रमुख रहस्यग्रन्थ हैं उपनिषद् आदि नहीं!

४.अनुपपत्ति :

कल यदि वडताल या मणिनगर के पीठाधीशोंमें कोई 'वचनामृत' और 'सत्संगिजीवन' ग्रन्थोंपर जनसाधारणके बीच प्रवचन कर, श्रीसहजानन्द स्वामीजीको पुरुषोत्तमतया अपना उपास्य बता कर, जनताको भलीभांति अपना भक्त बना लेनेके बाद रहस्यगोष्ठीमें स्वयंको श्रीसहजानन्द स्वामिरूप अवतारका भी अवतारी घोषित करने लगे तो क्या करना? ऐसोंके भी मानमोह-रहित निरपेक्ष अन्तरंग भक्त वैसी साक्षात् अनुभूतिकी शपथ भी खाने लगे तो क्या करना? क्या स्वामिनारायणपन्थमें तब उन्हें पूर्णतम पुरुषोत्तम स्वीकारा जाना उचित होगा कि नहीं? यदि हां तो श्रीसहजानन्द स्वामीजीको भी **''रामकृष्णाद्यवताराणां कारणं परमेश्वरम्''** (सा.श्रु.जीकृत उक्त आलेखपत्रमें मंगलाचरण) स्वीकारनेका कुछ औचित्य सिद्ध होगा. अन्यथा ऐसा कृत्य यदि स्वामिनारायण सम्प्रदायमें उचित न हो तो श्रुत्यादिप्रमाणैकगम्य वेदान्त या श्रुत्यादिसे अविरुद्ध पाञ्चरात्रादिके भी प्रमाणोंसे गम्य वैष्णव सम्प्रदाय में भी श्रीसहजानन्द स्वामीजीकी भी सकलावतारावतारिता अनुचित ही कहलायेगी. उदाहरणतया मान लो कि सोखड़ावाले स्वामीजी यदि जनोपयोगी बड़े-बड़े आयोजनोंमें विशाल जनमेदनीके समक्ष स्वयंको श्रीयोगीजी महाराजके एकान्ती भक्त तथा वास्तविक उत्तराधिकारी होनेका दावा करने लगे तो क्या बोचासणवासी अक्षरपुरुषोत्तम संस्थाको वह मान्य हो पायेगा?

५.अनुपपत्ति :

दिनानुदिन विश्वव्यापी होती इस संस्थामें कोई ईसाई या मुसल्मान अन्तःप्रविष्ट हो कर, सदस्यग्रन्थके रूपमें सत्संगिजीवनादि साम्प्रदायिक ग्रन्थोंका पारायण-प्रवचन करे और अपने अन्तरंग श्रोताओंको यह समझाना शुरु करे कि श्रीसहजानन्द स्वामीजी स्वयं ईसा मसीह या महम्मद पयगम्बर के अवतार थे और ऐसी दिव्य रहस्यानुभूति भी अपने अन्तरंगजनोंको प्रदान करें तो क्या उसे स्वामिनारायण सम्प्रदायमें मान्य करनी कि नहीं? जो यहां समाधान होगा वही स्वयं स्वामिनारायण सम्प्रदायपर भी लागू होगा.

६.अनुपपत्ति :

साधारणग्रन्थ और रहस्यग्रन्थ की विभाजकरेखा आप्तमान्य श्रुत्यादिशास्त्रोंमें निरूपित तत्त्वव्यवस्था और धर्मव्यवस्था से भिन्न तो नहीं हो सकती. ''यत्परः स शब्दार्थः'' न्यायेन इन श्रुत्यादि शास्त्रोंके तात्पर्यविषयतया सर्वथा अकल्पनीय **''रामकृष्णाद्यवताराणां कारणं परमेश्वरम्''** (पूर्वोल्लिखित) रहस्यकी भी यही गति दिखलायी देती है. वैसे इसके अलावा और क्या रहस्य स्वामिनारायणीय सिद्धान्तका हो सकता है? अतः यह रहस्य यदि इन आप्तजनमान्य श्रुत्यादि शास्त्रोंका तात्पर्यगोचर हों तो उन्हीं ग्रन्थोंके व्याख्यानद्वारा स्वामिनारायणीय रहस्यकी स्वीकार्यता प्रतिपादित करनी चाहिये थी. फिर सत्संगिजीवन या श्रीहरिलीलामृत सदृश अत्यन्त साम्प्रदायिक ग्रन्थोंके आधारपर नहीं. अन्यथा इस पन्थको वेदान्त या वैष्णवधर्म मानने के बजाय वेदादिशास्त्रबाह्य सिद्धान्त और अवैष्णव धर्म ही मानना चाहिये, यदि इनके आरूढ़ अनुगामिओंको लुभानेका दुर्भाव हृदयमें आरूढ़ न हो तो. वैसे सा.श्रु.जीका यह विधान कि **''इन दोनोंमें तात्त्विक सन्दर्भकेलिए वचनामृतका**

ही उपयोग करना चाहिये, बजाय शिक्षापत्रीके'' (पूर्वोल्लिखित) यह तो एक महान् अकाण्डताण्डव ही है.

क्योंकि ऐसा कहनेपर जिज्ञास्य हो जाता है कि :

''शारीरकाणां भगवद्गीतायाः च अवगम्यतां रामानुजाचार्यकृतं भाष्यम् आध्यात्मिकं मम. एतेषु यानि वाक्यानि श्रीकृष्णस्य (+) वृषस्य च अत्युत्कर्षपराणि स्युः... मन्तव्यानि प्रधानानि तान्येव इतरवाक्यतः. धर्मेण सहिता कृष्णभक्तिः कार्या इति तद्रहः''(शिक्षाप.१००-१०२).

तुलनीय

''श्रीरंगक्षेत्रमें रामानन्दस्वामीने स्वप्नमें साक्षात् रामाजाचार्यसे दीक्षा वैष्णवी दीक्षा प्राप्त की थी. इसलिये रामानन्दस्वामीके गुरु रामानुजाचार्य हैं. उन रामानुजाचार्यके हम शिष्य हैं. ऐसी गुरुपरम्परा जाननी चाहिये... क्योंकि समस्त अवतारोंको धारण करनेवाले स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् ही हैं. उन श्रीकृष्ण भगवान्ने उद्धवके प्रति गुणविभागके अध्यायमें कहा है कि 'मैं निर्गुण हूं तथा जो मेरे सम्बन्धको प्राप्त होते हैं वे भी निर्गुण हो जाते हैं'.''(वचना.वरता.१८।२१८).

''रामानुज स्वामीने जिस प्रकार क्षर-अक्षरसे परे पुरुषोत्तम भगवान्का निरूपण किया है, उन पुरुषोत्तम भगवान्की तो हम उपासना करते हैं. गोपियोंके समान उन पुरुषोत्तम भगवान्की हम भी भक्ति करते हैं... यही हमारा अभिप्राय तथा रुचि है.''(वचना.लोया.१४।१२२)

अतः यह केवल रुचि न हो कर अभिप्राय भी है. अतः

इन दोनों ग्रन्थोंकी इस विषयमें इतनी गाढ़ इतरेतरसंवादिताकी उपेक्षा भी सम्भव नहीं. इसका जब अवलोकन करते हैं तो न तो सदाचारव्यवस्था और न तत्त्वव्यवस्था में किसी तरहका विसंवाद झलकता दिखलायी देता है. अब इनके अलावा भी तीसरे-चौथे या अन्य अनेक ग्रन्थोंके वचन सामने ला कर इन दोनों ग्रन्थोंके परस्परसंवादबलसे मिलते तात्पर्यका भी अन्यथानयन करना ही हो तो वह तो स्वगोष्ठ्येक उपदेश्य धर्म या तत्त्व सम्बन्धी धारणा कहलायेगी. 'वेदान्त' या 'वैष्णवधर्म' नहीं.

(३.शिक्षापत्रीकी तात्पर्यनियामिका षडंगमीमांसा)

श्री सा.श्रु.जी कहते हैं ''शिक्षापत्री धर्म अर्थात् सदाचारविषयक ग्रन्थ है ऐसा, ग्रन्थके आदिमें अन्तमें और मध्यमें बार-बार कहा है'' (यथापूर्वोल्लिखित).

कौन नहीं जानता कि शिक्षापत्रीके (उपक्रमोपसंहारौ) उपक्रम और उपसंहार दोनों ही श्रीजी महाराजने श्रीकृष्णस्तुतिसे सम्पन्न किये हैं. (अभ्यास)इस ग्रन्थमें निरन्तर (कमसे कम ३५ बार) 'श्रीकृष्ण' पदका पुनरावर्तन श्रीकृष्णकी ही एकान्तभक्तिके अभ्यासरूपेण किया गया है. (अपूर्वता)श्रीरामानुजार्योपदिष्ट विशिष्टाद्वैतवादके अङ्गीकारपूर्वक लक्ष्मीनारायणरूप और राधाकृष्णरूप में अभेददृष्टि रखते हुवे उपास्यरूपतया श्रीकृष्णकी भक्तिका अपूर्व उपदेश इस ग्रन्थकी विशिष्टाद्वैतवादानुसारिणी श्रीकृष्णमाहात्म्यप-रकता सिद्ध करता है. अतएव ''**हृदये जीववद् जीवे यो अन्तर्यामितया स्थितो ज्ञेयः स्वतन्त्रः ईशो असौ सर्वकर्मफलप्रदः सः श्रीकृष्णः परं ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः उपास्यः इष्टदेवो नः सर्वाविर्भावकारणम्. स राधया युतो ज्ञेयो राधाकृष्णः इति प्रभुः, रुक्मिण्या रमयोपेतो लक्ष्मीनारायणः सहि. ज्ञेयो अर्जुनेन युक्तो असौ 'नरनारायणा'भिधः बलभद्रादियोगेन तत्तन्नामा उच्यते सहि**'' (शिक्षाप.१०७-११०) कारिकाओंमें रामानुजीय तत्त्वत्रयान्तर्गत ईश्वरको ही परं ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण और सर्वाविर्भावकारण कहा गया है. अतः यह ग्रन्थ केवल सदाचारपरक न हो कर स्वयंको

अभिमत तत्त्वप्रतिपादक एवं धर्मप्रतिपादक सच्छास्त्रोंका साररूप उपदेशपरक ग्रन्थ है. और अतएव मीमांसकीय इस अपूर्वताके निकषपर भी इसमें उपदिष्ट तत्त्वस्वरूपका स्वार्थमें प्रामाण्य अक्षुण्ण ही सिद्ध होता है. (स्तुत्यर्थवाद)तदुपरान्त श्रीकृष्णभक्तिके उपदेशक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी **'सर्ववैष्णवराज'**तया स्तुति भी इसके श्रीकृष्णमाहात्म्योपदेशपरक होनेका डिंडिमघोष है. श्री सा.श्रु.जी यहां भी लुकाछिपी खेलना चाहते होनेसे अपनी मनोवृत्तिको उजागर करते हुवे केवल **''वल्लभाचार्यप्रोक्त उत्सवविधानका स्वीकार''** (पूर्वोल्लिखित) की बात कर रहे हैं. वैसे शिक्षापत्रीकार अपने आधुनिक अनुगामिओंको तो बड़ी दुःस्वप्नोम आज्ञा यहां **''सेवारीतिः च कृष्णस्य ग्राह्या तदुदितैव हि''** (शिक्षाप.८२) भारपूर्वक कह रहे हैं. अतः इसका सदाचरविषयक भी केवल प्रामाण्य स्वीकारें तो पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणालीके विपरीत मनगढ़ंत सेवाप्रणाली प्रस्तुत करनेवाले इस सम्प्रदायके आधुनिक मन्दिरोंको असदाचरणरूप अपराधका सार्वजनिक प्रदर्शन मानना पड़ेगा! किम् अतोऽधिकं चित्रम्!! इसी तरह (निन्दार्थवाद)**''कृष्णभक्तेः स्वधर्माद् वा पतनं यस्य वाक्यतः स्यात्, तन्मुखाद् नैव श्राव्याः कथावार्ताः च वा प्रभोः... कृष्णकृष्णावताराणां खण्डनं यत्र युक्तिभिः (यथा सा.श्रु.आदीनां लेखनेषु) कृतं स्यात् तानि शास्त्राणि न मान्यानि कदाचन''** (शिक्षाप.२५,२९) वचनोंद्वारा निन्दार्थवाद भी इस ग्रन्थमें जो उपलब्ध होता है वह और श्रीकृष्णमाहात्म्यके विलोपकोंकी निन्दा भी श्रीकृष्णमाहात्म्यकी ही अकाट्यता सिद्ध करती है. यह प्रस्तुत ग्रन्थके तत्त्वोपदेशपरक होनेका प्रमाण है. अन्तमें मीमांसकीय छठ्ठा अंग (उपपत्ति)**''वेदाः च व्याससूत्राणि श्रीमद्भागवताभिधं पुराणं... तथा श्रीभगवद्गीता... एतानि अष्ट मम इष्टानि सच्छास्त्राणि भवन्ति हि. स्वहितेच्छुभिः एतानि मच्छिष्यैः सकलैरपि श्रोतव्यानि अथ पाठ्यानि कथनीयानि च. तत्र आचारव्यवहृतिनिष्कृतानां च निर्णये ग्राह्या मिताक्षरोपेता याज्ञवल्क्यस्य तु या स्मृतिः. श्रीमद्भागवतस्य एषु स्कन्धौ दशमपञ्चमौ सर्वाधिकतया ज्ञेयौ कृष्णमाहात्म्यबुद्धये''** (शिक्षाप.९३-९८) इन शब्दोंमें प्रमाणोपपत्ति भी उन्होंने स्फुट कर दी है.

अतः जिस सदाचारपरक ग्रन्थ होनेका हेतु पुरस्कृत कर श्री सा.श्रु.जी इस शिक्षापत्रीको तत्त्वार्थनिर्णयमें अनियामक दिखला रहे हैं वह तो नहीं सिद्ध हो पाता है. क्योंकि ग्रन्थकार स्वयं इन आठों सच्छास्त्रोंमें श्रीकृष्णमाहात्म्यके बोधार्थ श्रीमद्भागवतके पंचम और दशम स्कन्धोंकी सर्वातिशायी ज्ञेयताका प्रतिपादन कर रहे हैं. अतः तत्त्वव्यवस्थाके भी परिज्ञानार्थ यही सर्वसन्देहवारक शास्त्र है. इसके विपरीत अन्य ग्रन्थोंका इससे ज्येष्ठ या श्रेष्ठ प्रामाण्य स्वीकारना असदाचार असदालाप और असन्मति का प्रमाण बन जाना चाहिये. अतः उन्हें अश्राव्य असच्छास्त्र ही जानना चाहिये. यह सब स्वयं श्रीसहजानन्द स्वामीजीके शब्दोंसे सिद्ध हो रहा है.

(४.दृष्टान्तसन्दर्भसमीक्षा)

श्री सा.श्रु.जी **''यश्चोभयोः समो दोषः परिहारश्च ययोः समः''** न्यायेन एक विलक्षण युक्तिवादके प्रयोगद्वारा मेरे मूल आलेखपत्रमें उठाये गये मुद्दोंके बारेमें मेरे मुखमुद्रणार्थ समुद्यत हैं. अतएव अपने समाधानपरक आलेखपत्रमें 'दृष्टान्तसन्दर्भ'के शीर्षकके अन्तर्गत शांकर रामानुज वाल्लभ आदि सम्प्रदायोंमें भी समानरूपेण पूर्वापर धारणाओंमें अननुरूपता खोजना चाहते हैं.

मेरी अपनी समझ इस बारेमें कुछ इस तरहकी है कि परमगुरु श्रीगौडपादाचार्य तथा उनके प्रशिष्य श्रीशंकराचार्य के बीच खोजी जाती असमानता कि परमगुरुको सगुण-निर्गुण भेदवाले दो तरहके ब्रह्म मान्य नहीं थे या प्रशिष्यद्वारा प्रस्थापित विवर्तवादके बजाय उन्हें तो अजातिवादकी धारणा ही अभिमत है. वैसे तो केवलाद्वैतवादिओंने बहुत पहले ही इसका समुचित समाधान दे रक्खा है कि **''कृपणधीः परिणामम् उदीक्षते क्षपितकल्मषधीस्तु विवर्ततां स्थिरमतिः पुरुषः पुनर् ईक्षते व्यपगतद्वितीयं परमं पदम्''** (संक्षे.शारी.२।८९) जिसे देखनेपर कितने छोटेसे तिलका ताड़ बनाया जाना यहां सरलतासे समझा जा सकता है. क्योंकि

प्रतिभास व्यवहार और परमार्थ में प्रभेद करनेकी प्रक्रियाके आधारपर दोनों ही प्रतिपादनशैलियोंका चरम पर्यवसान तो सर्वविध द्वैतके पारमार्थिक निषेधमें ही फलित हो जाता है.

फिरभी अनुगामिओं द्वारा गुरुवचनोंमें अनुपलब्ध ऐसी किसी धारणा या प्रक्रिया की प्रस्तुति गुरुग्रन्थोंके व्याख्यानतया अथवा अपने स्वतन्त्र ग्रन्थोंमें नियततया निजगुरुकी अभिमतिसे विपरीतमति नहीं मानी जा सकती है. **''सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः''** आदर्शके अनुसार इसे तो भाष्यकारका विशेषाधिकार ही माना गया है.

इसके विपरीत परन्तु **''उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते तं ग्रन्थं 'वार्तिकं' प्राहुः''** नीतिको अपना कर लेखनमें प्रवृत्त होनेवाले वार्तिककार बहुधा सूत्रकारके प्रति अपने हृदयमें निश्छल आदरभाव रखनेके बावजूद उन्हें परब्रह्म सर्वकारणकारणरूप सर्वज्ञ परमेश्वर भगवान् पुरुषोत्तमके रूपमें भजनेका उत्साहातिरेक या श्रद्धातिरेक प्रदर्शित नहीं करते. फिरभी भाष्यकारकी तरह ही वार्तिककार भी सूत्रग्रन्थको एक वृक्षकी तरह ही विकसित करनेकी प्रक्रिया सम्पन्न करनेवाले चिन्तक तो माने जाते हैं. जैसी प्रक्रिया द्वारा वार्तिककार सौत्री धारणाओंको पल्लवित पुष्पित या फलित करते हैं, वह सूत्रोपदिष्ट पदार्थका अपने उक्तोपपत्तिरूप सिंचन द्वारा किये गये विकासके रूपमें समादृत होता है. वैसे ही अनुक्तचिन्तनकी खाद डाल कर वार्तिककार उसे पोषित भी करते ही हैं. साथ ही साथ जहां उन्हें सूत्रोंमें प्रतिपादित पदार्थविशेषरूपी कोई शाखा समग्र सूत्रप्रतिपाद्य सिद्धान्तवृक्षके हितके विपरीत जानेवाला दूरोहण या दुरुक्त जैसा लगता है, तब उस दुरुक्तकी कलम काट कर भी वृक्षकी आयुष्यको वे वृद्धिंगत करते ही हैं. कोई वार्तिकार, परन्तु, जिस भूमिपर कोई वृक्ष उगा हो उसे भूमिके माहात्म्यगान करके वृक्षोच्छेदन करता हुवा कभी देखा नहीं गया!

यह तो सहज ही समझमें आनेवाली बात है कि जब किसी उद्यानके रखवालेको ऐसे किसी वृक्षके प्ररोहकी भीति सताती हो तब उस वृक्षविशेषके उच्छेदनकी भी उपयोगिताका भी उसे अधिकार होता ही है. ऐसी स्थितिमें, परन्तु, दार्ष्टान्तमें वार्तिक लिखनेके बजाय खण्डनात्मक वादग्रन्थ लिख देनेकी रीति ही अभीष्ट मानी जाती है!

स्वामिनारायणीय दार्शनिक सिद्धान्त और धर्मसाधना के औत्तरकालिक स्वरूपमें न तो भाष्यशैली अपनायी गयी दृष्टिगत होती है और न वार्तिकशैली ही. अपने सम्प्रदायप्रवर्तक आचार्यको परब्रह्म पुरुषोत्तम सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ होनेके सिंहासनपर पधरा देनेके बाद जो भी उन्होंने निजकण्ठसे विधान या निषेध किये उनसे सर्वथा विपरीत ही (अनुक्त नहीं प्रत्युत निजाचार्योक्तिको दुरुक्तकी कोटिमें पदावनति कर देनेवाली!) प्रक्रिया यहां अपनायी गयी हो, ऐसा स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है!

रामानुजीय वेदान्त और वाल्लभ वेदान्त के बारेमें श्री सा.श्रु.जीके अवलोकनोंके बारेमें भी मैं यही बात दोहराना चाहूंगा. क्योंकि रामानुजीय सम्प्रदायकी दार्शनिक या धार्मिक धारणाओंमें पूर्वापरमें अनुक्तकी अंगीकृतिवाली अननुरूपता ही श्री सा.श्रु.जी दिखा पाये हैं. पूर्वाचार्योक्ति या पूर्वग्रन्थोक्ति को दुरुक्तमें पर्यवसित कर देनेवाली अननुरूपता वे दिखा नहीं पाये. मुझे जबकि आधुनिक स्वामिनारायणीय सिद्धान्त और साधना के बारेमें सोचनेपर ऐसा लगता है कि ये मूलग्रन्थोंमें अनुक्तसे कहीं आगे बढ़ कर मूलग्रन्थोंको दुरुक्तिमें पर्यसित करनेवाली धारणायें हैं. मुझे अतः अपनी जिज्ञासाका सन्तोषप्रद समाधान श्री सा.श्रु.जीके स्पष्टीकरण द्वारा मिल नहीं पाया.

वेदचतुष्टयीकी संहिताओंमें 'ब्रह्म'पद परम तत्त्वके वाचकतया प्रयुक्त हुवा हो या नहीं; परन्तु, उन संहिताओंमें उपलब्ध होते इन्द्र या प्रजापति सदृश परमेश्वरके जैसे रूप, जैसे गुणधर्म; अथवा जैसे क्रियाकलाप

निरूपित हुवे हैं, उनसे विपरीत उपनिषदोंमें ब्रह्मका प्रतिपादन नहीं हुवा है. क्योंकि **''इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निम् आहुः अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानम् आहुः''** (ऋक्संहि.२।३।२२।४६) किसी एकमेवाद्वितीय तत्त्वका संकेत संहितामें मिल ही रहा है. अतएव निरुक्तकार भी कहते हैं **''महाभाग्याद् देवतायाः एकः आत्मा बहुधा स्तूयते. एकस्य आत्मनो अन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति. अपिच सत्त्वानां प्रकृतिभूमिभिः ऋषयः स्तुवन्ति इति आहुः. प्रकृतिसार्वनाम्न्यात् च''** (निरु.निघ.७।४।५). इसी कारणसे सर्वदेवोंके तथा नाम-रूप-कर्मभेदसे प्रकट होनेवाले निखिल सद्द्रव्योंके प्रकृतिरूप ब्रह्मका वेदान्तरूप उपनिषद्में भी ब्रह्मतया निरूपण किया गया है. इसी एकमेवाद्वितीय ब्रह्मकी अनेकविध आधिभौतिक आध्यात्मिक या आधिदैविक अभिव्यक्तिओंके निरूपक इतिहास-पुराण एकायन देवविद्या या ब्रह्मविद्या जैसे शास्त्रोंका उल्लेख उपनिषद्में भी **''ऋग्वेदं भगवो अध्येमि यजुर्वेदं सामवेदम् आथर्वणं चतुर्थम् इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं... एकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां...''** (छान्दो.उप.७।१।२) मिलता ही है. उपनिषदोंमें अनुपदिष्ट तत्त्व या अविहित कर्तव्य इन विविध शास्त्रोंमें मिलते होनेपर भी महाभारत, भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र, पुराणों या शैव/वैष्णव तन्त्रोंके दक्षिणागमोंमें भी उपनिषद्विरुद्ध कोई तत्त्व या कर्तव्य उपदिष्ट हुवा नहीं है. उल्लेखनीय है कि अतएव उपनिषद्वाक्यार्थोंकी मीमांसाके रूपमें प्रकट बादरायणीय सूत्रमें ब्रह्मको *'श्रुतियोनित्वात्'* कहनेके बजाय **'शास्त्रयोनित्वात्'** (ब्र.सू.१।१।३) ही कहा गया है.

अतः इन शास्त्रोंके अन्तर्गत 'इतिहास-पुराण' या 'एकायन' अथवा 'देवविद्या-ब्रह्मविद्या' पदोंद्वारा अभिप्रेत कौन-कौनसे शास्त्र हैं, इस बारमें विभिन्न भाष्यकारोंमें मतभेद सम्भव है. परन्तु सभी इतना तो मान कर ही चले हैं कि वेदशास्त्र अनेकविध विद्यास्थानोंसे उपबृंहणीय है (दृष्ट. : ब्र.सू.शा.भा.१।१।३). श्रीमध्वाचार्य तो **''ऋग्यजुस्सामाथर्वाश्च भारतं पञ्चरात्रकं मूलं रामायणं चैव 'शास्त्रम्' इति अभिधीयते. यच्च**

अनुकूलम् एतस्य तच्च शास्त्रं प्रकीर्तितम्. अतो अन्यो ग्रन्थविस्तारो नैव शास्त्रं कुवर्त्म तत्'' (ब्र.सू.मा.भा.१।१।३) ऐसा स्कन्दपुराणीय वचन भी 'शास्त्र'पदकी अर्थव्याप्ति दिखलानेको देते हैं. यों सर्वशिष्टजनों या आप्तजनों द्वारा मान्य इन शास्त्रोंके अभिप्रायोंके इतरेतर-समन्वित अभिप्रायसे अविरुद्ध ही कोई अश्रुतपूर्व पदार्थ भी मान्य हो सकता है. विरुद्ध तो, परन्तु, कुछ भी मान्य नहीं हो पाता, किसी मतको 'वेदान्त'पदवाच्य बनना हो तो (दृष्ट. : शिष्टापरिग्रहाधिकरण ब्र.सू.२।१।४). एक मतको मान्य किसी बातको दूसरा कोई अमान्य घोषित करे तो प्रथम मतकेलिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह दरसाये कि उसकी बात कैसे इन शास्त्रोंके समन्वित प्रामाण्यके आधारपर प्रमाणित होती है. वेदान्तके सभी सम्प्रदायोंमें यही विचाररीति स्वीकारी गयी है. अतः इस विषयमें छूटछाट स्वामिनारायणमतको मिल नहीं सकती, यदि उसे स्वयंके वेदान्त होनेका दावा आगे रखना हो तो.

इस सन्दर्भमें यह अवधेय हो जाता है कि इन शास्त्रोंके अन्तर्गत किसी एक शास्त्रमें उक्तका प्रतिपादन या पुनरावर्तन ही यदि अपर शास्त्रमें भी मिलना अनिवार्य निकष होता तो अनधिगतार्थाधिगमकत्वरूप प्रामाण्य ही उसका सिद्ध ही नहीं हो पायेगा. अतः शिष्टादृत किसी एक शास्त्रमें अनुक्त किसी पदार्थका अपर शिष्टादृतशास्त्रोक्त पदार्थके साथ समन्वय कर दिखानेके वैचारिक प्रयासमें अन्तर्विरोध खोजना अपनी शिष्टादृत परम्पराका अज्ञान है. अतः इस तरहकी उपपत्ति/अनुपपत्तिओंको प्रस्तुत कर श्री सा.श्रु.जी प्रस्तुत चर्चाको कैसा मोड़ देना चाहते हैं यह स्पष्ट नहीं हो पाता. क्योंकि शास्त्र या आगम तो जैन-बौद्ध आदिके भी हैं ही. इन विभिन्न धर्म-सम्प्रदायोंमें मान्य इन बाह्यागमों और आर्षशास्त्रों के बीच विभाजकरेखा अविच्छिन्नपरम्पराका सातत्य ही स्वीकारा गया है.

अतएव वैदिक परम्परामें मान्य शास्त्रोंमें अवतारतया निरूपित

ऋषभदेव या भगवान् बुद्ध को अवतारतया मान्य रखनेके बावजूद इनके उपदेश शिष्टादृत शास्त्रवचनोंसे विरुद्ध जाते होनेके कारण प्रमाणतया मान्य नहीं किये गये हैं. इस परम्परासे बहिर्भूत आगम इन्हीं शास्त्रोंमें उपदिष्ट तत्त्व अथवा कर्म का ही उपदेश यदि करते हों तो, उदाहरणतया विविध देवरूपोंका, या शारीर आत्माका, उसके मोक्षका; अथवा मुक्त्यर्थ अभीष्ट साधनाओंका, तो उन्हें स्वयं अपने पारम्परिक शास्त्रोंसे अधिगत अर्थके ही ज्ञापक होनेके कारण तत्प्रतिपाद्यत्वेन प्रामाणिक नहीं माना जा सकता. ऐसी स्थितिमें स्वामिनारायणपन्थ यदि अविच्छिन्नसम्प्रदायपरम्परासे कट कर श्रीसहजानन्द स्वामीकी पुरुषोत्तमताके दावेको प्रस्तुत करना चाहता हो तो उसके सिद्धान्तको 'वेदान्त' कैसे माना जा सकता है?

मान लो कि यदि कोई पश्चिमी यहूदी ईसाइ या इस्लामी चिन्तक स्वयंके बारेमें तत्त्वपञ्चकान्तर्गत पुरुषोत्तम होनेके दावेके साथ अपने आधीन अवशिष्ट चार तत्त्व ब्रह्म ईश जीव और माया जैसे पदोंके वहांकी किसी भाषामें पर्यायवाचक पदोंके द्वारा अपने रहस्यग्रन्थरूप वचनामृतोंमें निरूपण करता हो तो उसे 'स्वामिनारायणीय वेदान्त' मानना कि नहीं? यदि 'हां' तो श्रीसहजानन्द स्वामीका एकाकी पूर्णपुरुषोत्तमत्व निरस्त हो जायेगा और यदि 'ना' तो उसके अस्वीकारार्थ जो हेतु उपस्थापित किये जायेंगे वे श्रीसहजानन्द स्वामीपर भी लागू होंगे ही.

इन प्रश्नोंमें उलझी समस्याकी गम्भीरताके किसी तरहके समाकलनके बिना धांधली करनेपर जैसे पहले भी एक बार "Is 'Akshar' an unsolved riddle?" आलेखपत्रमें विद्वान् लेखकने भी "The same Aksharbrahman simultaniously express itself in personl and impersonal aspects. This is stated in shrutis and puranas:... "'भुवः' इति द्वे बाहू द्वे एते अक्षरे" (बृह.उप.५।५।३), "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं च अमृतं च" (बृह.उप.२।३।११), "'घृणिः'

इति द्वे अक्षरे'' (नृसिं.पू.ता.उप.४।२) . All these shruti statemednts speak of (a)Aksharbrahaman as personal i.e. the form of Aksharbrahaman with qualities...'' (इज् 'अक्षर' एन् अन्सॉल्व्ड रिडल्? पृ.१३५) ऐसा हास्यास्पद श्रौत प्रमाण प्रस्तुत कर दिया! क्योंकि प्रथम वचनमें १='भु' + २='वः' जैसे दो अक्षरोंका निरूपण है नकि धामरूप और मूर्तरूप दो अक्षरोंका. द्वितीय वचनमें जैसे ब्रह्मके मूर्तामूत दो रूप प्रतिपादित किये हैं वैसे ही 'मर्त्यामृत' रूप भी वर्णित हुवे हैं इनमें वायु-अन्तरिक्षसे भिन्नको मूर्त माना है और वायु-अन्तरिक्षको अमूर्त माना है. ऐसी स्थितिमें अमूर्त अक्षरधाम मायाप्रकृतिजन्य भौतिक वायु-अन्तरिक्षरूप सिद्ध होगा और मूर्ताक्षर पृथ्वी-जल-तेजोरूप मायिक ही सिद्ध होगा, मायातीत नहीं. नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद्के अविकल वचनमें तो ''**'घृणिः' इति द्वे अक्षरे, 'सूर्यः' इति त्रीणि, 'आदित्यः' इति त्रीणि**'' पाठ मिलता है तो सब मिला कर आठ अक्षरब्रह्म सिद्ध होंगे! किमाश्चर्यम् अतः परम्! अतः एसी धांधली न की जाये तो एक अच्छी बात होगी. अतः वेदान्तशास्त्रीय प्रमेय या साधना का शिष्टादृत शास्त्रोंके आधारपर प्रतिपादन ही उचित होता है नकि साम्प्रदायिक रहस्यग्रन्थोंके आधारपर. अस्तु.

अतएव स्वयं श्रीसहजानन्द स्वामी भी अधोनिर्दिष्ट वचनोंमें —

> ''श्रीमन्नारायणस्मृत्या सहिताः [क]शास्त्रसम्मताः... वेदानां च न कर्तव्या निन्दा श्रव्या नच क्वचित्''(२१) [ख]''वर्णाश्रमधर्मो यः स हातव्यो न केनचित्. परधर्मो नच आचर्यो नच पाखण्डकल्पितः''(२४) [ग]''संस्काराः च आह्निकं कार्यं स्व-स्वगृह्यानुसारेण कर्तव्यं'' (९१) [घ]''वेदाश्च व्याससूत्राणि श्रीमद्भागवताभिधं पुराणं भारतेतु श्रीविष्णोः नामसहस्रकं तथा श्रीभगवद्गीता नीतिः च विदुरोदिता श्रीवासुदेवमाहात्म्यं स्कान्दवैष्णवखण्डगम्. [ङ]धर्मशास्त्रान्तर्गता च याज्ञवल्क्यऋषेः

स्मृतिः एतानि अष्ट मम इष्टानि सच्छास्त्राणि भवन्ति हि'' (९३-९५) (च)''शारीरकाणां भगवद्गीतायाः च अवगम्यतां रामानुजकृतं भाष्यम् आध्यात्मिकं मम''(१००) ''मतं विशिष्टाद्वैतं मे'' (१२१) (छ)''सच्छास्त्राणां समुद्धृत्य सर्वेषां सारम् आत्मना पत्रीयं लिखिता नृणाम् अभीष्टफलदायिनी''(२०४).(शिक्षापत्री).

यहां शिष्टादृत शास्त्रोंको मान्य करना चाहते हैं. जैसाकि (क)अंशमें प्रस्तुत शिक्षापत्रीका प्रणयन शिष्टादृत सकलशास्त्रोंको सम्मत सनातन धर्मके उपदेशार्थ है नकि देशमें उस समय प्रचलित सम्प्रदायोंकी अनुगामी जनताको अपने सम्प्रदायकी ओर खींचनेको किया जाता छद्म, यह ग्रन्थोपक्रममें ही ग्रन्थकारने स्पष्ट कर दिया है. (ख)अंशमें उन शिष्टादृत शास्त्रोंमें निरूपित धर्मसे विपरीत जो कुछ हो उसे 'पाषण्ड' कह कर उसी बातपर अधिक भार डाला गया है. (ग)अंशमें शिक्षापत्रीके आधारभूत आठ शास्त्रोंसे अतिरिक्त अन्य भी शिष्टादृत शास्त्रोंकी व्यवहारनियामकता दरसायी है. (घ)अंशमें यह शिक्षापत्री केवल सदाचारपरक शास्त्रोक्त धर्मोंके उपदेशार्थ प्रवृत्त ग्रन्थ न हो कर तत्त्वोपदेशपरक शास्त्रोक्त तत्त्वोंके उपदेशार्थ भी प्रवृत्त ग्रन्थ है यह दरसा दिया गया है. (ङ)अंश सदाचारपरक शास्त्रोंपर आधारित कर्तव्योंके उपदेशार्थ भी है यह दरसाया. (च)अंश इन प्राचीन शास्त्रोंसे सीधे स्वयं जुड़ जानेके बजाय अविच्छिन्न बादरायणसूत्र और भगवद्गीता पर अवलम्बित होनेवाले रामानुजसम्प्रदायकी परम्परासे अपना सम्बन्ध स्वीकार कर तदीय ग्रन्थ और तदुक्त सिद्धान्त दोनोंके प्रति अपनी निष्ठा दरसायी है. (छ)अंश उपसंहारमें भी उपक्रमोक्त बातोंकी ही पुनरावृत्ति की गयी है.

यों पुनःपुनः भारपूर्वक उल्लिखित वैदिक ऋषियोंकी अविच्छिन्न परम्परामें समादृत शास्त्रोंके ही साथ अपने सम्बन्धका निर्देश श्रीसहजानन्द स्वामीजी कर रहे हैं. यह तो ठीक ही है कि उपदेशकालमें या विविदिषावस्थामें श्रीसहजानन्द स्वामी अपनेको मान्य आठ शास्त्र ही

सकल शास्त्रोंके अन्तर्गत प्राधान्येन अवलम्बनीय मान कर चले हैं. क्योंकि शिक्षापत्रीरूप ग्रन्थ इन शास्त्रोंके साररूपेण उन्होंने स्वयं संकलित किया है. क्योंकि स्वयं इस ग्रन्थके आन्तरिक साक्ष्यके आधारपर भी अष्टबहिर्भूत 'स्व-स्वगृह्यसूत्र'का प्रामाण्य भी उन्हें सर्वथा अभिमत तो सिद्ध होता ही है. इस निकषको भलीभांति या तो हृदयगत न कर पानेके कारण अथवा किसी तरहकी कुछ वैचारिक उलझनके कारण श्री सा.श्रु.जीके समाधानमें स्वामिनारायणीय दर्शनसिद्धान्त और धर्मसाधना के बीच दर्शनसिद्धान्तके बोधार्थ शिक्षापत्रीकी गौणता दिखलायी गयी है.

वस्तुतः तथाकथित प्रस्थानचतुष्टयका एक बवंडर सा जो आधुनिक लेखकोंने वेदान्तके आधारभूत शास्त्रोंके बारेमें उठा रखा है, उसके बारेमें यह कथनीय है कि तथाकथित वेदादि प्रस्थानचतुष्टयीमें जिन स्वेतर शास्त्रोंको प्रमाणतया मान्य किया गया है, उनके अविरोध या समन्वय के बिना प्रस्थानचतुष्टयीका प्रामाण्य भी अक्षुण्ण नहीं रह पाता! अतः ऐसी विचाररीति न्यायसिद्धाञ्जनकार श्रीवेदान्त देशिकके शब्दोंमें कुछ कहना चाहें तो **''अश्रुतसिद्धान्तस्य पुस्तकनिरीक्षणाद् अयं दोषः''** कहना ही उचित होगा.

रही बात महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी स्वयंकी वेदान्तव्याख्या और स्वयंको सुहाती साधनाप्रणाली तथा कुलपरम्परागत श्रीविष्णुस्वामीकी वेदान्तधारणा और साधनाप्रणाली के बीच रहे प्रभेदके मुद्देकी. श्री सा.श्रु.जीने स्वयं महाप्रभुके वचन, उनके आधारभूत उपजीव्य श्रीभागवतपुराण, उनके परवर्ती व्याख्याकारोंके विधान और सर्वदर्शनमेंसे भी वचनों को उद्धृत कर श्रीविष्णुस्वामिमत और वाल्लभमत के बीच परस्पर अन्तर्विरोध सा दिखलानेकी चेष्टा की है—

''इतने सैद्धान्तिक भेदके रहनेपर 'विष्णुस्वामिमतानुवर्तित्व'का

क्या अर्थ करना चाहिये? क्या वल्लभस्वामी अपने पूर्ववर्ती आचार्यसे विरुद्ध अथवा भिन्न विचार रखते थे? अथवा विष्णुस्वामिमतानुवर्तित्व ही ग़लत है? चिन्तकोंका कहना है कि भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा स्वप्नमें 'सिद्धान्तरहस्य' का ज्ञान होनेपर ही भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अनन्यता अथवा शुद्धाद्वैतमार्ग का प्रारम्भ हुवा. इसके पहले विष्णुस्वामीके सिद्धान्त ही सम्प्रदायमें मान्य थे'' (समा.पत्र.२.३वल्लभमत).

सर्वप्रथम तो जिन चिन्तकोंकी बात श्री सा.श्रु.जी कर रहे हैं, उन्होंने महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके मतके बारेमें आरामकुर्सीपर बैठ कर अपना स्वतन्त्र चिन्तन किया है या महाप्रभुके ग्रन्थोंके गम्भीर और विशद अवगाहनके रूपमें चिन्तन किया है, इसे जाननेकी न तो मुझे कोई उत्कण्ठा है और न मेरे पास कोई आधारप्रद सूचना ही. फिरभी इतना अवश्य कह सकता हूं कि स्वयं महाप्रभुने ऐसे किसी स्वप्नकी बात कहीं कही नहीं है. साम्प्रदायिक इतिहासग्रन्थोंमें भी कहीं ऐसी किसी बातका कोई उल्लेख मिलता नहीं है. स्वयं महाप्रभुकी कण्ठोक्ति जाननी हो तो ''श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि साक्षाद् भगवता प्रोक्तं तदक्षरशः उच्यते'' (सिद्धा.रह.१) वचन मिलता है. ऐतिह्यग्रन्थोंके आधारपर एकादशीको महाप्रभुके रात्रिजागरणके नियमके कारण 'महानिशि'पदका भी अर्थ स्वप्न तो हो नहीं सकता है. अतः यह तो निरी गप्प ही लगती है.

यह घटना भी आपके तीस वर्षकी आयुमें घटित हुयी ऐसा इतिहासग्रन्थोंके आधारपर सिद्ध होता है. जबकि आपका शुद्धाद्वैतवादानुसारी चिन्तन तो इससे बहुत पूर्व प्रकट हो ही चुका था. अतः अब द्वैतवाद या अद्वैतवाद के मतभेदके बारेमें भी कुछ अवधेय हो जाता है. स्वयं महाप्रभुने जहां श्रीविष्णुस्वामीके मतको 'तामस' कहा है और अपने मतको 'निर्गुण', वहां वह न तो श्रीविष्णुस्वामीके मतकी

निन्दाके लिये कहा है और न वह श्रीविष्णुस्वामीके मतकेलिये स्वयंकी अस्वीकृति दरसानेके अभिप्रायवश कहा है. जिन व्रजभक्तोंको आपने अपनी भक्तिके लिये गुरूपम माना उन्हें भी 'तामसलीलाके भक्त' ही कहा है.

रही बात दोनों दृष्टिकोणोंके बीच रहे भेदकी तो उसके बारेमें भी महाप्रभुने स्वयं ही उसी स्थलपर अपना यह उद्‌गार भी प्रकट किया है कि ''**भेदः पारमार्थिकः इति शास्त्रं पुरस्कृत्य त्रिविधो भक्तियोगः उक्तः**(भगवता भागवतएव)**... तमोरजस्सत्त्वैः भिन्नो, अस्मत्प्रतिपादितः च नैर्गुण्यः. एवं चतुर्विधोऽपि भगवता प्रतिपादितः**'' (सुबो.३।३२।३७). अतः भूलना नहीं चाहिये कि इस विधानमें 'च'कार चतुर्थ मतपरिगणनाके पूरणार्थ है नकि इतरमतोंकी निजाभिप्रेततताके वारणार्थ. क्योंकि महाप्रभुके भी मतमें इतर मतत्रयीकी तरह भेद अपारमार्थिक नहीं प्रत्युत पारमार्थिक ही माना गया है. अतः इस अंशमें उनके साथ वैमत्य हो नहीं सकता है. हां, भगवान्‌के सर्वभवनसामर्थ्य और सत्यसंकल्पसामर्थ्य के वश वह पारमार्थिक भेद महाप्रभुको कृत्रिम लगता है, स्वाभाविक नहीं. अतः स्वाभाविक और पारमार्थिक का प्रभेद कभी भूलना नहीं चाहिये. भेदको स्वाभाविक माननेमें इतर मतोंके साथ वैमत्य अवश्य है पर पारमार्थिक माननेमें नहीं, यह सावधानतया अवधेय है, यदि महाप्रभुके मतको भलीभांति बुद्धिगत करना हो तो. अतएव ''**यदि ब्रह्म तावन्मात्रं भवेत् तदा अयं दोषः. तत् पुनः जीवाद् जगतः च अधिकम्. कुतो ? भेदनिर्देशात्!**'' (अणुभा.२।१।२२) इस विधानमें महाप्रभुने बेझिझक पारमार्थिक भेदको स्वीकारा ही है. जहां तक अधिकरणसंग्रहकारके उद्धृत वचनके अभिप्रायकी बात है तो वह भी यह नहीं कह रहे हैं कि इन तीनोंके साथ महाप्रभुका इस विषयमें किसी तरहका विरोध है. क्योंकि वाल्लभ सम्प्रदायमें ऐसा कोई कहना भी चाहे तो स्वयं उसका ही वचन अप्रमाण हो जायेगा, महाप्रभुकी इस स्पष्ट स्वीकारोक्तिके चलते. अतः अधिकरणसंग्रहकार तो यही कहते से प्रतीत होते हैं

कि श्रीविष्णुस्वामी प्रभृति आचार्योंके अनुसार सेव्यसेवकभाव, जड़जीवात्मकसृष्टि-तदुपादानभूतब्रह्म और इनके बीच अभेदका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिमें परस्पर विरोध प्रकट होता है, जबकि उस दिखलायी देते विरोधका उपशमन महाप्रभुने अपने निर्गुणमतके आधारपर कर दिखाया है. अतः पारमार्थिक भेदको अकृत्रिम स्वाभाविक मानना और उसे आत्मलीलार्थ प्रकट कृत्रिम मानना, ये दो विभिन्न बातें हैं. न तो भेदको पारमार्थिक माननेसे वह अकृत्रिम बन जाता है और न कृत्रिम मान लेनेसे वह अपारमार्थिक ही सिद्ध होता है. इन दोनों धारणाओंके बीच रही सूक्ष्मरेखा न समझनेके कारण ही यहां यह अकाण्डताण्डव प्रकट हुवा है!

इसके बाद विचारणीय बनती है श्रीविष्णुस्वामीके श्रीनृसिंहोपासक होनेकी और महाप्रभुके श्रीकृष्णोपासक होनेकी कथा. इस विषयमें भी यह भलीभांति समझ रखना चाहिये कि पुष्टिमार्गमें महाप्रभुके कालसे अद्यावधि भगवान् श्रीनृसिंहकी उपासना सभी आचार्यवंशजोंके गृहमें श्रीकृष्णकी भक्तिभावोपेत सेवाके अन्तर्गत ही अनुष्ठित होती आयी है. श्रीकृष्णके चार पुष्टि-अवतारोंमें श्रीनृसिंह श्रीवामन श्रीराम और श्रीबलराम को माना ही गया है. प्रधानपीठमें बिराजमान भगवान् श्रीनाथजीके विग्रहकी पीठिकामें वेदादिशास्त्ररूप शेष(=बलराम) श्रीनाथविग्रहकी सकलशास्त्रप्रतिपाद्यताके द्योतनार्थ है. इसी तरह श्रीनाथविग्रहकी क्षराक्षरातीताके द्योतनार्थ नृसिंहाकृति उत्कीर्ण है. इसी तरह स्वयं वाल्मीकिरामायणका भी प्रामाण्य, तथाकथित प्रस्थानचतुष्टयसे बहिर्भूत होनेपर भी, श्रीमद्भागवतकी तरह समाधिभाषारूपेण ही महाप्रभु स्वीकारते हैं : **''अस्य व्यासो विस्तारः पूर्वम् अनेकैः उक्तः. साम्प्रतं वाल्मीकिः समाधौ उपलभ्य सर्वम् उक्तवान्. अतः सुतरां इदानीन्तनं प्रमाणम्''** (दृष्ट. : त.दी.नि.प्र.२।८१).

श्री सा.श्रु.जी कहते हैं—

''लेकिन भागवतके सभी शब्द समानरूपसे उपादेय

हैं, ऐसा कह सकते हैं? ऐसा कहेंगे तो श्रीकृष्णको कृष्णकेश कहनेवाला सन्दर्भ... कलावतार कहनेवाला सन्दर्भ क्षीरसागरवासी विष्णुके अवतार कहनेवाला सन्दर्भ का 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' का इस सन्दर्भसे विरोध पड़ेगा. क्या भागवतमतप्रवर्तक व्यासजी स्वयं विरुद्ध बात कर रहे हैं?... सभी व्याख्याकारोंने कुछ न कुछ समाधान दे कर समझौता किया है. मतलब यह कि मतप्रवर्तक अपने मतमें पूर्वप्रवर्तित शास्त्र अथवा विचारधारा को सम्प्रदायानुकूल अर्थ कर के ही स्वीकारते हैं'' (समा.पत्र.वल्ल.२.३).

श्रीसहजानन्द स्वामीका भी यदि ऐसा अभिप्राय होता तो वे ''**एतानि अष्ट मम इष्टानि... श्रीमद्भागवतस्य एषु स्कन्धौ दशमपञ्चमौ सर्वाधिकतया ज्ञेयौ कृष्णमाहात्म्यबुद्धये**'' (शिक्षाप.९८) ऐसे वचन वे कभी लिखते नहीं! उन्होंने अपना मत इन शास्त्रोंके अनुकूल गढ़ना चाहा है नकि इन शास्त्रोंका अपनी मान्यताके अनुकूल मनमाना अर्थ निकालना चाहा है. अतः यह तो श्रीसहजानन्द स्वामीके उपास्य इष्टदेवके माहात्म्यके अवमूल्यन करनेको ही केवल उनके आधुनिक अनुगामी होनेका दावा करनेवालोंके हृदयका निगूढ़ मनोभाव लगता है. फिरभी मैं तो यही कहना चाहूंगा कि जो भी कोई अपने सिद्धान्तको वेदान्त मानता हो तो उसे यह बात यों नहीं कहनी चाहिये; प्रत्युत यों कहनी चाहिये कि *''पूर्वप्रवर्तित शास्त्र अथवा विचारधारा को सम्प्रदायानुकूल अर्थमें नहीं परन्तु अपने साम्प्रदायिक मतको पूर्वसिद्ध शास्त्रीय अर्थके अनुकूल ढाल कर प्रस्तुत करना चाहिये''*. अतएव महाप्रभु कहते हैं ''**नहि स्वबुद्ध्या वेदार्थं परिकल्प्य तदर्थं विचारः कर्तुं शक्यो ब्रह्म पुनः यादृशं वेदान्तेषु अवगतं तादृशमेव मन्तव्यम्**'' (ब्र.सू.वाल्ल.भा.१।१।१). अन्यथा कल कोई स्वयं स्वामिनारायण सम्प्रदायका अनुगामी ही इस सम्प्रदायके रहस्यग्रन्थोंको अपने अनुकूल अर्थके अभिप्रायको प्रकट करने

स्वतन्त्र हो जायेगा कि श्रीसहजानन्द स्वामी ईसा मसीह या महम्मद पयगम्बर के भारतीय जनोंके उद्धारार्थ प्रकटे अवतार थे! तब इस निकषको माननेवालोंके पास ऐसोंको रोकनेका कोई उपाय बच नहीं जायेगा.

श्रीकृष्णके अनेकानेक अवतार हुवे हैं. स्वयं श्रीकृष्ण भी सभी कल्पोंमें पूर्णपुरुषोत्तमतया प्रकट न हो कर कभी अंशावतार, कभी कलावतार, कभी आवेशावतार; और कभी उनकी सकामोपासना की जानेपर क्षुद्रदेवतया भी प्रकट होते हैं. ऐसी स्थितिमें पुराणोंमें मिलते श्रीकृष्णचरित्रसम्बन्धी विविध निरूपण तो उस एकमेवाद्वितीय तत्त्वके अनेकविध रूप-नाम-कर्मोंके सहित अनेकविध प्राकट्यका ही प्रमाण मानी जाती है. यही तो उनके परब्रह्मत्वका लिंग बनता है. अतएव महाप्रभु कहते हैं **''प्रत्यब्दं वृक्षवत् कल्पाः भुवनद्रुमरूपिणो अन्यकल्पोक्तरीत्यापि कथितो भगवान् स्वयम्''** (त.दी.नि.२।५८-५९). वैसे ऐसा विचित्र विधान करनेसे पूर्व श्री सा.श्रु.जी स्वयं श्रीसहजानन्दजीका इस विषयमें जो अभिप्राय है उसे भलीभांति हृद्गत कर लेते तो अच्छी बात होती :

> **''स राधया युतो ज्ञेयो राधाकृष्ण इति प्रभुः, रुक्मिण्या रमया उपेतो लक्ष्मीनारायणः सहि, ज्ञेयो अर्जुनेन युक्तो असौ नरनारायणाभिधो, बलभद्रादियोगेन तत्तन्नामा उच्यते सच... अतश्च अस्य स्वरूपेषु भेदो ज्ञेयो न सर्वथा, चतुरादिभुजत्वन्तु द्विबाहोः तस्य चैच्छिकं, तस्यैव सर्वथा भक्तिः कर्तव्या मनुजैः बुधैः, निःश्रेयस्करं किञ्चित् ततो अन्यद् न इति दृश्यतां...कृष्णः तदवताराः च ध्येयाः तत्प्रतिमापि च.''** (शिक्षाप.१०९-११५).

खैर, महाप्रभु तो कहते ही हैं कि **''नमो भगवते तस्मै कृष्णाय अद्भुतकर्मणे रूपनामविभेदेन यः क्रीडति, यो जगद् भूत्वा क्रीडति;**

यतो जगत् क्रीडति'' ([illegible] : त.दी.नि.प्र.१।१).

वस्तुतः तो श्री सा.श्रु.जीके भीतर — 'चतुर्भुज विरु.द्विभुज', 'वैकुण्ठ विरु. गोलोक', 'लक्ष्मीपति विरु. राधापति', 'श्रीकृष्ण विरु.श्रीनृसिंहादि अवतार' — ऐसे अनेक विरोधोंके निहारते रहनेकी मनोग्रन्थि इतनी कस कर उलझ गयी है कि उन्हें स्वयं उनके आचार्यके सुस्पष्ट विधान भी याद नहीं आते! जो हम ऊपर उद्धृत कर आये. श्रीसहजानन्द स्वामीके इन शब्दोंके अगम्भीर अवगाहनद्वारा भी हमारे कथ्यकी प्रामाणिकता परखी जा सकती है. यदि शिक्षापत्रीका ही, किन्तु, तत्त्वनिरूपणमें प्रामाण्य अभिमत न हो तो, कोई गति फिर बच नहीं जाती!

खैर, संक्षेपमें श्रीविष्णुस्वामिमतका अनुगामित्व महाप्रभुको कुलपरम्परासे प्राप्त ही था, उनका जन्म ही इस वैष्णवसम्प्रदायके अनुगामी ब्राह्मणके कुलमें हुवा था. अतएव जैसे उन्होंने वैदिक-स्मार्त वर्णाश्रमधर्मका त्याग किये बिना तदविरोधी सर्वाधिकारक वैष्णव भक्तिमार्ग और प्रपत्तिमार्ग का भी भगवदाज्ञा और मान्य सकलशास्त्रोंसे अविरुद्धतया अवगत होनेपर प्रवर्तन किया, ठीक उसी तरह कुलपरम्पराप्राप्त तान्त्रिक वैष्णवसम्प्रदायका भी त्याग किये बिना तदविरोधी अपना उक्त पुष्टिभक्तिसम्प्रदाय उन्होंने प्रवर्तित किया. अतएव महाप्रभुने यह खुलासा स्वयं भी दिया ही है कि —

१.''भगवच्छास्त्रम् आज्ञाय विचार्य च पुनःपुनः यद् उक्तं हरिणा पश्चाद् सन्देहविनिवृत्तये : एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम् एको देवो देवकीपुत्रएव मन्त्रोऽपि एकः तस्य नामानि यानि कर्मापि एकं तस्य देवस्य सेवा. इति आकलय्य सततम्...''(.त.दी.नि.१।३-५).

२.''विशिष्टरूपं वेदार्थः फलं, प्रेम च साधनं, तत्साधनं नवविधा भक्तिः, तत्प्रतिपादिका गीता, संक्षेपतः तस्य वक्ता

स्वयम् अभूद् हरिः. तद्विस्तारो भागवतं सर्वनिर्णयपूर्वकं व्यासः समाधिना सर्वम् आह कृष्णोक्तम् आदितः. मार्गो अयं सर्वमार्गाणाम् उत्तमः परिकीर्तितो यस्मिन् पातभयं नास्ति मोचकः सर्वथा यतः. वर्णाश्रमवतां धर्मे मुख्ये नष्टे छलेनतु क्रियमाणे न धर्मः स्याद् अतः तस्माद् न मोचनम्. बुद्धिमान् आदरं तस्मिन् छले साध्येऽपि दुःखतः त्यक्त्वा मार्गे ध्रुवफले भक्तिमार्गे समाविशेत्. विरुद्धकरणं नास्ति प्रक्रिया न विरुद्ध्यते कल्पितैरेव बाधः स्याद् अवोचाम प्रमाणताम्... नात्र श्रुतिस्मृतिविरुद्धाचारो, नापि प्रमेयं वेदविरुद्धम्. अतो नात्र विरुद्धसम्भावनापि...'' (त.दी.नि.प्र.२।२२०-२२६)

यहां सुस्पष्टतया हम देख सकते हैं महाप्रभु श्रुत्यादि शास्त्रोंसे अविरुद्ध होनेकी कसौटीपर खरे उतरनेकी निश्चितिके साथ ही नूतन श्रीकृष्णसेवाभक्ति-शरणागतिके सम्प्रदायप्रवर्तनकी शपथ ले रहे है. स्वयं अपनेको दिखलायी दिये स्वप्न या मनोभ्रम के आधारपर नहीं.

इस मार्गकी उक्त सकल शास्त्रोंके सिद्धान्तसे अविरुद्धता सिद्ध करनेको शास्त्रार्थप्रकरणके केवल उपदेशकालमें प्रमाणचतुष्टयका समन्वितप्रामाण्य प्रस्तावित किया है, शिष्टादृत अन्यान्य शास्त्रोंके अप्रामाण्यको मान कर या उसे इंगित करनेको नहीं. अतएव इसी निबन्धके अन्तमें ''अर्थो अयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यैः रामायणैः सहितभारतपञ्चरात्रैः अन्यैः च शास्त्रवचनैः सह तत्त्वसूत्रैः निर्णीयते सहृदयं हरिणा सदैव... सर्वेषां प्रमाणानाम् अत्र एकवाक्यता अन्येषु वाक्याभासाएव... अन्यथा चतुर्दशविद्यानां सरस्वतीरूपत्वाद् एकनिष्ठता न स्यात्'' (त.दी.नि.प्र.१।१०४) ऐसे उद्गारद्वार सकल शास्त्रोंके समन्वयमें ही; अर्थात् एकवाक्यता सिद्ध करनेपर ही शास्त्रप्रामाण्यको स्वीकारनेपर भार देते हैं, नकि केवल भागवतके प्रामाण्यके अन्धानुकरणपर. अतः महाप्रभुको भागवतका सर्वोपरि और अन्यान्य शास्त्रोंका गौणप्रामाण्य मान्य नहीं है, जैसाकि श्री सा.श्रु.जी

सोच रहे हैं. महाप्रभु तो सुस्पष्ट शब्दोंमें, अतएव, कहते हैं ''एतच्चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं सत् प्रमाजनकम्. एवं पूर्णज्ञानोदयावधि यद् ग्राह्यं प्रमाणत्वेन, तद् निरूप्य तदनन्तरं यत् प्रमाणं तद् आह 'अथवा सर्वरूपत्वात् नामलीलाविभेदतो विरुद्धांशपरित्यागात्, प्रमाणं सर्वमेव हि'' (त.दी.नि.प्र.१।७-९). अतएव तत्त्वार्थदीपनिबन्धके अगले सर्वनिर्णयप्रकरणमें प्रामाण्यके इस प्रमाणचतुष्टयरूप निकषके साथ बंधे रहना महाप्रभुने आवश्यक नहीं समझा. एतावता सिद्ध होता है कि इस तरहके प्रभेदोंको समझे बिना ही श्री सा.श्रु.जीने भागवतके श्रुत्यादिशास्त्रोपजीवी सर्वसन्देहवारक चरमप्रामाण्य और अन्यान्य अनेकशास्त्रोंसे उपबृंहणीय श्रुतिके सर्वोपजीव्य प्रथमप्रामाण्य के प्रभेदको समझनेका तनिक भी कष्ट नहीं उठाया है. और न यही कष्ट उठानेका प्रयास किया है कि प्रस्तुत प्रमाणचतुष्टयकी एकवाक्यतापन्न शब्दराशि केवल विविदिषाकाल या उपदेशकालीन प्राथमिकी व्यवस्था है, नकि शास्त्रके असम्भावना-विपरीतभावनारहित पूर्णबोध हो जानेके बादकी.

हम देख सकते हैं कि स्वयं श्रीसहजानन्द स्वामीने भी इन चारके बजाय आठ शास्त्रोंकी शिक्षापत्रीके उपदेशकालमें जो सच्छास्त्रतया प्रमाणतया उपादेयता स्वीकारी है, वह अपनेको मान्य सकलशास्त्रोंकी अन्तिमेत्थं परिगणना नहीं है. फिरभी निजसम्प्रदायके रहस्यके परिज्ञानार्थ इनके भी प्रामाण्यका त्याग या उपेक्षा कर केवल साम्प्रदायिक ग्रन्थोंके प्रामाण्यपर अवलम्बित होना स्वगोष्ठचेकरम्य कथा हो सकती पर शास्त्रविद्वद्गोष्ठिमान्य नहीं. अस्तु.

(५.क्या शिक्षापत्रीमें भी तत्त्वपञ्चक अर्थाक्षिप्त माना जा सकता है?)

श्री सा.श्रु.जी कहते हैं ''**फिरभी जब शिक्षापत्रीमेंसे ही तात्त्विक विचारोंको प्रधानोपादेय मान कर कोई आक्षेप करते हैं, तब शिक्षापत्रीमेंसे भी प्रत्युत्तर मिल सकता है... : ब्रह्मनिरूपण'निजात्मानं ब्रह्मरूपं देहत्रयविलक्षणं विभाव्य तेन कर्तव्या भक्तिः कृष्णस्य सर्वदा'-'तत्र ब्रह्मात्मना कृष्णसेवा**

मुक्तिः च गम्यताम्' यहां 'श्रीकृष्ण' पदसे परमात्मा, 'निजात्मा'पदसे जीवात्मा और 'देहत्रय'पदसे मायाका निरूपण है लेकिन 'ब्रह्मरूप'शब्दान्तर्गत ब्रह्म क्या तत्त्व है? यह प्रश्न होता है. 'सति कुड्ये चित्रम्' इस न्यायके अनुसार... इस ब्रह्मतत्त्वके ज्ञानकेलिये साम्प्रदायिक ग्रन्थ 'वचनामृत' 'सत्संगिजीवन'...आदि ग्रन्थोंको देखना पड़ेगा.''(समा.पत्र.४.३.१वल्ल.).

वैसे साम्प्रदायिक ग्रन्थों द्वारा मतरहस्यको समझ लेनेमें तो कोई आपत्तिकी बात हो ही नहीं सकती परन्तु जब वे स्वयं शिक्षापत्रीके दुरूह रहस्योंको समझानेके बजाय उसके विपरीत या उसका प्रत्याख्यान ही करने लगें तब तो उन्हें कदापि नहीं देखने चाहिये, स्वयं श्रीसहजानन्द स्वामीके ''मद्रूपम् इति मद्वाणी मान्या इयं परमादरात्''-''कृष्णभक्तेः... पतनं यस्य वाक्यतः स्यात् तन्मुखाद् नवै श्रव्या''-''कृष्णकृष्णावताराणां खण्डनं यत्र... तानि शास्त्राणि न मान्यानि कदाचन''-''इमामेव ततो नित्यम् अनुसृत्य मम आश्रितैः यतात्मभिः वर्तितव्यं नतु स्वैरं कदाचन... नेत्थं ये आचरिष्यन्ति तेतु अस्मत्सम्प्रदायतः बहिर्भूताः इति ज्ञेयम्'' ऐसे कठोर निषेधकी भीति हृदयमें रखते हुवे.

जहां तक अक्षरब्रह्मके मूर्त और अमूर्त ऐसे दो रूपोंके स्वीकारको स्वामिनारायणीय सिद्धान्तका अनितरसाधारण स्वरूप कहा जा रहा है, तो वह तो इतरदर्शनोंके भलीभांति अवलोकन किये बिना किया गया विधान है. देखिये :

१.''परं ब्रह्मतु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहद् द्विरूपं तद्धि सर्वं स्याद् एकं तस्माद् विलक्षणम्'' (सिद्धा.मुक्ता.३).

२.''प्रकृतिः पुरुषः च उभौ परमात्मा अभवत् पुरा यद् रूपं समधिष्ठाय तद् अक्षरम् उदीर्यते... प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ लोकत्वेन तदुद्भवः... प्रभुः वैकुण्ठवासी, लोको वैकुण्ठो, जीवजडाकारेण प्रादुर्भवति इति अर्थः. अतएव वैकुण्ठवासिनो

मुक्ताः. ततोऽपि पुरुषोत्तमो महान्'' (त.दी.नि.प्र.२।९८-१०२).

३.''ब्राह्मेण ब्रह्मसम्बन्धिना ब्रह्मणा भगवतैव स्वभोगानुरूपतया सम्पादितेन... शरीरेण... परप्राप्तेः मुक्तिरूपत्वाद् अक्षरब्रह्मणः पुरुषोत्तमायतनरूपत्वात् तदात्मकमेव शरीरं तस्य वक्तुम् उचितं नतु प्राकृतम्... यत्र कर्मवादी जैमिनिः एवं मनुते, अन्येषाम् एवम् अङ्गीकारे किम् आश्चर्यम् इति ज्ञापनाय तन्मतोपन्यासएव कृतः'' (ब्र.सू.वाल्ल.भा.४।४।२).

४.''भगवदुक्तवर्णाश्रमधर्माचरणेन परोपकारादिधर्माचरणेन च वैष्णवान्नभक्षणेन अन्याश्रयत्यागपूर्वकभगवदाश्रयेन प्रतिबन्धकपापनाशे भगवत्प्रसादे च क्रियमाणायाः श्रवणादिरूपायाः पोषे बीजभावदार्ढ्ये व्यसनभावः पूर्णो भवति. ततो वृद्धौ क्रमेण गुणानां नाशो लीलासृष्टिस्थानां 'दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परं सत्यं ज्ञानम् अनन्तं यद् ब्रह्मज्योतिः सनातनम्'' (भाग.पुरा.१०।२५।१४-१५) इति वाक्याद् व्यापिवैकुण्ठलोकात्मकाऽक्षरानुभवः; तथा, अत्र पूर्वोक्तरीत्या सेवया... गुणनाशे ब्रह्मभावः'' (प्रमे.रत्ना.फलविवे.).

एतावता सिद्ध होता है कि स्वामिनारायण मतमें प्रमेयरूप तत्त्वोंकी पांच संख्या जुटानेपर भी कोई असाधारण दार्शनिक प्रदान प्रकट होता नहीं है. अर्थात् इसमें कुछ भी स्वामिनारायणीय सिद्धान्तका अनूठापन झलक नहीं पाता. हम देख चुके हैं रामानुजीय वेदान्त और वाल्लभ वेदान्तके समन्वयका जो प्रयास श्रीसहजानन्द स्वामीने किया वह अवश्य नूतन विभावना थी. परन्तु इसे आधुनिक अनुगामी स्वीकारनेसे कतराना चाहते हैं. अतएव शिक्षापत्रीगत ब्रह्मरहस्यको वचनामृतके आधारपर समझनेका प्रयास करनेपरभी कोई रामानुजीय वेदान्तसे भी नूतन कोई बात उभर कर सामने आती नहीं है. क्योंकि —

''परमम् अक्षरं प्रकृतिविनिर्मुक्तम् आत्मस्वरूपं...

अनात्मभूतम् आत्मनि सम्बध्यमानं भूतसूक्ष्मतद्वासनादिकं...-तदुभयं प्राप्यतया त्याज्यतया च मुमुक्षुभिः ज्ञातव्यम्.'', ''यः प्रयाति त्यजन् देहं सा याति परमां गतिम्' इत्यत्र 'परमगति'शब्दनिर्दिष्टो अक्षरः प्रकृतिसंसर्गवियुक्तस्वरूपेण अवस्थितः आत्मा''... ''अचित्संसर्गवियुक्तं स्वरूपेण अवस्थितं मुक्तस्वरूपं परमम् नियमनस्थानं, तच्च अपुनरावृत्तिरूपम्. अथवा प्रकाशवाची 'धाम'शब्दः'', ''अक्षर'शब्दनिर्दिष्टः कूटस्थः आत्मा अचित्संसर्गवियुक्तः स्वेन रूपेण अवस्थितो मुक्तात्मा'', ''परं ब्रह्म उपासीनान् आत्मानं च प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकम् उपासीनान् आतिवाहिको गणो नयति इति सिद्धम्'', ''प्रत्यगात्मनः परं ज्योतिः उपसम्पद्य निवृत्ततिरोधानस्य स्वरूपाविर्भावः... ब्राह्मेण अपहतपाप्मत्वादिना इति अर्थः'' (गी.रा.भा.८।३,८।२१,१५।-१६ तथा ब्र.सू.रा.भा.४।३।१५,४।४।५).

यही तो सब श्रीसहजानन्द स्वामी वचनामृतमें भी कह रहे हैं यथा —

''भगवान्को अतिप्रसन्न करनेकी इच्छा हो, तो एक उपाय यह है कि अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मोंके सम्बन्धमें अचलनिष्ठा, आत्मनिष्ठाकी अतिशय दृढ़ता, एकमात्र भगवान्के सिवा अन्य समस्त पदार्थोंके प्रति अरुचि और भगवान्में माहात्म्यसहित निष्कामभक्ति रखनी चाहिये. इन चारों साधनों द्वारा भगवान्को अतिशय प्रसन्नता होती है... ऐसा ऐकान्तिक भक्त देह त्याग कर तथा मायाके समस्त भावोंसे मुक्त हो कर अर्चिमार्ग द्वारा भगवान्के अक्षरधाम जाता है. उस अक्षरके दो स्वरूप हैं : इनमें एक तो निराकार एकरस चैतन्य है. उसे 'चिदाकाश' और 'ब्रह्मधाम' कहते हैं

तथा दूसरे रूपसे पुरुषोत्तम नारायणकी सेवामें रहता है. उस अक्षरधाममें जानेवाला भक्त भी अक्षरब्रह्मके साधर्म्यभावको प्राप्त होता है और अखण्ड सेवामें रहता है. इस अक्षरधाममें श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम नारायण सदैव(नकि स्वामिनारायण पन्थके बहुजनमान्य न होनेकी अवधिमें ही) बिराजमान रहते हैं..." (वचना.ग.प्र.२०).

"ब्रह्म तो पुरुषोत्तम भगवान्का किरणरूप है किन्तु स्वयं भगवान् तो सदैव साकार मूर्ति ही हैं."(ग.म.१०)

पता नहीं कि इस पन्थका आधुनिक अनुगामी बोचासणवासी दल वचनामृतकी रहस्यार्थदीपिकाका प्रामाण्य स्वीकारते हैं या नहीं? उन्हें जो कुछ मान्य हो परन्तु उसमें इस वचनामृतका रहस्य वस्तुतः अद्भुत प्रकट किया गया है. रहस्यार्थदीपिकाकार कहते हैं : "ननु भगवत्तेजोरूपस्य धाम्नो भगवति श्रीस्वामिनारायणे स्वामिसेवकभावो विद्यते नवा? इति चेत् सूर्यप्रकाशस्य सूर्ये वह्निज्वालायाः च वह्नौ यथा नैव अस्ति स्वामिसेवकभावः तथैव भगवत्तेजोरूपाक्षरधाम्नो भगवत्स्वामिनारायणे नैव अस्ति स्वामिसेवकभावः. यतः इदं तेजस्तु मूर्तेः कार्यभूतम् इति नैव अस्ति ततो भिन्नं किन्तु कार्यकारणभावः शरीरशरीरिभावः चैव विद्यते. ननु अक्षरधाम्नो भगवद्भिन्नत्वाभावं चेत् तर्हि... तस्यैव द्वितीयरूपेण भगवत्सेवायां वर्तमानत्वं यद् उक्तं तत्र द्वितीयं रूपं कथं ज्ञेयम्? सेवा च का? इति चेद् भगवत्तेजसएव अक्षरधामत्वम्... तस्यैव च मूर्तिमन्मूलाक्षरशरीरित्वं तद्व्यापकत्वं तद्दृष्टत्वं तदात्मत्वं तदाधारत्वं च इति रहस्यार्थत्वात् च" (वच.रह.दीपि.ग.प्र.२२।४). मुझे तो रहस्यार्थदीपिकाके ऐसे विधानका अवलोकन करनेपर महाप्रभुके "प्रथमम् अक्षरम् आह... जीवानां चिद्रूपाणां चिद्रूपे स्वयोग्ये ब्रह्मणि प्रवेशः... ननु आनन्दांशतिरोभावे जीवत्वमेव स्याद्... इति आशङ्क्य आह... ब्रह्मकूटस्थाव्यक्तादिशब्दैः वाच्यो निरन्तरः... तथापि न पुरुषोत्तमाद् भिन्नतया अवस्थितः किन्तु निरन्तरएव. तस्यैव कारणत्वं ज्ञापयितुं तत्रैव कार्यस्थितिम् आह सर्वावरणयुक्तानि

तस्मिन् अण्डानि कोटिशः मूलाविच्छेदरूपेण तदाधारतया स्थितः'' (त.दी.नि.प्र.२।९८-१०२) वचन याद आ जाते हैं. अब स्वयं रहस्यग्रन्थकी भी रहस्यार्थदीपिका अक्षरब्रह्मको भिन्नतया प्रकाशित न करती हो तो क्या करना! यह भी हम यहां देख सकते हैं कि अक्षरब्रह्मको भगवत्तेजोरूप श्रीरामानुजाचार्यने भी स्वीकारा ही है. उसे व्यापिवैकुण्ठात्मक धामरूप महाप्रभुने और अधिक माना है, प्रकाशरूपताके साथ-साथ. इन दोनों मतोंको समन्वित कर एक नूतन विभावना मूलरूपेण स्वामिनारायणीय वेदान्तकी थी. आधुनिक स्वामिनारायणीय सिद्धान्त किन्तु इनका त्याग करना चाहता है.

वैसे तो चित्रनिर्माणकेलिये कुड्यान्वेषण या कुड्यनिर्माण के प्रयोजनवश वचनामृतका पान करने जानेपर भी ''उपनिषद् वेदान्त श्रुतियों और स्मृतियों में जिनको परोक्षरूपसे ब्रह्म ज्योतिःस्वरूप ज्ञानरूप तत्त्व सूक्ष्म निरञ्जन क्षेत्रज्ञ सर्वकारण परब्रह्म पुरुषोत्तम... बताया गया...'' (वचना.ग.म.३९) इस वचनामृतमें 'ब्रह्म' और 'पुरुषोत्तम' पदोंको पर्यायवाची पानेपर रहस्यार्थदीपिका द्वारा प्रस्तुत व्याख्यान अकाण्डताण्डव तो नहीं लगता है. अतः न तो धामात्मक अमूर्त अक्षरब्रह्म कोई पृथक् तत्त्व सिद्ध होता है और न उस भगवद्धाममें पहुंचे मुक्तात्मगण ही कोई पृथक् सिद्ध होते हैं. क्योंकि वे भी तत्त्वत्रयीके अन्तर्गत जीवात्माकी बद्धावस्था और मुक्तावस्थारूप केवल अवस्थाभेद ही सिद्ध होंगे तत्त्वान्तर नहीं. रही बात ईश्वरतत्त्वकी तो जिसके बारेमें श्री सा.श्रु.जी कहते हैं—

ईश्वरनिरूपण'' 'सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणम् अर्थवत्'... शिक्षापत्रीमें 'ज्ञेयः स्वतन्त्र ईशो असौ सर्वकर्मफलप्रदः' यह विशेषणविशिष्ट पद क्यों दिया है? क्या परतन्त्र कोई ईश्वर है? यदि है तो यही एक भिन्न तत्त्वके रूपमें प्रतिष्ठित है. नहीं तो 'ईश'पदका 'स्वतन्त्र' विशेषण निरर्थक है'' (समा.पत्र.४.३.२).

कितने छोटेसे तिलका कितना लम्बा ताड़ यहां बनाया जा रहा है! स्वयं श्री सा.श्रु.जीके ''गुणातीतो अक्षरं ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः'' मंगलाचरणमें ही 'अक्षरब्रह्म' विशेष्यके साथ 'गुणातीत' विशेषण जोड़ा गया है, तो यहां भी क्यों पूछा नहीं जा सकता कि अक्षरब्रह्मके भी क्या गुणातीत और गुणान्तःपाती ऐसे दो प्रकार मंगलाचरणमें ध्वनित हो रहे हैं? यदि 'हां' तो पुनः एक ही ब्रह्मके दो अवस्थाभेद क्यों नहीं मान लेने? ऐसा मान लेनेपर अन्वयव्यतिरेकोपदेशरूप वचनामृत (ग.प्र.७) के साथ सुसंवाद भी हो जायेगा. वाल्लभ वेदान्त तो अपने प्रारम्भिक कालसे ही ब्रह्मके अन्वय-व्यतिरेकभावपर बहुत भार देता रहा है ''तत्र 'सर्वं भगवान् कथम्?' इति आकांक्षायाम् अन्वय-व्यतिरेकाभ्याम् इति. सर्वत्र भगवतो अन्वयो अस्ति—'घटः सन्'-'पटः सन्', 'भासते' इति, 'प्रियम्' इति च सर्वत्रैव एकस्य अन्वयः. अन्यथा एकशब्दानुवृत्तिः प्रतीत्यनुवृत्तिः न स्यात्. विशेषेण अतिरिच्यते इति व्यतिरेकः... एवं सर्वत्र यत् सर्वं सत् सर्वस्माद् अतिरिच्यते तद् ब्रह्मैव'' (सुबो.२।९।३५). अतः जैसे जीवात्मा मायागुणोंमें फंस कर गुणान्तःपाती होनेपर भी शास्त्रोपदिष्ट साधनाओंके अनुष्ठान द्वारा गुणातीत हो पाती है, वैसे ही परब्रह्म पुरुषोत्तम अपने लीलासंकल्पके अनुरूप गुणान्तःपाति और गुणातीत भी होता है. यह पुनः श्रीसहजानन्द स्वामीको अतिशय मान्य श्रीमद्भागवतके वचनोंका स्वारसिक वृत्तान्त है. अतः ऐसा स्वीकार लेनेपर वाल्लभ वेदान्तमें अन्तर्भूत हो जानेकी व्यर्थभीति भी सतानी तो नहीं चाहिये. क्योंकि स्वयं श्रीजीमहाराज भी पूर्वोक्त वचनामृतके उपक्रममें ''शास्त्रोंमें जहां-जहां अध्यात्मवार्ता आती है, उसे कोई समझ नहीं पाता और भ्रान्ति हो जाती है. इसलिये हम अध्यात्मवार्ताके यथार्थ स्वरूपका वर्णन करते हैं'' (वचना.ग.प्र.७) ऐसा अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें इस धारणाकी महत्ता समझा ही रहे हैं. इसे परन्तु न माननी हो और न अक्षरब्रह्मको भी गुणातीत एवं गुणान्तःपाति यों उभयव्यपदेशार्ह ही मानना हो तो, जैसे यह विशेषण निरर्थक हो सकता है, ऐसे ही 'स्वतन्त्र' विशेषण भी क्यों निरर्थक

हो नहीं सकता? यदि सोचा जाये कि श्री सा.श्रु.जी निरर्थक विशेषणका प्रयोग कर सकते है परन्तु श्रीसहजानन्द स्वामी नहीं, तो जब वे ''शास्त्रसम्मताः सदाशिषः''-''मनसेप्सितानां सुखानाम्'' (शिक्षाप.६-२१२) वचनोंमें 'शास्त्रसम्मत' और 'मनसेप्सितानां' विशेषणोंसे विशिष्ट आशिष और सुख की बात कह रहे हैं, तो क्या श्रीजीमहाराज शास्त्रसे असम्मत आशिष भी अपने भक्तोंको कभी-कभी देते रहते थे क्या? अथवा सुख भी क्या मनोभीप्सित और मनोनभीप्सित ऐसे दो तरहके स्वामिनारायणीय सिद्धान्तमें कहीं दरसाये गये हैं क्या? वैसे श्री सा.श्रु.जी सम्भवतः विशेषणको एकविध ही मानते लगते हैं. अन्यथा विशेषण तो [१]व्यावर्तक [२]विधेय और [३]हेतुगर्भ यों तीन प्रकारके माने गये हैं. अतः प्रत्येक विशेषणविशिष्ट उल्लेखमें इतरव्यावर्तनरूप कुड्यकी खोज अनिवार्य नहीं होती! ''स कीचकैः मारुतपूर्णरन्ध्रैः'' (रघुवं.२।१२) इस कालीदासके वर्णनमें 'मारुतपूर्णरन्ध्र' विशेषण जैसे किचकोंका हेतुगर्भ विशेषण है, वैसे ही 'स्वतन्त्र' विशेषण ईश्वरका भी हेतुगर्भ विशेषण क्यों नहीं हो सकता? शैव मतमें जैसे ''पाशबद्धः पशुः ज्ञेयः पाशमुक्तः सदाशिवः'' कहा तद्वत् एक ही ईश्वर अवस्थाभेदवश आत्मलीलया स्वतन्त्र और परतन्त्र उभयविध क्यों नहीं हो सकता?

श्रीसहजानन्द स्वामीके सर्वकारणकारणरूप उपास्य इष्टदेव श्रीकृष्णको, अक्षरधामके स्वामी होनेके पदसे च्युत कर स्वयं श्रीसहजानन्द स्वामीको उस पदपर अभिषिक्त कर देनेको ही तो कहीं यह सारा युक्तिप्रपञ्च रचा नहीं जा रहा है! सचाई यदि यही हो तो शिक्षापत्रीके ही केवल नहीं प्रत्युत वचनामृतके अवलोकन करनेपर भी कितना निजाचार्योपदेशके प्रति आधुनिक अनुगामिओंका निरादरका भाव प्रकट है, यह देख लेना भी उचित होगा.

उससे भी पहले यह एक और स्पष्टीकरण मुझे आवश्यक लगता है कि यह वैकुण्ठ-गोलोक आदि सभी धामोंसे ऊपर जो अक्षरधाम

(वस्तुतः तो वचनामृतका प्रामाण्य निःसन्दिग्ध हो तो "मायाके तमसे परे जो गोलोक है उसके मध्यभागमें स्थित अक्षरधाम..." (वचना.व.१८) ऐसे पदप्रयोगवश कुछ दूसरा ही चित्र उभरता है) कहा जा रहा है उसके स्वामी होनेके पदपर श्रीसहजानन्द स्वामीको अभिषिक्त करनेके श्रद्धातिरेककी मानसिकता भारतीय धर्म-सम्प्रदायोंके इतिहासमें कोई नूतन अध्याय या नूतन रहस्यकथा नहीं है. वह तो अतिसाधारण या सर्वसाधारण सदाचारकी केवल कथा है. इसीमें किन्तु एक रहस्य यह अवश्य अन्तर्निगूढ़ है जो सर्वमूल श्रुतिवचनने यथायथ ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य-वानप्रस्थ-संन्यास यों चारों आश्रमिओंको एक साधारण सदाचारके रूपमें "**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव**" (तैत्ति.उप.१।११) समझाया है. यहां माताआदिके साथ "आचार्यो देवो भवति" ऐसा इतरनिरपेक्ष देवत्व नहीं कहा. अर्थात् आचार्यको उद्देश्य बना कर देवत्वका विधान करनेके बजाय *"आचार्यो देवो यस्मै यस्य वा"* यों बहुव्रीहीके प्रयोग द्वारा शिष्यसापेक्ष देवत्व ही दिखलाया है.

सहज सम्भव है कि सच्छास्त्रकी इस पुरातन परिपाटिके अनुसरणार्थ श्रीसहजानन्दजी भी अपनी अक्षरधामस्वामिताका उपदेश कर रहे होंगे. सच्छास्त्रोंमें उनकी अतिशय धर्मनिष्ठाके आधारपर "स्वयं उनके पुरुषोत्तम होने"के विधानकी यह व्याख्या उपपन्न होती है. परन्तु जहां वसुदेव-देवकीसुत श्रीकृष्णको "अक्षरधामके अधिपति पुरुषोत्तम" कहा गया है वहां उनके श्रीमुखसे निकले वचनोंको ही उद्धृत किया गया होनेसे उसकी अन्यथोपपत्ति शक्य ही नहीं, यदि वाक्यार्थमीमांसाका लेशमात्र भी ज्ञान हो तो. फिरभी वचनामृतके श्रोताओंने श्रद्धाजाड्यवश अन्यथार्थ ही विचारा! खैर, श्रुतिके अलावा स्मृतिओंमें भी ऐसी सावधानी "**आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः**"-"**आचार्यो ब्रह्मलोकेशः**" (मनुस्मृ.२।२२६-४।१८२) जैसे वचनोंमें बरती गयी है. क्योंकि पिता-पुत्रभावकी तरह आचार्य-शिष्यभाव भी इतरेतरसापेक्ष ही होता है. देवदत्तरूप शिष्यका यज्ञदत्त आचार्य आवश्यक नहीं कि ब्रह्मदत्तकेलिये भी आचार्य ही हो. अतएव यही विवेक

श्रीमद्भागवतपुराणमें भी ''आचार्यं मां विजानीयाद् नावमन्येत कर्हिचित् न मर्त्यबुद्ध्या असूयेत सर्वदेवमयो गुरुः''-''आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति'' (भाग.पुरा.११।१७।२७-तत्रै.११।२९।६) जैसे उपदेशोंमें मिलता है. यहां भी लक्ष्यमें रखने लायक बात यही है कि 'ब्रह्म' न कह 'ब्रह्ममूर्ति' कहा एवं ''आचार्यो अहं भवामि'' न कह कर ''मां विजानीयाद्'' कहा. इसी तरह ''क्षराक्षरातीतवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति'' न कह कर ''चैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति'' कहा.

इसे यथोपदेश लेनेके बजाय जिस देव, ब्रह्म, क्षराक्षरातीत पुरुषोत्तम, श्रीकृष्ण, श्रीहरि, घनश्याम, या नीलकण्ठ आदि देवोंकी बुद्धि आचार्यमें करनेको कहा जाय, स्वयं उस घनश्याम या नीलकण्ठ देवके बारेमें अथवा तो ब्रह्म या क्षराक्षरातीत पुरुषोत्तमके बारेमें लोकश्रद्धाके निर्मूलन द्वारा स्वयं आचार्यको उस तरहसे मान लेना या बिरदाने लग जाना सर्वथा अनुचित है! जिस संविधानके प्रावधानविशेष द्वारा किसी व्यक्ति या समुदाय को मानवीय गौरवानुरूप अधिकार किसी राष्ट्रमें रहनेका मिलता हो उसे पा लेनेके बाद राष्ट्रीय संविधानकी अवहेलना करनेको अपने नियमोंकी सर्वोपरिता दिखाने जैसी यह उद्दामवादी कूटनीति खेली जाती लगती है! अस्तु.

स्वयं श्रीसहजानन्द स्वामीजी इन सच्छास्त्रोपदिष्ट आदर्शोंमें कितनी अविचल निष्ठा रखते थे यह तो उनके न केवल शिक्षापत्री प्रत्युत वचनामृतमें भी बच पाये अनेकानेक वचनोंके आधारपर निःसंदिग्धतया प्रकट होता ही है. सर्वप्रथम तो शिक्षापत्री जैसे पत्र अपने अनुगामिओंको उन्हें क्यों लिखने पड़े? इसके पीछे रहे कारणोंके जिज्ञास्य होनेपर यह वर्णन मिलता है :

> ''वे गादीतकियापर उदास बैठ गये. उन्होंने न तो किसीको बुलाया और न किसीके सामने देखा... उसी

स्थितिमें उनके नेत्रोंसे आंसू पड़ने लगे... इसके पश्चात् बोले 'हमने शुष्कज्ञानियोंका मत जाननेकेलिये उनके शास्त्रका श्रवण किया. उसके श्रवणमात्रसे हमारे अन्तःकरणमें उद्विग्नता हो गयी, क्योंकि शुष्कवेदान्तके श्रवणसे जीवकी बुद्धिमेंसे भगवान्की उपासनाकी भावना लुप्त हो जाती है... इसलिये अन्य देवोंकी भी उपासना हो जाती है... उनकी बुद्धि बिलकुल भ्रष्ट हो जाती है...' इस प्रकार वे बहुत देर तक उदास रहे और अपने हाथोंसे नेत्रोंके आंसू पोंछ कर ऐसा बोले कि भगवद्गीतापर जो रामानुजभाष्य है उसकी कथा सुन कर रात्रिमें सो रहे थे तब हमने एक स्वप्न देखा कि हम गोलोकमें गये, जहां भगवान्(नहीं कि स्वयं)के अनन्त पार्षदोंको देखा... हमें ऐसा विचार हुवा कि परमेश्वरकी ऐसी प्रेमभक्ति तथा परमेश्वर(नहीं कि स्वयं)की ऐसी उपासनाका परित्याग करके जो मिथ्याज्ञानी ऐसा मानता है कि हम भगवान् हैं वह महादुष्ट है... जिस प्रकार धर्म तथा भगवान् की भक्तिसे किसी भी तरह विचलित न हों तथा अपने इष्टदेव श्रीकृष्णनारायण(नहीं कि स्वयं)से किसी भी प्रकार बुद्धि डिगे नहीं, इस आशयका एक पत्र लिख कर देशभरके सत्संगियोंके पास भेजें... जो पुरुष हमारी इस आज्ञाका दृढ़तापूर्वक पालन करेगा, उसको श्रीकृष्णनारायण(नहीं कि स्वयं)में नारद जैसी दृढ़ भक्ति हो जायेगी... जो हमारे इस वचनका उल्लंघन करेंगे, उनकी भक्ति वेश्या जैसी व्यभिचारिणी हो जायेगी' संवत् १८७८ में मार्गशीर्ष कृष्ण चतुर्दशीको यह पत्र लिखा'' (वचना.ग.म.१९).

अब पता नहीं चलता कि वचनामृतोंको सारतम माननेवाले आधुनिक अनुगामी इनकी शिक्षापत्रीको ''असाररूपा अल्पसाररूपा साररूपा अथवा

सारतररूपा'' के बीच क्या मानते हैं! अरे हां! श्रुति-सूत्र जिनमें अक्षराधिपति पुरुषोत्तमका निरूपण मिलता नहीं उसे असाररूप, गीता-भागवतमें मिलता होनेपर भी श्रीसहजानन्द स्वामीका अक्षराधिपतिके रूपमें वर्णन न मिलता होनेसे उन्हें अल्पसाररूप, इन सच्छास्त्रोंके सारतया शिक्षापत्रीको स्वयं श्रीजीमहाराज बिरदाते होनेसे उसे साररूप; और, सारतररूप जो भी कोई अन्य ग्रन्थ हो, इस अर्थमें तो कहीं वचनामृतको सारतम नहीं माना जा रहा है!

खैर, जिस-किसी अर्थमें वह माना जाता हो इतना तो निश्चित है कि इस सारतम उपदेशको भी श्री सा.श्रु.जी अपने समाधानपत्रके मंगलाचरणमें पुनः अस्वीकार कर रहे हैं—''रामकृष्णाद्यवताराणां कारणं परमेश्वरम्'' विधान द्वारा. और अतएव आज भी शायद श्रीसहजानन्दजीके मनको उद्विग्न, मुखको उदास और नयनोंको अश्रुपरिपूरित ही कर रहे हैं!

इस सारतम वचनकी तुलनामें ही कुछ अन्य भी सारतम वचन देखने लायक हैं :

> १.''जो यह एकरस तेज है, उसे 'ब्रह्म' तथा 'अक्षरधाम' कहते हैं. उस प्रकाशमें जो भगवान्की मूर्ति दिखायी पड़ती है, उसे 'आत्माका तत्त्व' 'परब्रह्म' तथा 'पुरुषोत्तम' कहते हैं. वे ही भगवान् अपनी इच्छासे जीवोंका कल्याण करनेकेलिये रामकृष्णादिके रूप धारण करके युग-युगमें प्रकट होते हैं. यद्यपि वे भगवान् इस लोकमें मनुष्यसदृश दिखायी पड़ते हैं तथापि वे मनुष्यवत् नहीं हैं. वे तो अक्षरधामके स्वामी है. यही बात श्रीकृष्ण भगवान्(नहीं कि श्रीजीमहाराज)ने गीतामें कही है:—'न तद् भासयते सूर्यः... तद् धाम परमं मम' अतएव श्रीकृष्ण भगवान् यद्यपि

मनुष्यवत् दिखायी पड़ते थे तथापि वे(नहीं कि श्रीजीमहाराज) अक्षरातीत कैवल्यमूर्ति ही हैं... इस प्रकार श्रीजीमहाराजने अपने भक्तजनोंको शिक्षा देनेकेलिये अपने(यह 'अपने' पद यहां अचानक कैसे आ गया?) पुरुषोत्तम होनेकी वार्ता परोक्षरूपमें कही. यह बात सुन कर समस्त साधुओं तथा हरिभक्तों ने यह मान लिया(अर्थात् श्रीजीने कहा हो या न कहा हो) कि 'तेजपुंजमें जिस मूर्तिके रहनेकी बात कही गयी है उसके प्रत्यक्ष प्रमाण ये श्रीजीमहाराज हैं.(वचना.ग.म.१३).

२.''श्रीजीमहाराजने बड़े-बड़े परमहंसोंसे पूछा कि हमने श्रीमद्भागवतके पञ्चमस्कन्ध दशमस्कन्ध का अतिशय प्रतिपादन किया... दशमस्कन्धका रहस्य यह है कि उपनिषद् वेदान्त श्रुतियों और स्मृतियों में जिनको परोक्षरूपसे ब्रह्म ज्योतिःस्वरूप ज्ञानरूप तत्त्व सूक्ष्म निरञ्जन क्षेत्रज्ञ सर्वकारण परब्रह्म पुरुषोत्तम वासुदेव विष्णु नारायण और निर्गुण नामोंसे बताया गया वे ही ये प्रत्यक्ष वसुदेवपुत्र श्रीकृष्ण वासुदेव हैं'' (वचना.ग.म.३९).

३.''अन्य अवतारोंके समान श्रीकृष्ण भगवान् अवतार नहीं अवतारी(तो श्रीजीमहाराके अवतार क्यों मानते हो?) हैं. ऐसे जो श्रीकृष्ण भगवान् हैं वे अपने इष्टदेव हैं. उन श्रीकृष्ण भगवान्(नहीं कि श्रीजीमहाराज)के चरित्रोंका सम्पूर्ण वर्णन श्रीमद्भागवतपुराणके दशमस्कन्ध किया गया है. इसलिये हमने अपने उद्धवसम्प्रदायमें दशमस्कन्धको अत्यन्त प्रामाणिक माना है... भगवान् श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम(नहीं कि श्रीजीमहाराज) तो राजाधिराज तथा अखण्डमूर्ति हैं. वे(नहीं कि श्रीजीमहाराज) अपने अक्षरधामरूपी सिंहासनपर सदैव(नहीं कि श्रीसहजानन्द स्वामीके प्रसिद्ध होनेसे पूर्व ही) बिराजमान रहते हैं''(वचना.ग.म.६४).

४.''सत्संगिजनको कौन-कौन सी वार्ता आवश्यक रूपसे

जान रखनी चाहिये... पहली बात... अपना उद्धवसम्प्रदाय है... दूसरी बात... गुरुपरम्पराका ज्ञान... रामानन्दस्वामीके गुरु रामानुजाचार्य हैं उन रामानन्दस्वामीके हम शिष्य हैं, ऐसी गुरुपरम्परा जाननी... तीसरी बात... हमारे सम्प्रदायमें अतिप्रमाणरूप जो शास्त्र हैं... वेद व्याससूत्र श्रीमद्भागवतपुराण महाभारतका विष्णुसहस्रनाम भगवद्गीता विदुरनीति स्कन्दपुराणके विष्णुखण्डका वासुदेवमाहात्म्य याज्ञवल्क्यस्मृति... चौथी बात... सत्संगजिनोंके नियम... पांचवी बात...अपने इष्टदेव श्रीकृष्णभगवान्... मायाके तमसे परे जो गोलोक है उसके मध्यभागमें स्थित अक्षरधाममें श्रीकृष्ण भगवान्... राधिकाजी एवं लक्ष्मीजी के सहित...''(वचना.-व.१८)

आश्चर्य होता है कि इन सारतम उपदेशोंमें न जाने कितनी बार अपरोक्षरूपमें भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णको ही अक्षरधामका स्वामी माना है :

''श्रीकृष्ण जैसा सर्वशक्तिसम्पन्न कोई अन्य अवतार नहीं हुवा. क्योंकि अन्य जो सब उनकी अनन्त मूर्तियां भिन्न-भिन्न रूपसे रही हैं, उन सबका भाव श्रीकृष्ण भगवान्(नहीं कि श्रीजीमहाराज)ने अपने स्वरूपमें दिखाया... सर्वप्रथम... देवकीकी कोखसे जन्म लिया तब चतुर्भुजरूपमें... लक्ष्मीपति वैकुण्ठनाथका भाव... माता यशोदाको अपने मुखमें विश्वरूप दिखाया इसमें... सहस्रशीर्षरूप द्वारा अनिरुद्धभाव... अक्रूरको यमुनाकी धारामें शेषशायिभाव... अर्जुनको विश्वरूप दिखलाया कि 'पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः' इस प्रकार अनन्त ब्रह्माण्ड दिखला कर पुरुषोत्तमभाव बताया तथा स्वयं श्रीकृष्ण(नहीं कि श्रीजीमहाराज)ने कहा कि 'यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम् अक्षरादपि

च उत्तमो अतो अस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' इस प्रकार श्रीकृष्णने स्वयं अपना पुरुषोत्तमभाव दिखाया. गोलोकवासी राधिकासहित श्रीकृष्ण भी स्वयमेव थे... श्वेतद्वीपवासी वासुदेवने स्वयं यह अवतार धारण किया था... इसलिये यही अवतार(नहीं कि श्रीजीमहाराज) सर्वोपरि है... श्रीकृष्णके स्वरूपमें जिसकी अचलमति सदैव बनी रहती है, वह मति कभी भी व्यभिचारके दलदलमें नहीं फंसती. यदि किसी कुसंगवश कभी कुछ अनुचित आचरण हो गया हो तो भी उसका कल्याणमार्गसे पतन नहीं होता. उसका कल्याण ही होता है. इसलिये आप सब परमहंस हरिभक्त भी यदि इस प्रकार भगवान्(नहीं कि श्रीजीमहाराज)में उपासनाकी दृढ़ता रखते रहेंगे तो कदाचित् कोई अनुचित आचरण हो जानेपर भी अन्तमें कल्याण ही होगा. (इन वचनोंको सुन कर कोई भी औसत बुद्धिवाला विवेचक भी अधिकाधिक श्रीसहजानन्द स्वामीको श्रीकृष्णका अवतार मान पायेगा परन्तु श्रीसहजानन्दोपास्य भगवान्के प्रति निगूढ़ द्वेष या असूया के भावके कारण वचनामृतके श्रोताओंने जो निर्णय लिया वह यों है) इस वार्ताको सुन कर समस्त साधुओं तथा हरिभक्तों ने श्रीजीमहाराजमें सर्वकारणभाव जान कर उपासनाकी दृढ़ता की''(वचना.पं.६).

अतः यहां *''एकग्रन्थशकलास्वारस्यं बहुग्रन्थस्वारस्याय ग्राह्यं''*न्याय उचित होता परन्तु वह न भी माना जाये तो भी इस सन्दर्भमें यह तो उल्लेखनीय ही होता है कि यदि इस वचनामृतमें 'श्रीकृष्ण'नामके प्रयोग द्वारा श्रीसहजानन्द स्वामी स्वयं अपनी अक्षरधामाधीशता इंगित करना चाहते हों तो *''स्वयं श्रीकृष्णने कहा कि 'यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम् अक्षरादपि च उत्तमो अतो अस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' इस प्रकार श्रीकृष्णने स्वयं अपना पुरुषोत्तमभाव दिखाया. गोलोकवासी राधिकासहित श्रीकृष्ण भी वे स्वयमेव थे''* वचनके आधारपर अक्षरब्रह्मरूप

धाममें केवल श्रीगुणातीतानन्द स्वामी या श्रीमुक्तानन्द स्वामिसदृश पुरुष ही रहते हैं स्त्रीजन नहीं, इस धारणाको तिलांजली देनी पड़ेगी! अन्यथा श्रीसहजानन्द स्वामीपर मिथ्याभाषणका आरोप लग जायेगा!

जितनी बार भगवान् श्रीकृष्णको अक्षरधामका स्वामी अपरोक्ष निरूपण द्वारा माना, उसकी तुलनामें तो बहुत कम बार श्रीसहजानन्द स्वामीने स्वयं अपने बारेमें अक्षरधामके स्वामी होनेका भाव परोक्षरूपमें इंगित किया है. फिरभी श्रीसहजानन्द स्वामीके इष्टदेव और उनके साक्षात् उपदेशोंमें ऐकान्तिकी अश्रद्धाके कारण ही उन्हें गम्भीरताके साथ न तो समझने और न स्वीकारने की ही मनोवृत्ति वचनामृतके श्रोताओं और संकलनकारों में प्रकट होती है. अतः केवल चार-छह बार जो परोक्षरूपमें कहा उसका झंडा ऊंचे फहरा दिया जाता है! श्री सा.श्रु.जीका कहना है **''शिक्षापत्री भगवान् स्वामिनारायणने लिखी है इसलिये प्रामाणिक है. इसी प्रकार वचनामृतका ग्रन्थ भी संवत् १८७७ मार्गशीर्ष शुक्ला तृतीया... के दिन भगवान् स्वामिनारायणने स्वयं देखा... तब ११५ वचनामृत संकलित थे... इनके पश्चाद्भव वचनामृत भी भी इन ११५ की पद्धतिसे प्राप्त होनेसे इनका भी सर्वतोमुख प्रामाण्य स्वामिनारायण सम्प्रदायमें है. बल्कि तत्त्वज्ञानके क्षेत्रमें शिक्षापत्रीसे भी अधिक प्रामाण्य है''** (समा.पत्र.४.३.२).

मुझे लगता है कि जिन ११५ वें वचनामृतके बाद इसी पद्धतिसे वचनामृत संकलित होनेकी बात श्री सा.श्रु.जी कह रहे हैं, उन बादवाले वचनामृतोंमें ही शिक्षापत्रीसे विरुद्ध वचन अधिक मिलते हैं. अतः सहज सम्भव है कि वह श्रीजीमाहाराजके अवलोकन न कर पानेके कारण संकलनकारोंकी मनमानी छूट लेनेके कारण ही हुवा होगा. इस एक तथ्यको जांचनेपर ही अन्य भी विरोध श्रीजीके अनवलोकनके परिणाम क्यों नहीं माने जा सकते? यदि श्रीसहजानन्दजी स्वामीके रामानुज सम्प्रदायके दीक्षित अनुगामी अनुगामी होनेकी कथा अप्रामाणिक

हो तो वह भी ११५ वें वचनामृतके बाद आते वचनामृत होनेसे रामानुजसम्प्रदायकी प्रसिद्धिका लाभ ले लेनेको ही संकलनकारोंद्वारा प्रक्षिप्त क्यों नहीं मान लेनी चाहिये? ऐसा मान कर भी चलें पर इसमें बाधा एक ही दिखलायी देती है कि तब स्वयंके अक्षरब्रह्मधामके स्वामी होनेके भी वचनामृत सम्भवतः ११५ वें वचनामृतके बाद ही अधिक मुखरित हुवे हैं और इन्हें अप्रामाणिक कह पाना अब दुःशक बन गया होनेसे मौनसेवन किया जा रहा है! वैसे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि जिन वचनामृतोंके बारेमें श्री सा.श्रु.जी **''सर्वतोमुख प्रामाण्य स्वामिनारायण सम्प्रदायमें है. बल्कि तत्त्वज्ञानके क्षेत्रमें शिक्षापत्रीसे भी अधिक प्रामाण्य है''** (समा.पत्र.४.३.२) ऐसा बढ़ा-चढ़ा दावा प्रस्तुत कर रहे हैं वे वचनामृत स्वयं **''हमारे आश्रित... को हमारी लिखी हुयी शिक्षापत्रीका नित्य पाठ करना चाहिये. जिसे पढ़ना न आता हो उसे नित्य शिक्षापत्रीका श्रवण करना चाहिये. जिसे उसका श्रवण करनेका योग नहीं आवे, उसे प्रतिदिन शिक्षापत्रीकी पूजा करनी चाहिये. इस प्रकार हमने शिक्षापत्रीमें भी लिखा है. यदि किसीको इन तीनों नियमोंका पालन करनेमें विघ्न पड़ जाये उसे तो उसे एक उपवास कर लेना चाहिये''** (वचना.ग.अं.१) यों शिक्षापत्रीकी सर्वातिशायिता इन शब्दोंमें प्रतिपादित कर रहे हैं. मुझे यह अवगत नहीं कि ऐसी सर्वातिशायिता वचनामृतकी कहां उपदिष्ट हुयी है? और वह कहीं उपदिष्ट न हो तो यह स्वयंमें इस तथ्यका प्रमाण है कि श्रीसहजानन्द स्वामीके आधुनिक अनुगामिओंका उनके उपदेशमें श्रद्धाका कैसा करुण ह्रास हुवा है!

यद्यपि शिक्षापत्री और वचनामृत दोनोंमें ही श्रीसहजानन्द स्वामी स्वयंका रामानुजसम्प्रदायके अनुगामी होना भारपूर्वक घोषित कर रहे हैं, फिरभी श्री सा.श्रु.जी अपने समाधानपत्रमें न केवल अनेक तथाकथित साम्प्रदायिक ग्रन्थोंके आधारपर बल्कि वचनामृतकी भी कोई सद्योलब्ध प्राचीन(!) हस्तप्रतिके आधारपर भी श्रीजीमहाराजके रामानुजमतानुगामी

होनेकी कथाको अप्रामाणिक मान रहे हैं (दृष्ट. : समा.पत्र.४.४-४.४.१).

यह यदि ऐतिहासिक तथ्य हो तो फिर स्वयं श्री सा.श्रु.जीकी घोषणा कि **''वचनामृतका प्रामाण्य स्वामिनारायण सम्प्रदायमें निःसन्दिग्धतया स्वीकृत है... वचनामृतमें अप्रामाण्यका गन्ध देखेंगे तब तो वैष्णव सम्प्रदायके मान्य भगवद्गीता श्रीमद्भागवत इत्यादि ग्रन्थ भी अप्रामाणिकताके लक्ष्य बन जायेंगे... वचनामृतके सम्पादक इतने निःस्पृह और प्रामाणिक थे इसलिये ग्रन्थ निःसन्देह प्रामाणिक ही है''** (समा.पत्र.४.३.२) इस विधानको क्या निरस्त मान लेना? क्योंकि ऐसी स्थितिमें या तो श्रीसहजानन्दजीका अपने-आपको रामानुजके शिष्यके रूपमें बिरदाना केवल लोकप्रतारणार्थ मिथ्याभाषण सिद्ध होगा. या मनुष्यभावोचित उनमें भी विस्मृतिशीलता सिद्ध होगी. अथवा गुरुरूप रामानन्दस्वामीको रात्रिकालीन स्वप्न तो शिष्यरूप श्रीसहजानन्द स्वामीजीको क्या दिवास्वप्न देखनेके मानसिकरोगका शिकार मानना? मुझे तो ऐसी कल्पना करनेमें भी अपराधबोध होता है!

मैंने वचनामृतकी प्रामाणिकताके बारेमें सन्देह प्रकट किया तो वह मेरा यदि स्वामिनारायण सम्प्रदायकी परम्पराके बारेमें अज्ञानका प्रदर्शन हो तो क्यों श्री सा.श्रु.जी स्वामिनारायणसम्प्रदायके परम्पराविद् होनेपर भी मेरी तरह ही वचनामृतके प्रामाण्यमें सन्देह कर रहे हैं? यदि वस्तुतः आर्ष ग्रन्थागारमें उपलब्ध वचनामृतकी कोई प्राचीन हस्तप्रति उन्होंने खोज ली है तो क्या उसके आधारपर वे उपलब्ध वचनामृतके कलेवरको अप्रामाणिक सिद्ध कर नहीं रहे हैं? इसे सच मान कर चलें तो भी मन तो शंकाकुल हो ही जाता है कि भविष्यमें इससे भी अधिक प्रामाणिक कोई प्राचीन हस्तप्रति किसी अन्य खोजीको मिल नहीं जायेगी इसकी क्या निश्चिति! हो सकता है कि उस प्राचीनतम हस्तप्रतिमें ऐसा भी कोई उल्लेख कहीं मिल जाये कि उपलब्ध सारेके सारे वचनामृत श्रीसहजानन्दजीके शिष्योंने मनगढ़ंत लिख

लिये हैं. ऐसा श्रीसहजानन्द स्वामीजीका वचनामृत मिल नहीं सकता, इसकी निश्चिति अब कैसे पानी? अतः वचनामृतकी इस अधुनालब्ध किसी हस्तलिखित प्रतिके आधारपर ऐसे प्रसंगोंको मिथ्यावचन मानने पड़ते हों तो प्रचलित वचनामृतग्रन्थका प्रामाण्य या तो संकलनकर्ताओंके मिथ्याभाषणके दोषवश अथवा उत्तरकालीन अनुलिपिकारोंके मिथ्याप्रक्षेपके दोषवश सन्दिग्ध तो बन ही जायेगा!

अतः श्री सा.श्रु.जीका **''यहां रामानन्दस्वामीके दीक्षागुरु रामानुजाचार्य थे ऐसी कोई बात नहीं है''** (समा.पत्र.४.४) विधान भी सन्देहकी परिधिसे बाहर रह नहीं पाता है. किञ्चित् धैर्यके साथ इस विषयमें यह विचारणीय बनता है कि क्या कारण है कि विगत दो सो वर्षोंसे अतिप्रचारित 'शिक्षापत्री' और 'वचनामृत' ग्रन्थोंकी ही प्राचीन हस्तप्रत अब मिलनी शुरु हो गयी हैं? इनमें इन दोनों ग्रन्थोंके वर्तमान स्वरूप और अभिमति से पृथक् स्वरूप और अभिमति मिलने लगी है. क्या कारण है कि 'गुरुप्रसाद' 'सत्संगिजीवन' 'सत्संगिभूषण' 'हरिचरित्रामृतसागर' 'भक्तचिन्तामणि' 'हरिलीलाकल्पतरु' आदि ग्रन्थ जो श्रीसहजानन्द स्वामीजीके किसी पूर्ववर्ती या किसी उत्तरवर्ती सन्तोंने लिखे हैं, उनमें जो स्वयं श्रीजीमहाराजने जो कहा-लिखा उसे ही सुधारनेवाली अथवा उनका अन्यथा आशय दिखलानेवाली विधान मिलने लगे हैं! (दृष्ट. : समा.पत्र.५.३) श्री सा.श्रु.जी कहते हैं कि **''परमहंसोंके ग्रन्थोंकी प्रकाशनयोजनामें भी विशिष्टाद्वैती विद्वानोंकी सहायताके कारण भी विशिष्टाद्वैतका माहात्म्य ज्यादा प्रक्षिप्त हो गया''** (समा.पत्र. 'विशिष्टाद्वैत अभिमति एक शिष्टाचार' शीर्षक). इसका मतलब एक तो यह हो सकता श्रीजीमहाराज और उनके अनुगामिओंने अपने ग्रन्थ स्वयं न लिख कर विशिष्टाद्वैती विद्वानोंको बुला कर लिखवाते रहे होंगे संस्कृतभाषाविद् न होनेके कारण. अतएव वे जब लिख रहे थे तब इतनी भी सावधानी ये असंस्कृतज्ञ बरत नहीं पाये कि ये भाडूती विद्वान् श्रीजीमहाराजका मत लिख रहे हैं या स्वयं श्रीरामानुजाचार्यका! इतने विश्वासके अतिरेकके

पीछे भी केवल श्रीजीमहाराजकी कोई न कोई कड़ी विशिष्टाद्वैतियोंके साथ जुड़ी होनेके तथ्यको पुनः उजागर कर देगी. अन्यथा अपने सम्प्रदायमें ग्रन्थलेखक विद्वानोंके अभावमें माध्व वाल्लभ चैतन्य या नैयायिक आदि विद्वानोंको भी एंगेज तो किया जा ही सकता था! वैसे सचमुचमें यदि रामानुज विद्वानों द्वारा संस्कृत लिखवाये जानेकी आशंकाको सत्य मानते हैं तो श्रीरामानुजाचार्यको **'सर्ववैष्णवराज'** न कह कर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके बारेमें ऐसे पदका प्रयोग भी विचारणीय बन जाता है.

अतः सिद्ध होता है कि अधुनालब्ध ग्रन्थोंके लेखक जिनकी बरातमें जुटे हैं, उस वरराजाके गीत गानेके बजाय, उसे ही प्रामाणिक वचनके उपदेशक होनेके घोड़ेपरसे नीचे पटक कर, अपने वचनोंके प्रामाणिक होनेके दावेके घोड़ेपर सवार हो जाना चाहते हैं! इन ग्रन्थोंकी कोई प्राचीन हस्तप्रत क्यों मिल नहीं रही हैं? इसका मतलब मतप्रवर्तक उपदेशकके वचनोंकी तुलनामें तत्पूर्ववर्ती या तदुत्तरवर्ती मतानुगामियोंके वचनोंमें अधिक विश्वसनीयता आधुनिक मतानुगामी मान रहे हैं!

निष्कर्षतया यह स्पष्टीकरण दे देना मेरेलिये उचित होगा कि स्वामिनारायण मतमें तत्त्वत्रयी मानी जाय या तत्त्वपञ्चक एतावता इस विमर्श द्वारा जो मुद्दा मैं उठाना चाहता हूं उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता. क्योंकि स्वयं विशिष्टाद्वैतवेदान्तमें भी सिद्धित्रयकार तत्त्वत्रयी मान कर चले हैं. परन्तु श्रीवेदान्तदेशिक स्वयं 'न्यायसिद्धाञ्जन' नामक ग्रन्थमें **''अशेषचिदचित्प्रकारं ब्रह्म एकमेव तत्त्वम्''** (न्या.सि.जडद्र.परि.) जैसे प्रतिपादित करते हैं वैसे ही 'तत्त्वमुक्ताकलाप' नामक ग्रन्थमें **''[क]द्रव्या[ख]ऽद्रव्यप्रभेदाद् मितम् उभयविधः तद्विदस् तत्त्वम् आहुः. द्रव्यं द्वेधा विभक्तं [क-१]जडम् [क-२]अजडम् इति. प्राच्यम् [क-१/अ-आ]अव्यक्तकालौ, अन्त्यं [क-२/अ]प्रत्यक् [क-२/आ]पराक् च. प्रथमम् उभयधा तत्र [क-२/अ/१-२]जीवेशभेदात्. [क-२आ-१]नित्या भूतिः [क-२/आ-२]मतिः च इति**

अपरम् इह जडाम् आदिमां केचिद् आहुः'' (तत्त्वमु.१।६) यों सप्तविध तत्त्वोंकी परिगणना भी करते हैं. अतः स्वामिनारायण-सम्प्रदाय भी उनके अनुगामी होनेके बावजूद पञ्चविध तत्त्व —

क-१/अ अव्यक्त=माया, ''माया'-'ऽविद्या'दिशब्दैः प्रकृतिः अभिमता'' (तत्त्वमु.३।४१) तुलनीय ''श्रीजीमहाराजबोले कि जब जीव, जगत्के कारणीभूत पुरुष प्रकृति काल... तत्त्वोंको जान लेता है... मुक्त हो जाता है'' (वचना.ग.प्र.११).

क-२/अ-१ जीव, ''मुक्तौ देहाद्यभावे मुकुलितविषयो जक्षदादिप्रवादः तत्सत्त्वे च अशरीरश्रुतिविहतिः अतः का चिकित्सा इति चेत् न, इच्छातः स्याद् अवस्थाद्वयम् उभयविधश्रुत्यबाधाद् विमुक्तौ कर्मायत्तैः वियोगः परम् इह कथितः तस्य देवोपमस्य'' (तत्त्वमु.२।६२) तुलनीय ''जब इस जीवके अज्ञानकी निवृत्तिः हो जाती है तब इसका तीनों मायिक देहके साथ संग छूट जाता है बादमें यह जीव केवल चैतन्यसत्ताभाव रह जाता है. इसके पश्चात् भगवान्की इच्छासे ही इस जीवके लिये भगवान्की भूमि आदि आठ प्रकृतिसे भिन्न चैतन्यप्रकृतिजन्य देहका निर्माण होता है. उस देहसे युक्त हो कर वह भगवान्के धाममें रहता है'' (वचना.ग.म.६६).

क-२/आ ईश=पुरुषोत्तम + ईश्वर, ''युक्तिः प्रश्नोत्तरादेः नहि पुरुषभिदां बुद्धिभेदं च मुक्त्वा तस्माद् व्यूहादिभेदे कतिचनपुरुषाः स्युः परेण अनुबद्धाः तन्न; स्वच्छन्दलीलः स्वयम् अभिनयति स्वान्यतां सर्ववेदी...'' (तत्त्वमु.३।७४) तुलनीय ''जब श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनकी प्रतिज्ञा पूर्ण करनेको... मायाके

अन्धकारको... दूर कर भूमापुरुषसे ब्राह्मणके पुत्रको ले आये. श्रीकृष्ण भगवान् दिव्यमूर्तिमान् थे... भगवान्की मूर्तिके प्रतापसे मायिक पदार्थ भी अमायिक बन गये. भगवान्के ऐसे स्वरूपको मूर्ख पुरुष मायिक समझता है. जबकि एकान्तिक सन्त भगवान्की मूर्तिको क्षरातीत तथा मूर्तिमान पुरुषोत्तम भगवान्को ब्रह्मरूप अनन्तकोटिमुक्तों तथा ब्रह्मधाम की आत्मा मानता है'' (वचना.ग.प्र.६६).

क-२/आ-१ नित्यभूति=नित्याक्षरधाम ''तस्य अप्राकृतत्वम् आह स्थानम् इति श्रूयते 'तद् विष्णोः परमं पदं पश्यन्ति सूरयः' तद् इदं सदा पश्यत्सूरिविशिष्टस्थानविधानार्थम् इति वेदार्थसंग्रहे स्थापितम्'' (तत्त्वमु.३।६१), ''दशोत्तराधिकैःयत्र प्रविष्टः परमाणुवत् लक्ष्यते अन्तर्गतः च अन्ये कोटिशो अण्डराशयः तद् आहुः 'अक्षरं ब्रह्म' सर्वकारणकारणं विष्णोः धाम परं साक्षात् पुरुषस्य महात्मनः=अत्र मूलप्रकृतौ प्रविष्टः परमाणुः दृश्यते एवंविधः च अन्ये अण्डराशयो कोटिशः प्रविष्टाः परमाणुवद् दृश्यन्ते. सर्वेषां कारणानां महदादीनामपि कारणं मूलं प्रधानं महात्मनः पुरुषस्य विष्णोः धाम=शरीरम् आहुः, 'यस्य अव्यक्तं शरीरम्' इति श्रुतेः. एवं ... परमात्मनः कथं कालः प्रभुः स्याद्? इति आशयः'' (भाग.वीरराघ.३।११-।४०-४१) तुलनीय ''भगवान्का धाम सनातन नित्य अप्राकृत सच्चिदानन्द अनन्त तथा अखण्ड है'' (वचना.ग.प्र.१२).

क-२/आ-२ मतिके बारेमें तो श्रीवेदान्तदेशिक भी अपने एकदेशीके मतके अनुसार जड़ होनेकी बात कह रह हैं सो वहां या जीवमें भी अन्तर्भाव शक्य है. सातवें ख अद्रव्यके अन्तर्गत तो अवर्गीकृत द्रव्यके गुणधर्मोंकी ही गणना की गयी होनेसे द्रव्योंके त्रिविध भेदोंमें अन्तर्भाव शक्य है ही.

इस तरह देखनेपर स्वामिनारायणीय तत्त्वपञ्चकवादी वेदान्तका तत्त्वसप्तकवादी रामानुजीय वेदान्तमें भी अन्तर्भाव सुखेन सोचा जा सकता होनेसे तत्त्वपञ्चकका स्वीकार भी क्यों शक्य नहीं? अवश्य किया जा सकता है. विवाद यहां नहीं है. इस सारे विषयविवेचन द्वारा मुझे जो विचिकित्सित है, वह तो केवल इतना ही है कि श्रीसहजानन्द स्वामीके नामपर प्रसिद्ध ग्रन्थोंमें एकवाक्यताका प्रतिष्ठापक कोई व्याख्याशास्त्रीय प्रामाणिक निकष खोजना आवश्यक है. अन्यथा सुन्दोपसुन्दन्यायेन दोनों ही ग्रन्थोंका प्रामाण्य सन्दिग्ध बन जायेगा.

क्योंकि श्री सा.श्रु.जीके ऐसे अनिर्णायक समाधानपत्रके बाद अब यह और अधिक जिज्ञास्य बन गया है कि स्वामिनारायणपन्थमें साम्प्रदायिक ग्रन्थोंका प्रामाण्य श्रीजीमाहाराजद्वारा घोषित [१]''**सच्छास्त्राणां समुद्धृत्य सर्वेषां सारम् आत्मना पत्री इयं लिखिता**'' (शिक्षाप.२०४) विधानके अनुसार प्रमाणतया सकलशिष्टादृत श्रुत्यादिशास्त्रोंपर अवलम्बित है? अथवा [२]''**साम्प्रदायिकग्रन्थेभ्यो ज्ञेयः एषान्तु विस्तरः**'' (शिक्षाप.२०४) विधानके अनुसार केवल शिक्षापत्री और वचनामृत-सत्संगिजीवन आदि ग्रन्थोंके सार-विस्ताररूप अथवा आरुरुक्षु-आरूढ़भेदभिन्न साधारणोपदेश-रहस्योपदेशरूप अन्योन्याश्रित प्रामाण्य है? यदि प्रथम कल्प स्वीकारते हैं तो वेदोपनिषद्गीताभागवतोक्त श्रीकृष्णके अक्षरब्रह्मधामाधिपति होनेके तथ्यसे विरुद्ध श्रीसहजानन्द स्वामीके अवतार होनेकी कथा स्वमूलोच्छेदिका होनेसे अप्रामाणिक सिद्ध होगी. यदि द्वितीय कल्प स्वीकारते हैं तो श्रीसहजानन्द स्वामीके मूलवचन तथा उनके शिष्योंके रहस्यस्फोटक वचनोंमें परस्पर विरोधाभासका परिहार मूलवचनोंके प्रामाण्यका त्याग करके ग्रहण करना अथवा मूलवचनोंके स्वारसिक अर्थका त्याग करके? अथवा उनके भक्तोंने उनके वचनोंका परोक्षरूपेण विवक्षित जो कुछ तात्पर्य समझा तदनुसार करना? इस तरहकी किम्बोद्धव्यविमूढ़ता मुझे सता रही है. श्री सा.श्रु.जी तो श्रुतिकल्प श्रीजीवचन और स्मृतिकल्प उनके सत्संगिओंके वचनमें जहां भी विरोध या विरोधाभास झलकता है

वहां ''स्मृतिरेव बलीयसी'' आदर्शका अनुसरण किस सीमा तक कर रहे हैं, यह अब आनेवाले निरूपणमें हम देखनेका प्रयास करेंगे.

यहां यह पुनः उल्लेखनीय हो जाता है कि शिक्षापत्रीके श्लोकोंकी संख्या, वचनामृतोंकी संख्या, उनके लेखनकाल, उनके संकलनकारोंकी संख्याके बारेमें इस परम्परामें मिलते आन्तरिक मतभेद चाहे सैद्धान्तिक दृष्टिसे अधिक महत्त्वपूर्ण नभी हों पर ऐतिह्यकी दृष्टिसे मनको शंकाकुल तो बनाते ही हैं. क्योंकि यदि संकलनकारोंके बीच ही स्वयं अपने बारेमें विवाद हो कि ये वचनामृत हम चार—मुक्तानन्द गोपालानन्द नित्यानन्द और शुकमुनि—ने संकलित किये या ब्रह्मानन्द भी हमारे साथी थे! तो विश्वास कैसे किया जाये कि इन्हीं व्यक्तिओंने संकलित किये या इनके नामसे अन्य किसीने संकलित या संकल्पित कर लिये हैं. यद्यपि इस ऐतिह्यगत विसंवादिताका सिद्धान्तसे कुछ लेना-देना नहीं. फिरभी ग्रन्थके विश्वनीय सूत्रोंद्वारा संकलित होने या न-होने का सिद्धान्तपर भी कुछ न कुछ असर तो मानना ही पड़ता है. विशेषमें तब कि जब वह स्वहस्ताक्षरालेखित शिक्षापत्रीके वचनोंके साथ ही नहीं अपितु उससे संवाद रखनेवाले वचनामृतोंके भीतर भी एक वचनके भी स्वारसिक अर्थसे अन्य वचन विरुद्ध जाता हो! और खास कर तब कि जब इसे श्रीसहजानन्द स्वामीके भक्तोंद्वारा लिखे विधानोंके आधारपर ही केवल स्वीकरणीय मान लिया जाता हो.

अतः समाधान प्रदान करनेकी इस दिशामें प्रयास करनेके बजाय श्री सा.श्रु.जी मानों स्वयं वैष्णव न हों ऐसी मुद्रा अपना कर जब विभीषिका दिखाते हैं कि ''**वचनामृतमें अप्रामाण्यका गन्ध देखेंगे तब तो वैष्णव सम्प्रदायके मान्य भगवद्गीता श्रीमद्भागवत इत्यादि ग्रन्थ भी अप्राणिकताके लक्ष्य बन जायेंगे**'' (यथापूर्वोक्त) तो ऐसी विभीषिकासे स्वयं श्री सा.श्रु.जी ही हमें त्राणोपाय दिखायें! क्योंकि यदि सारेके सारे वैष्णवशास्त्र अप्रामाणिक हो जायेंगे, तो क्या श्रीसहजानन्द स्वामीजीको

अतिशय प्रमाणतया आदृत सच्छास्त्र भी असच्छास्त्र सिद्ध नहीं हो जायेंगे? अतः कोई न कोई समाधान तो श्री सा.श्रु.जीको भी खोजना ही पड़ेगा. वह केवल हमारा ही उत्तरदायित्व हो ऐसी बात तो नहीं. उनका भी कुछ उत्तरदायित्व है ही. सो जो समाधान वे खोजें वह हमें भी बता दें! हम भी उनका खोजा समाधान सुन कर उनके कृतज्ञ बन जायेंगे! और तो इस बारेमें क्या कहा जा सकता है? वैसे यह तो ऐसी बात कह दी है कि किसीके शरीरमें गरदन या पीठ पर कोई गांठ उभर आये; और कोई शल्यचिकित्सक उसे काट देनेकी सलाह देता हो; और तब शरीरविज्ञानमें नितान्त अनभिज्ञ परिवारके स्नेही जन अनिष्टशंकाके कारण ऐसा कहें कि ''गरदन या पीठ की गांठ काटनेकी बात करनेपर तो बिमारके सारे शरीरको भी काटा जा सकेगा!''

हमें भूलना नहीं चाहिये कि वैष्णवशास्त्रोंका प्रामाण्य वैष्णववेदान्तके सभी सम्प्रदायोंका प्रतितन्त्रसिद्धान्त है. जबकि तत्तत् सम्प्रदायके साधारणग्रन्थ या रहस्यग्रन्थ एकदेशीके अधिकरणसिद्धान्त होते हैं, समानतन्त्रसिद्धान्त नहीं. अतः वाल्लभ सम्प्रदायके निबन्ध षोडशग्रन्थ आदि ग्रन्थोंके प्रामाण्यके बारेमें कोई शंका या आक्षेप करने लगे तो तावता वेद गीता ब्रह्मसूत्र भागवत महाभारत या पाञ्चरात्र आदि वैष्णवशास्त्रोंका प्रामाण्य सन्दिग्ध या निरस्त नहीं हो जाता.

(६.''मतं विशिष्टाद्वैतं मे'', ''भाष्यम् आध्यात्मिकं मम'' तथा विशि.-स्वा.ना.दर्शनोंमे साम्य-वैषम्य की समीक्षा)

समाधानपत्र(के खण्ड : ४.४, ४.४.१)में ''स्वामिनारायण सम्प्रदायकी पूर्व गुरुपरम्परा'' शीर्षकके अन्तर्गत श्रीजीमहाराजसे पूर्ववर्ती व्यक्ति और ग्रन्थों के उद्धरणोंद्वारा स्वयं रामानन्दस्वामीने रामानुजसम्प्रदायको त्याग दिया था ऐसा भी एक वृतान्त दिया है और साथ ही साथ रामानुजसम्प्रदायमें शिष्य हुवे ही नहीं क्योंकि श्रीकृष्णभक्तिकी परम्परामें ही वे दीक्षित

थे ऐसा दूसरा वृत्तान्त भी. यों दो परस्पर विरोधाभासी ऐतिह्य दिये हैं. अब इन वृत्तान्तोंको प्रामाणिक भी मान लेते हैं तो अनन्तकोटिब्रह्माण्डके परमेश्वर तथा सर्वज्ञ श्रीसहजानन्द स्वामीको क्या इन वृत्तान्तोंसे अनभिज्ञ मानना? या रामानन्दस्वामीके रामानुजके शिष्य होनेकी स्वीकृतिको क्या मिथ्याज्ञानमूलक मानना? अथवा शिष्येषणाके अतिरेकवश श्रीसहजानन्द स्वामीको सब कुछ जानते हुवे भी क्या कपटवचनके प्रयोग करनेवाले मानना? उस विश्ववन्द्य पुरुषको इन तीनोंमेंसे ऐसा कुछ भी माननेको मेरा हृदय तो गवाही नहीं देता!

अतः इस विषयमें मुझे इससे अधिक कुछ भी विवक्षित नहीं. अब इसके बाद आती है **''मतं विशिष्टाद्वैतं मे''** विधानकी श्री सा.श्रु.जी. द्वारा दी जाती व्याख्याकी बात. यहां श्री सा.श्रु.जी इतरेतरनिरपेक्ष तीन विकल्प प्रस्तावित करते हैं : १.'मतं' पदका अभिप्राय सर्वांशमें रामानुजीय विशिष्टाद्वैतके स्वीकार्य या अनुसरणीय होनेके बजाय उस मतके किसी पक्षविशेषके प्रति विशेषरुचिके रूपमें लेना, २.विशिष्टाद्वैतवादोक्त शरीरशरीरिभावकी प्रक्रिया तत्त्वपञ्चकके सन्दर्भमें मान्य होनेके अर्थमें लेनी, ३.विशिष्टाद्वैतियोंको तो गोलोक मान्य नहीं जो इसी श्लोकके अगले पादमें उल्लिखित है. अतः यहीं यह सिद्ध हो जाता है कि सर्वांशमें विशिष्टाद्वैतवाद श्रीसहजानन्द स्वामीको मान्य नहीं है.

१.कल्पके बारेमें ये प्रश्न उठते हैं : श्रीसहजानन्द स्वामीजीको सच्छास्त्रतया अभिमत शारीरकशास्त्र और भगवद्गीता पर श्रीरामानुजाचार्यकृत भाष्योंमें और तत्प्रतिपाद्य विशिष्टाद्वैतवादमें रुचि इन भाष्य और तत्प्रतिपादित सिद्धान्त के प्रामाणिक होनेके कारण है या उन्हें अप्रामाणिक मान कर भी? प्रथम कल्पमें श्रीरामानुजाचार्य द्वारा व्याख्यात सिद्धान्त अनुल्लंघ्य बन जायेगा. द्वितीय कल्पमें ''कहीं अप्रामाणिक तो कहीं प्रामाणिक मान कर रुचि है'' ऐसा मान लेनेपर यह आवश्यक हो जाता है कि जिस अंशमें उन्हें आत्मस्वीकृत प्रामाण्यसे बंधना है उसके बारेमें

स्वयं उनके द्वारा दिये गये स्पष्टीकरणको ही विनिगमक मानना पड़ेगा, यद्वा-तद्वा समझको नहीं. जैसेकि ''एतेषु यानि वाक्यानि, श्रीकृष्णस्य वृषस्य च उत्कर्षपराणि स्युः तथा भक्तिविरागयोः, मन्तव्यानि प्रधानानि तान्येव इतरवाक्यतः. धर्मेण सहिता कृष्णभक्तिः कार्या इति तद्रहः'' (शिक्षाप.१०१-१०२) इसे ही विनिगमक मानना पड़ेगा. वह माननेपर तो श्रीकृष्णकी महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्योपदिष्ट भक्तिकी रीतिसे विरुद्ध जानेवाले विशेषतः ११५ वें वचनामृतोंके बादके अनवलोकित वचनामृतोंमें परोक्षवृत्तिके रूप शिष्योंद्वारा मान लिये गये मनगघड़ंत रहस्योंके आधारपर अंशतो-अप्रामाण्य निर्धारित नहीं हो पायेगा. क्योंकि ऐसा करनेपर तो ''**मतं विशिष्टाद्वैतं मे**''-''**रामानुजाचार्यकृतं भाष्यम् आध्यात्मिकं(शास्त्रं) मम**'' (शिक्षाप.१२१-१००) वचनोंका प्रामाण्य निरवकाश ही हो जायेगा. ऐसी स्थितिमें ''सावकाशनिरवकाशयोः निरवकाशो बलीयान्'' न्यायेन पुनः इन्हीं वचनोंका बलवत्तरप्रामाण्य स्वीकारना पड़ेगा.

२.कल्पके बारेमें यह कथनीय है कि तत्त्वत्रयी मानों या तत्त्वपंचक मानों, किसी भी सूरतमें उन अध्यात्मशास्त्र(दृष्ट. : शिक्षाप.१००)के विषयरूप(दृष्ट. : वचना.ग.प.७) '**ईशजीवमाया**' / '**पुरुषोत्तमाक्षरेश्वरजीव-माया**' तत्त्वोंका स्वरूप शारीरकसूत्र-भगवद्गीताके भाष्योंमें श्रीरामानुजार्यद्वारा प्रतिपादित इन तत्त्वोंके स्वरूपसे विरुद्ध होनेपर प्रामाणिकतया मान्य नहीं हो पायेगा. स्वयं उनके ''**रामानुजस्वामीने जिस प्रकार क्षर-अक्षरसे परे पुरुषोत्तम भगवान्का निरूपण किया है, उन पुरुषोत्तम भगवान्की तो हम उपासना करते हैं** (अर्थात् हम स्वयं पुरुषोत्तम नहीं हैं) **गोपियोंके समान उन पुरुषोत्तम भगवान्की हम भी भक्ति करते हैं**'' (वचना.लो.१४) सदृश वचनामृत भी अनुसन्धेय बनते हैं. अतः एतदविरोधेन तो श्रीसहजानन्द स्वामीके ही नहीं प्रत्युत श्रीश्रुतिप्रकाशदासजीके भी अनन्तकोटिब्रह्माण्डके आधारभूत अक्षरधामके स्वामी होनेका विधान भी माननेमें किसीको आपत्ति हो नहीं सकती. अन्यथा लक्ष्मी-नारायण या राधाकृष्ण की परतत्त्वताके प्रत्याख्यानपूर्वक श्रीसहजानन्द-गुणातीतानन्दजीके परतत्त्व होनेका

कोलाहल कदापि प्रामाणिक हो नहीं पायेगा, यदि शिक्षापत्रीको ही अप्रामाणिक घोषित कर देनेका दुःसाहस न प्रकट करना हो तो!

३.कल्पमें श्री सा.श्रु.जी कहते हैं कि शिक्षापत्रीके भाष्यकारके अनुसार साकारब्रह्मका समीचीन प्रतिपादन क्योंकि रामानुजीयभाष्यमें उपलब्ध होता है; अतः उतना ही अंश मान्य है, सर्वांशमें नहीं. इस बारेमें यह कहना चाहूंगा कि ऐसा विधान स्वामिनारायणीय सम्प्रदायमें श्री सा.श्रु.जी स्वयं वदतोव्याघातके बिना कर नहीं पायेंगे. क्योंकि **''वचनामृतमें अप्रामाण्यका गन्ध देखेंगे तब तो...''** बड़ी विपदाकी विभीषिका वे स्वयं प्रकट चुके हैं और और हम जानते हैं कि 'उद्धवसम्प्रदाय'शीर्षकवाले वचनामृत(व.१८)में अवश्यांगीकरणीय पांचमेंसे दूसरी बातके रूपमें श्रीसहजानन्द स्वामी अपनी रामानुजानुगामिताके रहस्यपर पर भार दे रहें हैं. अतः दोमेंसे किसी एकका प्रामाण्य तो छोड़ना ही पड़ेगा. पुनश्च इस अंशको वचनामृतमें प्रक्षिप्त भी मान लें तब भी यथोपलब्ध वचनामृतोंके प्रामाण्यका त्याग तो गलेपतित ही रहेगा.

रही बात रामानुजभाष्यमें उपलब्ध होते शिक्षापत्रीविरुद्ध विधानोंके विमर्शकी तो स्वयं श्रीसहजानन्द स्वामीको अंगीकरणीय प्रामाण्यपरिधि जिस लक्ष्मणरेखाके भीतर उन्होंने दिखलायी है, उससे बाहर जानेपर तो शिक्षापत्रीकी प्रामाणिकताकी सीताको भी अप्रामाण्यसन्देहरूपी रावण हर लेगा! भागवतपुराणपर रामानुजोंकी टीका मिलती है और भागवत(१०।२७।१)में गोलोकका उल्लेख भी है ही. साथ ही साथ स्वयं श्रीवेदान्तदेशिकने भी केवल विष्णुपुराणका ही प्रामाण्य स्वीकारते हों ऐसी बात भी नहीं है. क्योंकि उन्होंने तो इस विषयमें उन्हें मान्य निकष **''नहि पुराणादिषु प्रधानार्थविरोधो भूयान्. श्रुत्युक्तमेव अनुसरन्ति सत्त्वोत्तराणि पुराणादीनि.''** (तत्त्वमु.४।१२०) यों बहुवचनके प्रयोगपूर्वक स्पष्ट परिभाषित कर ही रखा है. श्रीमद्भागवत सात्त्विक पुराणान्तर्गत परिगणित होनेसे उल्लिखित निकषपर खरा भी उतरता ही है. अतः

श्रीवेदान्तदेशिक भागवतपुराण या गोलोक की प्रामाणिकताको क्यों नहीं मानेंगे? तत्त्वमुक्ताकलाप (३।७४) बलरामकृष्णकी भागवतवर्णित लीलाका उल्लेख करते ही हैं. श्री सा.श्रु.जी कहते हैं कि रामानुजीय भाष्यमें पशुहिंसात्मक यज्ञोंकी अनुमति जिसे शिक्षापत्रीमें निषिद्ध माना गया है, अतः श्रीजीमहाराजको रामानुजमतानुगामी माना नहीं जा सकता. यह तो ''आम्रान् पृष्टे कोविदारान् व्याचष्टे'' जैसी कथा हो गयी. श्रीसहजानन्द स्वामी अपने द्वारा सुपरिभाषित अर्थमें रामानुजभाष्योक्त आध्यात्मिक पदार्थ ईश्वर जीव और माया के बारेमें विशिष्टाद्वैतवादको अपना मत बता रहे हैं. श्री सा.श्रु.जी पशुहिंसाके निषेधको हेतुतया प्रस्तुत कर उसे इन्कारना चाहते हैं. किं केन सम्बध्यते? कहा जाता है कि ''देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागः यागः'' तदनुसार यजनक्रियाके कर्मरूप पशुकी हिंसाके बारेमें इतनी पापपुण्यके विवेककी चिन्ता करनी पर **''दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः श्रेयोभिः विविधैः च अन्यैः कृष्णे भक्तिः हि साध्यते''** (भाग.पुरा.१०।४७।२४) वचनोक्त सारे यज्ञादि धर्मोंके एकमात्र सम्प्रदानभूत तथा श्रीसहजानन्द स्वामीके भी उपास्य इष्टदेव भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी परतत्त्वताके अस्वीकार द्वारा उनकी की जाती हिंसाकी चिन्ता क्यों नहीं सताती!

श्रीसहजानन्द स्वामी सुस्पष्ट शब्दोंमें **''याज्ञवल्क्यस्य च स्मृति... धर्मो ज्ञेयः सदाचारः श्रुतिस्मृत्युपपादितः''** (शिक्षाप.९९-१०३) कहते हैं. अब याज्ञवल्क्यस्मृतिमें तो **''मेदसा तर्पयेद् देवान्... अन्वहं शक्तितो द्विजः''-''प्राणात्यये तथा श्राद्धे प्रोक्षितं द्विजकाम्यया देवान् पितॄन् तथा अभ्यर्च्य खादन् मांसं न दोषभाक्''** (याज्ञव.स्मृ.आचाराध्याये : २।४७-७।१७८) ऐसी आज्ञा-अनुज्ञा दोनों मिलती ही हैं. तो क्या स्वामिनारायण सम्प्रदायमें इस विरोधाभासके बहाने याज्ञवल्क्योपदिष्ट सकल धर्मोंको अननुसरणीय माना जा सकता है? क्या ब्रह्मचारी साधु या परमहंस विवाह कर सकते हैं? क्योंकि **''ब्रह्मचर्यव्रतत्यागपरं वाक्यं गुरोरपि तैः न मान्यम्''-''न प्रवेशितव्या च स्वावासे स्त्री कदाचन''**

(शिक्षाप.१८०-१९०) निषेध भी याज्ञवल्क्यस्मृतिके **''मधुमांसाञ्जनोच्छिष्टशु-क्तस्त्रीप्राणिहिंसनं भास्करालोकनाश्लीलपरिवादान् च वर्जयेत्''** (याज्ञव.स्मृ.-आचाराध्याये: २।३०) वचनपर आधारित है. तो याज्ञवल्क्योपदिष्ट मांसभक्षणके निषेधद्वारा क्या श्रीजीमहाराजने ब्रह्मचर्यके वचनका बन्धन भी अमान्य कर दिया है क्या? क्या ऐसा युक्तिवाद शक्य है? यदि नहीं तो उसी तरह ईश्वर जीव माया रूपी आध्यात्मिक तत्त्वोंका स्वरूप रामानुजीय ब्रह्मसूत्रभगवद्गीताभाष्योंमें प्रतिपादित रीतिके अनुसार औत्सर्गिक रूपेण स्वीकार करना ही पड़ेगा. उस परब्रह्म परमात्मा भगवान् पुरुषोत्तम वासुदेव श्रीकृष्णकी सेवाभक्ति भी अपवादरूपेण महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यनिर्दिष्ट रीतिसे श्रीसहजानन्द स्वामीजीने नियत बना दी है. इन बातोंको केवल रुचिप्रदर्शनका गौणकल्प नहीं बनाया जा सकता.

तद्वत् ही देवाराधानार्थ पशुहिंसा या मांसभक्षण भी याज्ञवल्क्यस्मृति द्वारा अनुमोदित होनेपर भी महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य द्वारा **''एवं क्रियायोगो वैदिको यज्ञात्मकः प्रशस्तः=तेषु ब्राह्मणवाक्यानि अतिप्रशंसकानि भवन्ति. नतु द्वादशाहीनवत्(!?) निन्दितान्यपि भवन्ति. तत्रापि हिंसाप्रचुरं न कर्तव्यम्. अल्पहिंसा इध्माबर्हिषाम् अर्थे. आलम्भेऽपि तादृक्पशुसद्भावे अल्पहिंसा भवति 'मृत्यवे वा एष नीयते' इति श्रुतेः. अतो नातिहिंस्रेण इति उक्तम्''** (सुबो.३।२९।१५) यों अधिकारिभेदवश कर्ममार्गीय अतिहिंस्रकर्मोंका श्रुतिविहित भी अनुष्ठान भक्तिमार्गीय अधिकारीको उत्सर्गतः प्राप्त होना चाहिये था परन्तु भागवतपुराण उसे कर्ममार्गमें अनुज्ञप्त मान कर भी भक्तिमें श्रेयस्कर नहीं मानता. अतः अपवादरूपेण अप्रसक्त ठहराता है. ऐसा महाप्रभुने स्पष्टीकरण दिया है. इसी मार्गदर्शनके अनुसार श्रीसहजानन्द स्वामी भी वेदप्रामाण्यके विलोपन किये बिना अपने भक्तिमार्गीय सम्प्रदायमें **''देवतापितृयागार्थमपि अजादेः च हिंसनं न कर्तव्यम् अहिंसैव धर्मः प्रोक्तो अस्ति यद् महान्''** (शिक्षाप.१२) वचन द्वारा याज्ञवल्क्यस्मृतिके **''महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियाय उपकल्पयेत् सत्क्रिया सेवनं स्वादु भोजनं...''** (याज्ञव.स्मृ.आचाराध्याये : ५।१०८) के इस वचनसे प्रसक्तका

भी प्रतिषेध कर रहे हैं, अप्रसक्तका तो प्रतिषेध अकल्पनीय ही होता है.

रामानुजीय आल्वार सन्त श्रीपरकालसूरिके चरित्रका प्रश्न उठाया गया है. शिक्षापत्रीमें उपदिष्ट सात निषेधोंके आधारपर उनके आचरणको निषिद्ध कृत्य मान कर उन्हें गुरुपरम्परामें न स्वीकारनेकी समस्या खड़ी की गयी है. तो इस बारेमें मुझे लगता है कि स्वयं श्री सा.श्रु.जीके अनुसार शिक्षापत्री साधारणधर्मोपदेशपरक ग्रन्थ है, रहस्यरूप धर्मका उदेशक नहीं. ऐसी स्थितिमें श्रीपरकालसूरिके चरित्रको साधारणधर्मसे विपरीत होनेपर भी रहस्यरूपधर्मकी कसौटीपर कसना चाहिये था. वचनामृतमें कहा ही है कि **''यद्यपि अर्जुनने युद्धमें अनेक हिंसात्मक कार्य किये फिरभी वे मनमें लेशमात्र क्षुब्ध नहीं हुवे क्योंकि उन्हें भगवान्के आश्रयका संबल था''-''जो पुरुष स्वरूपनिष्ठा रखता है उसकी धर्मनिष्ठा भी सहजभावसे बनी रहती है. यदि उसने एकमात्र धर्मनिष्ठा ही रखी तो स्वरूपनिष्ठा शिथिल पड़ जायेगी''** (वचना.ग.म.९-ग.म.१६). इन वचनोंसे तो चरित्र अविरुद्ध ही लगता होनेसे श्रीपरकालसूरिको गुरुपरम्परामें मान्य रखनेमें आपत्ति प्रस्तुत नहीं करनी चाहिये थी. भला ''नैकानहं विनिन्दामि नाहं निन्द्योऽस्मि केनचित्'' तो साधुनीति नहीं होती.

(६.तात्त्विकभेद, साम्प्रदायिक-धार्मिकभेद, दर्शनभेद तथा विशिष्टाद्वैताभिमति एक शिष्टाचार की समीक्षा)

समाधानपत्रके इन खण्डों (५.१-५.२-५.३) में श्री सा.श्रु.जीने रामानुजीय और स्वामिनारायणीय मतोंके बीच परस्पर वैमत्यकी लंबी तालिका दी है. इसमें करीबन ६६ मुद्दोंकी संकलना है. इन मुद्दोंको ६६ से बढ़ा कर ६६६ की संख्यामें भी गुणित किया जा सकता है! पर अन्तमें वह सब स्वयं श्रीजीमहाराज द्वारा अध्यात्मशास्त्रीय ग्रन्थोंके नामनिर्देशपूर्वक स्वयंकी 'अभिमति' कहो या 'रुचि' कहो, जो कुछ भी कहो, उसके बारेमें जो स्वीकारोक्ति घोषित की, उस विधानके

प्रामाण्यकी अपहारिका ही होंगी! ऐसी अनुपपत्ति स्वयं उनके वचनोंमें सदोषता ही प्रकट करेंगी. क्योंकि इतना वैपरीत्य होनेपर भी उन्हें रामानुजीय ग्रन्थोक्त मतमें रुचि क्यों है यह तो जिज्ञास्य होगा ही! क्योंकि निर्गुण-निराकारवादका खण्डन तो माध्वग्रन्थोंमें भी उतना ही उपलब्ध होता है और वाल्लभ ग्रन्थोंमें भी. तो इनमें क्यों रुचि नहीं है? श्री सा.श्रु.जी कहते रामानुजमत दक्षिण तथा उत्तर दोनों देशोंमें प्रसिद्ध था. अतः उसके प्रति अपना आदरभाव प्रकट किया. परन्तु श्रीजीमाहाराजने तो गुजरातमें ही अपने मतका प्रचार अधिक किया जहां वाल्लभ सम्प्रदाय अधिक प्रबल था उसमें क्यों रुचि नहीं दिखायी? अर्थात् यह भी शक्य था वाल्लभ वेदान्तमें और रामानुजीय साधनाप्रणालीमें भी रुचि दिखा सकते थे! अब यह कहा जाये कि सौराष्ट्र-गुजरातकी अधिकांश जनता वाल्लभ वेदान्तसे उतनी सुपरिचत नहीं थी जितनी कि श्रीकृष्णकी सेवाभक्तिसे. अतः श्रीकृष्णभक्ति वाल्लभ सम्प्रदायसे दिखलायी तथा रामानुज सम्प्रदायके दर्शनमें रुचि दिखा दी जिससे कोई हानि तो होनी नहीं थी.

इसे एक कूटनीति तो मानी जा सकती है पर अनन्तकोटिब्रह्माण्डके अधीश माने जाते श्रीसहजानन्दजीको सत्यधर्मोपदेशकी निष्ठाकी बाबतमें मानसिक रूपमें अतीव निर्बल ही सिद्ध करती है. अतएव मुझे कदापि मान्य नहीं लगती.

अतः इन प्रश्नोंका समाधान न खोज पायें, तब तक ऐसी मतभेदतालिकाके मुद्दोंकी कितनी संख्या भी क्यों न हो वास्तविक समाधान मिल नहीं पायेगा. अतएव ऐसी तालिकाकी समीक्षा भी बहुत आवश्यक नहीं लगती. फिरभी स्थूणाखननन्यायेन इस तालिकाके कुछ मुद्दोंको दृष्टिगत कर लेना उचित होगा.

तदनुसार सर्वप्रथम रामानुजीय वेदान्ताभिमत तत्त्वत्रयी या तत्त्वसप्तक

उन शास्त्रोंके आधारपर सिद्ध हैं, जिनका प्रामाण्य स्वयं श्रीजीमहाराजको पूर्णतया मान्य है. अतः उन-उन वचनोंका वैसा अर्थ न हो कर जैसा आधुनिक स्वामिनारायणीय सिद्धान्त प्रस्तुत करना चाहता है, वैसा ही अभिप्रेत है यह सिद्ध न कर दिया जाये, तब तक ऐसी तालिकाका कोई महत्त्व सिद्ध नहीं होता. अतः तात्त्विकभेदके अन्तर्गत १-१८ तकके सारे मुद्दोंको तो मैं गर्भस्रावसे ही निरस्त मानता हूं. उदाहरणतया श्रीमद्भागवतका अतिशय प्रामाण्य शिक्षापत्री और वचनामृत दोनोंमें ही स्वीकारा गया है. अतः इस स्वीकारोक्तिके अनुरोधवश भगवद्धाम निर्गुण है या विशुद्धसत्त्वात्मक इसका समाधान "ॐ नमो नारायणाय पुरुषाय महात्मने विशुद्धसत्त्वधिष्ण्याय..." (भाग.पुरा.६।५।२८), "विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तं तपोमयं ध्वस्ततमोरजस्कं मयामयो अयं गुणसम्प्रवाहो न विद्यते..." (भाग.पुरा.१०।२७।४) इस वचनमें सुस्पष्टतया विशुद्धसत्त्वात्मक धामको 'मायातीत' कहा गया है. अतः रामानुजीय वेदान्ताभिमत धारणाकी तो यहां भागवती सम्पुष्टि हो जाती है परन्तु आधुनिक स्वामिनारायणीय सिद्धान्तकी प्रामाणिकताके आधारभूत शास्त्रवचन क्या हैं और कोइ हों भी तो इन भागवतवचनोंके साथ उनकी एकवाक्यता कैसे साधनी? "तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः संदर्शयामास परं न यत्परं व्यपेतसंक्लेशविमोहसाध्वसं स्वदृष्टवद्भिः विबुधैः अभिष्टुतं प्रवर्तते यत्र रजस्तममयोः सत्त्वं च मिश्रं नच कालविक्रमः, न यात्रा माया किम् उत अपरे हरेः अनुव्रताः यत्र सुरासुरार्चिताः श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाः पिशङ्गवस्त्राः सुरुचः सुपेशसः सर्वे चतुर्बाहवः... श्रीः यत्र रूपिणी उरुगायपादयोः करोति मानं बहुधा विभूतिभिः प्रेङ्खश्रिता..." (भाग.पुरा.२।९।९-१३) इस भागवतके वचनमें रामानुजीय परमधामकी प्रामाणिकता स्वयं श्रीजीमहाराजको अतिशय प्रमाणतया अभिमत भागवतपुराणके आधारपर सिद्ध होती है. इसे अस्वीकार करनेपर तो स्वयं श्रीजीमहाराजके वचन अप्रमाण हो जायेंगे. परन्तु आधुनिक स्वामिनारायणीय सिद्धान्ताभिमत परमधामके समर्थनमें स्वयं श्रीजीमहाराजको अभिमत सच्छास्त्रोंमेंसे एक वचन भी उद्धृत कर पाना सर्वथा असम्भव कथा ही लगती है.

इसके बाद आते हैं मुद्दे १९-३८. इनके अन्तर्गत तुलनार्थ प्रस्तुत मुद्दोंमें जहां भी वैष्णवतन्त्रोंके वचन उद्धृत किये गये हैं उन मुद्दोंमें तो शास्त्रवचनके बलपर ही रामानुजीय मतकी प्रामाणिकता सिद्ध हो जायेगी. अपने-आपको उसके प्रतिपक्षी दरसानेपर आधुनिक स्वामिनारायणीय सिद्धान्तकी अप्रामाणिकता भी स्वयं श्री सा.श्रु.जी स्वीकार लेते हों तो अधिक कहनेको कुछ अवशिष्ट रह नहीं जाता. फिरभी नितान्त साम्प्रदायिक धारणा कि ''श्रीसहजानन्दजी परब्रह्म हैं और प्रत्येक गुरु अक्षरब्रह्म हैं'' इसे सिद्ध कर पाये ऐसे शिष्टादृत शास्त्रोंके वचन यदि प्रस्तुत नहीं किये जाते तो काव्यकल्पना और तत्त्वशास्त्रीय धारणाओंमें प्रभेद ही दुष्कर हो जायेगा.

अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड होनेकी धारणा शिष्टादृत शास्त्रोक्त है वह स्वामिनारायणीय चिन्तनकी एकस्वीकृत धारणा नहीं है. हमने देख ही लिया कि वह भागवतकी 'वीरराघवी' रामानुजीयव्याख्यामें स्वीकारी ही गयी है. अन्यथा भी ऐसी धारणा जहां-जहां शास्त्रमें प्रतिपादित है उन शास्त्रोंके प्रामाण्य स्वीकारनेमात्रसे भी वह अर्थापत्तिस्वीकृत हो जाती है.

यही बात सृष्टिकी उत्पत्ति केवल लीलामात्र है, यह सिद्धान्त भी स्वयं श्रीसहजानन्द स्वामीजीको ''**वेदाश्च व्याससूत्राणि श्रीमद्भागवताभिधम्**'' (शिक्षाप.९३) वचनमें शिरसा मान्य ''**सवै नैव रेमे... तस्मात् तत् सर्वम् अभवत्**''-''**लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्**''-''**क्रीडार्थम् आत्मनः इदं त्रिजग् कृतं ते**'' (बृह.उप.१।४।३-१०, ब्र.सू.२।१।३३,भाग.पुरा.८।२२।२०) आदि श्रुतिसूत्रपुराणोंकी एकवाक्यताके आधारपर सिद्ध है. इसे अस्वीकार करनेपर या इसके विपरीत मनघडंत कल्पना करनेपर स्वामिनारायणीय सिद्धान्त या तो वेदान्त होनेकी योग्यता खो देगा या वदतोव्याघातके गर्तमें पड़ जायेगा. सो रामानुजमत ही सर्वथा प्रामाणिक होनेसे उसके साथ तुलनार्ह ही नहीं रह जाता.

रामानुजमतमें भक्तिप्रपत्ति दोनों ही प्रधान हैं उसमें कहने लायक कोई कथा ही नहीं.

३८ वें मुद्देमें श्री सा.श्रु.जी कहते है कि ''रामानुजमतमें वेदान्त आगम और द्रविडप्रबन्ध का प्राधान्य है जबकि स्वामिनारायणीय सिद्धान्तमें सांख्य-योग पञ्चरात्र वेदान्त और वचनामृत का प्राधान्य है'' यह भी खूब रही कि स्वयं श्रीजीमहाराजके वचनामृत(पं.२)में जिन सांख्ययोगोंमें रहे दोषोंके निरसनपूर्वक उन्हें माननेकी बात कही वे तो प्रधान हो गये. और निजकण्ठसे जिनमें एक भी दोष निरूपित नहीं किया और अपनी 'रुचि' या 'अभिमति' जो कहो उसे गुरुपरम्परागततया सिद्धान्तनाम और ग्रन्थनाम ग्रहणके साथ स्वीकारा, उस विशिष्टाद्वैतवादमें ६ के बजाय ६६ दोष स्फुरित हो रहे हैं. कारण इसमें यह लगता है जो स्वयं श्रीसहजानन्द स्वामीने कहा है ''और सांख्यमतानुयायी जब आकारको मिथ्या समझते हैं तब वे तीर्थ व्रत प्रतिमा यम-नियम ब्रह्मचर्यादि धर्म तथा ब्रह्मा-विष्णु-शिव एवं रामकृष्णादि अवतारोंका खण्डन करते हैं. इसलिये ये आधुनिक सांख्य-योगमतानुयायी इन दोनों मार्गोंको छोड़ कर कुमार्गगामी हो गये हैं. इस कारण वे नारकी होते हैं'' (वचना.पं.२). शिष्टादृत शास्त्रप्रतिपादित भगवान्के रूपोंका अवमूल्यन कर अपने केवल गुरु और उनके भक्तों की महिमा बढ़ानेके हेतु रामानुजवेदान्तको मान्यता देना अब अनपेक्षित हो गया है.

वैसे इनमें द्राविडप्रबन्ध जैसे स्वामिनारायण पन्थको मान्य नहीं, ऐसे ही वचनामृत आदि ग्रन्थोंको रामानुजसम्प्रदाय क्यों प्रमाणकोटिमें मान्य रखेगा. अतः अवशिष्ट रहे ग्रन्थोंमें पौराणिक सांख्य-योग तो रामानुजमतमें भी मान्य होंगे परन्तु बादरायणसूत्रोंमें निराकृत उनके तत्तद् अंश यदि स्वामिनारायणीय पन्थमें मान्य हों तो वह वेदान्त नहीं रह जायेगा. एतावता सिद्ध होता है कि जो भी उभयमान्य शास्त्र हैं, उनमें तो स्वामिनारायणीय सिद्धान्त निरूपित नहीं हुवा प्रत्युत विरुद्ध

होनेके कारण रामानुजवेदान्तकी तुलनामें प्रमाणवत्ता सन्दिग्ध ही ठहरती है.

सर्वाधिक आश्चर्य तो श्री सा.श्रु.जीके इस विधानपर होता है कि ''स्वामिनारायणदर्शनके उद्गमके समय विशिष्टाद्वैतसम्प्रदाय न केवल दक्षिणभारतमें किन्तु पूरे भारतमें प्रसिद्ध था... फिरभी भगवान् स्वामिनारायणको अपने-आप विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त स्वीकारनेकी आवश्यकता नहीं थी. यदि विशिष्टाद्वैत ही अपना स्वीकृत सिद्धान्त होता तो दक्षिणभारतमें सुप्रसिद्ध तोताद्रिमठके प्रमुख जीअर स्वामीने भगवान्को चक्रांकित कर दीक्षा दी थी, 'वानमामलै तोताद्रि रामानुजदास' नाम भी रखा था. उसी समय तोताद्रिमठसे ही विशिष्टाद्वैतका प्रचार करते होते. लेकिन पांच तत्त्वोंका सिद्धान्त और स्त्रीपुरुषमर्यादा(?) इत्यादि अपने विचारके अनुरूप व्यवस्था तोताद्रिमें नहीं देख कर वहांसे चल पड़े. गुजरातमें रामानन्द स्वामीके सम्प्रदायमें अपने विचारके अनुरूप सिद्धान्त देख कर यहां ही स्थिर हो कर सम्प्रदायप्रवर्तन किया'' (समा.पत्र.''विशिष्टाद्वैत-अभिमति एक शिष्टाचार''शीर्षक). इस नूतन ऐतिह्यका स्रोत अभी श्री सा.श्रु.जीने प्रकट नहीं किया है. यह तो, किन्तु, आत्मविसंगतिकी पराकाष्ठा हो गयी! क्योंकि बिचारे श्रीसहजानन्द स्वामी स्वयं नहीं प्रत्युत अपने गुरु रामानन्दस्वामीको श्रीरामानुजाचार्यसे स्वप्नमें मिली दीक्षाके आधारपर भी अपने-आपको रामानुजसम्प्रदायानुगामी घोषित कर रहे हैं जबकि उन्हें अनन्तकोटिब्रह्माण्डके नायक परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् माननेवाले श्री सा.श्रु.जी उसे अप्रामाणिक सिद्ध करनेको कहते हैं कि श्रीजीमहाराजके गुरु नहीं प्रत्युत स्वयं श्रीजीमहाराज ही रामानुजसम्प्रदायमें दीक्षित होनेपर भी रामानुजी नहीं थे! क्या जीअर स्वामीने श्रीजीमहाराजके हाथ-पैर बंधवा कर बलात् उन्हें रामानुजी दीक्षा तो दी नहीं होगी! ऐसा यदि उन्होंने किया भी हो तो अनन्तकोटिब्रह्माण्डके नायककी सर्वशक्तिमत्ता उस समय कहां विलुप्त हो गयी थी! यदि स्वयंकी अनुमति भी तब अज्ञानवश श्रीजीमहाराजने प्रकट कर दी, ऐसा मानते हैं तो सर्वज्ञता कहां विलुप्त हो गयी थी! ऐसी स्थितिमें तो रामानन्द स्वामी भी

कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं थे, केवल गुजरातमें उनकी जनश्रुतिवश प्रसिद्धि थी. अतएव श्रीजीमहाराजने अपने-आपको रामानन्द स्वामीका शिष्य घोषित कर दिया ताकि लोगोंको अपनी ओर अभिमुख कर पायें! ऐसी भी कोई प्राचीन हस्तप्रत किसी ग्रन्थागारमें कहीं उपलब्ध न हो जाये इसकी निश्चिति अब रह नहीं जाती.

ऐसी बातें करने-सोचनेसे ''सत्यं वद! धर्मं चर'' के स्थानपर ''असत्यमेव वद! स्वशिष्यसमुदायबहुलीकरणायैव चरैवेति'' ऐसी श्रीसहजानन्द स्वामीकी मानसिकता कोई मानने लग जायेगा. जिसने 'शिक्षापत्री'का (और बहुलांशमें तो) 'वचनामृत'का भी तटस्थ अध्ययन किया हो वह ऐसी निर्मूल धारणाओंको कभी स्वीकार नहीं पायेगा. कमसे कम मैं तो ऐसा स्वीकारने कथमपि उद्यत नहीं. इन ग्रन्थोंमें उपदिष्ट धर्मभावनोपेत बातोंका अपनी बुद्धिसामर्थ्यके अनुसार विवेचन करनेपर मुझे तो ऐसी किसी दुर्मनोवृत्तिकी लेशमात्र गन्ध भी उनके चरित्रमें सम्भावित नहीं लगती.

अतएव इसी शीर्षकके अन्तर्गत यह जो कहा गया कि श्री जी.एस्. भट्टके 'विष्णुस्वामी एंड् वल्लभाचार्य' निबन्धमें ऐसी ही दुर्मनोवृत्ति निबन्धकारने महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके बारेमें भी सोची है, उसे भी स्वीकारने मैं तो उद्यत नहीं. क्योंकि महाप्रभुने अति स्पष्टवादिताके साथ अपना श्रीविष्णुस्वामिमतानुवर्ती होना निजग्रन्थोंकी इतिश्रीमें लिख कर और उज्जयिनी तथा श्रीबद्रीनाथ के तीर्थपुरोहितोंको दिये निजहस्ताक्षरोंमें लिखित वृत्तिपत्रोंमें भी घोषित किया है. साथ ही साथ श्रीविष्णुस्वामीकी तामसभक्तिके तथा निजोपदिष्ट निर्गुणभक्तिके प्रकारोंको भगवत्प्रतिपादित चार भक्तिके अन्तर्गत घोषित किया है. उसे देखते हुवे कथमपि ऐसी दुर्मनोवृत्ति महाप्रभुमें भी सिद्ध नहीं हो पाती. श्री सा.श्रु.जीका यह कहना तो इतिहासके अवलोकनसे भी उपपन्न ही है कि महाप्रभुके समयमें विष्णुस्वामिसम्प्रदाय मान्य ग्रन्थ या आचार्यादि पीठ के रूपमें

विद्यमान नहीं था. वर्तमान समयमें भी सौर गाणपत्य एवं स्कान्द सम्प्रदायोंके मन्दिरों एवं भक्तों के बचे रहनेपर भी साम्प्रदायिक ग्रन्थ एवं आचार्यपीठ की परम्परा उच्छिन्न हो गयी है, तद्वत्. महाप्रभुके पूर्वज उस अल्पप्रसिद्ध सम्प्रदायके कुलपरम्परासे अनुगामी थे, यह तो उनके ग्यारहवर्षके लेखपत्रके आधारपर भी प्रकट होता है. फिरभी ऐसा सोचा जाये कि स्वयं महाप्रभुको तब उतनी प्रसिद्धि नहीं मिली थी, इसलिये उन्होंने विष्णुस्वामीके सम्प्रदायके साथ अपना मिथ्या सम्बन्ध अपना जोड़ था. इसे सच मानें तो प्रसिद्धि मिल जानेके बाद उस अनुगामिताका अस्वीकार न तो महाप्रभुने और न अनुगामिओंने आज तक किया! करीब सित्तर-अस्स वर्षपूर्व एक बार यह विवाद अवश्य जोरशोरसे सम्प्रदायमें छिड़ा था कि महाप्रभु द्वारा प्रस्थापित शुद्धाद्वैतवाद या भगवदाज्ञया प्रवर्तित पुष्टिभक्तिमार्ग वस्तुतः उन्होंने स्वयं प्रवर्तित किये थे कि ये भी विष्णुस्वामीके ही सम्प्रदायवश उन्हें कुलपरम्परागत थे? देहाभिमानमूलक श्रौत-स्मार्त वर्णाश्रमधर्मकी गायत्रीमन्त्रदीक्षा और तन्मूलक वर्णाश्रमधर्मको भगवदाज्ञप्त होनेके कारण अवश्यानुष्ठेय मानना पड़ता है. उसे भगवद्भक्ति या भगवत्प्रपत्ति के व्याजसे छोड़ा नहीं जा सकता. यहां इतना ही अवधेय है कि भगवान्की भक्ति-प्रपत्तिको आत्मधर्मतया उत्कृष्ट अवश्य माना जाता है. इसी तरह भेदवादमूलक विहितभक्तिमें पर्यवसित होनेवाली श्रीविष्णुस्वामिसम्प्रदायानुगत गोपालमन्त्रकी दीक्षाकी तुलनामें भी पुष्टिमार्गीय प्रेमलक्षणा भक्ति या प्रपत्ति में पर्यवसित होनेवाली शरणदीक्षा और आत्मनिवेदनदीक्षा को उत्कृष्ट अवश्य माना जाता है. क्योंकि इनका आधार महाप्रभुके शुद्धाद्वैतवादमूलक ब्रह्मजीवका तादात्म्य है. पर एतावता इस श्रीविष्णुस्वामिमतानुगामिताको न महाप्रभुने, न उनके परवर्ती ग्रन्थकार वंशजोंने, न अन्य विद्वानोंने और न भक्तकवियोंने ही कभी अस्वीकार किया : **''श्रीव्रजराज शिरोमणि सुंदर भूतल प्रकटे वल्लभचन्द, अवगाहत श्रीविष्णुस्वामिपथ नवधा भक्तिरत्न रसकन्द''**, **''वन्देऽहं तं विमलहुताशं... श्रीलक्ष्मणसुत विष्णुस्वामिपथ श्रुतिवचमण्डन कहे विष्णुदासं''** ये दोनों ही भक्तकवि महाप्रभुके साक्षात् शिष्य थे

और निजगुरुमुखसे सुन कर ही गुरुपरम्पराको जान पाये होंगे. महाप्रभुके प्राकट्योत्सवके दिन आज भी इन पदोंका गान होता ही है. अतः महाप्रभुके स्तुतिगान या इतिवृत्त में भी इन्कारा गया नहीं है. अपनी कुलपरम्परागत विष्णुस्वामिमतानुगामिताको त्यागे बिना जो शुद्धाद्वैतमूलक पुष्टिभक्तिका प्रवर्तन महाप्रभुने किया उसका पार्थक्य या उसकी बढ़-चढ़ कर प्रशंसा तो स्वयं महाप्रभुने भी की है और उनके परवर्तिओंने भी की है. इससे कई बार अनुपासितगुरुओंको स्वयं ही यदृच्छादृष्टिपथागत ग्रन्थोद्धरणोंके अवलोकनवश भ्रान्ति होती रहती है कि वाल्लभ मत वस्तुतः विष्णुस्वामिप्रवर्तित वैष्णवसम्प्रदायानुगामी है कि नहीं? वास्तविकता यह है कि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यसे लेकर अद्यावधि हम सभी विष्णुस्वामिसम्प्रदायमें उसी तरह दीक्षित होते हैं जैसे वल्लभसम्प्रदायमें. तदनुसार विष्णुसम्प्रदायागत गोपालमन्त्र-श्रीनृसिंहमन्त्रदीक्षा भी प्रायः सभी लेते हैं. वल्लभसम्प्रदायानुगतिप्राप्त अष्टाक्षर-ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा अनिवार्यतया लेते देहाभिमानमूलक वर्णाश्रमानुरोधी गायत्रीदीक्षाकी तरह. वैष्णव सम्प्रदायानुगामिताके वश जैसे वैदिकी गायत्रीमन्त्रदीक्षाका त्याग हम उचित नहीं मानते वैसे ही यहां भी जान लेना आवश्यक है.

(७.साम्प्रदायिक-धार्मिक भेदकी समीक्षा)

अतः जिस रामानुजसम्प्रदायमें श्रीसहजानन्द स्वामी दीक्षित थे उस सम्प्रदायके प्रति जब इस पन्थके अनुगामिओंके ऐसे विरोधी भाव हों, तो महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण और उनके आत्मज श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण के बारेमें कोई बात छेड़ने लायक नहीं रह जाती. अन्यथा यह कहा जा सकता है कि इन पिता-पुत्रोंके प्रति, अथवा वस्तुतः तो उनके द्वारा उपदिष्ट साधनाप्रणालीके प्रति ही श्रीसहजानन्द स्वामीके हृदयमें हार्दिक लगाव एवं आदरविशेष का भाव था. वचनामृतका अवलोकन करनेपर इतना तो स्पष्ट होता ही है.

जैसे रामानुजीय वेदान्तमें शुद्धाद्वैतवाद अर्थात् जड़जीवात्मक सृष्टि

और ब्रह्म के बीच तादात्म्य स्वीकारनेवाले सिद्धान्तको ''इत्थं ब्रह्मापि जीवः परिणमति विहृत्यर्थम् इत्यपि असारं स्वानर्थैकप्रवृत्तेः प्रसजति च तदा सर्वशास्त्रोपघातः'' (तत्त्वमु.३।३०) ऐसे उद्गारों द्वारा मायावादसे भी अधिक गर्ह्य पक्ष माना है. ऐसे ही अपनी रामानुजमतानुगामिताको अक्षुण्ण निभाते हुवे श्रीसहजानन्द स्वामीने भी विशिष्टाद्वैतवादके अनुसार इस श्रुतिकी व्याख्या की. वचनामृतमें आता है कि ''नृसिंहानन्द स्वामीने पूछा... 'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय' इस श्रुतिवाक्यका... प्रलयकालमें एकमात्र भगवान् थे, वे ही स्वेच्छासे सृष्टिकालमें समस्त जीव-ईश्वररूप हो गये, यह बात तो मूर्ख ही मानता है... भगवान् तो अच्युत हैं वे च्युत हो कर जीव-ईश्वररूप नहीं हो सकते... इसलिये आप श्रुतिवाक्यका अर्थ कहिये... श्रीजीमहाराज बोले ये सब श्रुतिका जैसा अर्थ बताते हैं वैसा नहीं है... एकमात्र पुरुषोत्तम भगवान् अन्तर्यामिरूपसे इन सबमें प्रवेश करके रहे हैं किन्तु जीव-ईश्वरभावको स्वयं ग्रहण करके अनेक रूपोंमें नहीं हुवे, इस प्रकार श्रुतिवाक्यका अर्थ समझना चाहिये'' (वचना.ग.प्र.४१). एतावता सिद्ध होता है कि श्रीजीमहाराजको वाल्लभ साधनाप्रणाली ही मान्य थी और वह उनकी श्रीकृष्णके प्रति अनन्यनिष्ठाके अनुरूप भी थी. वाल्लभ वेदान्त परन्तु उन्हें सर्वथा अमान्य था अपनी रामानुजमतानुगामिताके अनुरूप ही. अतएव स्वामिनारायणीय तीन दीक्षामन्त्रोंमें से दो मन्त्र तो सर्वथा वल्लभसम्प्रदायकी आत्मनिवेदनदीक्षा और शरणदीक्षा शब्दोंका ही थोड़ा सा शाब्दिक हैरफेर है.

(८.श्रीकृष्णकी उपास्यताके विमर्शकी समीक्षा)

समाधानपत्रके इस खण्डमें उछाले गये मुद्दोंके बारेमें कुछ भी आलोचना लिखनी मुझे उचित नहीं लगती. क्योंकि यदि महाप्रभुसे प्रभावित हुवा बिना स्वयं अपनी पूर्वसिद्ध कुलपरम्परा एवं गुरुपरम्परा के कारण श्रीजी महाराजको श्रीकृष्णके प्रति लगाव था ऐसा मान कर चलें तब भी श्री सा.श्रु.जीकी यह धारणा कि ''गुजरातमें... अन्य वैष्णव सम्प्रदायोंकी संख्या बहुत थी. आगन्तुक अनुयायिओंमें

अपने-आपको 'सर्व अवतारसे परे अवतारी' कहनेपर सम्प्रदायमें और बाहर अपना कार्य दुष्कर बन जाता... इस हेतुको देख कर भगवान् स्वामिनारायणने कहीं-कहीं राधाकृष्णकी बात कही थी... अनुयायी वर्गमें भगवान् स्वामिनारायणके प्रताप और माहात्म्य पर अधिक विश्वास बैठनेके बाद भगवान् स्वामिनारायणने अपने अधिक प्रभावकी बात कही थी'' (समा.पत्र.६.श्रीकृष्णकी उपास्यताका विमर्श) मेरे हिसाबसे अप्रामाणिक सिद्ध हो जाती है.

वैसे पता नहीं इस इतिवृत्तमें ऐतिहासिक तथ्य कितना है और अब अधिक प्रसिद्ध हो जानेके कारण अकस्मात् पनपी धृष्टता कितनी है? किसी भी सूरतमें श्रीकृष्णभक्तिको एकस्वीकृत करनेकी मनोग्रन्थि बांधनी अनुचित है. अतः अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भगवान्को सनातन सर्वव्यापी सर्वोपादान सर्वेश्वर सर्वोद्धारक सर्वज्ञ कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं सर्वसमर्थ मानता होनेके कारण वाल्लभ सम्प्रदायकी ओरसे इस विषयमें मौन रखना ही उचित मानता हूं. उस सर्वसामर्थ्यमें अविश्वास प्रकट करना मेरेलिये महान् अपराधकल्प है. अतः श्रीकृष्ण श्रीसहजानन्द स्वामीके या उनके सम्प्रदायके उपास्य इष्टदेव न सही हमारे परमाराध्य इष्टदेव होनेके कारण ही इसका प्रत्युत्तर देना अनावश्यक लगता है. क्योंकि जीवात्माओंके उद्धारकी ठेकेदारी यदि परमात्मा किसी एक आचार्य या एक धर्म-सम्प्रदाय को देता हो, तो ऐसा परमात्मा मुझे विश्वात्मा नहीं लगता. अतः हमारे सम्प्रदाय या अन्य किसी सम्प्रदायके बारेमें ऐसा कोई दावा करे तो मुझे हास्यास्पद कथा ही लगती है. मेरी श्रद्धा है कि विविध धर्म-सम्प्रदाय मुमुक्षु जीवात्माको सच्चा मार्ग तो बता सकते हैं परन्तु उसपर चल पानेकी सामर्थ्य जिसे परमात्मा प्रदान करता है उसकी ही होती है. वह अनेकविध सम्प्रदायोंकी साधनाओं द्वारा मिल सकता है, उसे मिलना हो तो. और नहीं भी मिलता, उसे न मिलना हो तो. परमात्माको किसी एक धर्म-सम्प्रदायकी साधनाका

मोहताज मानना उसकी निरुपाधिक अनुग्रहशीलता निरंकुशमुक्तिदानसामर्थ्य सर्वज्ञता सर्वव्यापिता और सर्वेश्वरता जैसे गुणधर्मोंका अस्वीकार है. इन गुणधर्मोंको इन्कारनेपर तो उसे परमात्माके रूपमें मान्य करना भी आवश्यक नहीं रह जाता.

अतः स्वामिनारायण सम्प्रदाय अपनी आरम्भिक अवस्थामें अथवा अब विकसित विश्वव्यापी अवस्थामें वाल्लभ साधना या वाल्लभ सम्प्रदायके आराध्य श्रीकृष्णको न स्वीकारना चाहता हो तो उसका उसका उद्धार नहीं हो सकता है, इतना असमर्थ और संकुचित मनोवृत्तिवाला अपने आराध्य श्रीकृष्णका स्वरूप हो तो, स्वामिनारायण सम्प्रदायके सम्प्रदायके आधुनिक अनुगामिओंकी धारणाके बजाय मुझे स्वयं श्रीकृष्णकी परब्रह्मता अप्रामाणिक लगने लगती है. थोड़ा-बहोत जो इन बातोंपर मैंने ध्यान आकृष्ट किया वह स्वयं श्रीसहजानन्द स्वामीके वचनोंके अभिप्रायकी स्वारसिक मीमांसाके रूपमें ही. नकि परब्रह्म या परमेश्वर के रूपमें एकमात्र श्रीकृष्णके स्वरूपकी अपरिहार्यताके अर्थमें. क्योंकि मुझे लगता है कि आज नहीं तो कल, कल नहीं तो आगामी शतकमें, जब भी अपने आचार्योंके प्रति वफादारीका भाव इस सम्प्रदायमें जाग्रत होगा तो मेरे उठाये गये मुद्दोंपर ध्यान तो देना ही पड़ेगा.

पद्मपुराणोक्त भागवतमाहात्म्यमें ''**उत्पन्ना द्रविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता क्वचित्-क्वचित् महाराष्ट्रे गुर्जरे क्षीणतां गता**'' (१।४८) ऐसा विधान मिलता है. यह भक्तिके अर्थमें कदाचित् सत्य होनेपर भी गुर्जरदेशिओंकी स्नेहप्रधान मनोवृत्तिको देखते हुवे कुछ इस वचनका अभिप्राय मीमांस्य लगता है. किसी शायरने कहा है कि ''**अपनी कुए-वफासे डरता हूं आशिकी बन्दगी न हो जाये**'' इसी तरह गुर्जरदेशवासिओंकी स्नेहमयी मनोवृत्ति कब भक्तिमयी वृत्ति बन जाती है इस बारेमें कोई भविष्यवाणी कर ही नहीं सकता! स्वभावतः असाधारणरूपेण गुर्जरप्रजा स्नेहप्रधान दृष्टिगोचर होती है.

अपने वल्लभसम्प्रदायमें भी कहा जाता है कि महाप्रभुके पौत्र श्रीगोकुलनाथचरणके गुर्जरदेशी शिष्य उन्हें अनन्तकोटिब्रह्माण्ड नायक मानते थे. उनकी ऐसी हरकतोंसे तंग आ कर उनके पितृचरण गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीने कहा कि तुम्हारे शिष्य बहुत तकलीफ देते हैं. इसपर क्षुब्ध हो कर श्रीगोकुलनाथजीने अपने शिष्योंको गोकुलसे निकाल देनेको एक नाव मंगायी और उन्हें आज्ञा दी कि इसमें बैठ कर श्रीयमुनाके उस पार मथुराकी ओर सब चले जाओ! इसपर सभी शिष्योंने गुरुमें श्रद्धाह्रास या क्षोभ का भाव प्रकट किये बिना भजन गाना शुरु किया कि "**व्हाले म्हारे जीवता पार उतार्या रे! के व्हाले म्हारे करुणा करि निस्तार्या रे!**" इसपर खीज कर उन्होंने अपनी चरणपादुका उन्हें प्रताड़ित करनेको निशाना ताक कर नदीमें जा रही नावकी तरफ फेंकी और प्रभाव इसका भी विपरीत ही हुवा कि भक्तगण गाने लगे "**व्हाले म्हारे पादुकाजी पधराव्या रे! पधार्या पुरुषोत्तम भवनौकामां, हां रे अमने जीवता पार उतार्या रे!**" इस श्रद्धातिरेकका उनके पास भी कोई उपाय नहीं था. केवल इतना लिख कर रह वे रह गये कि "मेरे सेवक मुझे ही साक्षात् पुरुषोत्तम मानते हैं इससे पुष्टिफलके लाभसे तो उन्हें वंचित ही रहना पड़ेगा". पर उस पादुकाको प्रकट पुरुषोत्तम मान कर शिष्योंने पावडियापन्थ तथा भड़ूचीपंथ चला दिया!

उसके बाद पुनः वल्लभसम्प्रदायके अन्तर्गत इन गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजीके ही भतीजे गोस्वामी श्रीजयगोपाललालको भी उनके शिष्योंने परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णसे भी अनन्तकोटि सामर्थ्यवान मान कर 'जयगोपाल-पन्थ' चला दिया. उसके बाद तो सारे सौराष्ट्र-गुजरातमें हम वल्लभवंशज गोस्वामी आचार्योंको प्रकटपुरुषोत्तम मान कर न जाने क्या-क्या उत्पात नहीं हुवे! इधर सो-डेढ़ सो वर्षोंसे हम वल्लभवंशज आचार्योंका का प्रभाव क्षीणसे क्षीणतर होते देख कर एक अन्तर्धारा वाल्लभ सम्प्रदायमें नूतन वल्लभपंथकी और चल पड़ी है. इसमें

अनन्तकोटिब्रह्माण्डोंके नाथ पुरुषोत्तम महाप्रभुके केवल एक रोममें बिराजते हैं, ऐसी अन्धश्रद्धा भरे उपदेशोंसे जनताको ये वल्लभपंथी बरगलाते रहते हैं. इनके अनुसार महाप्रभुके उपदेशोंको मानने या अनुसरने की कोई आवश्यकता नहीं. क्योंकि ये उपदेश तो हीनाधिकारी जनोंके लिये दिये गये उपदेश हैं!

स्वयं मेरे पितृचरणके कुछ शिष्य उनको प्रकट पुरुषोत्तम मान कर चरणोंमें तुलसीपत्र समर्पित कर जाते थे. इससे रुष्ट हो कर वे उन्हें अपने पास आने नहीं देते थे. तो वे जब बिचारे निद्राधीन होते तब चुपकेसे उनके चरणोंमें तुलसीपत्र वे मूढ़ लोग समर्पित कर जाते! इससे उन्हें इतना मानसिक सन्ताप होता कि बहुधा अभद्र गालीप्रदान तक करने लग जाते, अपने वैदुष्यकी गरिमाको भूल कर! बिचारे दोनों पैरोंमें केंसर होनेसे खड़े तो हो नहीं पाते तब परन्तु उनका मानसिक त्रास देखा नहीं जाता था. मुझे लगता है कि श्रीसहजानन्दजीके सम्प्रदायमें हमारे यहांके ऐसी मनोवृत्तिवाले ही कुछ लोगोंने घुस कर अपने नूतन गुरु श्रीसहजानन्द स्वामीकी भी हमारे जैसी ही गति बना दी है. ''गुरुः साक्षात् परंब्रह्म''का आदर्श यद्यपि भारतीय संस्कृतिका एक प्रमुख चरित्र है पर गुरुवचनोंकी अवहेलना या अनादर कर के उनका यद्वा-तद्वा आशय मनगढ़ंत निकाल लेना अपनी इस संस्कृतिका दुर्गुण भी है.

स्वयं मैं जब इसी विषयपर एक दिन अपने वैष्णवोंकी सभामें प्रवचन कर रहा था तब श्रोतामेंसे किसीने एक चिट भेजी कि ''आप मिथ्याभाषण कर रहे हो. हम तो आपको साक्षात् पुरुषोत्तम ही मानते हैं!'' मुझे तो अपने प्रभावशाली उपदेशक होनेका गर्व ही ध्वस्त हो गया लगा. मेरे भीतर भक्तिभावोंकी मन्दता और धर्मनिष्ठाकी शिथिलता के अन्तर्निरीक्षण करनेपर इस देहके अवसानके बाद भी अक्षरात्मक व्यापिवैकुण्ठ या गोलोकमें प्रवेश भी पा सकूंगा ऐसा प्रतीत

तो होता नहीं!

वैसे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यका उपदेश है कि आराध्य भगवन्मूर्ति साक्षात् परब्रह्म परमात्मा भगवान पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही होती है. और उनका सेवास्थल व्यापिवैकुण्ठरूप ही होता है, ऐसे सिद्धान्तमें दृढ़श्रद्धा होनेपर भी उनकी सेवाभक्तिमें वैसी निष्ठा न पनप पानेके कारण अपराधबोध ही रहता है. अतः किस अर्थमें पुरुषोत्तम हो सकता हूं यह समझमें नहीं आता. मानवसुलभ कयी कमजोरिओंसे अपने-आपको सदा ग्रस्त पाता हूं. फिर भी श्रीसहजानन्द स्वामी पूर्ण पुरुषोत्तम हों या नहों उनके वचनोंका जैसा आशय मुझे अपनी समझके अनुसार उचित लगा उसे यहां निबद्ध मैंने किया है. क्योंकि यदि प्रक्षिप्त न हो तो उन्होंने महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके लिये जो पदप्रयोग किये उसके आधारपर न केवल उन्हें परन्तु उनके अनुगामिओंको भी अपने सुहृद माननेके कारण मैं सोचता हूं कि "**स किंसखा योहि हितं न वक्ति!**"

सकलान्तरात्मा श्रीहरिः प्रसन्नो भवतु!

ब्रह्म या ब्रह्माण्ड और मनुष्यके अस्तित्वकी खोज

(एक वाल्लभ दृष्टि)

किंस्विद् वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ?
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥
(ऋग्वेद १०।८१।४).

ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद् यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा वि ब्रविमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥
(तै.ब्रा.२।८।९।७).

प्रश्न : वह कौन सा वन था, वह कौन सा वृक्ष था जिसे काट-छांट कर ये आकाश और पृथ्वी लोक बनाये गये? विद्वानों! कभी अपने-आपसे पूछ कर तो देखो कि इन भुवनोंको धारण करनेवाला कहां खड़ा है, उसका आधार क्या है?

उत्तर : वह वन ब्रह्म था, वह वृक्ष भी ब्रह्म था जिसे काट-तराश कर ये आकाश और पृथ्वी लोक बनाये गये हैं. विद्वानों! अपने (सच्चे) मनसे एक रहस्य तुम्हें कहता हूं. इन भुवनोंको धारण करनेवाला ब्रह्मपर खड़ा हुआ है. ब्रह्म ही उसका आधार है!

मानवीय चिन्तनके समग्र इतिहासमें मनुष्य अपने चारों और फैले हुये इस अनन्त ब्रह्माण्डके साथ स्वयंका क्या सम्बन्ध है यही खोजता रहा है. इस खोजका व्यष्टि पक्ष है: आत्मजिज्ञासा—ब्रह्म या ब्रह्माण्ड के साथ व्यक्तिका क्या सम्बन्ध है? और इस खोजका

एक समष्टिपक्ष भी है: परमात्मजिज्ञासा. यह ब्रह्माण्ड क्या एक निरुद्देश्य - निराधार - निष्कारण अनन्त घटनाओंका प्रवाह है या ब्रह्माण्डकी इन अनन्त घटनाओकों जोड़ने वाला कोई एक सूत्र भी है? इन घटनाप्रवाहोंका कोई एक कारण - आधार - उद्देश्य भी है या नहीं? ब्रह्माण्डका कोई ब्रह्म भी है या नहीं? यदि ब्रह्म है तो क्या वह किसी मानवीय प्रयोजनवश सृष्टिनिर्माण करता है? क्या अलौकिक ब्रह्ममें लौकिक प्रयोजनोंकी उद्भावना संगत नहीं?

प्रश्नोंका उत्तर सरल होता यदि स्वयम् प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता दोनोंमें ही अन्तःस्फूर्त आस्था और बाह्यारोपित तर्कका अन्तर्द्वन्द्व न होता तो.

मानवीय चेतना या प्राणिमात्रकी चेतना में प्रथम प्रादुर्भाव आस्थाका होता है कि तर्कका? कुछ लोग चेतनाकी प्रथम उपलब्धि - 'आस्था'की व्याख्या जड यान्त्रिक नियमोंमें करना चाहते हैं. यहां तक कि डार्विनके विकासवादी सिद्धान्तके प्रकट होनेसे पहले यूरोपीय चिन्तनमें मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियोंमें प्रमुख अन्तर यही माना जाता रहा कि मनुष्यमें आत्मा होती है, क्योंकि वह बुद्धिमान - विचारशील प्राणी है, जबकि मनुष्येतर प्राणियोंमें नहीं! मनुष्येतर प्राणियोंका व्यवहार एक स्वयंचालित यन्त्रकी तरह होता है (Animals are mere machines, they are bodies animated but soulless; they lack concious perception and application though not the appearance of them) इस तरह मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियोंमें भेदद्वारा मनुष्यमें आस्थासे पहेल तर्ककी उपस्थिति स्वीकारी जाती है.

अतएव, यूनानी दार्शनिकोंने इस ब्रह्माण्डमें मनुष्य ही अकेला तार्किक प्राणी है, विचारशील प्राणी है, अतः उसकी विचारशीलतामें ही उसका अस्तित्व खोजना चाहा. (Man is rational animal).

भारतीय चिन्तन मनुष्यको मनुष्येतर प्राणियोंसे उसकी धार्मिकताकी विशेषताके कारण पृथक् मानता है. मनुष्य-एक धार्मिक पशु है ''धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः'' वैसे ''पशुनां समजोऽन्येषां समाजः'' में पशुसमुदाय 'समज' तथा मानवसमुदाय 'समाज' कहलाता है. यों मनुष्यको एक सामाजिक पशुके रूपमें मनुष्येतर प्राणियोंसे पृथक् अवश्य किया गया परन्तु परिभाषाके रूपमें मनुष्यकी इस विशेषता - सामाजिकताको अधिक महत्त्व न दिया गया. ''मनुष्य एक सामाजिक पशु है'' वाली परिभाषा भारतीय हृदयको स्पर्श नहीं कर सकी. उन्हें तो मनुष्यकी धार्मिकता ही अधिक महत्त्वपूर्ण लगती थी.

बाइबलके अनुसार ईश्वरीय सृष्टिमें मनुष्यका निर्माण सृजन - प्रक्रियाका 'Climax' - चरमबिन्दु था. मनुष्य ही सृष्टिका प्रयोजन है - केन्द्र है, क्योंकि समग्र सृष्टि मनुष्यकेलिये है. सूर्य - चन्द्र - तारे आदि सभी कुछ भगवानने मानवकी सुविधाके हेतु बनाये हैं. अपने अलावा सभी प्राणियोंका उपयोग मनुष्य अपनी भूख मिटाने या अन्य सुविधाओं केलिये कर सकता है! मनुष्यको (आदमको) भगवान्ने अपनी आकृतिके अनुरूप गढ़ा था. ईश्वरके अनुरूप मनुष्यका ज्ञानी बनना, परन्तु ईश्वरको स्वीकार्य न था. आदमको ज्ञानफल चखनेकी मनाही थी. उस अज्ञानावस्थामें शैतानने ईवके द्वारा आदमको भरमा दिया. वस्तुतः नैतिक उत्तरदायित्वमें स्वतन्त्र आदम अभी सदसद्-विवेकप्रद फलको चख नहीं पायाकी ईश्वरीय आज्ञा अथवा शैतानी प्रेरणामें, अतएव, सदसद्विवेक सम्भव न हो पाया. सर्वज्ञ - दयाल ईश्वरने अपने प्रिय आदमको उस उद्यानमें, जहां शैतान भी प्रविष्ट हो सकता था, उन्मुक्त छोड़ दिया और शैतानने आदमको भरमा ही दिया. यों आदमने ज्ञानफल चख लिया. परिणामतः आदममें १. सदसद् विवेक (Knowing good & evil) २. इच्छास्वातन्त्र्य - नैतिक उत्तरदायित्व (Moral autonomy) ३. आत्मनिर्भरता (Relience on self rather than on God) ये विशेषताएं प्रकट हुईं. इनमें भगवदिच्छा या भगवल्लीला हेतु नहीं थी किन्तु

मनुष्य विरोधी एक शैतानी प्रेरणाके वशीभूत होकर ईश्वराज्ञाका उल्लङ्घन ही हेतु था. ये विशेषताएं मानो उस अपराधके दण्डरूप प्रकट हुई थी. अतएव अब न तो निष्पाप जीवन ही सम्भव रह गया और न स्वर्गीय अमरता ही. आदमका स्वर्गसे अधःपात भूलोकपर हुआ, नरकपातकी भूमिकाके रूपमें आदमके महापतनमें हेतुभूत आदमीकी एकमात्र महत्ता - विचारशीलता !

यूनानसे विरासतमें मिली मनुष्यके एकमात्र विचारशील प्राणी होनेकी धारणा ईसाइयताके साथ अपना तालमेल न बैठा पायी. बुद्धिमत्ता जो वरदानरूप मानी जाती रही, एक अभिशापका रूप लेने लगी. ज्ञानके फलका स्वाद मीठा था या कड़वा यह निश्चय न हो पाया. ''मनुष्य एक विचारशील प्राणी है'' की धारणा शनैः-शनैः ''मनुष्य एक पापशील प्राणी है'' में रूपान्तरित होने लगी.

मनुष्यके सम्पूर्ण अस्तित्वकी व्याख्याका मूलाधार आदमका मूलपाप बन गया 'Originl Sin' - मनुष्यका पापी होना उसकी नियति बन गई. यदि इस ब्रह्माण्डमें कहीं कोई पापी प्राणी है तो वह मनुष्य ही - पापी होना मनुष्यका निजी एकान्त स्वरूप बन गया. वैसे कहनेको शैतान भी पापी है परन्तु उसे नरक यातना देना या खत्म करना ईश्वरके सामर्थ्यकी बाहर बात है, या फिर सर्वसमर्थ ईश्वर शैतानको खत्म करना नहीं चाहता. शैतानमें शैतानियत ईश्वरीय अनुज्ञापर मानो निर्भर हो और मनुष्यमें शैतानियत ईश्वरावज्ञापर. मनुष्यके छोटे - छोटे अपराध, जिनका उत्स कहीं न कहीं ज्ञानफलमें ही होता है, का दण्ड मनुष्यको मिलता है, शाश्वत नरकाग्निमें दाह (The eternal fire of hell) के रूपमें. वस्तुतः यदि इन छोटे - छोटे अपराधोंसे ईश्वरको इतना कष्ट पहुंचता हो तो शैतानकी जहां पहुंच हो ऐसे उद्यानमें मनुष्यको एकाकी उन्मुक्त नहीं छोड़ना चाहिये था. बिचारे आदमके शैतानी प्रभावमें आ जाने पर उसे ऐसे प्रभावसे मुक्त करनेके बजाय

ईश्वरने शैतानकी बलिवेदीपर न केवल आदमकी परन्तु उसकी सारी भावी पीढीकी भी बलि दे दी! *मार्क्विस द सेद* कहता है कि ईश्वरके इस प्रथम पापकी प्रतिक्रिया ही सारे मानवीय पाप हैं. "....and human sin contineus to be mans answer to divine sin". हताश एक शायर कहता है :

ज़िन्दगी क्या है, गुनाहे आदम।
जिन्दगी है तो, गुनहगार हूं मैं॥

यद्यपि ईश्वरके समक्ष एक अपराधी बने रहनेमें अपनी सत्ताको खोजनेके बजाय या तो स्वयंका मिट जाना अधिक उचित प्रतीत होता है, या फिर उस ईश्वरको मिटाना, जिसके समक्ष अपराधी बने रहना हमारी एक नियति हो. दयालुता या कृपालुता आदि समस्त दिव्य गुण भी निर्भर करते हैं ईश्वरके स्वभावपर नहीं परन्तु आदमीके हीनभावपर - आदमीके गुनहगार होनेपर —

उम्मीदे जुर्म पर ही करमका जहूर था।
बन्दा अगर कसूर न करता कसूर था॥

परेशान हैं बिचारे सूफी सन्त कि आदमीके गुनाहके कारण ईश्वर दयालु है या ईश्वरकी दयालुताके कारण आदमीको गुनहगार बनाया गया है. खय्याम कहता है :

ना कर्दा गुनह दर जहां कीस्त बिगो
उन कस कि गुनह ना कर्द चूं जीस्त बिगो।
मन बद कुनम् ओ तू बद् मुकाफात दिही
पस फर्क मियाने मन ओ तू चीस्त बिगो॥

इस जगतमें कौन ऐसा है कि जिसने गुनाह न किया हो? आखिर बिना गुनाह किये तो आदमी जी भी नहीं सकता. हां, मैं बुरे काम करता हूं, पर तू भी तो बुरा दण्ड देता है! अब बता कि मेरे और तेरे बीचमें फर्क क्या रहा? खय्याम यह पूछनेंकी

जुर्रत कर लेता है पर सरमद बिचारा कहता है :

अज जुर्म फजुं याफ्ताअम फज्ल तुरा।
ईं शुद सबबे मासीअते बेश मरा॥
हर चन्द करम बेश गुनह बेशतरस्त।
दीदम हमाजा औ आजमूदम हमाजा॥

मेरे अपराधोंकी अपेक्षा तेरी कृपा मुझे अधिक मिली. मेरे अधिक अपराधी होनेका हेतु, तेरी अधिक कृपा है. जितनी अधिक कृपा तू करता जाता है उससे अधिकतर अपराध मैं करने लगता हूं. यह मैंने सर्वत्र देखा हैं और यही मैंने सर्वत्र आजमाया है.

यद्यपि ईश्वरका दयालु होना आदमीके गुनाहोंकी चिकित्सा थी परन्तु इलाज बढ़ता चला गया तो मर्ज और ज्यादा बढ़ गया! सन्त अगस्ताईन परमेश्वरकी दृष्टिमें सद्योजात शिशुको भी पापी मानते हैं :

> "आदमीके पापोंको धिक्कार! तुमने आदमीको बनाया, परन्तु आदमीके अन्दर रहते पाप तुम्हारे बनाये हुए नहीं हैं. कोई भी मनुष्य तुम्हारी दृष्टिमें पवित्र नहीं, वह शिशु भी नहीं जिसे जन्म लिये हुए अभी केवल एक दिन ही बीता हैं. (Woe to sins of men!...you have made him but the sin that is in him you have not made. ...for in your sight no man is clean, not even the infant who have has lived but a day upon earth).

इस तरह यूरोपमें मानवीय चेतना बाल्यावस्थामें पापी होनेके बोध भारको एक मूक-असहाय शिशुकी तरह झेलती रही. विद्रोह होना परन्तु कभी न कभी अनिवार्य था. अतएव मनुष्यने अपने अस्तित्वको ईश्वरके प्रति विद्रोहमें खोजना चाहा. ईसाईयत कहीं न कहीं मनुष्यके

अस्तित्वकी व्याख्या *''मैं पापी हूं अतः मेरा अस्तित्व है''* में खोजती रही - परन्तु विद्रोहकी वाणी कहना चाहती थी कि *''मैं विद्रोह करता हूं अतः मेरा अस्तित्व है''.*

विद्रोहकी यह सुषुप्त चिनगारी मानवीय चेतनामें सर्वदा भय - अनिश्चय - श्रद्धा - दमनकी राखमें ढकी हुई सुलगती रही. आधुनिक अस्तित्ववादी दार्शनिक *ज्यां पॉल सार्त्र* अपने 'ल मोश' (the Fly) नामक नाटकमें इस मानवीय विद्रोह और उसके कारणका एक विलक्षण चित्र प्रस्तुत करते हैं :

> अर्गोस नामक राज्यके राजाकी हत्या स्वयं रानी और उसके प्रेमी एजीस्थिअस कर देते हैं. राजकुमार ओरेस्टसको एक वफादार नौकर बचाकर ले जाता है और पालपोस कर बड़ा करता है. वह राजकुमार अपने पिताके वधका प्रतिशोध लेने अर्गोस लौट आता है. यहां अर्गोसमें प्रेमी - प्रेमिका अपना अपराध प्रकट नहीं करते. अतः अपराधीका पता न चलनेके कारण समूचा राज्य शाश्वत शोक एवं प्रायश्चित करता रहता है. राज्यके मान्य देवता जीअसको राजकुमारकी प्रतिशोध - भावना पसन्द नहीं आती. अतः रानीके प्रेमी एजीस्थिअसको, इस नये अपराधीको दण्डित करनेकेलिये प्रेरित करता है.
>
> ''मैं निष्फल अपराध पसन्द नहीं करता. मुझे तुम्हारा (एजीस्थिअसका) अपराध ठीक लगा था. क्योंकि वह एक बेहूदी - भद्दी हत्या थी. वह एक ऐसा अपराध था कि जिसमें किसी प्रकारकी सावधानी नहीं थी - मानों एक पुरातन भावनासे किया गया कृत्य. वह मनुष्यके कृत्यके बजाय एक विपत्ति ही अधिक प्रतीत होता था. एक क्षण मात्रकेलिये भी तुम मेरे विरुद्ध नहीं गये, तुमने भय और क्रोध के उन्मादमें तुम्हारे रकीब राजाको मार डाला. पर जब वह उन्माद शान्त हुआ और तुमने अपने कृत्यको घृणा

भरी दृष्टिसे देखा तो तुम्होरेलिये उसे स्वीकारना एक कठिनाई हो गई. फिर भी मुझे कितना लाभ हुआ! एक मृत व्यक्तिकेलिये बीस हजार जीवित व्यक्ति प्रायश्चित्तमलिन हो रहे हैं! हां, वह एक अच्छा सौदा पटा था...अभी वह (राजकुमार) अपनी योजना शान्तिपूर्वक विधिवत् और बड़े प्रसन्न होकर घड़ रहा है. मुझे ऐसे निश्चित्, निर्लज्ज और शान्त हत्यापराधसे क्या लाभ जो हत्योरेकी चेतनामें एक हलके गोखरूसा चिपका रहे? नहीं, मैं ऐसे अपराधको चलने नहीं दूंगा. नई पीढ़ीके ऐसे सारे अपराधोंसे मुझे तीव्र घृणा है. ये अपराध कृतज्ञतारहित-उर्वरतारहित एक सूखे हवाके झोकेसे होते हैं. हां, वह युवक तुम्हारी हत्या करेगा-जैसे कोई मुर्गकि बच्चेको काटता हो-वह खूनसे सने हाथोंको और अपने साफ दिलको लेकर बाहर निकल जायेगा. नीचा, परन्तु, तुम्हारी जगह मुझे देखना पड़ेगा. बुलाओ तुम्हारे आदमियोंको (वह तुम्हें मारनेका यत्न करें, उसकें पहले) उसे उचित दण्ड वे दे दें.''

मनुष्यको केवल पापी और ईश्वको न्यायप्रेमी क्षमावान व्यक्ति माननेके सिद्धान्तकी अन्तिम परिणति, परमेश्वरके ऐसे (अ)स्वाभाविक विकासमें होती है.

ओरेस्टस आता है-अपने पिताकी हत्याका प्रतिशोध लेता है. मुमूर्षु एजीस्थिअस उससे पूछता है कि वह अपने इस अपराधका प्रायश्चित्त करेगा कि नहीं. राजकुमार जवाब देता है कि उचित कृत्यका प्रायश्चित्त नहीं किया जाता. एजीस्थिअस कहता है, किसी भी कृत्यका औचित्य ईश्वरीय विधानपर अवलम्बित होता है, मानवकी स्वैर कामनाओंपर नहीं. राजकुमार कहता है, ''मुझे क्या परवाह परमेश्वर जीअसकी? न्याय तो दो मनुष्योके बीचकी बात है और वह ईश्वरसे नहीं सीखना है. तुम्हारे जैसे धूर्त पशु (एजीस्थिअस)को खत्म करना मेरेलिये उचित कृत्य है-अर्गोस राज्यकी प्रजाको उसकी

मानवीय महत्तासे मण्डित करना सर्वथाही उचित कृत्य है''.

जीअस भगवान् आते हैं और राजकुमारको अपने दुष्कृत्यका प्रायश्चित्त करनेकेलिये समझाते हैं. भूकम्प, सूखा, बिजली - गिराना, समुद्र - सुखाना जैसी डरावनी धमकी देते हैं. राजकुमार डरता नहीं. वह सारे दण्डोंको सहर्ष भुगतनेकेलिए तैयार है. वह कहता है कि जीअस देवताओंका शासक हो सकता है, मनुष्यका नहीं. जीअस चिढ़कर पूछता है ''तुम्हे किसने बनाया?'' राजकुमार उत्तर देता है ''तुमने, परन्तु यह मत भूलो कि तुमने मुझे स्वतन्त्र बनाया है. शायद यह तुम्हारी गलती हो सकती है. पर मनुष्य बनाया गया है स्वतन्त्र ही!'' जीअस कहता है कि मनुष्यको स्वतन्त्र इसलिये बनाया कि स्वतन्त्रतया ईश्वराराधन कर सके. परन्तु राजकुमार उत्तर देता है कि मनुष्यकी यह ईश्वर प्रदत्त स्वतन्त्रता अब ईश्वर विद्रोहमें काम आ रही है. और न ईश्वरके पास कोई उपाय है न मनुष्यके पास!

''ज्ञान-इच्छा-प्रयत्नमें स्वतन्त्र मनुष्य + शैतानकी तुलनामें निर्बल मनुष्य + ईश्वरकी दृष्टिमें पापी मनुष्य + न्यायप्रेमी दयालु परमेश्वर = विद्रोह''. एक गणितके नियमों सी ध्रुव नियति दिखलाई देती है.

ये वचन रखे गये हैं, सम्भवतः, 'जीसस' ध्वनिसाम्यवश, 'जीअस'के मुखमें. अन्यथा लक्ष्य यहां यहूदी - ईसाई परम्पराके परमेश्वर ही हैं. यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि प्राचीन यूनानी धार्मिकता आश्चर्यजनक रूपमें प्रकृतिके प्रति कृतज्ञताका भाव व्यक्त करती है. मूल पापके मूलमें वहां शैतानी शक्ति नहीं परन्तु एक भारतीय कामदेव जैसी दैवी शक्ति 'इरोज़' काम कर रही होती है. विराट् प्रकृति या जीवनके परिप्रेक्ष्यमें मानव निश्चय ही एक श्रेष्ठ आदर्श दिखलाई देता है. बादमें जब विरोधी लोग यूनानमें प्रबल हो गये तो धर्म भी भयाक्रान्त हो गया और ईसाईयतके आगमनकी तैयारियां होने लगीं.

"ईसाई आस्था प्रारम्भसे ही बलिदानकी भावनापर आधारित रही है - स्वतन्त्र्यका बलिदान, पराधीनता, आत्मोपहास और आत्मोच्छेद की वृत्ति यहां बहुत प्रबल है ...आज युरोपीय नास्तिकताका सन्दर्भ है : परमेश्वरके 'परमपिता', 'परमन्यायी' तथा 'परम कृपालु' होनेका अस्वीकार; मनुष्यके इच्छास्वातन्त्र्यको परमेश्वर पूर्णतया मान्य करना नहीं चाहता; मान्य कर भी ले तो परमेश्वरके पास मनुष्यके सहायक बन पानेकी जानकारी नहीं है. सबसे खराब बात यह है कि परमपिता परमन्यायी परमदयालु परमेश्वर अपनी बात साफ - साफ मनुष्यपर जाहिर नहीं कर पाता. वह अपने आपमें भी स्पष्ट नहीं है कि वह क्या चाहता है. ये बातें अक्सर चर्चामें प्रश्नोत्तरके रूपमें उभरती हैं और यूरोपीय ईश्ववादकी अवनतिका कारण बनती हैं. यह निश्चित है कि यूरोपमें धार्मिक भावना या भूख तो बढ़ती जा रही है परन्तु ईश्वरवादकी ओरसे जो कुछ समाधान दिया जाता है, उसे एक गहरे अविश्वासपूर्वक अस्वीकारनेकी वृत्ति भी स्पष्ट दिखलाई देती है". (बियोंड गुड एंड ईविल : नीट्शे).

पुनर्जागरण कालका चिन्तन जाने - अनजाने इसी अविश्वासके शंखनादका था. कई व्यक्तियोंने यह शंखनाद कई तरहसे किया. यहां ध्यान देने लायक बात यह है कि १. प्रारम्भिक यूनानी धर्म और दर्शन २. मध्यकालीन ईसाई धर्म और दर्शन तथा ३. आधुनिक विज्ञान और दर्शन ये तीनों ही परस्पर विरोधी स्वभाव प्रकट करते रहे हैं.

१. प्रारम्भिक यूनानी दृष्टिमें एक सौन्दर्यबोध था वह उनके धर्म और दर्शन दोनोंमें ही परिलक्षित होता था. यद्यपि धर्म और दर्शन में आपसी टक्कर वहां भी कई बार बहुत जोरदार हुई. इसके बावजूद दोनों दृष्टिकोणोंमें एक समान स्वभाव जो यूनानका अपना एक राष्ट्रीय स्वभाव था, छाया हुआ रहा. ब्रह्माण्डकेलिये प्रयुक्त 'COSMOS' शब्द ही शृङ्गारवाची भी है. ब्रह्माण्ड उनकेलिये एक कलात्मक सर्जन

था. ऐसे ब्रह्माण्डके सामने मानवकी दृष्टि, सराहनाभरी - आदरभावयुक्त विस्मयकी थी. मानो एक प्रसन्न क्रीडारत बालककी दृष्टिमें जब अपने नये खिलौनेकेलिये अकस्मात् जिज्ञासाका भाव उदित हो जाये कुछ ऐसी दृष्टिसे यूनानी चेतनाने ब्रह्माण्डको निरखना चाहा. ब्रह्माण्डको परखना भी चाहा तो एक कलाप्रेमी या कलासंग्राहक की ही दृष्टिसे. यह ठीक है कि भारतीय चेतनाकी तरह बौद्धिक विश्लेषणके बजाय ध्यान - समाधिद्वारा सत्यके साक्षात्कारकी वृत्ति नहीं थी, परन्तु यह विश्लेषण ब्रह्माण्डका एक प्राण रहित जड शवके विश्लेषण सा नहीं था. वह विश्लेषण भी एक कलाविश्लेषण था, कलाके गुण-दोषोंको परखनेकी वृत्तिसे किया गया विश्लेषण.

यह समग्र ब्रह्माण्ड मानो एक महती यूनानी नाट्यशाला(थियेटर) थी, जिसमें सभी तरहके नाटक दु:खान्त और सुखान्त चल रहे थे और यूनानी चेतना एक सम्वेदनशील दर्शककी तरह उन घटनाओमें अपना तादाम्य - अपना प्रतिबिम्ब देख पाती थी. व्यक्तिचेतना और ब्रह्माण्ड - समष्टिमें एक संवाद था तादाम्य था - शुद्धाद्वैत था.

२. मध्यकालीन ईसाई धर्म तथा दर्शन ने ब्रह्म या ब्रह्माण्ड के साथ मानवीय चेतना या अस्तित्व के बीच इस शुद्धाद्वैत या तादाम्य की स्थितिको मिटानेका भरसक प्रयास किया. ब्रह्माण्डसे कटकर - ब्रह्मसे भिन्न होकर जब हम ब्रह्माण्डका केन्द्र बनना चाहते हैं तब जडके प्रति रही तुच्छ भावना तथा मानवीय देहका जडरूप या भौतिक होना हमारे अन्दर आत्मग्लानि और अपराध का भाव जगाता है. इस भौतिक देहमें आत्मचेतनाकी अभिव्यक्ति या धरातलपर मनुष्यका अशुभ आगमन स्वर्गसे अध:पातके रूपमें चित्रित होता है. इस अध:पातका नैतिक उत्तरदायित्व पुन: हमपर थोपना आत्मग्लानिको अधिकाधिक गहरी बनाता है. स्वयं अपने और इस सृष्टिके प्रति हमारे भावोंमें एक विकराल मानसिक द्वैत उत्पन्न हो जाता है. एक ओर हम कहते

हैं कि ईश्वर सर्वकर्ता सर्वसमर्थ और एक सर्वशुभ शक्ति है और अतएव जो कुछ हमें इस ब्रह्माण्डमें श्रेष्ठ लगता हो वह हमारे कारण नहीं परन्तु परमेश्वरके कारण है. दूसरी ओर शैतानकी तुलनामें मनुष्यका निर्बल परन्तु स्वतन्त्र होना एक साथ जगतकी सारी खराबियों - बुराइयोंकी जिम्मेदारी हमपर थोप देनेके बराबर होता है. परमेश्वर सर्वसमर्थ होनेपर भी शैतानको न तो रोक सकता है और न खत्म ही कर सकता है. परम शुभ होनेके कारण अपनी सृष्टिमें किसी भी प्रकारकी शैतानियत परमेश्वर चाहता भी नहीं! फलतः अपने इस अन्तर्द्वन्द्वका 'दण्ड' परमेश्वर अपने प्रिय आदमको शैतानके साथ भिड़ाकर रोमके नीरो बादशाहकी तरह मनुष्यकी शैतानी शक्तिद्वारा पाशविक और खूंखार चीरफाड़ देखनेमें मजा लेकर दे देता है.

३. ब्रह्म या ब्रह्माण्ड और व्यक्तिचेतनाके द्वैत तथा परमेश्वर और शैतान के द्वैत की मोहनिद्रासे जगना अनिवार्य था. अतः यूरोपीय मानवको जगाने वालोंके कई नाम हमारे सामने आते हैं:

मार्टिन लूथर (१४८३ - १५४६) कोपरनिकस (१४७३ - १५४३) गेलेलियो (१५६४ - १६४२) बेकन (१५६१ - १६२६) देकार्ते (१५९६ - १६५०) न्यूटन (१६४२ - १७२७) डीड्रो (१७१३ - १७८४) डार्विन (१८०२ - १८८२) कार्लमार्क्स (१८१८ - १८८३) फ्रायड (१८५६ - १९३९) इत्यादि. मध्यकालीन अनेक मोहोंको तोड़नेका श्रेय इन्हीं महानुभावोंको प्राप्त होता है. समूचा पुनर्जागरण व्यक्ति और ब्रह्माण्ड तथा परमेश्वर और शैतान की द्वैतवादी निद्राको छोड़कर कहीं आंख खोलना, कहीं अंगड़ाई लेना, कहीं बैठना, कहीं खड़े होना और कहीं चलने लगनेकी सी बात है. जाने - अनजाने जगत् और मानवीय चेतना, जगत और जगदीश तथा अन्ततः परमेश्वर और शैतान के बीच एक तादाम्य, एक शुद्धाद्वैतकी स्थापनाकी ओर प्रयास है. आधुनिक विज्ञान और वैज्ञानिक दर्शनका यूरोपीय धार्मिक

मान्यताओंके साथ संघर्ष देखकर और इस संघर्षमें विज्ञानकी बौद्धिक विजय देखकर हमारे धार्मिक पक्षपातको आघात लगता है. कहीं न कहीं हमारे मनके अंधेरे कोनेमें कोई चोर सा छिपता हुआ प्रतीत होता है कि प्रत्यक्ष विजय प्राप्त करनेवाले विज्ञान और श्रद्धावश टिके रहने वाले धर्मके बीच हमें किस पक्षको अपनाना चाहिये? परन्तु हमारे उपनिषदोंने ''द्वैत भयका मूल है'' कहकर हमें पहले सावधान कर दिया था. अत: द्वैतखण्डन एक अन्य पक्ष है और धार्मिक सहजवृत्ति एक दूसरा ही पक्ष है. इनके विवेकको खोना नहीं चाहिये. विज्ञान धार्मिक वृत्तिका खण्डन नहीं कर सकता. वह तो खाने - पीने - सोने - जगने - घूमने - विचार करने-स्नेह करने जैसी ही एक अन्यतम सहज और स्वाभाविक वृत्ति है. आधुनिक विज्ञानने खण्डन किया है उस द्वैतवादका जिसे सहज धार्मिक वृत्तिवश यूरोपीय चेतनाने स्वीकार लिया. विज्ञान खण्डन करता है इसी द्वैतवादका जिसे हमारे यहां भी ब्रह्म और माया या जगत् और जगदीशके द्वैतके रूपमें चित्रित किया जाता है.

आधुनिक विचारोंद्वारा किये गये इसी द्वैतवादके क्रूर खण्डनका अब हमें कुछ खाका खींचना है.

पोपकी निरंकुश कल्पना, इच्छा और आज्ञा के विरोधमें सर्वप्रथम एक सशक्त वाणी मार्टिन लूथरमें मुखरित हुई. इस विद्रोहकी वाणीको दबाया न जा सका, सारे दमन और अत्याचार के प्रकारोंके बावजूद. एक दिन इस विद्रोहकी वाणीने कोपरनिकस सा वक्ता पाकर एक और रहस्य खोल दिया कि ब्रह्माण्डके केन्द्रमें पृथ्वी नहीं है! मानवीय अहम्की प्रतीक पृथ्वी अस्थिर हो गई - सूर्यके इर्दगिर्द चक्कर काटनेवाले हमारे अहम्को ब्रह्माण्ड - केन्द्रसे पदच्युत कर सूर्य उस पदपर आरूढ हो गया. अब यह मानना कठिन हो गया कि सूर्य मनुष्यके दिनको प्रकाशित रखनेकेलिये बनाया गया था. गैलेलियोको भी वैज्ञानिक रहस्य

प्रकाशनके अपराधमें दण्ड भुगतना पडा था. इधर विगत वर्षोमें उसका केस पुनः खोला गया और उसे अधिकृत रूपमें क्षमादान मिल गया! परन्तु खोती चली गई मध्यकालीन मान्यताएं वैज्ञानिक उपलब्धियोंकी ओटमें! बेकनके द्वारा जब नये तर्क शास्त्रका प्रादुर्भाव हुआ तो देकार्तेको सन्देह होने लगा—प्राचीन स्वीकृत सिद्धान्तों पर, सन्देह होने लगा समग्र ब्रह्माण्डके क्रिया कलापों एवम् नियमों पर भी. एक नवीन चिन्तनयात्राका आरम्भ बिन्दु बना सन्देह, सर्वग्रासी सन्देह— *''द ऑम्निबस द्युबितान्दम्''.*

अब ईश्वरीय शास्त्रवचनोंके आधारपर न तो ब्रह्माण्ड सिद्ध हो सकता था और न मनुष्यका उसमें अस्तित्व. स्वयम् ईश्वरीय शास्त्र भी सन्दिग्ध होने लगे और ईश्वरीय सत्ता भी. सन्देहके इस विस्फोटमें जो ढह न सका वह था: सन्देहकर्ता मनुष्यका अस्तित्व. यदि स्वयं मैं नहीं तो सन्देह किसे हो रहा है? मैं सन्देह करता हूं अतः मेरा अस्तित्व है. शास्त्रप्रामाण्यके भवनमें भी इसी सन्देह विस्फोटका धुआं भर जानेसे ईश्वर भी अब सन्देहकर्ताके अस्तित्वके खण्डहरमें छिपनेकी कोशिश करने लगा, *कोजीतो एर्गो सुम,* मैं सन्देह करता हूं अतः मेरा अस्तित्व है. मेरे अस्तित्वकी धारणा जितनी स्पष्ट है उतनी स्पष्टता यदि ईश्वरकी धारणामें भी दिखलाई पड़ती हो तो ईश्वरका अस्तित्व भी सम्भव है.

इस खण्डहरके नव निर्माणमें आस्थाके लचीले नियम काममें नहीं लाये गये, किन्तु तर्कके कठोर नियम ही लाये गये. फलतः मनुष्यकी चेतनामें ब्रह्माण्ड एवम् प्राणिजगतका चित्र भी एक स्वतःचालित यन्त्रकी सी कठोरता लिये हुए उभरा. स्वतःचालित यन्त्र जब स्वयमेव चल सकता है तो प्राकृतिक नियम क्यों स्वतःचालित नहीं हो सकते? न्यूटनके हिसाबसे बिना किसी चेतन सहायकके कोई भी जडपिण्ड तब तक चलता रहता है जब तक उसके मार्गमें कोई अवरोध

न आ जाये. पृथ्वी भी सूर्यके इर्द गिर्द स्वतः घूम रही है और कोई व्यवधान उपस्थित न होनेपर घूमती ही रहेगी. ब्रह्माण्ड एक स्वतःचालित यन्त्र है इसे चलानेवाली शक्तिकी कोई अपेक्षा नहीं "The prime mover" की भी अपेक्षा नहीं. वैज्ञानिकोंके अनुसार यह ब्रह्माण्ड फिर भी Chaos - घांघली नहीं है परन्तु Cosmos एक नियमबद्ध स्वतःचालित तन्त्र है. हां, बिना किसी चालकके यह ब्रह्माण्डकी गाड़ी चल रही है, पर कहां पहुंचायेगी यह हमें, इसका गन्तव्य स्थल कौनसा है? प्रयोजनवश चलना चेतन स्वभावकी प्रक्रिया है. ब्रह्माण्ड तो स्वयमेव चल रहा है अतः इसके चलनेमें न तो कोई प्रयोजन है और न यह कही पहुंचना या पहुचाना ही चाहता है. इसकी नियति है केवल चलना, नियमबद्ध चलना, क्योंकि नियमबद्धता और गतिशीलता यह जडपिण्डका स्वभाव है. जड यहां चेतन बन गया और चेतन बन गया जड. जड और चेतन में द्वैत समाप्त हो गया! वैज्ञानिकोंके ब्रह्माण्डमें व्यवस्था (Order) है परन्तु प्रयोजन (Purpose)का विचार अब फैशनेबल नहीं रहा.

परमेश्वर वैज्ञानिकोंसे पूछ रहा था "क्या मैं आपकी कुछ सहायता कर सकता हूं? (May I help you)" और वैज्ञानिक कहना चाहता है. "धन्यवाद! हमारा स्वयञ्चालित ब्रह्माण्डयन्त्र ठीकसे काम दे रहा है! (No thanks! It is O.K.)". डीड्रोके विश्वकोषमें एक भी लेख परमेश्वरपर नहीं लिखा गया था. फ्रांस नरेश परेशान था कि ऐसा क्यों! मगर डीड्रोका उत्तर बहुत संक्षिप्त था, "आवश्यक न था!"

हम सभी इस निष्प्रयोजन चलते यन्त्रपर सवार हो गये हैं. पता नहीं कहां जाना है. पता नहीं यह हमें कहां ले जा रहा है. तथ्य हमें केवल यही अवगत है कि यह स्वतः चल रहा है. निकट दूरीपर कहीं कोई टकराव नहीं, दुर्घटनाकी सम्भावना नहीं. सभी कुछ आसपासमें स्वतःचलित यन्त्रसा निश्चित नियमानुसार चल

रहा है, क्योंकि चलना स्वभाव है - परन्तु कहीं पहुंच गया तो रुक जायगा - जीवन प्रणाली भी रुक जायगी - रुक जाना इस स्वचालित यन्त्रके सर्वनाशकी निशानी होगी.

''...आखिर ऐसे निरुद्देश्य भागते यन्त्रमें अपने प्रिय आदमकी सन्ततिको उस परमदयालुने क्यों बिठाया होगा?'' दुर्घटनाकी आशङ्कासे त्रस्त मानवीय चेतना पूछना चाहती थी. मगर डार्विनने बीचमें ही टोक दिया, ईश्वर नहीं बिठाता. तुमने यन्त्रमें सवार बने रहनेको दुर्धर्ष संधर्ष किया. तुमने संघर्ष ठाना, तुम संघर्षमें विजयी हुए, तुम जीवित रहे, अतः तुम स्वयम् बैठे हो. जो लड़ नहीं पाये वे जीत नहीं पाये, जो जीतते नहीं वे जीवित रहनेके अधिकारी नहीं हैं! जो मर गये उनके अवशेष अश्मीभूत (Fossils) हो गये. यदि भविष्यमें कभी तुम भी हार जाओगे तो तुम्हारे अवशेष भी पथरा जायेंगे. निरन्तर संघर्ष तुम्हारे अस्तित्वकी पहचान है. मनुष्य एक संघर्षशील पशु है अतः उसका अस्तित्व है; मैं संघर्ष करता हूं अतः मेरा अस्तित्व है ''Struggle for survival''. विकास और जीवन का रहस्य है: संघर्ष. मानवीय अस्तित्व एक लम्बे संघर्षतन्त्रका जड विकासवादी जाल निकला!

अब आदमका मॉडल परमेश्वर नहीं था किन्तु 'वानर' ही थोड़ेसे सीधे खड़े होकर चलनेके प्रयत्नमें 'नर' बन गया! ''मनुष्य एक तार्किक पशु है'' का तर्क विकासके विविध क्रमोंमें न जाने कहां खो गया! मानवीय आत्माकी अमरताका चिन्ह धूंधला पड़ने लगा. अमर आत्मा मरने लगी! कोई बता भी न पाया कि अपने विकास क्रममें - बन्दर - ओस्टेलोपिथकेन - पिथकेनथ्रोपस - हीडलबर्गमैन - नीएन्डरथाल - क्रोमाग्नान मेंसे सर्वप्रथम, आत्मधारी वानर या नर कौन था! कौन प्रथम विचारशील बन्दर था, आदम किस बन्दरकी औलाद था या किस बन्दरियाको शैतानने भरमा दिया था?

विज्ञानके अनुसार बन्दरमें तर्कशक्ति न तो आत्ममूलक है और न परमात्ममूलक. तर्कशक्तिका प्रादुर्भाव प्रकृति एवम् अन्य हिंस्र पशुओंके साथ चले आते, अमीबासे मनुष्य तकके विविध विकास सोपानोंके, क्रूर संघर्षका फल था, जिसे किसी एक आदमीने नहीं, अपितु अनेक प्राणियों, अनेक वानरोंकी जातियों एवं अनेक प्रागैतिहासिक मानव समूहोंने खाया. आत्मरक्षणके विविध उपायोंको खोजनेका तर्क मानवेतर प्राणियोंमें भी चलता ही रहा है.

इस तरह ब्रह्माण्डमें केवल मनुष्य ही सामाजिक प्राणी है, ब्रह्माण्डमें केवल मनुष्य ही विचारशील प्राणी है, ब्रह्माण्डमें केवल मनुष्य ही पापशील प्राणी है, ब्रह्माण्डमें केवल मनुष्य ही सन्देहशील प्राणी है—से अब स्वतःचलित ब्रह्माण्डकी यन्त्रवादी व्याख्याके अनुसार तथा जीवनार्थ संघर्ष (Struggle for suvival)के क्रूर विकासवादी नियमोंके अनुसार मानवीय चेतना या अस्तित्वका बोध इस निरुद्देश्य भागते हुए यन्त्र पर अधिकाधिक अधिकार (Control) प्राप्त करने या प्रकृतिके साथ संघर्षरत रहनेमें ही निहित होने लगा. समूचा वैज्ञानिक विकास प्रकृतिके बारेमें रहे इस हीन भाव और निष्प्रयोजन जड प्राकृतिक नियमोंको अपने वशमें लानेकी एक यौद्धिक महत्वाकांक्षामें रहा हुआ है. न्यूटन और डार्विन के सिद्धान्तोंने जगत् और जगदीश का भेद तो मिटाया पर जो स्वरूप जगदीशका उन्हें विरासतमें मिला था वह जगदीशके बजाय जगतके बारेमें माना जाने लगा.

विद्रोहवाद जैसे ईश्वरके प्रति मानवके चले आ रहे विद्रोहभावमें मानवका अस्तित्व खोजता रहा, ठीक उसी तरह यहां अब हम इस प्रयोजन ब्रह्माण्डके क्रूर एवं जड नियमोंके साथ मानवीय चेतनामें छिपे संघर्षभावमें अपना अस्तित्व खोजने लगे. मनुष्येतर प्राणी भी संघर्ष तो कर रहे हैं, परन्तु उनका संघर्ष केवल जीवनकेलिये है, वह एक प्रतिरक्षात्मक (Defensive) संघर्ष है. जबकि डार्विनके विकासवादने

एक नवीन आशा हमें प्रदानकी कि प्रकृतिके साथ मनुष्यका संघर्ष अब आक्रामक (Offensive) स्तरपर पहुंच गया है अतः अब केवल 'जीवन'केलिये नहीं अपितु जड प्रकृतिपर 'विजय' प्राप्त करनेकेलिये संघर्ष होना है. मनुष्येतर प्राणियोंपर एक वानर समूहकी विजयके इतिहासने प्रकृतिपर भी विजय प्राप्त करनेकी उद्दाम भावनासे वैज्ञानिकोंको भर दिया! अब यह संघर्ष एक निर्णायक मोड़पर आ चुका है. यदि इस स्वचालित ब्रह्माण्डयन्त्रको मनुष्य अपने काबूमें न ला पाया तो यह मनुष्यको खत्म कर देगा. न्यूटन और डार्विन का ब्रह्माण्ड, परन्तु, बहुत छोटा था और आदमी अपनी कल्पनाकी दौड़में विजयी होनेके अदम्य उत्साहसे भरा हुआ था. उसने अपना मोर्चा साधा पृथ्वीके इस सुरक्षित किलेमें. ऊंची पहाडोंकी चोटियों पर उसने भीमकाय दूरवीक्षण यन्त्र बैठाये, अपनी शत्रु प्रकृतिसेनाकी संख्या (Quantity) और गुण (Quality) का अन्दाज लगानेकेलिये. अकस्मात् एक दिन उसे पता लगा कि जिन प्रकाश पिण्डोंकी गणना वह एक क्षुद्र तारेके रूपमें कर रहा था वह तो एक अन्य स्वतन्त्र ब्रह्माण्ड है! और ध्यानसे इधर-उधर देखने पर ऐसे एक नहीं अनेक ब्रह्माण्ड निकले! मनुष्य पुनः विजयोत्साहके शिखरसे लुढककर धरातलपर आ गिरा! कहीं ब्रह्माण्डके छोरपर दूसरी और मुझसे भी अधिक विकसित समर्थ प्राणी तो नहीं जो मुझे कभी यहां आकर जीत लें! जिन दूरियोंपर मुनुष्यका जाना ही सम्भव नहीं उन सुदूर ब्रह्माण्डके क्षेत्रोंपर मनुष्यके विजय प्राप्त करनेकी आशा घूमिल होने लगी! प्रकृतिपर विजय - अभियानकेलिये चली मानव चेतना अभी अधिक दूरी तय करनेसे पहले ही जबर-उल-तरीक योद्धाकी तरह सौरमण्डलके छोटेसे जिब्रालटर टापू पर रो रही है कि मेरे विजय अभियानकेलिये भूमि नहीं बची!

यह स्वयंचालित यन्त्र कल्पनातीत विशाल दिखलाई पड़ने लगा कि जिसे अपने अधीन करनेकी बात बचकानी लगती है. और इस

करोडों प्रकाशवर्ष विस्तार वाले ब्रह्माण्डमें हमारे सूर्यकी जब कोई गणना नहीं, हमारी पृथ्वी एक रजकणकी भी हैसियत न रखती हो तो वानरोद्भूत यह तार्किक पशु कब तक संघर्ष कर पायेगा, कितना संघर्ष कर पायेगा! इस विशाल ब्रह्माण्डसागरमें अपनी पृथ्वीकी छोटीसी डोंगीपर सवार यह मानव - मछुआरा असहाय एकाकी संघर्षरत हो गया. यह अपनी मछली पकड़ना चाहता है पर निश्चित नहीं कि पकड़ी हुई मछली - वैज्ञानिक उपलब्धिको वह सुरक्षित रख पायेगा कि नहीं. यह भी निश्चित नहीं कि वह एकाकी इस संघर्षमें विजयी हो पायेगा कि नहीं पर अर्नेस्ट हेमिंग्वे हमें आश्वस्त करता है "मनुष्य पराजयकेलिये नहीं जन्मा है. मनुष्यको खत्म किया जा सकता है, पराजित नहीं. (But man is not made for defeat. A man can be destroyed but not defeated)". मानवकी सारी उपलब्धियोंको खत्म किया जा सकता है पर मानवके स्वप्नोंको नहीं! हेमिंग्वेका बूढ़ा मछुआरा अपनी पकड़ी हुई मछलीके क्रूर शार्कोंकि द्वारा चट किये जानेके बावजूद निश्चिन्त लेटा हुआ - आफ्रिकाके शेरोंके साथ युद्धके सपने देखता है. इन सपनोंको कोई खत्म नहीं कर सकता!

संघर्षमें थकानकी घड़ियोंमें इस बूढे मछुआरेको लगता था कि उसे अकेले ही इस संघर्षमें नहीं कूदना चाहिये था. (ज्ञान या वयमें) वृद्ध मछुआरा अपनी डोंगीसे भी बड़ी मछलीको धीरजयुक्त परीक्षण - निरीक्षण और लम्बी (साधनोंकी) रस्सीसे पकड़ लेता है, परन्तु सागरकी क्रूर शार्क मछलियोंसे सुरक्षित रख सके इतनी बड़ी डोंगी ही उसकी नहीं है! वह महामत्स्यकी उपलब्धि व्यर्थ जाती है. मछुआरेको लगता है, इतनी दूर अकेले आकर उसने अच्छा काम नहीं किया. स्वयंके हितमें भी नहीं ओर अपनी उपलब्धिके हितमें भी नहीं. युगानुयुग संघर्ष जर्जरित मानवचेतनाको अपने वार्धक्यकी अनुभूति कचोटने लगती है. वह थक रही है, बाह्य और आंतरिक रूपसे! (I should'nt have gone out so far, oldman said.

Neither for you nor for me. I am sorry... you are tired oldman! he said, you are tired inside.)

संघर्षका नियम तो केवल एक यही है कि मारो या मरो. हर बड़ी मछली हर छोटी मछलीको निगलना चाहती है. संघर्षका व्रत एक महाहिंसाका अनुष्ठान है. जो कर पाता है वही जीवनाधिकारी है. जो नहीं कर पाता सो मिट जायेगा. परन्तु सीमा? इस अनन्त विस्तारवाले ब्रह्माण्डमें संघर्षशील मानवचेतनाको संघर्षसीमा दिखलाई नहीं पड़ सकती. जिस दूरी तक मानव आ पहुंचा है वहांसे सुरक्षित लौट पाना भी अब एक समस्या है और बूढा मछुआरा कहता है "तुमने अपने भाग्यके साथ खिलवाड़ किया इतनी दूर निकल आकर! (No he said you violated your luck when you went too far aside)". उसे लौटना पड़ेगा. पर क्या लेकर वह लौटेगा? थके पिटे मानवकी सारी उपलब्धिको विशाल सागरकी क्रूर शार्क रातके अंधियारेमें चट कर जायेंगी - निहत्था बूढा आदमी कुछ कर भी नहीं पायेगा. (But what can a man do against them in the dark without a weapon?) हताश वह सागरमें थूक देता है, कहता है "खा जाओ! और सपना देखो कि तुमने एक मनुष्यका वध कर दिया."

क्या सचमुच मनुष्यको एक दिन खत्म होना पड़ेगा? वैज्ञानिक कहते हैं, सूर्य एक दिन ठण्डा पड़ जायेगा. आन्तरिक दबावसे उसमें विस्फोट हो जायेगा ... और फिर ... मानव इससे बहुत पहले खत्म हो चुका होगा ... या अन्य ग्रहोंपर एकाध कोई भाग पायेगा कि नहीं. कुछ भी निश्चित नहीं. क्योंकि निकटतम तारा सौर लोकसे बाहर निकलने पर चार प्रकाश वर्षकी दूरी पर है!

पास्कल कहता है कोई चिन्ताकी बात नहीं "यदि ब्रह्माण्ड

मनुष्यको कुचल भी देगा तो भी मनुष्यको मारनेवाले ब्रह्माण्डके बजाय मनुष्य ही श्रेष्ठ है. क्योंकि मनुष्यको अपनी मृत्युका बोध सम्भव है. परन्तु ब्रह्माण्डको अपनी विजयका बोध सम्भव नहीं (When the universe has crushed him man will still be noble than that which kills him, because he knows that he is dying and of its victory the universe knows nothing)."

परन्तु संघर्ष यदि केवल जड ब्रह्माण्डके साथ होता तो मानवकी चेतनामें मृत्युबोध भी उसके अस्तित्वका चिह्न बन जाता "मुझे मृत्युबोध है अतः मेरा अस्तित्व है!" संघर्ष यदि एक कदम आगे बढकर परस्पर मानवमें ही घटित हो जाये तो श्रेष्ठताका बोध कैसे सम्भव हो पायेगा?

मार्क्स कहता है कि मानवीय इतिहासकी भी एक द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी व्याख्या हो सकती है. यदि जड प्रकृतिके नियमोंसे ही संघर्षमें हमारे अस्तित्वकी पहचान होती तो बात सरल थी. हमें तो मनुष्य-मनुष्यके बीच संघर्ष करना है. मानवीय इतिहास वर्गसंघर्षका इतिहास है. सामन्तवादी वर्गके साथ पूंजीवादी वर्गका संघर्ष औद्योगिक क्रान्तिको तथा पूंजीवादी वर्गके साथ श्रमिक वर्गका संघर्ष समाजवादी क्रान्तिको जन्म देता है. मार्क्सके हिसाबसे यही नियति मानव इतिहासकी होनी चाहिये. जिस रोज सम्पूर्ण विश्व सामन्तवाद - पूंजीवाद - समाजवादके क्रमानुसार अन्तमें साम्यवादी व्यवस्थाको अपना लेगा उस रोज संघर्ष खत्म हो जायेगा. परन्तु हिन्दी फिल्मी कहानीकी तरह "और दोनोंका ब्याह हो गया और वे सुखी हो गये" जितनी मानवीय इतिहासकथा सरल नहीं लगती! जिस युद्धको मार्क्स पूंजीवादीकी देन मानता था वह युद्ध आज दो साम्यवादियोंमें भी संभव हो गया.

संघर्ष, वर्गसंघर्ष ही नहीं अपितु समान वर्गमें भी सम्भव है.

संघर्ष तो एक व्यक्तिके चेतन, अवचेतन और अचेतन मनमें भी फ्रायड सम्भव मानता है. संघर्ष तो सर्वत्र है, पर संघर्षका प्रयोजन स्पष्ट न होनेपर विवेकका प्रयोग सम्भव नहीं रह जाता. बर्ट्रेड रसेल् कहते हैं कि

> "Mankind, owing to science and scientific technique, are unified for evil but are not unified for good. They have learnt the technique of worldwide mutual destruction but not the more desirable technique of worldwide cooperation" (Protraits from Memory)" अर्थात्, विज्ञान और वैज्ञानिक तकनीकी के विकासद्वारा जो कुछ बुराइयां हो सकती हैं उनकेलिये तो मानव संघटित हो गया है परन्तु अच्छाइयोंकेलिये नहीं. वह यह तो सीख गया है कि विश्वव्यापी विनाश किन बातोंसे सम्भव है, परन्तु यह नहीं सीख पाया कि विश्वव्यापी सहयोग कैसे सम्भव है.

अतः सेम्युअल बैकेटका मनुष्य प्रतीक्षा कर रहा है एक 'गोदो'की, जो कुछ भी हो सकता है: स्वर्ग, परमेश्वर, शोषणरहित समाज, स्वतन्त्रता इत्यादि-इत्यादि. इनके मसीहा रोज-बरोज आते हैं और गोदोपर अपने एकाधिकारका दावा भी करते हैं. आश्वासन देते हैं मनुष्यको "आज सन्देश लेकर हम आये हैं और कल गोदो आयेगा". मनुष्य इस ब्रह्माण्डमें-इस पृथ्वीपर प्रतीक्षा कर रहा है, 'गोदो'की! वही केवल प्रतीक्षा कर रहा है अतः उसका अस्तित्व है "मैं 'गोदो'की प्रतीक्षा करता हूं इसलिये मेरा अस्तित्व है". प्रतीक्षा...प्रतीक्षा.. और प्रतीक्षा! कब तक प्रतीक्षा?

हमने ब्रह्माण्डमें ब्रह्म और माया (या शैतान)का द्वैत घड़

लिया. जगत् और जगदीश के भेदका परिणाम श्रेयस्कर नहीं हुआ. बृहदारण्यक उपनिषद् (१।४।१-५) इस तथ्यको बहुत अच्छे ढंगसे अभिव्यक्त करता है—

"पहले केवल परमात्मा ही था. वह सोचने लगा कि मेरे अलावा और कोई है ही नहीं. उसने "मैं हूं" कहा और वह 'अहं' नामधारी हो गया. आज भी पूछनेपर व्यक्ति 'मैं' कहकर ही दूसरा नाम—यज्ञदत्त, देवदत्त इत्यादि—बतलाता है. क्योंकि सर्वप्रथम हुआ अतः उसने सभी पापोंको जला दिया. पापोंको पहले जलाया अतः उसे 'पुरुष' कहा गया. जो इससे पहले होना चाहता है वह भी सारे पापोंको जला देता है. वह भयभीत था अतएव आज भी एकाकी व्यक्ति भयभीत रहता है. उसने सोचा कि जब मेरे अलावा और कोई है ही नहीं तो मैं किससे भयभीत हूं. और उसका भय निकल गया. आखिर किससे डरना था? सारा भय अपने अलावा किसी अन्यके कारण होता है. परन्तु वह एकाकितया रमण नहीं कर पाता था. अतएव आज भी एकाकी कोई रमण नहीं कर पाता. उसे दूसरेकी इच्छा हुई. उसने स्वयं अपनेको दो भागोंमें बांट लिया, पति और पत्नी बन गया. अतः पुरुष केवल अधूरा है. यह अधूरापन स्त्रीसे ही पूरा किया जा सकता है. उस स्त्रीके साथ मैथुनसे मनुष्य उत्पन्न हुये. उस स्त्रीने सोचा कि मुझे उत्पन्न कर मेरे साथ ही यह मैथुन करता है तो मैं छिप जाऊं. वह गाय बन गयी. तब वह पुरुष वृषभ बन गया. दोनोंके मैथुनसे फिर भी अनेक बछड़े पैदा हुये. तब वह घोड़ी बन गयी और वह पुरुष तब घोड़ा बन गया. इसी प्रकार गधी - गधा, बकरी - बकरा, अवि - मेष इस तरह जितने रूप स्त्री लेती गयी उतने रूप पुरुष भी लेता गया और मैथुनी सृष्टि उत्पन्न हुयी. चींटी तककी सारी सृष्टि रची गई. उस पुरुषने सोचा मैं ही यह सारी सृष्टि हूं, मैंने

ही यह सारी सृष्टि रची है. वह स्वयं सृष्टि बन गया. जो इस सृष्टिके रहस्यको जान लेता है वही सृष्टिमें बन जाता है.''

पूरी सृष्टिमें कहीं कोई पाप - माया - शैतानकी कारस्तानी नहीं, कहीं कोई ग्लानि नहीं. सारी सृष्टि एक सहज लीला है, प्रयोजनरहित. एकका अनेक रूपोंमें परिणत होना, स्वयंका स्वयंके साथ एक आंखमिचौनीका खेल है. खेल अकेले सम्भव नहीं अतः दो हिस्सोंमें अपने आपको विभाजित करना पड़ता है. एक हिस्सा छिप जाता है और दूसरा हिस्सा उसे खोज लेता है, सृष्टिक्रम - सृष्टिक्रीडा आगे चलती रहती है. जो इस छिपनेवाले और खोजनेवाले के द्वैतमें एक मौलिक अद्वैतको पहचान जाता है, वह सारी सृष्टि और उसके कारणके बीच तादात्म्यको पहचान जाता है. वही इस सृष्टिमें निर्भय रमणका अधिकारी है. 'तादात्म्य'का अर्थ है दोमें अभेद. एकाकीके अभेदमें रमण सम्भव नहीं, अतः यदि शैतान और भगवान्, माया और ब्रह्म अथवा जगत् और जगदीश में कोई अमिट भेद खड़ा किया गया तो वह भेद ही भयका - संघर्षका, एक दूसरेके प्रति अपराधका, पापका - कुण्ठा और त्रासका कारण बन जायेगा. परन्तु एकके अनेक होनेमें भय और अरति दोनोंका समाधान मिल जाता है. केवल द्वैत और केवलाद्वैत के झगड़ेका भी समाधान शुद्धाद्वैतमें मिल जाता है.

ऐसे ब्रह्माण्डमें ब्रह्मको खोजना बहुत आसान है. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य इस सन्दर्भमें दो महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तसूत्र हमें प्रदान करते हैं.

१. जगतकी ओर जब ज्ञानकी दृष्टिसे देखो तो साफ - साफ यह पहचाननेकी कोशिश करो कि ब्रह्म ही जगतरूप हुवा है अतः जगत् भी ब्रह्मरूप है. स्नेहकी दृष्टिसे देखना हो तो एकाग्र होना पड़ेगा. स्नेह यदि फैल जाता है तो वह स्नेह नहीं रह पायेगा, ज्ञान बन जायेगा. ज्ञान यदि सिमट गया तो स्नेह बन जायेगा (माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु

सुदृढः सर्वतोऽधिकः स्नेहः). अतः ब्रह्मसे स्नेह करना है तो जगतको - ब्रह्माण्डको - ब्रह्मके व्यापक अक्षररूपको छोडदो, वह तो गणितानन्द है जिसे ज्ञानदृष्टिसे प्राप्त किया जा सकता है. यदि अगणितानन्द हांसिल करना है तो स्नेहदृष्टिसे ब्रह्मको देखना पड़ेगा, ज्ञानको सिमटकर एकाग्र - एकान्त होना पड़ेगा.

२. अगणितानन्द ब्रह्मके प्रियतम रूपकी प्राप्तिकेलिये चित्तमें भगवत्प्रेम सम्पादित होना चाहिये. प्रेमसंवलित चित्तसे भगवानको खोजनेकी आवश्यकता नहीं होगी क्योंकि स्नेहदृष्टिके लाभमात्रसे भगवानका छिप सकना सम्भव नहीं रह पायेगा. चित्तमें भगवत्प्रेम सम्पादित होना चाहिये. प्रेमसंवलित चित्त सर्वत्र स्वयमेव विद्यमान भगवानको खोज लेता है. भक्त्याविष्ट चित्त स्वयमेव भगवानको ग्रहण करता है[१]. हमें लोकमें जो कुछ भी आनन्द अनुभूत होता है वह परमात्माके परमानन्दका अंश है. मनुष्यके विभिन्न विषयानन्दोंसे लेकर ब्रह्मानन्दपर्यन्त जो भी परिगणित आनन्द हैं वे परमात्माके भजनानन्द - स्नेहानुभवकी आंशिक अभिव्यक्तियां हैं. जिसे जितना अंश आनन्द प्रदान किया गया है उसे उतना अनुभूत होता है. पुत्र, पत्नी, घर, धन, वैभव आदि सभी विषयोमें हमारे स्नेहका - सुखका स्रोत आत्माकी ओरसे प्रवाहित होता है. ये (प्रत्येक) व्यक्तिगत आत्मायें उस परमात्माकी आंशिक अभिव्यक्तियां हैं. अतः स्वयं अपनी आत्मामें हमारे स्नेह - सुखका स्रोत परमात्माकी ओरसे बह रहा है. और स्नेहसरितामें इसी स्रोतकी तरफ एक बार पुनः तैरा जाय तो उस व्यापक, अक्षर, अचिन्त्य तत्त्वको अपने स्वभाव और स्नेहभाव प्रयुक्त आकार दिया जा सकता है. इस आकारको काल्पनिक मानना स्नेहके सामर्थ्य एवं ब्रह्मके सामर्थ्य के साथ अपरिचय है.

अपने "Process and Reality" नामक ग्रन्थमें ए. एन्. व्हाइट्हेड् कहते हैं—

Coupled with God's primordial nature is his consequent nature. His consequent is derivative. It expresses the reaction of the world upon God. The consequent nature is thus in part the subject to process of actualization in the actual world. As consequent God is conditioned by the world. The primordial nature is free, complete, eternal, actually deffcient and unconscious.....". परमेश्वरके दो प्रकारके स्वभाव कहे जा सकते हैं: १. मौलिक स्वभाव और २. परिणत स्वभाव. परिणत स्वभाव व्युत्पन्न होता है, जगतकी जगदीशके प्रति प्रतिक्रिया (Reaction) में अभिव्यक्त होता है. इस तरह परिणतस्वभाव अंशतः एक वास्तविकतया आर्विभावकी प्रक्रियाका अङ्ग होता है. इस वास्तविक जगतमें परिणत स्वभावके रूपमें परमेश्वर विश्वोपाधिक है. ईश्वरका मौलिक स्वभाव निरपेक्ष, पूर्ण, सनातन किन्तु वास्तविकतया अपूर्ण और अचेतन होता है.

कुछ इसी तरह व्यापक निराकार ब्रह्म भक्तोकें अनुसार आकार ग्रहण करता है. यह आकार निरपेक्ष नहीं परन्तु भक्तभावसापेक्ष सर्वथा और वास्तविक होता है, कल्पित या मिथ्या नहीं.

इस तरह हमने देखा कि शुद्धाद्वैत न तो मनुष्यको ब्रह्माण्डका केन्द्र या प्रयोजन मानता है और न उसे केवल पापी या हीन ही. उसके सामर्थ्य, ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, कृति एवं फल सबमें ब्रह्म अनुगत है. सब कुछ ब्रह्म है, सब कुछ ब्रह्मकी इच्छासे हो रहा है, सब कुछ उस परब्रह्म परमात्मा भगवान् कृष्णकी लीलाकी आंशिक अभिव्यक्ति है. समग्र जड पदार्थ ब्रह्मकी परम सत्ताकी आंशिक अभिव्यक्ति

है. चैतन्य चाहे जीवानुगत हो या वृक्षगत, जलचरगत हो या स्थलचरगत — पशु, पक्षी, सरीसृप, मनुष्य सभीमें उस परमचेतनका ही चैतन्यांश प्रकाशित हो रहा है. सारा प्राणिजगत् किसी अव्यक्त आनन्दकी अनुभूति करता ही है **"को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्?"**. अतएव जीवित है और जीवित रहना चाहता है. मैं आनन्दकी अनुभूति करता हूं अतः मेरा अस्तित्व है!

टिप्पणी :

१. चित्ते भगवत्प्रेम सम्पादनीयं, ततः प्रेमसंवलितं चितं सर्वत्र स्वयमेव विद्यमानं भगवन्तं विषयीकरोति, भक्त्याविष्टं चित्तं भगवन्तं गृहणाति. सुबो.

धर्म दर्शन विज्ञान और कला में रसदृष्टिका पक्ष

(रसो वै सः)

:: भूमिका ::

स्थूलके भीतर रहनेवाले सूक्ष्मको जान पानेको मानवकी बुद्धिमें चलता मन्थन दर्शन या तत्त्वज्ञान (Philosophy) होता है. सूक्ष्मको जान लेनेके बाद बुद्धिको जंचते सांचेमें स्थूलको ढालनेका मन्थन विज्ञान (Science) होता है. स्थूलके भीतर रहनेवाले सूक्ष्मकी अनुभूति पा लेनेको मानवके हृदयकी चहल-पहल धर्म (Religion) होता है. सूक्ष्मकी अनुभूतिके अव्यक्त आनन्दको अभिव्यक्त करनेको हृदयको लुभानेवाले सांचेमें स्थूलको गढ़नेकी चहल-पहल कला (Art) होती है.

दर्शन सूक्ष्मको जाननेवाला द्रष्टा प्रकट करना चाहता है. धर्म सूक्ष्मका आनन्द ले पानेवाला द्रष्टा प्रकट करना चाहता है. विज्ञान बुद्धिको जंचते सांचेमें स्थूलको गढ़नेवाला स्रष्टा प्रकट करना चाहता है. काव्य आदि कला हृदयको जंचते सांचेमें स्थूलको गढ़नेवाला स्रष्टा प्रकट करना चाहती हैं.

सूक्ष्म और स्थूल, जानना और आनन्दित होना, मन्थन और चहल-पहल जैसे विरोधाभासोंकी बाबतमें बृहदारण्यकोपनिषद्में एक महान् वैचारिक सूत्र उपलब्ध होता है. उपनिषद् कहता है : **''द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैव अमूर्तं च, मर्त्यं च अमृतं च, स्थितं च यत् च, सत् च त्यं च''** (बृह.उप.२।३।१) अर्थात् ब्रह्म(परमात्मा)के दो रूप होते हैं — मूर्त-अमूर्त, मर्त्य-अमृत, स्थायी-संचारी और प्रत्यक्ष-परोक्ष.

सूक्ष्म-स्थूल, मूर्त-अमूर्त, जड़-चेतन, नश्वर-अनश्वर, सुख-दुःख, द्वैत-अद्वैत आदिके आपसी विरोधाभासोंकी बात सुन कर जब महान् तत्त्व-चिन्तकोंकी भी मति चकरा जाती है, उन्हें ऐसे सभी विरोधाभास मिथ्या-मायिक-भयंकर लगने लगते हैं, तभी उपनिषद् कितनी सहजता संजो कर ऐसे परस्पर विरोधी लगनेवाले दोनों रूपोंको एक ही ब्रह्मके विभिन्न दो रूपोंकी तरह बिरदा देते हैं **''द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे!''**

एक प्रश्न और उपनिषद् उपस्थापित करता है : मूर्त-अमूर्त जैसे विविध विरोधाभासी रूप जो ब्रह्मके केवल दो रूप ही हों तो स्वयं ब्रह्मको क्या या कैसा मानना चाहिये?

इस गूढ़ प्रश्नका समाधान प्रकट करते समय उपनिषद् मानवके हृदय या बुद्धि मेंसे किसी एकको फुसलाना या फेंक देना नहीं चाहते. अतएव अद्भुत साहजिकताके साथ वह कह पाते हैं : **''अथात आदेशो 'न' इति-'न' इति' — 'नहि एतस्माद्' इति 'न' इति अन्यत् परम् अस्ति!''** (तत्रैव) केवल मूर्तको ब्रह्म मान लेना उपनिषदोंको उचित नहीं लगता, इसी तरह केवल अमूर्तको ही ब्रह्म मानना भी उसे रुचता नहीं है, अतएव तो वह **''न'इति-'न'इति!''** कहना चाहते हैं. इसी तरह केवल मर्त्यको अथवा केवल अमृतको ही ब्रह्म नहीं मान लेना चाहिये. केवल कूटस्थ-अविकारीको अथवा केवल आगमापायी-विकारीको ही सत्य मान लेना भी उसे अनभिप्रेत है. केवल सत् (व्यक्त-प्रत्यक्ष) को अथवा केवल त्यत् (अव्यक्त-परोक्ष) को ही कभी सत्य उपनिषद्के अनुसार माना नहीं जा सकता है.

तब प्रश्न उठता है कि किसे सत्य माना जाये? उपनिषद् समाधान प्रकट करते हैं : **''अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यम् इति''** (तत्रैव). जब सत् (व्यक्त) और त्यत् (अव्यक्त) दोनों मिल कर एककाय जहां बन पाते हों, वहीं **''सत्+त्यत्=सत्य''** प्रकट हो पाता है.

सत्से त्यत्को अथवा त्यत्से सत्को पृथक् कर निहारनेपर कभी भी सत्य उपलब्ध नहीं हो पाता!

इसी तरह मूर्त-अमूर्त, मर्त्य-अमृत और स्थायी-संचारी के युगलोंको भी एक-दूजेसे जुदा करके कुछ समझना चाहेंगे तो उपनिषद् हमें आदेश दे देगा : ''अथात आदेशो 'न'इति-'न'इति!''

ऐसे विविध विरोधाभासोंकी समग्रता या समष्टि ही ब्रह्म हो पाती है. समग्र तत्त्व सत्य होता है परन्तु उसके विभिन्न अंगोपांग या पक्ष अर्धसत्य होते हैं, असत्य नहीं.

अमूर्तको मूर्तमें, अमृतको मर्त्यमें, गतिको स्थितिमें अथवा अव्यक्तको व्यक्तमें जान लेनेको किये जाते वैचारिक मन्थन द्वारा, जिस समग्रता या जिस सत्यकी खोज दर्शन और विज्ञान करना चाहते हैं, उसी समग्रता या सत्य को धर्म और काव्य आदि कला द्वारा भी खोजा जाता है. सत्यको खोजनेकी या समग्रताको प्राप्त करनेकी दिशा धर्म और काव्य आदि कलाओंकी भिन्न-भिन्न हो सकती हैं. मूर्तका अमूर्तमें, नश्वरका अनश्वरमें या मर्त्यका अमृतमें, स्थितिका गतिमें; और, व्यक्तका अव्यक्तमें हृदयकी चहल-पहल द्वारा आनन्द उठा कर धर्म और काव्य आदि कला समग्रताको प्राप्त करना चाहते हैं, सत्यको खोजना चाहते हैं.

कोई दार्शनिक हो या धार्मिक अथवा कोई वैज्ञानिक हो या कलाकार, जो समग्रताके बोध या स्वीकृति के हेतु सक्षम नहीं हो पाता, उसे न तो सत्य उपलब्ध होता और न वह उसे प्रकट ही कर पाता है. जिसके समक्ष सत्य प्रकट नहीं हो पाता, वह ब्रह्मको पहचान नहीं पाता. जो ब्रह्मको पहचान नहीं पाता, ऐसे दार्शनिकके दर्शनमें, धार्मिकके धर्माचरणमें, वैज्ञानिकके विज्ञानमें, या कलाकारकी कलामें रस प्रकट नहीं हो पाता, क्योंकि रस स्वयं ब्रह्म

है ''रसो वै सः'' (तैत्ति.उप.२।७). जिसे रसानुभूति नहीं हो पायी वह आनन्दी नहीं बन पाता ''रसं ह्येव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति'' (तैत्ति.उप.२।७).

यहां यह प्रश्न उठता है कि इस रसको प्रकट कैसे किया जाये? रसनिष्पत्तिके उपाय या प्रकार क्या? रसानुभूतिका अधिकारी कौन?

[१]वेदोके संहिता ब्राह्मण आरण्यक ग्रन्थोंमें, इसी तरह, स्मृति धर्मसूत्र पुराण तन्त्र आगम आदि ग्रन्थोंमें भी मिलते धर्मनिरूपणमें; या [२]उपनिषद् ब्रह्मसूत्र गीता भागवत आदि ग्रन्थोंमें मिलते तत्त्वचिन्तनमें; या [३]आयुर्वेद ज्योतिष भाषाविज्ञान योगशास्त्र वास्तुविज्ञान आदि विज्ञानकी विकसित शाखाओंमें; अथवा उसी तरह [४]रामायणसे प्रारम्भ कर मध्यकालीन प्रत्येक प्रान्तीय भाषाओंके साहित्य या संगीतकला नृत्यकला या मूर्तिकला आदिमें व्यक्त होनेवाली रसदृष्टिमें अपवादरूपेण ही अपनी भारतवर्षीय आर्ष परम्परामें कहीं-कभी नैल्यावरोध (glaucoma) की बाधा प्रकट हुई है!

परन्तु आधुनिक युगमें पाश्चात्य संस्कृति द्वारा उच्छ्वसित अंगारक (carbon) वायु अब अपने धार्मिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक और ललितकलाजगत्के वातावरणमें भी बढ़ रहा है. अतः प्रदूषण (Polution) भी बढ़ रहा है. परिणामरूपेण अपनी भारतीय संस्कृतिकी प्राणोपमा रसदृष्टिमें प्राणवायुका अनुपात भी घटता हुवा सा दिखलायी देने लगा है. धार्मिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक और ललितकलाके क्षेत्रोंमें उस वातावरणको पुनः शुद्ध और स्वच्छ बनाना हो तो, उस रसदृष्टिको पुनः भलीभांति पहचानना और प्रतिष्ठापित करना आवश्यक लगता है.

:: धर्ममें अपनी रसदृष्टि ::

किसी भी वस्तुका भलीभांति ज्ञान पाना हो तो, उसकी परिभाषा

और उसके प्रमाण का ज्ञान होना प्राथमिक आवश्यकता है.

अपने यहां धर्मके स्वरूप परिभाषा और प्रमाण यों दिये गये : ''धर्मार्थकाममोक्षाणां निमित्तानि अविरोधतः'' (भाग.पुरा.३।७।३२) ''यतो अभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः. तद्वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम्'' (काणा.सू.१।१।१) अर्थात् धर्म अर्थ काम और मोक्ष के स्वरूप परस्पर अविरुद्ध होने चाहिंये. अतः जिसके कारण अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों सिद्ध होते हों उसे धर्म समझना चाहिये. इस अभ्युदय और निःश्रेयस् के उपायोंके उपदेशके कारण ही वेद आदि आम्नायोंके वचनोंका प्रामाण्य माना गया है.

अभ्युदय आधिदैहिक होता है जबकि निःश्रेयस आध्यात्मिक होता है. जीवनको खिलानेकी कलासे अभ्युदय सिद्ध होता है. आत्माको खिलानेकी कलासे निःश्रेयस सिद्ध होता है. शारीरिक पारिवारिक एवं सामाजिक जीवनमें उन्नति तथा समरसता जब प्रकटती हैं तब अभ्युदयकी सिद्धि मिली मानी जा सकती है. जीवनावधिमें परिच्छिन्न न होनेवाले स्पृहणीय आदर्शोंका भलीभांति निर्वाह निःश्रेयस्की सिद्धि है.

अतएव मृत्युके अधिदेव यमराजको, अपने यहां, प्राण या जीवन के अधिदेव सूर्यके पुत्ररूपेण मान्य किया गया है. अपने भीतर रहनेवाली काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य की दुर्वृत्तिओंपर मृत्युपर्यन्त जिसे धर्मवृत्ति द्वारा क़ाबू पानेमें सफलता नहीं मिलती, उसे मृत्युके समय मृत्युके अधिदेवके दर्शन *यमराज* के रूपमें होते हैं. काम क्रोध लोभ आदिकी अपरितुष्ट कामनायें जब जीवनको लंबाना चाहती हों, तब अकस्मात् ही उनका नियमन यमराज कर देते हैं. परन्तु जिसने धर्ममय जीवन व्यतीत किया हो, उसे तो मृत्युके अधिदेव *यमराज* नहीं पर *धर्मराज* ही लगेंगे. अतएव यमराजको 'धर्मराज' भी कहा जाता है.

कोई जीवनमें अभ्युदय तो साध सकता हो परन्तु उस अभ्युदयकी सिद्धिके मूल्यरूपेण यदि उसे आत्मिक आदर्शोंका हनन करना पड़ता हो तो उसे 'धर्म' नहीं कहा जा सकता. इसी तरह आत्माके निःश्रेयस्के हेतु जिसे अभ्युदयकी सर्वथा उपेक्षा ही करनी पड़ती हो तो उसे भी 'धर्म' नहीं कहा जा सकता.

जीवनको जीनेकी और अन्तमें मरनेकी भी जो कला हमें हमारे वेदादि शास्त्रोंने सिखायी हैं, वे शास्त्र धर्मके सच्चे स्वरूपको समझनेके साधन या प्रमाण हैं : **''वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मः तद्विपर्ययः''** (भाग.पुरा.६।१।४०) यह इस बारेमें दी गयी व्यवस्था है. जो धर्मका स्वरूप समझना हो तो वह श्रुतिओंके आधारपर समझना चाहिये अथवा उनके अर्थोंका ऋषिओंने जो निरूपण किया उन स्मृतिओंके आधारपर समझना चाहिये.

धर्मके स्वरूपको भलीभांति समझ लेनेके बाद, उसे जीवनमें उतारनेकी चातुरी, प्राचीन या वर्तमान महापुरुष कि जिन्होंने अपने जीवनके निर्माणमें शास्त्रीय ज्ञान और शील दोनों प्रकट किये हों उनके आचरणमेंसे और स्वयंकी अन्तरात्माकी प्रेरणाके आधारपर प्राप्त करनी चाहिये. **''वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्, आचारश्चैव साधूनाम् आत्मनः तुष्टिरेव च''** (मनुस्मृ.२।६).

हमने कभी भी मनुष्यजीवनको एकांगी दृष्टिकोणसे निहारा न था. धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारोंको 'पुरुषार्थ' के रूपमें मान्य करनेकी अपनी संस्कृतिके वश इस तथ्यको समझा जा सकता है. ऋषि-मुनिओंने वनमें रह कर ही, धर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र की तरह, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र का भी चिन्तन और निरूपण किया था ! ऋषिओंने **''द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे''**का सिद्धान्त भलीभांति जाना-माना था, उसका तत्त्वानुध्यान और रसावगाहन भी किया था. ऋषिओंके

लिये धर्म केवल एक थोथी पूजाप्रणाली नहीं थी. अतएव गीतामें ''**धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि**'' (भग.गीता.७।११) ऐसा कहते हुवे भगवान्‌को किसी तरहका संकोच नहीं अनुभूत होता है.

आजकल 'कर्मकाण्ड' या 'पूजाप्रणाली' जैसे कई धार्मिक शब्दोंका हम निन्दावाचक शब्दोंके रूपमें प्रयोग करने लगे हैं. अतः अपने धार्मिक कर्मकाण्ड या पूजाप्रणाली में निहित हमारी रसदृष्टिको समझ पानेकी मानसिकता हमने खो दी है. अतएव हममें से कई यों भी कहते पाये जाते हैं कि पर्वत नदी वृक्ष पशु पक्षी पत्थर या धातु की मूर्तिमें देवबुद्धि रख कर पूजाका कर्मकाण्ड तो अपनी अविकसित असभ्य जंगली अवस्थामें पनपी अन्धश्रद्धाके उदाहरण हैं!

मालिककी निगाहमें खुदको योग्य ठहरानेको, जैसे बन्दी गुलाम अपने-आपको फनाह कर देते थे, वैसे ही हम भी हमारे धर्ममें रही अपनी पवित्र श्रद्धाको अन्धश्रद्धा मान कर हम अपनी सांस्कृतिक अस्मिताको नष्ट-भ्रष्ट कर देना चाहते हैं. क्योंकि पाश्चात्य गोरे साहब हमें *'पेगान'* की गाली देते थे!

सूक्ष्मकी स्थूलमें आनन्दानुभूति, अमूर्तकी मूर्तमें आनन्दानुभूति, अमृतकी मर्त्यमें आनन्दानुभूति, परोक्षकी प्रत्यक्षमें आनन्दानुभूति की अपनी सुन्दर सुघड़ और अल्हड़ श्रद्धा आज अतएव बुढ़िया रही है.

जगत्‌के निर्माण पालन और संहार के हेतु एक ही परमात्माके तीन रूप हमें मान्य थे. ब्रह्मा विष्णु और रुद्र की त्रिमूर्तिके आधिदैविक द्वैतमें एक अमूर्त ब्राह्मिक अद्वैत भी हमें मान्य तो था ही. शैव और वैष्णव सम्प्रदायोमें कई बार अन्तःकलह भी हुवे होंगे. पर उन कलहोंके कारण दोमेंसे किसी भी एक सम्प्रदायने अपने इष्टदेवके रूपसे भिन्न दूसरे देवोंके रूपको कभी शैतान या माया के रूप

तो नहीं माने थे. शैवोंके लिये विष्णु जैसे परमात्माका अवर (गौण) रूप था, वैसे ही वैष्णवोंके लिये शिव भी परमात्माका ही एक अवर गौण रूप माना गया है. दोमेंसे मुख्य कौन इस बारेमें कभी भक्तिके अतिरेकवश विवाद हुवे होंगे. पर शैवोंने या वैष्णवोंने शिवकी या विष्णुकी मूर्तिओंको कभी पत्थरकी मान कर खण्डित तो नहीं किया. स्मार्त जैसे पञ्चदेवोपासक होते थे वैसे ऐकान्तिक भक्तिसम्प्रदायोंके अन्तर्गत शैव शाक्त या वैष्णव आदि एकदूसरेके मन्दिरोंमें पूजा-दर्शन करने न भी जाते हों, तो भी दूसरे सम्प्रदायोंके मन्दिरोंको तोड़ देनेकी बात हमारे सांस्कृतिक इतिहासमें मिलती नहीं है! महर्षि यास्क कहते हैं **''महाभाग्याद् देवताया: एक: आत्मा बहुधा स्तूयते. एकस्य आत्मनो अन्ये देवा: प्रत्यङ्गानि भवन्ति... प्रकृतिसार्वनाम्न्यात् च''** (निघ.निरु.७।१।४) अत: देवताओंके अनेकविध नाम-रूप-अधिकारोंके द्वैतमें एक सर्वनामा सर्वरूप सर्वकर्मा परमात्माके अद्वैतको, तत्तत् साम्प्रदायिक भेदोमें एकमेवाद्वितीय परमात्माके अभेदको, मान्य रखनेके कारण ही यह सम्भव हुवा होगा! ऐसी थी अपने धर्ममें हमारी रसदृष्टि! जो धर्मों और तदाराध्य देवताओंके ऐकान्तिक द्वैत या ऐकान्तिक अद्वैतको **''न'इति-'न'इति!''** निषेधद्वारा उनके प्रकट(=सत्) नाम-रूप-कर्मों और अप्रकट(=त्यत्) ब्राह्मिक तत्त्व के महायोगमें सत्यको खोजना चाहती थी.

भूतलके पर्वत नदी या वृक्ष आदिको पूजनेमें भी अपनी यही रसदृष्टि झलकती थी. परमात्माके पालक रूप विष्णुकी पत्नीके रूपमें हम पृथ्वीका आदर करते थे **''विष्णुपत्नीं महीं देवीं माधवीं माधवप्रियां लक्ष्मीप्रियसखीं देवीम्''** (भूसूक्त) इस पृथ्वीपर जनमना या जीना तो ममतामयी माताकी गोदमें खेलने या आराम करने जैसी सहज-सुखद बात थी **''मे माता पृथिवी महीयम्''** (ऋक्संहि.२।३।२०). हमारी नहीं यह तो गोरे साहबोंकी धार्मिक मान्यता थी कि मानव स्वर्गसे अध:पतनके धरातलके रूपमें पृथ्वीपर फेंका गया है. हमने कभी इस भूतलको इस तरह धिक्कारा नहीं था.

भूतलके पर्वत हमें अपनी माता पृथ्वीके स्तन जैसे लगते थे ''मध्ये श्यामः स्तनइव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः'' (मेघदूत : १८) इन पर्वतोंमेंसे प्रकट होनेवाली नदिओंकी जलधारा हमारेलिये दुग्धोपमवारिवाहिनी स्तन्यधारा थी ''नमोऽस्तु यमुने सदा तव चरित्रम् अत्यद्भुतम्, न जातु यमयातना भवति ते पयःपानतः'' (यमुनाष्टक : ६) वृक्षवल्लिओंकी वनराजी, अपने बालकको स्तनपान कराते समय पुलकित होनेवाली ममतामयी माताकी रोमराजी हमें लगती थी.

कोई हृदयहीन नरपशु ही इसे 'अन्धश्रद्धा' कह सकता है, क्योंकि यह तो हमारी माताके लिये हमारे हृदयमें कृतज्ञतासभर हमारा निश्छल सहज स्नेह ही था.

भूमिपर अपना भव किसी शैतानके द्वारा हमें भरमा दिये जानेके कारण नहीं हुवा था, पर भगवान् विष्णु और भगवती पृथ्वी की परस्पर प्रणयक्रीड़ाकी एक मधुर परिणति है. अतएव भूमिके अंगप्रत्यंगोंमें हमें पूज्यभाव और सच कहें तो, उससे भी अधिक मातृभावात्मक स्नेह ही था.

यह तो अभारतीय जनोंकी धारणा थी कि आरम्भमें हम अपने परम पिताके साथ स्वर्गके पवित्र उद्यानमें रहते थे. बादमें शैतानने हमें भरमा कर परम पिता परमेश्वरके साथ रह पानेको अयोग्य अपवित्र पापी बना दिया. इसीलिये हमें धरातलपर धकेला गया. ऐसी धारणाके परिणामस्वरूप धरित्रीके अंगप्रत्यंगोपम पर्वत नदी वृक्षों आदिकी पूजा उन्हें जंगलीपना लगे यह तो सर्वथा स्वाभाविक है. पर हमारे गलेमें उनकी बात क्यों-कैसे उतर गई यह समझमें नहीं आता!

पृथ्वीके गर्भमें स्थित धातु या शिला के भीतर परमात्माका वीर्य या सामर्थ्य रहा हुवा है, अतएव तो जिस शिलामयी या

धातुमयी मूर्तिमें निज इष्टदेवका आकार उभारा गया हो उसमें सच्चिदानन्द परमात्माके अस्तित्व चैतन्य और आनन्द अर्थात् अद्वैत हमें मान्य थे. अतः कृपालुता ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान और वैराग्य जैसे दूसरे दिव्य भगवद्गुणोंकी भी परोक्ष विद्यमानता हमें मान्य थी. यदि परमात्मा स्वयं व्यापक हो और उसके ज्ञान बल ऐश्वर्य आनन्द और अद्वैत भी व्यापक हों तो, क्या मूर्तिके अपवादको छोड़ कर ही वे ब्रह्माण्डमें व्यापक होते होंगे?

अभारतीय जनोंने हमें गाली दी : "Idol-worshiper Black Indians!!" अर्थात् मूर्तिपूजक काले हिन्दुस्तानी. अतः लज्जित हो कर हम हमारा काला रंग तो पौंछ नहीं पाये, पर हमारे Ideals आदर्शों और Idols मूर्तिओं में रही हमारी श्रद्धाको हम बुद्धिफलकपरसे पौंछ कर साफ करनेमें जुट गये!

परन्तु वास्तविकता तो यह है कि इस पृथ्वीपर केवल हम ही नहीं प्रकटे, अपने यहां तो मत्स्य कच्छप हंस वाराह अश्व नृसिंह आदि अनेक प्राणिओंके रूपमें भी परमात्मा इस भूतलपर प्रादुर्भूत होता माना गया है. अनेक रूपोंमें परमात्माके अवतारकी यह बात हमारेलिये पक्की गेरंटी रूप है कि इस भूतलपर केवल मनुष्याकार देहधारीमें ही नहीं परन्तु प्रत्येक जाति-आकृतिके देहधारिओंमें वह दिव्यता भरी हुयी है. फिरभी परमाणु (Atom) मेंसे ऊर्जा (Energy) प्राप्त करनेके विज्ञानमें हम इतने मशगूल बन गये हैं कि अब कण-कणमें कृष्ण होनेकी बात हमें अन्धश्रद्धा लगती है! उधार ली गयी बुद्धिका वैभव तो ऐसा ही होगा न!

परमात्माके ज्ञान बल ऐश्वर्य आनन्द अनुग्रह और अद्वैत की दिव्यता सूक्ष्मरूपेण प्रत्येक स्थूलमें विद्यमान है. यह बात अपने शास्त्रोंके समीचीन अध्ययन करनेपर जानी जा सकती है, परमात्माके माहात्म्यज्ञानके

खिल जानेपर यह बात समझी भी जा सकती है; और जीवात्मा तथा परमात्मा के बीच विद्यमान सहज स्नेहको जो असहज और उधार ली हुयी धारणाओंसे ढांप न दिया दिया जाये तो मूर्तिके स्थूल रूपमें सूक्ष्मरूपेण विद्यमान ऐसी इस दिव्यताकी अनुभूति भी प्राप्त हो सकती है.

परमात्मा परोक्ष रूप धारण कर, लजीली नवोढा नायिकाकी तरह, अपने प्रेमी जीवात्माके नयनोंसे ओझल हो कर बैठा हुवा है! इस छिप जानेमें उसका गूढ़ स्त्रीभाव बाहर छलक रहा है ऐसा ध्वनित करते हुवे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य रासपञ्चाध्यायीमें गोपिकाओंके बीचमें छिप जानेवाले श्रीकृष्णको स्त्रीगूढभावात्मा मानते हैं. उस छिपे हुवे श्रीकृष्णको खोजनेवाली गोपिकाओंको गूढपुंभाववती मानते हैं. यह बात केवल मूर्तिमें ही केवल सीमित नहीं रखी गयी थी :

"[1]सूर्यो [2]अग्निः [3]ब्राह्मणो [4]गावो [5]वैष्णवः [6]खं [7]मरुद् [8]जलं
[9]भूः [10]आत्मा [11]सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे.
[1]सूर्येतु विद्यया त्रय्या [2]हविषा अग्नौ यजेत मां
[3]आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये [4]गोषु अङ्ग यवसादिना[5]
वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या [6]हृदि खे ध्याननिष्ठया
[7]वायौ मुख्यधिया [8]तोये द्रव्यैः तोयपुरस्कृतैः[9]
स्थण्डिले मन्त्रहृदयैः [10]भोगैः आत्मानम् आत्मनि
[11]क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम्"

(भाग.पुरा.११।११।४२-४५).

इन ग्यारह पूजापदोंको यहां अगणित पर अन्यत्र मान्य पर्वत वृक्ष नदी कलश चित्र आदिको भी पूजापद मान कर चलें तो वस्तुमात्रकी ब्रह्मात्मकताका बोध जगाना ही इस कर्तव्योपदेशमें तात्पर्यविषयीभूत उपदेश है.

वस्तुतस्तु केवल कहां या सर्वत्र ब्रह्मभाव रख कैसे परमात्माका पूजन करना इतने से कर्तव्यमें ही धर्मकी 'अथेतिश्री' समाहित मानी नहीं जा सकती. यद्यपि सम्प्रति वर्णाश्रम-व्यवस्था उच्छिन्नप्राय है अन्यथा स्वस्ववर्णके तथा स्वस्व-आश्रमके विशेष कर्तव्य और वर्णाश्रमेतर सामान्य मानवमात्रके भी दशविध ''धृतिः क्षमा दमो अस्तेयं शौचम् इन्द्रियनिग्रहः धीः विद्या सत्यम् अक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्'' (मनुस्मृ.६।९२) कर्तव्योंका निर्वाह भगवद्गीताके अनुसार ''स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः संसिद्धिं लभते नरः स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तत् श्रुणु : यतः प्रवृत्तिः भूतानां येन सर्वम् इदं ततं स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्य सिद्धिं मानवः'' (भग.गीता.१८।४५-४६) धर्मतया ही समादृत हुवा है. इन सभी प्रकारके धर्मरूप कर्तव्योंके निर्वाहमें अर्थ-काम पुरुषार्थोंकी वैध व्यवस्था मान्य रखी गयी. साथ ही साथ मोक्षपुरुषार्थके हेतु शास्त्रविहित कर्म ज्ञान भक्ति रूप धर्मोंका धर्मत्वेन ही समादर है. यह खेदका विषय है कि आधुनिक धर्मोपदेशक या तो अर्चन-पूजनकी या फिर मोक्षोपायरूप कर्म ज्ञान या भक्ति रूप धर्मोंकी परिधिसे बाहर धर्मश्रवणार्थी जनसाधारणको निकलने नहीं देना चाहते! दोष इसमें परन्तु धर्मदृष्टिका न हो कर अपनी मूल व्यवस्थामें श्रोता-वक्ता उभयत्र पनपे श्रद्धाह्रासका अधिक लगता है.

प्रकृत विषयके पुनः अनुसन्धानार्थ : जगत्के स्थूल रूपोंमें परमात्माकी अपरोक्ष अनुभूति न होनी या परमात्माका परोक्ष होना, वह तो लजीली नवोढाके जैसा परमात्माका गूढस्त्रीभाव है! परन्तु जब आज हमें स्थूलके खण्डनकी ही धुन सवार हो गयी हो तो, तब स्थूल नाम-रूपोंमें छिपे हुवे परमात्माके साथ आंखमिचौनी खेलनेकी मस्ती कैसे मिल पायेगी?

हमारा धर्म हमें अपनी ममतामयी माता धरतीको धिक्कारके, विधाताके ध्यान धरनेकी प्रेरणा नहीं देता है. जो इस धरातलपर

भगवान अवतीर्ण होते हों तो, भक्तको मुक्ति नहीं प्रत्युत भगवान्‌की भूतलपर प्रकट होनेवाली लीलाओंके दर्शनकी प्रतीक्षा या लालसा में निरन्तर यहां जनमते रहना अधिक सुहाता है. गुजरातके भक्तकवि दयारामभाई कहते हैं :

''हे प्राणजीवन! दीन हो कर याचना करता हूँ!
मुझे अपने प्रेमरसका पान कराओ!
जो मुक्तिमार्गी हो उसे आप ज्ञान प्रदान करें।
मुझे तो वह रुचता ही नहीं है॥
जो निर्धन हो उसे खानेमें राब सुहा सकती है।
जो खानेका शोखीन हो उसे सन्तोष कब होता है!॥
हम तो आपके निजी सेवक हैं।
हमारे भीतर लेशमात्र भी मुक्तिकी लालसा नहीं है॥
हम तो अपने नटवरके रूपको ही नित्य निरखना चाहते हैं।
हमारे हियरामें तो इसीकी होंस है॥
हमारे सारे मनोरथ तो आपको निरखते रहनेसे ही पूर्ण हो सकते हैं।
वे आपके साथ एकतालाभसे सन्तुष्ट नहीं हो पायेंगे॥''

(भक्तकवि श्रीदयारामभाई).

हमारी तपश्चर्याका फल वह परमात्मा है परन्तु यह फल हमें इसी भूमिपर ही पाना है. अपने भक्तिरसके स्थायी भावके आलम्बन विभाव वे भगवान् व्रजाधीप ही हैं! उन्हें, परन्तु, भजना है इसी भूतलपर ही ''भगवानेव हि फलं स यथा आविर्भवेद् भुवि'' (पुष्टिप्रवाहमर्यादा : १७). अतः भूतलपर भक्तिकी इस महोपलब्धिकी लालसामें भक्त खुल कर कह पाता है :

''मुझे व्रज ही प्रिय लगता है मैं वैकुण्ठ नहीं जाना चाहता!
वहां मैं नन्दकुंवरको कैसे प्राप्त कर पाऊंगा!''

(भक्तकवि श्रीदयारामभाई).

इस भूतलको तज कर स्वर्ग या वैकुण्ठ में जाना भी हमें तो रुचता नहीं है. क्योंकि भूतलपर भगवान्‌को भजना इसीमें जीवनकी सच्ची सार्थकता है : ''भद्रं कर्णेभिः श्रुणुयाम देवाः भद्रं पश्येम अक्षिभिः यजत्रा स्थिरैः अङ्गैः तुष्टुवांसः तनूभिः व्यशेम देवहितं यदायुः'' (प्रश्नोपनिषत् : मंगला.).

परमात्माको परमपिता माननेकी तरह पृथ्वीको परममाता माननेकी हमारी धार्मिक दृष्टिके कारण, जैसे आजकल मां-बापके बीच तलाक़ हो जानेपर, अल्पवयस्क बालक माताके पास रहते हैं और वयस्क बालक अपनी मनोरुचिके अनुसार जहां चाहें रह पाते हैं, वैसे ही कुछ श्रीदयारामभाईने अल्पवयस्क बालककी मनोवृत्तिके वश दीन हो कर माता भूमिके पास रहना उचित मान लिया है! वयस्कोपम ज्ञानी बनना पसंद नहीं किया. अतएव वे कहते हैं : '' मुक्ति मुझे नहीं सुहाती है'' यह तो आधुनिक तलाक़ लेनेकी फेशनकी तर्जमें कुछ वर्णन हो गया! विवाहके बाद तलाक़की यह कथा भी आधुनिक दाम्पत्यकी करुण गाथा है. भगवान् विष्णु और भगवती पृथ्वीके मधुर दाम्पत्यके सनातन सम्बन्धमें तो ऐसा अव्यक्त भाव भी रसाभास ही प्रकट करता एक भक्तको प्रतीत होगा.

यह सारा उपद्रव मनुष्यको केवल अपने अभौमिक मोक्षकी त्वरासे ग्रस्त बना देनेके एक अवैदिक षड़यंत्रसे अनुप्रेरित पलायनवादी रुचिका दुष्परिणाम प्रतीत होता है! हमारी मौलिक रसदृष्टिकी अवधारणासे सर्वथा विपरीत. अभौमिक मोक्षके परम पुरुषार्थ होनेका अस्वीकार शक्य नहीं परन्तु धर्मपुरुषार्थ अर्थपुरुषार्थ एवं कामपुरुषार्थ के सन्तुलनकी परवाह किये बिना अधिकारानधिकारके विवेक बिना सभीको मोक्षमार्गी शिष्य बना देनेकी दुर्दम गुरुपदलालसाका अतिरेकके अलावा इसे और कुछ माना नहीं जा सकता! जो बुद्धिमान अपनी बुद्धिके प्रयोग किये बिना हमारे धर्मकी निन्दा ''भूतलसे बंधे हुवे धर्म'' (Earth-bound

religion) के रूपमें करते थे, उन्हें अपने चरणोंके नीचे रहा धरातल अब खिसकता सा लगने लगा है. अतएव Inter Religious Dialogue की आवश्यकता उन्हें सर्वाधिक सताने लगी है! एतावता अब इसे प्रस्तुतयुगीन आवश्यकताके रूपमें हमें अपने धर्ममें रही हुयी रसदृष्टिको मुखरित होने देना चाहिये. ताकि अपने धर्ममें रही हुयी गहन दार्शनिक चेतनाको निर्भयताके साथ बाहर प्रकट होनेका अवसर मिले!

:: दर्शनमें अपनी रसदृष्टि ::

दार्शनिक चिन्तनके नामपर अब जो कुछ चिन्तन हमें रुचने लगा है, वह यह कि विविध धर्म, देव, दर्शन और सम्प्रदायोंके भेद मिथ्या हैं. परमात्माके विविध देवरूपोंके भेद, गुणभेद, लीलाभेद या साधनाप्रणालीके भेदोंको आज सत्य कहने या मानने लगें तो हमारी गणना सम्प्रदायवादिओंमें होने लगती है. हम अति-अद्वैतवादकी ऐसी भयंकर मनोग्रन्थिसे पीड़ित हैं! आजसे सौ-सवासौ वर्ष पहले यूरोपमें अद्वैतवादकी आंधी प्रबल हुयी थी! वह वहां तो थम गयी, परन्तु हम अपने देशमें उसे अपना विश्वको प्रदान मान लेनेकी भ्रमणामें रचपच गये हैं!

द्वैत और अद्वैत दोनोंको पारमार्थिक माननेवाली हमारे उपनिषदोंकी प्राचीन दृष्टिसे हमारा तत्त्वचिन्तन वञ्चित होता जा रहा है. हमें अर्धसत्य जैसा केवल अद्वैत ही, तत्त्वदृष्टिमें न सही परन्तु धर्मदृष्टिमें तो निश्चयेन, अधिक सुहाने लगा है. क्योंकि सारे द्वैतोंको मिथ्या मान लेनेपर सारी देवमूर्तिओंसे, सारे साम्प्रदायिक बन्धनोंसे अर्थात् विधिनिषेधोंसे, सारी साधनाप्रणालिओंसे अथवा तो स्वस्वधर्मोंमें रहनेवाली ऐकान्तिक निष्ठाओंके गढ़ोंमें से भाग छूटनेकी एक वैचारिक सुरंग मिल जाती है.

अतः सम्प्रदायभेद, साधनाप्रणालीके भेद, तत्तत् देवताओंके रूपभेद,

गुणभेद लीलाभेद के नामपर होनेवाले अन्तरसाम्प्रदायिक कलहका बहाना बना कर भेदकी निन्दा करनेकी एक फेशन हमने शुरु कर दी है. जबकि हकीकत यह है कि ऐसे तमाम भेदोंमें अपनी निष्ठा तोड़ देनेके बावजूद, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, प्रान्तीय, राष्ट्रीय और उपमहाद्वीपीय क्षुद्र मुद्दोंके कलह तो हमने बढ़ाये ही हैं घटानेके बजाय! इन कलहोंमें पक्ष-प्रतिपक्षके पक्षपातद्वारा एकदूजेको तबाह कर देनेवाली निष्ठुर हिंसा घटी नहीं, बढ़ी ही है. हकीकतमें तो ऐसे झगड़े धर्म-सम्प्रदायोंके कारण होते नहीं थे परन्तु मानवकी झगड़ालू मनोवृत्तिके कारण होते थे. उस मनोवृत्तिको सुधारनेमें अति-अद्वैतवादकी दृष्टि सर्वथा विफल ही रही परन्तु द्वैतके मिथ्या होनेके प्रचुर प्रचारके वश अपने-अपने विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों, आचार्यग्रन्थों और इष्टदेवों की साधनाप्रणालीमें से आधी-अधूरी श्रोताओंकी श्रद्धा या निष्ठा को तोड़ देनेमें अच्छी-खासी सफलता अति-अद्वैतवादको अवश्य ही प्राप्त हुयी है!

अतः सभी धर्मोंके चालाक वक्ता अपने-अपने धर्मों और ग्रन्थों को विश्वधर्म और विश्वग्रन्थ सिद्ध करनेको नित्य नई युक्ति खोज निकालने लगे हैं. पहले जो धर्मोपदेशक स्वयंके धर्मको सत्य और दूसरेके धर्मको असत्य सिद्ध करनेकी स्पर्धामें आत्मगौरव समझते थे, अब वे ही सच्ची या खोटी किसी भी युक्तिका सहारा ले कर, अधिकाधिक श्रोताओंमें स्वयंका धर्म विश्वधर्म है, ऐसी छाप खड़ी करनेकी स्पर्धामें उतर गये हैं. आजकल दूसरे सम्प्रदायके ग्रन्थोंके ऊपर प्रवचन कर, ग्रन्थके मूल लेखकने जिस बातकी कल्पना भी न की हो ऐसी व्याख्या उनपर थोप बिठानेकी फेशन लोकप्रिय हो गयी है. आज अपने विचारोंके वैश्विक (Universal) होनेकी छाप खड़ी कर के, परमतके मान्य ग्रन्थ, देवरूप, साधनाप्रणालीमें उसके अनुयायिवर्गकी निष्ठाके खण्डनका क्रूरताण्डव अति-अद्वैतवादके नामपर चलाया जाता है. इस क्रूर ताण्डवके कार्यक्रममें जो व्यक्ति दर्शक या श्रोता के रूपमें सम्मिलित न हो, उसे संकीर्ण सम्प्रदायवादी वृत्तिका मनुष्य

मान लेनेकी एक अद्‌भुत वैचारिक संकीर्णता जोर पकड़ती जा रही है. वैसे वैचारिक संकीर्णताको घटानेमें ऐसी अति-अद्वैतवादवाली दृष्टि सफल हो नहीं पाती पर ''द्वयोः कलहे तृतीयस्य लाभः'' की कूटनीति भरे दाँवपेचमें निश्चय पर्याप्त कामयाब हो जाती है!

उपनिषदोंका तत्त्वचिन्तन द्वैतको मिथ्या मान कर अद्वैतको पुरस्कृत करनेका नहीं था; मूर्तको मिथ्या मान कर अमूर्तकी खोजमें भटकते रहनेका भी नहीं था; मर्त्यके बारेमें निर्मम-निष्ठुर हो कर अमृतकी खोजके उन्मादमें दौड़ते रहनेका भी नहीं था, स्थितिको भ्रान्ति मान कर गतिके दुश्चक्रमें या गतिको भ्रान्ति मान कर स्थितिकी जड़तामें फंस जानेका भी नहीं था, वह चिन्तन स्थूल या प्रत्यक्ष को धिक्कार कर, सूक्ष्म या परोक्षकी नीरस खोजमें मर-मिटनेका भी नहीं था.

उपनिषदोंकी दृढ़ विभावना थी कि एक ही ब्रह्ममें अनेकविध विरोधाभासी गुण रहते हैं. अतएव कहा गया है :

१. अजायमानो बहुधा विजायते.
२. अणोरणीयान् महतो महीयान्.
३. आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः.
४. यस्य अमतं मतं तस्य मतं यस्य न वेद स,
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्.
५. भीषा अस्माद् वातः पवते भीषा उदेति सूर्यः,
भीषा अस्माद् अग्निश्च इन्द्रश्च मृत्युः धावति पञ्चम इति.
सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति.
(कठोप.२।२०-२१,केनोप.२।३,तैत्ति.उप.२।७)

अतः अज-नन्दात्मज, अणुपरिमाण-व्यापक, कूटस्थ-भूतलविहारी, अमत-मत, अविज्ञात-विज्ञात, भयंकर-आनन्दरूप ऐसे अनेक रूप एक

ही ब्रह्मके हो सकते हैं. जैसे एक ही रतिके स्थायी भावमें रूपगर्व-मान-प्रणयकलह-चिन्ता आदि विविध सञ्चारी भाव प्रकट होते हैं, ऐसे ही सत्यसंकल्प परमात्माके अद्वैतमें सर्वभवन सामर्थ्यके कारण अनेकविध नाम-रूप-कर्मके प्रकट हो सकते हैं **''एकमेव अद्वितीयं... तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय''** (छान्दो.उप.६।२।१-३). इस सृष्टिरूपी नाटकका कुशल अभिनेता ब्रह्म अनेक नाम अनेक रूप और अनेक कर्मों को धारण कर हमारे सामने प्रकट ही है **''सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वा अभिवदन यद् आस्ते''** (चित्यु.१२।७). अतः द्वैत और अद्वैत एक ही ब्रह्मके दोनों वास्तविक रूप हैं **''द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे''**(यथापूर्व). अतः ब्रह्मज्ञानके सन्दर्भमें उपनिषद् जैसे केवलद्वैतवादका **''न'इति-'न'इति''** द्वारा निषेध करता है वैसे ही केवलाद्वैतवादका भी निषेध फलित होता ही है.

ऐकान्तिक द्वैत और ऐकान्तिक अद्वैत दोनों ही अर्धसत्य सिद्ध होते हैं. ब्रह्म इन दोनों अर्धसत्योंसे कुछ अधिक ऐसा दोनोंका योग है. गुलाबका फूल उसकी सारी पंखुड़िओंके न केवल योग होता प्रत्युत उससे कुछ अधिक ही. अन्यथा उन्हीं पंखुड़िओंको नोच कर उनके ढेर लगानेपर भी गुलाबका फूल सिद्ध होना चाहिये था. पंखुड़िओंके आकारमें काट कर बांधी गयी रंगीन कागदकी कतरन भी गुलाब नहीं होता. और न शीशीमें भरा हुवा रुहे-गुलाब ही! गुलाबकी वास्तविक पंखुड़ियां और उनका विशेष आकृतिमें संयोजन गुलाब होता है. इस गुलाबके फूल और उसकी पंखुड़िओंके बीच द्वैत होता है या अद्वैत इस समस्याका समाधान यदि केवलद्वैतवादके अनुसार देना चाहेंगे तो कहना पड़ेगा कि गुलाबको अपनी पंखुड़िओंकी अपेक्षा नहीं है. यदि केवल गुलाब या पंखुड़िओंके ढेर किसी एकको परमार्थ सत्य मान कर केवलाद्वैतवादका अवलम्बन करेंगे तो गुलाबकी पंखुड़िओंके ढेरको गुलाबी रंगके कागदकी कतरनोंके गुलाबके आकारमें संयोजनको भी हठात् गुलाबका फूल मानना पड़ेगा.

चित्रफलक और रंगों में जैसे चित्रका विश्लेषण शक्य नहीं, सितार और उसके सात सुरों में जैसे ललित रागके लालित्यका विश्लेषण शक्य नही हो पाता, वैसे ही द्वैत और अद्वैत में, या मर्त्य और अमृत में, या सक्रिय और निष्क्रिय में, या प्रत्यक्ष और परोक्ष में ब्रह्मका विश्लेषण भी शक्य नहीं नेति! नेति!! नेति!!!

तब 'ब्रह्म' किसे कहना? इन विरोधाभासी रूपोंकी समग्रता और उससे भी कुछ अधिक जो हो वह ब्रह्म है "स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलं पुरुष एव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्म्" (पुरु.सू.१). ब्रह्म विरोधाभासी रूपोंका ढेर नहीं होता परन्तु उनका एक विशिष्ट संयोजन है. वह गुलाबके फूल जैसा सुगंधित, सितारके सुरोंके जैसा सुललित, कविके कण्ठसे निकले शब्द और छन्द जैसा काव्यात्मक और एक कुशल चित्रकार द्वारा विविध रंगोंसे रंगे चित्र जैसा आकर्षक!.

परिसंख्येय नहीं किन्तु अपरिसंख्येय विविध विरोधाभासी रूपोंके विशिष्ट संयोजन ब्रह्म है. अतएव ऐसा नहीं सोच लेना चाहिये कि अपने घटक पदार्थोंसे घटित होनेके कारण निज घटकोंके संघातके अलावा वह कुछ भी नहीं. क्योंकि घटकतया अनुभूत होते श्रुत्युक्त पदार्थोंका भेद उसमें प्रकट हुवा है नकि वह अपने घटकतया अनुभूत होते श्रुत्युक्त पदार्थोंसे परमार्थतया आरब्ध या अपरमार्थतया प्रतीत्यसमुत्पन्न आभास. अतः अनुभूयमान घटक विरोधाभासी रूपोंमें उसका विश्लेषण शक्य नहीं. एक-एक पंखुड़ी डंठुल रंग गन्ध आकृति और परिमाण आदिमें विश्लेषणद्वारा वास्तविक गुलाबके फूल और उसके प्रत्यय को बिखेर दिये जानेपर जैसे वह ग़ायब हो जाता है; ऐसे ही, मूर्तामूर्त मृत्यामृत चलकूटस्थ परोक्षापरोक्ष द्वैताद्वैत आदिमें विश्लेषण कर दिये जानेपर ब्रह्मको भी जान पाना ही अशक्य हो जायेगा तो उसके आनन्द ले पानेकी तो कथा ही बच नहीं जायेगी. अतएव ऋग्वेदके

पुरुषसूक्तमें कहा गया ''स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशांगुलम्'' (वहीं). '' 'सत्' + 'त्यत्' = 'सत्य' '' समीकरणमें दरसायी गयी समग्रता ही परम सत्यता है. वह एक विशिष्ट संयोजनवश 'सत्' के बाद 'त्यत्' को उपस्थापित करनेपर 'सत्य'को प्रकट हो पाती है. '' 'त्यत्' + 'सत्' = 'त्यस' '' 'सत्' और 'त्यत्'का ढेर खोजा जा सकता है परन्तु उसमें 'सत्य' उभर नहीं पाता. समग्रताके बोधके हेतु पुष्प संगीत चित्र या काव्य गत रसानुभूतिके अधिकारी हृदयकर जो भाव होता है, वही यदि न हो तो, पंखुड़ियां सुरों रंगों या शब्दों को बिखेर दिये जानेपर, आत्यन्तिक अभाव ही अन्तमें सबका सिद्ध हो जायेगा. अतएव भागवतपुराण कहता है कि उस परमसत्यरूप परमात्माका वपु-स्वरूप भावात्मक संयोजनमें रहा हुवा है; और उसे भावयोगद्वारा की जाती विभावनाद्वारा ही जाना जा सकता है, वह स्वरूप विश्लेषणद्वारा होते वियोजनमें शक्य नहीं ''त्वं भावयोग-परिभावित-हृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसां, यद्-यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति तद्-तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय'' (भाग.पुरा.३।९।११).

इस सृष्टिके आरम्भका चित्रण उपनिषद्में अतिशय आकर्षक रीतिसे दिया गया है :

> ''यह जो कुछ दिखलायी दे रहा है वह पहले केवल आत्मा ही था. अतएव उसे अपनी आत्मचेतनामें अपने अलावा किसी दूसरेका भान हुवा ही नहीं. अतः सर्वप्रथम उस आत्माने अपने-आपको 'अहं' के रूपमें पहचाना. अतएव आज भी सभी चेतनाओंमें अहंकारका भान प्राथमिक ही होता है. इस अहन्ताके प्राथमिक बोधसे जो भी सम्पन्न होता है उसके सारे पाप भस्म हो जाते हैं. फिरभी अपनी इस आहमिकी एकतामें उसे भीतिका भाव जगा. अतएव आज भी एकाकी व्यक्ति भयभीत हो

जाता है. परन्तु उसने यह सोचा कि जब मेरे सिवा अन्य कोई है ही नहीं तब भयभीत होनेका कोई कारण नहीं ऐसा सोचनेमात्रसे उसका भय निवृत्त हो गया. भय तो किसी दूसरेसे ही होता है (अतएव जो इसी तरह एक तात्त्विक अद्वैतकी भावना अनेकविध नाम-रूपकर्मोंके द्वैतमें कर पाता है, उसका भय निवृत्त हो जाता है!). उसे, परन्तु, अपनी एकाकिता रुचिर नहीं लगी. अतएव आज भी किसीको एकाकी रहना सुहाता नहीं है. उसे किसी दूसरेकी कामना हुयी (वह दूसरा कोई कहीं ब्रह्मके बाहरसे तो आ ही नहीं सकता था, क्योंकि समग्र ब्रह्मके बाहर कुछ हो ही नहीं सकता). अतः उसने अपने-आपको ही दो रूपोंमें बांट लिया. एक रूपमें वह पति बना और दूसरे रूपमें पत्नी. इस तरह दो रूपोंमें बंट जानेपर जिस रूपमें वह पत्नी बना उस रूपने पति बने रूपसे अनेकानेक रूप बदल कर छिपना चाहा अतः पति बने रूपने भी तदनुसार रूप बदल-बदल कर पत्नीरूपको खोज ही निकाला! इस तरह एकदूसरेसे छिपने और खोज निकालने के खेलमें दोनोंने अनन्त रूप धारण किये वही तो इस सृष्टिका मौलिक स्वरूप है.''

(बृह.उप.१।४।१५).

द्वैतमें भयकी सम्भावना है, परन्तु अद्वैतमें रमण असम्भव हो जाता है! अपनी आवश्यकता न तो द्वैतकी है और न अद्वैतकी. हमारी आवश्यकता है निर्भय रमणकी. जो केवल द्वैत होता तो रमण सम्भव था पर उस रमणमें भयका निराकरण नहीं हो पाता! जो केवल अद्वैत होता तो पूर्ण निर्भयता मिल सकती है पर उस निर्भयतामें रमण सम्भव नहीं! परमात्माने निर्भय रमणकी सिद्धिके हेतु द्वैत प्रकट किया. एकाकितामें अनेकता उभारी गयी. अमूर्तको मूर्त रूप धारण

करने पड़े. अमृत स्वयं ही मर्त्य बन गया. स्थितिमें गतिके स्पन्दन होने लगे. अनेक गतिशील रूप उस एक कूटस्थ ब्राह्मिक अवकाशमें विचरण करने लग गये. उस सनातन आत्मसत्तामें रहे हुवे आत्मानन्दकी सनातन आत्मचेतनामें कुछ प्रत्यक्ष तो कुछ अप्रत्यक्ष जैसा घटित हो गया. अतः अनिर्वचनीय आत्मानन्दके अगाध सिन्धुमें ''क्वासि! क्वासि?'' की विरहव्यथायुक्त वाणी तब लहराने लगी. तब जो मूर्त मर्त्य प्रत्यक्ष रूप थे वे गतिशील हो कर, जो अमूर्त अमृत परोक्ष कूटस्थ अचल रूप थे उन्हें खोजने लगे. अतएव शुकमुनि भागवतमें कहते हैं : ''**गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामपि देहिनां यो अन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेन इह देहभाक्**'' (भाग.पुरा.१०।३३।३६) अर्थात् गोपिकाओंके भीतर उन गोपिकाओंके पतिओंके भी भीतर और सभी देहधारिओंके भीतर जो छिप कर बैठा हुवा है, वही इस सृष्टिकी लीलाका मुख्य नायक एक रूपमें छिप कर दूसरे रूपमें स्वयं अपने-आपको ही खोज रहा है.

एक भाषामें लिखे गये ग्रन्थका जब किसी दूसरी भाषामें अनुवाद किया जाता है तब भाषा ही केवल बदली जाती है, भाव नहीं. यदि अनुवादमें भाव बदल जाये तो ऐसे अनुवादको अशुद्ध माना जाता है. इसी तरह रमणके भावसे मुखरित हुयी वाणीमें कभी भयके सुर भी सुनायी देने लगते हैं. उसका अनुवाद यदि अद्वैतकी भाषामें कर दिया जाये तो हमें निर्भयता मिल जाती है. ऐसा करते समय यह सावधानी रखनी आवश्यक होती है कि रमणका भाव कहीं खो न जाये! ''**सवै नैव रेमे... स द्वितीयम् ऐच्छत्**'' (बृह.उप.१।४।३) की द्वैतवाली भाषाका मुख्य भाव रमणका ही था, अतएव ''**एकमेव अद्वितीयम्**'' (छान्दो.उप.६।२।१) की अद्वैतकी भाषामें उसका अनुवाद करनेपर ''एको अहं बहु स्यां प्रजायेयम्'' अर्थात् एक ही तत्त्व रमणार्थ अनेक नामरूपकर्मोंको स्वयं धारण करता है, यह कदापि विस्मृत नहीं होना चाहिये. निर्भय रमणके इस नाटनको जो भलीभांति निभाना

हो तो, द्वैत और अद्वैत दोनों ही भाषाओंका समुचित ज्ञान आवश्यक है. अन्यथा नाम-रूप-कर्मोंके इस महामेलेमें निर्भय होनेकी अंधी भागदौड़में मृदुतम-सुकोमल रमणका भाव कहीं कुचल न जाये!

अतः उपनिषद् कहता है : "इस दिखलायी देती अनेकतामें ही यदि हमें एकताके अनुदर्शन हो पाते हैं तो उस अनेकताके कारण होते शोक-मोह कष्ट नहीं दे पायेंगे (यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैव अभूद् विजानतः तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वम् अनुपश्यतः)!" (ईशावा.उप.७)

वनमें उन्मुक्त विचरते सिंहके दर्शन सामान्य दर्शकमें नीरस शोक-मोह-भय पैदा करते हैं, क्योंकि दृश्य और द्रष्टा के बीच स्वयं द्रष्टाको द्वैतका स्फुरण होता है—भक्षक और भक्ष्य होनेकी भीतिके वश. फिरभी केवल सिंहके चित्रको देखनेमें वैसी भयंकरताकी रसानुभूति नहीं होती, जैसी गर्जना करते और सरकसकी रिंगमें खुल्ले फिरते साक्षात् सिंहको देख कर होती है, क्योंकि चित्रके द्रष्टा और दर्शन के स्वयं पारमार्थिक सत्य होनेपर भी पुरोवर्ती चित्रित सिंह पारमार्थिक सत्य नहीं होता. अतः सिंहके चित्रके द्रष्टाका केवलाद्वैत रसानुभूतिमें बाधक बन जाता है. सरकसमें सिंहको निहारना निश्चय ही भयरूप स्थायी भावकी रसानुभूति है. सरकसके अद्वैतमें दर्शक और दृश्य सिंह के द्वैत भीतिके स्थायी भावको रसानुभूतिमें पल्लवित कर देते हैं! सिंहके भयंकर होनेके शुष्क तथ्यको रिंगमास्टर एक कवि या चित्रकार की तरह जैसे रसात्मक भावमें रूपान्तरित कर देता है तोभी सरकसमें सिंहको देखे बिना सिंहकी भयानक कथा सुना कर जिस बालकको अस्वाभाविक रीतिसे डरपोक बना दिया गया हो तो, वह सरकसके सिंहको देख कर भी अतिशय अधीर बन रोने-चिल्लाने लग जाय या घबरा जानेसे उसकी घिग्घी बंध जाये तो उसमें दोष उसके गुरुजनोंका ही होता है रिंगमास्टरका नहीं.

एकताके अनुदर्शनमें, अनुवादकी तरह, अनेकतामें सम्भवरूप रमणका भाव बना रहना चाहिये, अन्यथा तो भ्रामक अनुवादकी तरह वह अनुदर्शन भी भ्रमपूर्ण सिद्ध होगा. अद्वैतकी निर्भीक भाषामें अरतिका दोष प्रकट हो जायेगा. यह सृष्टि भी वस्तुतः तो एक काव्य ही है, जिसकी रचना परमात्माने की है. क्योंकि अतीतानागतको जान पाना या सोच पाना सर्वज्ञ या कवि दोनोंमें समान ही होता है अतः श्रुति-स्मृतिओंमे परमात्माको 'कवि' भी कहा गया है : ''अनन्तम् अव्ययं कविम्'' — ''कविं पुराणम् अनुशासितारम्'' (महाना.उप.११।७ — भग.गीता.८।९).

अब तो हम ''रसात्मक शब्दसंयोजन'' जैसे सीमित अर्थोंमें 'काव्य' शब्दका प्रयोग करते हैं. संस्कृतभाषाके सौन्दर्यशास्त्रमें नाटकको भी दृश्यकाव्य माना गया है. थोड़ेसे मुक्ताग्रह हो कर, यदि सृष्टिको भी हम एक काव्यतया मान्य कर पायें तो पांचों ज्ञानेन्द्रियों (आंख, कान, नाक, जीभ और त्वचा) द्वारा इस सृष्टिकाव्यको देखा जा सकता है, सुना जा सकता है, सूंघा जा सकता है, चखा जा सकता है; और छुआ भी जा सकता है. इतना ही नहीं, परन्तु पांच कर्मेन्द्रियों (हाथ, पग, वाणी आदि) से इस काव्यको पकड़ा सकता है. इस काव्यमें पादविहार हो सकता है, इस काव्यका गान किया जा सकता है. केवल मूक दर्शक बने रहनेकी नियति या यन्त्रणा इस काव्यमें है नहीं! इसमें हिस्सा लेना हो तो वह और न लेना हो तो साक्षिभाव द्वारा भी इसे देखा जा सके ऐसे दिग्दर्शकीय निर्देश इस सृष्टिनाटककी स्क्रिप्ट्में ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के समायोजन द्वारा किया गया है. इस नाटककी कथामें हमें क्या रोल अदा करना है, क्या-कैसे संवाद बोलने हैं, वह सब हृदयमें बैठा हुवा अन्तर्यामी परमात्मा हमें क्षिप्रनिर्देश (Prompt) द्वारा जता रहा ही है. उस अन्तःप्रेरणाको अपनी बराबर जान-समझ पायें तदर्थ हमें बुद्धिरूप अन्तःकरण प्रदान किया गया है. इस नाटकमें स्वयं हमारे और दूसरेके

अभिनेताओंके अभिनयका आनन्द उठा पायें एतदर्थ हमें मन भी प्रदान किया गया है. इस नाटकमें अभिनयकी तन्मयतामें किसी भी प्रकारका व्यवधान न पैदा हो तदर्थ अहन्ता-ममताकी भूलभुलैयाके भीतर हमें रखा गया है. यह अहन्ता-ममताका भुलावा यदि केवल अपने ही अभिनय पूर्ण करनेमें सीमित हो जाता है तो उसे 'अविद्या' कहते हैं. पर यदि यह अहन्ता-ममता इस सृष्टिकी क्रीड़ाको समग्रतासे आवृत कर पाये तो उसे विद्याकी पराकाष्ठारूप 'सर्वात्मभाव' कहा जाता है.

महर्षि वामदेवको, अतएव, ब्रह्मानुभूतिकी मस्तीमें अपना अहंभाव अपने देहमें सीमित लगनेके बजाय समग्र ब्रह्माण्डमें व्याप रहा सा लगने लगा था : ''तद्धैतत् पश्यन् ऋषिः वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुः अभवं अहं सूर्यः च''(बृह.उप.१।४।१०).

किसी भी काव्य नाटक या उपन्यास के पात्र संवाद या कथावस्तु के साथ जब पाठक या दर्शक में साधारणीकरण (Identification) का भाव जग नहीं पाता तो रसका आविर्भाव अशक्य हो जाता है. पात्रके सुख-दुःख जब तक पाठक या दर्शक को अपने सुख-दुःख नहीं लगते तब तक रस प्रकट नहीं हो पाता. किसी पात्रके करुण रुदन द्वारा अपना हृदय यदि करुणासे भर नहीं जाता हम करुणरसका अनुभव कर नहीं पाते. प्रणयप्रसंगमें छलकती दो पात्रोंके बीचकी अनुराग भरी प्रसन्नता हमें यदि गुदगुदा नहीं पाती तो शृंगाररसका अनुभव हमारेलिये शक्य नहीं.

नाटक और दर्शक के बीच रही द्वैतकी धारणा, यदि नाटकको देखते समय शिथिल न हो पाती हो तो ऐसे नाटकके पात्र, संवाद या कथा के साथ दर्शकके भीतर साधारणीकरण अशक्य बन जाता है. यदि रामलीलाका दर्शक ''रामकी सीताको रावण उठा गया उसमें मेरा क्या गया?'' ऐसा द्वैतभाव साथ रामके साथ रख बैठा हो,

वह रामके हृदयको सालते सीताके विप्रयोगको समझ नहीं पायेगा. ऐसे दर्शक जब रामलीला देखनेको आ धमकते हैं तब उनके राम सचमुचमें रोते होंगे! सहानुभूतिविहीन दर्शक प्रत्येक रामके लिये रावणसे भी अधिक भयंकर सिद्ध होते हैं, क्योंकि रावणको मार कर अपनी सीताको पा लेना रामलीलामें शक्य होता है परन्तु दर्शकोंकी सहानुभूति पा लेनी शक्य नहीं! सृष्टि भी एक भगवल्लीला है. इसमें द्वैतभाव रखेनेवाले ऐसे दर्शकोंके बारेमें उपनिषद्ने चेतावनी दी है : ''द्वितीयाद् वै भयं भवति'' (यथापूर्व)

दूसरी ओर रामलीलाके नाटकको मिथ्या दृश्य मान कर स्वयंको केवल पारमार्थिक द्रष्टा माननेवाले केवलाद्वैतमें ग़ाफिल रहनेवाला दर्शक भी रामलीलामें रम नहीं पाता! केवल-अद्वैतवादकी झोंकमें फंसे हृदयमें सहृदय दर्शक मर जाता है. अतः वास्तविक रामचरित्रको भी रूपक मान लेना अधिक रुचता है. ऐसे दर्शकको रामकथा कहनेको कहा जाये तो वह कुछ इस तरह ही प्रस्तुत करना चाहेगा :

> यह अपना जीवात्मा ही आत्माराम राम है. उसकी सीता मिथिलाकी राजकुंवरी नहीं परन्तु आत्माद्वैतमें रहनेवाली शान्ति वही वास्तविक सीता है. इस पाञ्चभौतिक देहकी पंचवटीमेंसे रागद्वेषके द्वैतभावका रावण उस आत्मशान्तिकी सीताको हर जाता है. इस भयंकर राक्षससे सीताको छुड़ाना हो तो सांसारिक मोहके सागरकी परली पार जाना पड़ेगा. पारंगत(!) होना पड़ेगा. फिर रागद्वेषके द्वैतभावको रावणको मार कर, तुम्हारी आत्माद्वैतकी शान्तिकी सीता तुम्हें फिर मिल जायेगी!

उपनिषद् किन्तु कुछ अन्य ही बात कहना चाहते हैं! कोई भी ज्ञानी जीवात्मा परमात्मासे अधिक ज्ञानी तो हो नहीं पायेगा. उस परमात्माको भी यदि आत्मरमणमें परिपूर्ण रमणकी रसानुभूति न

हो पायी ''स वै नैव रेमे. तस्माद् एकाकी न रमते. स द्वितीयम् ऐच्छत्. सह एतावान् आस. स आत्मानं द्वेधा आपातयत् पतिः च पत्नी च अभवताम्'' (यथापूर्व), तब आप महोदय इतने कितने बड़े ज्ञानी बन गये कि एकाकितया इस जगत्में आत्माराम बन कर बिराजमान रह पायेंगे ?

परमात्माकी इस रामलीलामें दर्शकके रूपमें आनेवाले जो परमात्माकी लीलामें लीलाराम बननेकी बजाय लीलासे विरत हो कर केवल आत्मदर्शनमें रमनेवाले आत्माराम बनना चाहते हैं, उनका भविष्य तो श्रुतिने चुपचाप बता दिया कि: ''तस्माद् एकाकी न रमते!'' ''तुम आत्माराम बन कर एकाकी रमण कर नहीं पाओगे'' यह भविष्यवाणी कभी खोटी नहीं पड़ती.

सीता और राम के प्रिया-प्रियतमके द्वैतघटित प्रणयदृश्यको मायाका मिथ्या 'कपटनाटक' कह कर अस्वीकार करनेवाले, स्वयंको केवल पारमार्थिक द्रष्टा मान कर चल पड़ते हैं, परन्तु उनसे आत्मकैवल्यके ध्यानमें आवश्यक मौन निभ नहीं पाता! अतः वे आत्माके अद्वैतपर प्रवचन प्रारम्भ कर देते हैं. ऐसे आत्माराम बनना चाहते ज्ञानीकी वाणी सुनने जिज्ञासु श्रोतागण जुट जाते हैं. प्रतिदिन ज्ञान प्राप्तिके हेतु श्रवणव्यसनी श्रोता सच्चे विरक्त या मुमुक्षु हों या न हों; फिरभी, वक्ताको तो आत्मीय लगने ही लगते हैं. अन्ततः यह आत्माराम साधक श्रोताराम (श्रोताओके समक्ष किये जानेवाले आत्माके अद्वैतके प्रवचनमें रमा हुवा) वक्ता बन कर रह जाता है! अतः श्रुतिकी भविष्यवाणी प्रमाणिक सिद्ध हो जाती है : ''उस परमात्माको एकाकी रहना सुहाया नहीं अतः आज भी कोई एकाकी रह नहीं पाता!''

अतः द्रष्टाकी केवलाद्वैती दृष्टि रामलीलाके रसमें रसाभास पैदा करनेवाली होती है. केवलाद्वैतकी परिणति या तो केवल अरतिमें अथवा तो केवल श्रोतारतिमें पर्यवसित हो जाती है. इस जगत्में ऐकान्तिक

आत्मरमण सम्भव नहीं.

नाटक देखते समय द्रष्टा और दृश्य के बीच तादात्म्यके भावके ऐसे निर्झर बहने चाहिये कि जिसके प्रवाहमें हमारी चेतनामें लगे केवल-द्वैत और केवल-अद्वैत के सारे धब्बे धुल जायें! स्वयंके अद्वैत स्वरूपमें भरे निजानन्दके सिन्धुमें नामरूपात्मक द्वैतकी अनेक परमानन्दरूप लहेरें परमात्माने प्रकट की है. इस आधिदैविक लीलामें हमारे भीतर तादात्म्य-भाव खिल पाये एतदर्थ उपनिषदोंने जो पाठ हमें पढ़ाना चाहा ''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत् त्वम् असि'' (छान्दो.उप.६।८।७) इसमें महत्त्वपूर्ण रहस्य यही है कि दिखलायी देती जड़-चेतनरूपा सृष्टि और उस आनन्दरूप परमात्मा के बीच घनिष्ठ तादात्म्य है : सब कुछ ऐतदात्मक है वह आत्मा है और तुम भी वही ऐतदात्मक हो. ''अहं ब्रह्मास्मि'' की साधनाका तात्पर्य भी अहंकारास्पद जीवात्माके केवल अद्वैतमें न हो कर, जीवात्मा और परमात्मा के बीच रूपगत वास्तविक द्वैत होनेपर भी तत्त्वगत मौलिक अद्वैतके प्रतिपादनमें रहा हुवा है. लीलाके दृश्य और द्रष्टा के बीच एक साधारणीकरणमें उपनिषद्का तात्पर्य निहित है.

आधुनिक वैज्ञानिक तत्त्वचिन्तनमें देश (Space) काल (Time) द्रव्य (Matter) और ऊर्जा (Energy) के परस्पर सापेक्ष (Relative) होनेकी धारणा प्रस्तुत हुयी है. इसकी प्रायः अतर्क्य व्याख्या प्रस्तुत की जाती हैं कि महान वैज्ञानिक आईनस्टाईन्ने भी देश काल द्रव्य और ऊर्जा के द्वैतको पारमार्थिक सत्य (Absolutely Real) न मान कर केवल व्यावहारिक सत्य (Relatively Real) स्वीकारा है.

सापेक्षतावादके सिद्धान्त(Theory of Relativity)की, मेरी नम्र धारणाके अनुसार, यह विपरीत व्याख्या है. क्योंकि इन चारों पदार्थोंके स्वरूप परस्पर सापेक्ष है; पर उनकी सत्ता समान ही है. क्योंकि किस निरपेक्ष

पारमार्थिक सत्ताकी अपेक्षा इन चारों पदार्थोंको सापेक्ष या व्यावहारिक मानना? इस प्रश्नकी न तो आईन्स्टाईनने चिन्ता की और उस सिद्धान्तमें किसी पारमार्थिक सत्ताकी अपेक्षा इन्हें आपेक्षिक कहना अभिप्रेत है. ये तो परस्परसापेक्ष हैं. एकदूजेसे अवर या पर नहीं. अतः परस्पर सापेक्ष और व्यावहारिक सत्य ये दोनों पर्यायवाची शब्द नहीं हैं.

व्यावहारिक सत्य वस्तुतः सत्य नहीं होता केवल व्यवहारोपयोगी सत्ता ही उसकी होती है पर्देपर दिखलायी देनेवाले चलचित्रकी तरह अथवा पत्रमुद्रा (currency note) के मूल्यकी तरह. जिस क्षण अपनी चेतनामें कर्ता भोक्ता या द्रष्टा होनेकी स्फुरणा समाप्त हो जाती है उसी क्षणके बाद व्यावहारिक सारे अवभास स्फुरित होने बंद हो जायेंगे. व्यावहारिक सत्य बाधित हो जाता है. कर्ता द्रष्टा या भोक्ता होने की भ्रान्तिके निवृत्त होते ही शुद्ध चेतनाको मुक्त माना जाता है. उस मुक्तावस्थामें व्यावहारिक सत्यकी स्फुरणा होती नहीं है. ब्रह्मज्ञान प्रकट होते ही अर्थात् पारमार्थिक सत्यके साक्षात्कारवश, भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यके मतके अनुसार, देश काल द्रव्य आदिके द्वैत बाधित हो जाते हैं. जबकि आईनस्टाईनके मतके अनुसार सापेक्ष सत्यका कभी बाध नहीं होता है, चारों देश-काल-द्रव्य-ऊर्जा पारमार्थिकतया सापेक्ष होते हैं. सापेक्षतावादका सिद्धान्त देश काल द्रव्य और ऊर्जा के द्वैतको मिथ्या प्रतिभास या मि[illegible] व्यवहार (Subjective) नही मानता है. इन देश काल द्रव्य और ऊर्जा की सत्ता किसी जीवचेतना या ईश्वरचेतना की स्वप्नोपम मायिक कल्पना नहीं. देश काल द्रव्य और ऊर्जा मेंसे प्रत्येककी सत्ता वास्तविक (Objective) होनेपर भी एकदूजेसे निरपेक्ष न हो सापेक्ष अर्थात् इतरेतरनिर्भर होती हैं. इन चारोंके स्वरूप ऐसे हैं कि चारोंको एकदूजेकी अपेक्षा है. आईनस्टाईन् तो इतना ही कहना चाहता था.

इतरेतरसापेक्षके आधारपर द्रव्यका ऊर्जामें रूपान्तरण शक्य बना.

यह व्यावहारिक सत्ताके सोपानोंपर आरोहण कर पारमार्थिक सत्ताके स्तरपर पादन्यास जैसी बात नहीं. क्योंकि सापेक्षतावादके सिद्धान्तके अनुसार द्रव्य और ऊर्जा दोनों ही सापेक्ष हैं. अतः यदि पारमार्थिक हों तो दोनों ही पारमार्थिक हैं और व्यावहारिक हों तो दोनों ही व्यावहारिक हैं. अतः स्थूल द्रव्योंके द्वैतसे सूक्ष्म ऊर्जामें अद्वैतको पानेकी कथा यहां अप्रासंगिक लगती है.

ऐसे सापेक्षतावादने देश काल द्रव्य और ऊर्जा में मान लिये गये केवल-द्वैत या केवलाद्वैत की सम्भावनाको सर्वथा अतर्क्य बना दिया है. जो ये चारों पदार्थ भिन्न-भिन्न होनेपर भी एकदूजेकी अपेक्षा रखनेवाले — एकदूजेपर निर्भर हों तो यह सिद्ध हो जाता है कि ये चारों ही पदार्थोंके द्वैत किसी एक समष्टि (Whole)के चार अंग हैं, पहलु हैं या प्रक्रिया (Parts, aspects or functions of a Single system) हैं.

''द्वै वाव ब्रह्मणो रूपे : मूर्तं चैव अमूर्तं च, मर्त्यं च अमृतं च, स्थितं च यत् च, सत् च त्यं च.''

(यथापूर्व).

उपनिषद्द्वारा उपलक्षण शैलीमें दरसाये गये विविध युगलोंकी वास्तविकता देश काल द्रव्य और ऊर्जा में पहचानी जा सकती है. द्रव्य मूर्त होता है और ऊर्जा अमूर्त. द्रव्यसे ऊर्जामें और ऊर्जासे द्रव्यमें होते रूपान्तरणको व्यष्टिरूपेण निहारनेपर वे मर्त्य प्रतीत होते हैं; परन्तु, समष्टिरूपेण देखे जानेपर ऐसा लगता है कि न तो कुछ उत्पन्न हो रहा है और न कुछ नष्ट ही हो रहा है, केवल एक रूपमेंसे दूसरे रूपमें परिवर्तन हो रहा है. अर्थात् समष्टिरूपेण सब कुछ अमृत ही है. त्रि-आयामी (Three Dimensional) रूप स्थिर देशमें 'स्थित' और भूतसे भविष्यकी एक ही दिशामें चलनेवाले एक-आयामी (Mono Dimensional) रूप सञ्चारी कालमें 'यत्'को

पहचाना जा सकता है. इसी तरह देश काल द्रव्य और ऊर्जा के विविध व्यष्टिरूपोंको प्रत्यक्षद्वैतके रूपेण जाना जा सकता है और इन चारोंके समष्टिरूपका अपरोक्ष अद्वैत भी माना जा सकता है. एतावता सिद्ध होता है कि ''सत् च त्यं च'' के युगलकी वास्तविकताका अस्वीकार सापेक्षतावादमें भी शक्य नहीं.

कुछ आधुनिक वेदान्त प्रवचनकार कहते हैं कि परस्परसापेक्ष होनेसे ही देश काल द्रव्य और ऊर्जा के द्वैतको पारमार्थिक सत्य नहीं माना जा सकता. उनकी धारणाके अनुसार जो निरपेक्ष सत्य हो उसे ही पारमार्थिक सत्य माना जाना चाहिये. सत्यकी ऐसी परिभाषा ही दुराग्रहपूर्ण प्रतीत होती है. क्योंकि इनकी धारणाके अनुसार ब्रह्म सापेक्ष वस्तु हो नही सकता अतः निरपेक्ष ब्रह्मसे अतिरिक्त सभी कुछ मायिक या अज्ञानोपाधिक प्रतिभास या अविद्याकल्पित होना चाहिये.

अब उपनिषद् जब ऐसा कहते हैं कि ''सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय इति'' (यथापूर्व)तब इन विचारकोंको लगता है कि पारमार्थिक ब्रह्मकी तरह कोई एक मायिक ब्रह्म भी होना चाहिये, जिसे बहुभवनकी कामनाकी हो सकती है! इस ब्रह्मको 'मायाशबलित' कहा जाता है. ब्रह्मके पारमार्थिक अद्वैतमें यों मायिक द्वैतकी कल्पना प्रस्तुत की जाती है. उपनिषदोंमें भी ऐसा एक वचन मिलता माना जाता है : ''अस्माद् मायी सृजते विश्वम् एतत्'' (श्वेता.उप.४।९). इस वचनके आधारपर इन विद्वानोंकी धारणा और अधिक बद्धमूल हो जाती है कि निरपेक्ष पारमार्थिक ब्रह्म और सापेक्ष मायाशबलित ब्रह्म अलग-अलग होने चाहिये.

ऐसी व्याख्यामें सर्वाधिक आपत्तिजनक तथ्य एक यह है कि 'मायी' शब्दका अर्थ संस्कृतभाषाके व्याकरणनियमके अनुसार 'मायिक' नहीं होता. जिसमें मायाका सामर्थ्य हो उसे 'मायी' कहा जाता है.

मायाकल्पित या मायाद्वारा भासित पदार्थको 'मायी' कहना सुसंगत नहीं लगता.

''अस्माद् मायी सृजते विश्वम् एतत्।
तस्मिन् च अन्यो मायया संनिरुद्धः॥
मायान्तु प्रकृतिं विद्याद् मायिनन्तु महेश्वरम्।
तस्य अवयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वम् इदं जगत्॥''
(श्वेता.उप.४।९-१०).

अविकलरूपेण यह वचन यों है. यहां 'अस्माद्' पदके अनेक अभिप्राय कहे-सोचे जा सकते हैं. किसी भी तरह परन्तु जिस मायीको 'विश्वस्रष्टा' कहा गया है वह स्वयं मायामें सन्निरुद्ध या शबलित हो नहीं सकता. मायाको इस विश्वकी 'प्रकृति' या 'उपादान' कहना और मायी महेश्वरको 'स्रष्टा' या 'कर्ता' कहना और उससे भिन्न किसीको मायामें 'सन्निरुद्ध' कहना, ये सारी बातें स्वयंमें इसका प्रमाण बन जाती हैं कि महेश्वर मायाका नियामक या प्रयोक्ता है, नियम्य या प्रयुक्त नहीं. उस महेश्वरके अवयवोंसे जगत् व्याप्त है, ऐसा प्रतिपादन भी मायीके अमायिक होनेका प्रमाण जाना चाहिये. क्योंकि वह उसके अपरिच्छिन्न होनेके तथ्यको पुष्ट करता है.

'माया' शब्दका अर्थ प्रकृति किया गया है. अतः यह स्थूल-व्यक्त जगत्की सूक्ष्म-अव्यक्त अवस्था होनी चाहिये. अथवा परमात्माके अस्थूल बीजरूप अद्वैतमें पत्र-पुष्प-फलोपम द्वैतकी ही सूक्ष्म सम्भावनोंको 'प्रकृति' कहा जा सकता है. प्रकृतिको परमात्मासे भिन्न मानें या अभिन्न मानें, किसी भी संयोगमें प्रकृतिके बंधनसे मायी परमात्मा स्वयं बंधता नहीं है. वैसे परमात्मा स्वयं महेश्वर होनेके रूपमें तो बंधता नहीं है पर जीवात्मरूपेण बंध भी जाता है. ऐसी स्थितिमें सृष्टिके स्रष्टाको 'मायाशबलित' कैसा कहा जा सकता है?

उल्लेखनीय होता है कि उपनिषद् भगवद्गीता भागवतपुराण और ब्रह्मसूत्रों के समन्वितप्रामाण्यके अनुसार जगत्का उपादान परमात्मासे अव्यतिरिक्त प्रकृतिके रूपमें ही सिद्ध होता है :

"ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं स आत्मा तत् त्वम् असि."
(छान्दो.उप.६।८।७).

"भूमिः आपो अनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिः अष्टधा।।
अपरा इयम् इतस्तु अन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो यया इदं धार्यते जगत्।।"
(भग.गीता.७।४-५).

"द्रव्यं कर्म च कालः च स्वभावो जीवएव च।
वासुदेवात् परो ब्रह्मन् नच अन्यो अर्थो अस्ति तत्त्वतः।।"
(भाग.पुरा.२।५।१४).

"प्रकृतिः च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्, अभिध्योपदेशात् च...
आत्मकृतेः परिणामात्, योनिश्च हि गीयते."
(ब्र.सू.१।४।२३-२७).

भागवतके श्लोकमें द्रव्य (Matter) कर्म (Kinetic Energy) स्वभाव (Static Energy) काल (Time) जीव (Consciousness) इन पांचोंको परब्रह्म वासुदेवसे तत्त्वतः अभिन्न गिनाया गया है. आधुनिक विज्ञानसम्मत देश काल द्रव्य और ऊर्जा के वर्गीकरणसे इस वर्गीकरणमें कुछ तारतम्य दिखलायी देता है; परन्तु, जो थोड़ी गम्भीरताके साथ अवलोकन करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि भागवतकारके मतके अनुसार द्रव्य और देश अलग-अलग पदार्थ नहीं क्योंकि इन्हें अतिरिक्त माननेमें एक द्रव्य और दूसरा उसका अभाव ऐसा आकाश ऐसा द्वैतवादी पूर्वाग्रह काम कर रहा है. भागवतकार और गीताकार दोनोंके अनुसार द्रव्यात्मिका प्रकृतिमें पृथ्वी जल तेज वायु आकाश मन बुद्धि

अहंकार परिगणित हैं. यहां आकाशके रूपमें देश (Space) का समावेश कर लिया गया है. अतः अपने दर्शनकी परिभाषामें जिसे 'द्रव्य' कहा गया है वह आधुनिक विज्ञानसम्मत Matter और Space दोनोंका संग्राहक है.

विज्ञानसम्मत एनर्जि या ऊर्जा के स्थानपर भागवतोक्त [१]कर्म (Kinetic Energy) और [२]स्वभाव (Static Energy) को ऊर्जा[*]के रूपमें गिना जा सकता है.

काल (Time) तो विज्ञान और भागवत दोनों सूचिओंमें आनेवाला समान पदार्थ है.

जहां तक जीवके अस्तित्वकी समस्या है इस बाबतमें आधुनिक विज्ञान अभी तक मौनसेवन करता है. एतावता कितने ही अधीर विचारक इसका अर्थ ऐसा निकाल लेते हैं कि चेतनाको अतिरिक्त पदार्थ मानना अवैज्ञानिक दृष्टिकोण है. उसकी पृष्ठभूमिमें रहे, परन्तु, रोचक ऐतिहासिक तथ्योंपर ध्यान देना आवश्यक लगता है.

अभारतीय धर्मोंमें आत्मा (Soul) का अस्तित्व केवल मनुष्यरूप प्राणीमें ही स्वीकारा गया है. वनस्पति वृक्ष कीट सर्प मत्स्य कच्छप पशु पक्षी जैसे प्राणिओमें नहीं. इस भेदके वे सात हेतु गिनाते हैं कि जिन हेतुओंके आधारपर मनुष्यकी परिभाषा ही अलग घड़ी गयी है:

---

[*]**लेखोत्तरटिप्पणी :** यहां यह अवधेय हो जाता है कि स्टीफेन् हॉकिंग् परिगणनासौविध्यके हेतु चार तरहकी [१]गुरुत्वाकर्षिका ऊर्जा [२]विद्युच्चुम्बकीय ऊर्जा [३]मन्द नाभिकीय ऊर्जा और [४]प्रबल नाभिकीय ऊर्जाओंकी जो उत्प्रेक्षा करते हैं वह अधिक जटिल तथा गहन विश्लेषण पर आधृत है. उनका, परन्तु, यथाकथञ्चित् अन्तर्भाव इन्हीं दो, नाम्ना, कर्म और स्वभाव रूपी सामान्य ऊर्जामें सोच लेना भागवतीय दृष्टिकोणके बोधार्थ उपयुक्त होगा.गो.श्या.म.

(१)केवल मनुष्य ही तर्कशक्तिशील प्राणी है.
Only man is descursive animal.
(२)केवल मनुष्य ही यन्त्रशक्तिवान् प्राणी है.
Only man is technological animal.
(३)केवल मनुष्य ही राजनैतिक प्राणी है.
Only man is political animal.
(४)केवल मनुष्य ही सांस्कृतिक प्राणी है.
Only man is cultural animal.
(५)केवल मनुष्य ही धार्मिक प्राणी है.
Only man is religious animal.
(६)केवल मनुष्य ही नीतिमान प्राणी है.
Only man is ethical animal.
(७)केवल मनुष्य ही सौंदर्यानुभूतिशील प्राणी है.
Only man is esthetic animal.

मनुष्याकार प्राणीकी इस विशिष्टता उसके देहमें रही आत्माके कारण है, ऐसा यहुदी-ईसाई-मुस्लिम धर्मोंका कहना है. आधुनिक विज्ञानने परन्तु ऐसी धारणाको अब निरस्त कर दिया है. यह विशिष्टता स्थूल रूपमें मनुष्याकार प्राणीमें उपलब्ध होनेपर भी सूक्ष्म रूपमें मनुष्येतर प्राणिओंमें भी होती ही है. तदुपरांत आज तो अनन्त ब्रह्माण्डमें हजारों न सही पर सेंकड़ों ग्रहलोक ऐसे हो सकते हैं कि जिन लोकोंमें पृथ्वीकी अपेक्षा अधिक बुद्धिमान अथवा पृथ्वीके समान बुद्धिमान प्राणी विकसित हुवे होंगे. अतः इस विशिष्टतापर मनुष्याकार प्राणीका एकाधिकारकी धारणाको आज सर्वथा अवैज्ञानिक माना जाता है. मनुष्याकार प्राणीमें यह विशिष्टता लाखों वर्षोंकी विकासशृंखलाकी एक कड़ी मात्र है. विकासवादी सिद्धान्तके अनुसार मानवीय शरीरकी संरचनामें और मानवेतर प्राणिओंकी शरीरकी संरचनामें किसी भी तरहका ऐसा तारतम्य सिद्ध नहीं होता.

भवनोपम सचेतन शरीरकी संरचनामें ईंटोंकी तरह वापरे गये प्रोटीन और न्युक्लीइक् एसीड् विज्ञानकी प्रयोगशालामें पैदा किये जा सकते हैं. आजसे करोड़ों वर्ष पूर्व सरल एककोषीय अणुका विकास जिस प्रक्रियाके वश हुवा उसका कृत्रिम पुनरावर्तन करके विज्ञानकी प्रयोगशालामें आज उनका निर्माण संभव है. हाइड्रोजन् पानी एमोनिया मिथेन और हाइड्रोजन् सल्फाइड् के घोलमें से अल्ट्रावायोलेट् किरणोंको पसारनेपर यह चमत्कार सिद्ध किया जा सकता है.

यद्यपि ईंट बनानेवाले मज़दूरको भवननिर्माणका तकनीकी कौशल न भी प्राप्त हो, उसी तरह इस प्रोटीन् और न्यूक्लीइक् एसिड् के निर्माताको अभी तक मानवीय शारीरिक संरचनाकी तकनीक प्राप्त न हुयी हो वह तो स्पष्ट बात है. फिरभी जो कुछ रहस्यरूप रह गया है वह इन ईंटोंसे भवनसंरचनाके कौशलसे सम्बन्धित कारीगरीकी बात है, भवन स्वयं किन तत्त्वोंसे बना है उस बारेमें नहीं!

इन ईंटोंकी जटिल संरचनामें लाखों नहीं बल्कि करोड़ों वर्ष लगे हैं. इतनी लंबी अवधिमें जटिलसे जटिलतर और जटिलतम बनती ऐसी संरचनाको दो या दस वर्षोंमें विकसित कर दिखाना शक्य नहीं; परन्तु, एतावता इस मानवदेहकी जटिलतम संरचनामें प्रयुक्त ईंटोंकी पहचानको कोई कैसे झुठला सकता है? अमेरिकाके महान् वैज्ञानिक कार्ल् सेगान् कहते हैं कि विकासका सिद्धान्त अब वाद होनेकी कक्षासे आगे बढ़ कर तथ्यके सिंहासनपर आसीन हो गया है "Evolution is fact, not a theory." (Cosmos p.27) इसका स्पष्ट प्रमाण आज देखा सकता है कि मानवनिर्मित कम्प्युटर् मानवकी बुद्धिसे अधिक प्रभावशाली रीतिसे तर्क करनेमें सक्षम बनता जा रहा है! एतावता कम्प्युटर्में आत्माके अस्तित्वकी कल्पना की नहीं जा सकती. इतिहास गवाही देता है कि तर्कशक्ति, यन्त्रविज्ञान, राजनीति, संस्कृति, धर्म, नीति या सौंदर्यानुभूति आदि गुण पृथ्वीके प्रत्येक प्रदेशमें, प्रत्येक कालमें,

प्रत्येक मानव-समुदायमें एक जैसे, एक ही अनुपातमें विकसित हुवे हों ऐसा दृष्टिगत नहीं होता. तब क्या ऐसे मान लेना कि देहमें रही आत्माका परिमाण अलग-अलग होंगे ?

ऐसे युक्तिवादोंसे केवल मनुष्याकारवाले प्राणीके देहमें विद्यमान रहनेवाली पाश्चात्य धर्मसम्मत आत्माके स्वरूप या अस्तित्व का खण्डन होता माना जा सकता है. हमारे यहां तो इस बारेमें सर्वथा विलक्षण विचारसरणी ही थी. हमारी आत्मविषयक विचारसरणीका खण्डन विज्ञानने अभी तक तो किया नहीं है; और न भविष्यमें कर पायेगा ऐसी सम्भावना ही प्रबल लगती है.

हमारे धर्ममें आत्माके अस्तित्वके लिंग अपनी तर्कशक्ति, तन्त्रशक्ति, राजनीति, संस्कृति, धर्म, नीति या सौंदर्यानुभूति के आधारपर निर्धारित नहीं किये गये हैं, क्योंकि ये सारी शक्ति देहसे सम्बन्ध रखनेवाली हैं. हमारे यहां आत्मचेतनामें मन बुद्धि अहंकार चित्त प्राण ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय आदि प्रत्येक सामर्थ्यको बाह्यारोपित माना गया है. उदाहरणतया जैसे विद्युत् (Electricity) में शब्द या ध्वनि को अभिव्यक्त या ग्रहण करने की स्वयंकी सामर्थ्य न होनेपर भी स्पीकर या माइक रूपी साधनोंसे वह औपाधिक सामर्थ्य आ पाती है, उसी तरह चेतनमें भी शब्दोच्चारणकी सामर्थ्य या शब्दश्रवणकी सामर्थ्य अपनी नहीं होती परन्तु वागिन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय की उपाधिओंके वश चेतना शब्दोच्चारण या शब्दग्रहण के हेतु समर्थ बन जाती है.

सारे देहको पहले एक घड़ियालकी तरह बना कर बादमें जैसे बेटरी या सेल रखे जानेपर वह चलने लगती है अथवा टेपरेकॉर्डरमें बेटरी रखनेसे जैसे वह बजने लगता है वैसे देहमें आत्मा रखनेपर वह चलने लग जाता हो ऐसा अपने उपनिषदोंमें माना नहीं गया है. देहमें आत्माके आगमनका एक यज्ञके रूपमें बहोत रोचक वर्णन

उपनिषद्में दिया गया है :

''१.यह लोक एक अग्नि है, उसमें सूर्य समिधा जैसा होता है. सूर्यकी किरणें उस समिधामेंसे निकलते धुंएकी जैसी हैं. दिनका प्रकाश उस अग्निकी चमक है. चन्द्रमाका प्रकाश उस अग्निके अंगारे जैसा है, नक्षत्र उसके चिनगारीके जैसे होते हैं. इस अग्निमें देवता पानीकी आहुति देते हैं इसके कारण सोम तत्त्वकी उत्पत्ति होती है.

२.उस सोमकी आहुति मेघ रूपी अग्निमें दी जाती है. वायु मेघकी समिधा जैसी होती है, बद्दल धूमकी तरह होते हैं. चमकती बिजली इस धूमरूपी अग्निकी ज्वाला हैं. नीचे गिरती बिजली उस अग्निके अंगारे जैसी होती है. मेघगर्जना इस मेघरूपी अग्निकी चिनगारी जैसे होते हैं. इसमें सोमकी आहुति देनेसे वर्षा उत्पन्न होती है.

३.इस वर्षाकी आहुति पृथ्वीरूपी अग्निमें दी जाती है. उस पृथ्वीरूपी अग्निकी समिधाके जैसा एक संवत्सर होता है. इस पृथ्वीरूपी अग्निका धुंआ इस आकाशको समझ लो, रात्रि उसकी ज्वाला है, दिशायें अंगारोंकी जैसी होती हैं. इस पृथ्वीरूपी अग्निमें वर्षाकी आहुति देनेसे अन्न उत्पन्न होता है.

४.अन्नकी आहुति पुरुषरूपी अग्निमें दी जाती है. पुरुषरूप अग्निकी समिधा वाणी है, प्राण धुआं है, जीभ पुरुषरूपी अग्निकी ज्वाला है, उसके नेत्र अंगारे हैं. श्रवणेन्द्रिय चिनगारी. इस पुरुषरूपी अग्निमें अन्नकी आहुति देनेसे वीर्य उत्पन्न होता है.

५.वीर्यकी आहुति स्त्रीरूपी अग्निमें दी जाती है. स्त्रीरूपी अग्निमें जननेन्द्रिय (उपस्थ) समिधा जैसी होती है, शृंगारिक

संकेत धुंए जैसे होते हैं. योनि ज्वाला जैसी होती है, सम्भोग अंगारोंके जैसे होते हैं, इसमें मिलता सुख चिनगारी जैसा होता है. इस स्त्रीरूपी अग्निमें वीर्यकी आहुति देनेसे अर्थात् पांचमी आहुतिके कारण मूल जलतत्त्व पुरुषाकारतया प्रकट होता है.

वह पुरुष गर्भमें दसेक मास रह कर बाहर आता है. बादमें अपनी आयुष्यके अनुरूप जीता है. मरनेके बाद वह जिन-जिन पांच अग्निओमेंसे पसार हो कर आया उन्हींमें से पसार हो कर पुनः लौट जाता है.''

(छान्दो.उप.५।३-९)

हम देख सकते हैं कि हमारा आत्मा पानी बरखा अन्न वीर्य और गर्भ ऐसी अनेक अनेक अवस्थाओमेंसे पसार हो कर जनमता है. अतः आधुनिक विज्ञानकी प्रयोगशालामें हाईड्रोजन् पानी एमोनिया मिथेन और हाइड्रोजन् सल्फाईड् के घोलमें अल्ट्रावायोलेट्की किरणोंको पसार करवानेसे चेतना सूक्ष्म रूपमें प्रकट हो जाती हो तो हो जाये! उपनिषद्की प्रक्रियाका इसमें प्रत्याख्यान कहाँ हुवा? इस चेतनामें तर्कशक्ति तन्त्रशक्ति राजनीति संस्कृति धर्म नीति या सौंदर्यानुभूति की सामर्थ्य न हो तो हमें इसमें आपत्तिजनक कुछ भी लगना तो नहीं चाहिये. अथवा तो मानवनिर्मित कम्प्युटर्में मानवसे अधिक बौद्धिक सामर्थ्य तर्कशक्ति खिला कर संगणक वैज्ञानिक दिखलाते हों तो उस कम्प्युटर्में आत्माके अस्तित्वको स्वीकारनेकी बाध्यता आवश्यक हमे नहीं लगनी चाहिये. क्योंकि आत्माके ऐसे स्थूल लक्षण हमने कभी घड़े ही न थे.

आधुनिक विज्ञानकी विविध शाखा (Soul) को खतम कर देनेका बौद्धिक उद्यम है. पर आत्मा तो अजर-अमर है और रहेगी. विज्ञानकी प्रयोगशालामें प्रोटीन् या न्युक्लीइक् एसिड् के अणुके निर्माणसे हमारी आत्माका प्रतिस्पर्धी जीवाणु पैदा नहीं होता है. वह तो शुद्ध

चेतनारूप है और सर्वत्र विद्यमान है. वह तो पानीमें बद्दलोंमें बरसादमें अन्नमें और प्रत्येक प्राणीमें वनस्पति वृक्ष कीट सर्प मत्स्य कच्छप पशु पक्षी या मनुष्य सर्वत्र विद्यमान है. वह तो कहीं भी प्रकट हो सकती है. हाईड्रोज़न् आदि तत्त्वोंके द्रवोंको स्टरलाईज़् कर देनेसे जीवाणु मर जाते होंगे; परन्तु, जीवात्मा मरता नहीं. भगवद्गीतामें कहा गया है : ''अछेद्यो अयम् अदाह्च्यो अयम् अक्लेद्यो अयम् अशोष्यएव च नित्यः सर्वगतः'' (भग.गीता.२।२४) जीवात्माको किसी पार्थिव हथियारसे काटा नहीं जा सकता, आग्नेय उपकरणसे जलाया नहीं जा सकता है, न जलीय उपायोंसे भिंजाया और वायवीय उपायोंसे सुखाया ही जा सकता है. वह तो नित्य और सर्वगत है, सर्वत्र विद्यमान है.

जो नित्य है वह न तो मर सकता है और न जनम सकता है, फिरभी कभी वह प्रकट हो सकता है तो कभी तिरोहित भी हो सकता है. अतएव विज्ञानकी प्रयोगशालामें भी वह चेतना प्रकट हो तो कोई अनहोनी नहीं हो जाती. गर्भमेंसे बालक प्रकट होता ही तो है, नूतन पदार्थके रूपमें पैदा थोड़ी होता है.

मनुष्यकी तर्कशक्ति या नीतिमत्ता आदि गुणोंका जैसा स्वरूप आजके मनोविज्ञान, समाजविज्ञान, नृतत्त्वविज्ञान, शरीरविज्ञान, रसायनविज्ञान, भौतिकविज्ञान या ज्योतिर्विज्ञान के आधारपर सिद्ध हो रहा है, वह स्वयं इसकी गवाही देते हैं कि जड़ और चेतन के बीच अतिद्वैत या अति-अद्वैत का इस सृष्टिमें कहीं भी स्थान नहीं है, केवल एक एक हठवादी दार्शनिककी बुद्धिके स्थानके अपवादको छोड़ कर!

उपनिषदोंकी रसदृष्टिकी यह महत्ता है कि आत्मचेतना समष्टिरूपेण सर्वव्यापी और व्यष्टिरूपेण परमाणुरूप विरोधी धर्मोंसे युक्त मानी गयी है. आधुनिक विज्ञान जैसे प्रकाशको किरण और तरंग यों उभयरूपेण स्वीकारता है. उसी तरह भगवान्ने गीतामें आत्मचेतनामें रहे इस तरहके

दोनों गुणोंको स्वीकारा है :

''नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अचलो अयं सनातनः।''
''ममैव अंशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।''
शरीरं यद् अवाप्नोति यच्चापि उत्क्रामति ईश्वरः।
गृहीत्वा एतानि संयाति वायुः गन्धानिव आशयात्।।''
(भग.गीता.२।३९,१५।७-८)

अर्थात् जीवात्मा समष्टिरूपेण सर्वव्यापी है परन्तु व्यष्टिरूपेण अणुपरिणाम है. समष्टिरूपेण वह अचल है, जबकि व्यष्टिरूपेण एक देहमेंसे, एक लोकमेंसे दूसरे देहमें अथवा दूसरे लोकमें संचार भी कर सकती है. जैसे सर्वत्र व्याप्त वायु अपने इस व्यापक रूपमें पुष्पके पराग या सुगन्ध का एक स्थानसे दूसरे स्थानपर वहन नहीं कर पाती परन्तु जब उसमें कोई झोंका या लहर उठे तो वह पुष्पकी सुगन्धकी वाहिका बन पाती है. अतएव उपनिषद् परमात्माको व्यष्टिरूपेण अणु जीवात्माकी तुलनामें अणीयान् परमाणुरूप गिनाता है. और समष्टिरूप सर्वव्यापी महान् चैतन्य की तुलनामें अधिक महीयान् महाव्यापी गिनाता है. ब्रह्म अपनी जीवात्माकी भीतर रहा अन्तर्यामी परमात्मा है. प्रकृतिमां व्याप रहा है और पुरुष की तुलनामें महान् पुरुषोत्तम है.

काल कर्म स्वभाव द्रव्य और जीव के पञ्चविध रूप एक ही ब्रह्मकी द्विविध प्रकृति हैं : १.अपरा प्रकृति २.परा प्रकृति :

''भूमिः आपो अनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इति इयं मे भिन्ना प्रकृतिः अष्टधा।।
अपरा इयम् इतस्तु अन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।

जीवभूतां महाबाहो यया इदं धार्यते जगत्।।''
(भग.गीता.७।४-५)

एक ही परमात्मामें अपरा प्रकृतिके विविध रूप और परा प्रकृतिके विविध रूपों के द्वैतोंकी सूक्ष्म सम्भावनायें भरी रहती हैं, जैसे एक ही बीजमें किसी वृक्षके विविध वर्ण आकृति गन्ध और स्वाद वाले पत्र, पुष्प और फलों के द्वैतकी सूक्ष्म संभावनायें विद्यमान रहती हैं. अतएव भागवतमें कहे ''द्रव्यं कर्म च कालः च स्वभावो जीव एव च'' (भाग.पुरा.२।५।१४) ये कुछ भी वासुदेव परमात्माकी तत्त्वदृष्टिसे देखें तो भिन्न नहीं होते परन्तु फिरभी रूपदृष्टिसे भिन्न दिखलायी देते हैं; क्योंकि स्वयं ब्रह्म ही इन अनेकविध रूपोंको धारण कर जगदात्मना प्रकट हुवा है ''तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत'' (तैत्ति.उप.२।७). अतः ये विविध रूप उसी परमात्माकी सुकृति=सुन्दर कृति है ''तस्मात् तत्सुकृतम् उच्यते इति'' (तैत्ति.उप.२।७). यहां जो कुछ अभिव्यक्त हुवा है वह उस परमात्माकी सुकृति ही है ''यद् वै तत् सुकृतम्'' (तैत्ति.उप.२।७) क्योंकि परमात्मा रसरूप है अतः उसकी प्रत्येक कृतिमें एक विशिष्ट रस अभिव्यक्त होता है ''रसो वै सः!'' (तैत्ति.उप.२।७). इस रसको जाने बिना इस सृष्टिमें आनन्द मिलनेवाला नहीं ''रसं हि एव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति'' (तैत्ति.उप.२।७). इस सृष्टिमें प्रत्येक प्राणीमें रहनेवाली जीजीविषा जीवन जीनेकी अदम्य लालसा जो दिखलायी देती है वह इस बातकी गवाही देती है कि आकाशमें भरे वायुमेंसे जब हम एक श्वास अंदर लेते हैं तब हम उस आनन्दकी अव्यक्त रसानुभूति करते होते हैं. अन्यथा कोई निरर्थक सांस क्यों लेना चाहता? ''कोह्येव अन्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाशे आनन्दो न स्यात्?'' (तैत्ति.उप.२।७). वह ब्रह्म ही सचमुचमें सब प्राणिओंको आनन्दित रखता है ''एष ह्येव आनन्दयाति'' (तैत्ति.उप.२।७).

यह थी हमारी अपने उपनिषदोंकी रसदृष्टि. विज्ञानने इस रसदृष्टिका

खण्डन किया नहीं है और कर भी नहीं पायेगा! विज्ञानके विकासके साथ इस रसदृष्टिका मण्डन होनेवाला है. यदि कभी विज्ञान इस रसदृष्टिका खण्डन करनेका साहस करेगा तो वह विज्ञान तब मानवीय बुद्धिको सुहाते सांचेमें स्थूलको ढालनेके उद्यमसे विरत हो कर इस सृष्टिमें केवल विनाशकारी साधनोंकी खोजमें जुटानेकी प्रक्रियामें विकृत बन जायेगा.

अतः हमारे दर्शनमें रही रसदृष्टिको पाये बिना जो हम विज्ञानके आविष्कारोंकी चकाचौंधमें अंधे बन जायेंगे तो हमे अपने स्वयंके विनाशके साधनोंको ही विज्ञानके नामपर जुटानेको बाधित होना पड़ेगा. आवश्यकता तो यही है कि जैसे हमारे दर्शनने धर्मद्वारा रसदृष्टि पायी वैसे ही विज्ञानको भी उस रसदृष्टिका उत्तराधिकार हमारे दर्शनोंके द्वारा पाना उचित होगा. अतः अब हम विज्ञानके क्षेत्रमें रसदृष्टिके महत्त्व और स्वरूपको पहचाननेका प्रयास करेंगे.

:: विज्ञानमें हमारी रसदृष्टि ::

'ज्ञान' सामान्यज्ञानका वाचक शब्द है. 'ज्ञान' शब्दके आगे 'वि' उपसर्ग जोड़नेसे 'विज्ञान' शब्द बनता है. 'वि'उपसर्गका अर्थ है विशिष्टता. विशिष्ट ज्ञान यानि विज्ञान.

विज्ञानके विषय स्थूल हों या सूक्ष्म, वे सभी होते हैं विशिष्ट विषय. उन-उन विषयोंकी विशिष्टता उन-उन विषयोंके श्रेष्ठत्व या अधिक प्रामाणिक होनेके अभिप्रायवश कही नहीं जा रही. एक सच्चे वैज्ञानिकका मानस इतना आग्रहरहित होना ही चाहिये कि उसने स्वयं किये हुवे निरीक्षण या परीक्षण के आधरपर जो कुछ सिद्ध होता हो वह सत्य है या असत्य, इसमें अपना सिर खपानेके बजाय स्वयं किये परीक्षण या निरीक्षण के निष्कर्षकी तटस्थ प्रस्तुति करे. एक वैज्ञानिकके लिये यह प्रक्रिया अधिक वांछनीय होनी चाहिये.

जिस मान्यताका परीक्षण या निरीक्षण शक्य न हो ऐसी मान्यतामें विश्वास रखनेके बावजूद वह अपनी मान्यताके वैज्ञानिक सिद्धान्त होनेका दावा कर नहीं सकता. किसी एक दिशामें किये गये निरीक्षण या परीक्षण का एक निष्कर्ष निकला हो परन्तु दूसरी दिशासे किये गये उसी विषयके निरीक्षण या परीक्षण करनेपर पूर्वनिर्धारित निष्कर्षसे दूसरा कोई विपरीत निष्कर्ष भी निकालनेपर स्वयंके निष्कर्षको त्रिकालाबाधित सत्य मान लेनेकी मनोवृत्ति एक सच्चे वैज्ञानिककी कभी हो नहीं सकती. अतः विशिष्ट ज्ञानका अर्थ इतना ही है कि कोई निश्चित एक रीतिसे किये गये निरीक्षण या परीक्षण द्वारा मिलता एक विशिष्ट निष्कर्षको 'विज्ञान' कहा जाता है.

स्थूलमें सूक्ष्मको जाननेको दार्शनिक विचारमन्थनसे जो सन्देह और प्रश्न मानवीय बुद्धिमें उभरते हैं, उन सन्देहों और प्रश्नों के समाधान वैज्ञानिक बुद्धिमन्थनद्वारा पानेका प्रयास विज्ञान है. प्रश्न दर्शन उपस्थापित करता है और उनके उत्तर विज्ञान देता है. अतएव दर्शन प्रश्नकर्ता तो विज्ञान उत्तरदाता हो सकता है. पर एकदूजेको सुने बिना जो दोनों अपना-अपना राग आलापने लगे तो मानवीय बुद्धिकी संसद्में संवाद और विवाद के बजाय एक निरा कोलाहल ही सुनायी देने लगेगा. दर्शन और विज्ञान के बीच विवाद छिड़ जानेपर कोई संवाद और उस संवादमें पुनः किसी प्रकारका विवाद चलता रहे इसमें कोई आपत्तिजनक बात नहीं होती; परन्तु, दोनोंके बीच असम्भाषणकी मनोवृत्ति होनी दोनोंके लिये हानिकारक हो सकती है. एकदूजेकी मर्यादाको जाने बिना या मान्य करे बिना बोलते रहनेकी मनोवृत्ति भी अवांछनीय होती है.

सत्यासत्यके सामान्य निष्कर्षको निकालनेसे पहले दर्शनको विज्ञानद्वारा किये गये विशेष विषयोंके निरीक्षण या परीक्षण के विशिष्ट निष्कर्षोंके तथ्य ध्यानमें रखने चाहिये. इसी तरह विज्ञानको भी अपने विशिष्ट

निष्कर्षोंकी सफलतासे इतना अधिक फूलना नहीं चाहिये कि मनुष्यकी बुद्धिके सामने सामान्य प्रश्न क्या-कैसे उपस्थित हैं.

वैज्ञानिक निरीक्षण और परीक्षण में संश्लेषण और विश्लेषण की प्रक्रिया अपनानेके कारण कुछ जोड़-तोड़ चलती रहनी चाहिये. जिस एककका निरीक्षण या परीक्षण अभिप्रेत हो वह जो स्थूल समष्टि हो तो उसके घटक सूक्ष्म व्यष्टिओंका ज्ञान उस एककके विश्लेषण बिना शक्य नहीं होता. उसे तोड़ कर देखे बिना कोई चारा नहीं रह जाता है. इसी तरह जिस वैज्ञानिक निरीक्षण या परीक्षण की विषयीभूत एकक स्थूल व्यष्टि हो तो वह किस सूक्ष्म समष्टिका भाग या अंग है यह जाननेको उस एककका संश्लेषण भी करना ही पड़ता है. क्योंकि जब तक एककको अन्य किसी एककके साथ उसे जोड़ कर देखनेका कौशल न हो तो ज्ञान मिलेगा नहीं.

इससे सिद्ध होता है कि परीक्षण हो या निरीक्षण, विज्ञानमें विश्लेषणात्मक तर्कपद्धति और संश्लेषणात्मक तर्कपद्धति दोनोंकी ही महत्ता एक जैसी होती है.

उदाहरणतया मेडिकल् साइन्सके विद्यार्थीको शरीररचनाका ज्ञान पानेको मेंढकका विच्छेदन (dissection) करना पड़ता है. कारण यही होता है कि शरीर एक ऐसा एकक है कि जिसे स्थूल समष्टि माना जा सकता है. शरीरके सूक्ष्म अंग-प्रत्यंग शरीरके भीतर होते हैं. अतः शरीरकी चीरफाड़ किये बिना उसकी भीतरी रचना जानी नहीं जा सकती है. युरेनियम्के अणुके विघटनके बिना आणविकी ऊर्जा मिल नहीं सकती. क्योंकि युरेनियमके अणु इलेक्ट्रॉन् न्युट्रॉन् और प्रोटॉन् के परमाणुओंकी समष्टि है.

मेडिकल् साइन्सका विद्यार्थी जब किसी मेंढकके शरीरके विच्छेदन

या विश्लेषण द्वारा उसके अङ्ग-प्रत्यंगोकी रचनाको समझनेका प्रयत्न करता हो तब उसका लक्ष्य इस तरहका ज्ञान पाकर अनेक रोगिओंके अंग-प्रत्यंगोंको निकाल कर अथवा उपचार कर के अथवा नये प्रत्यारोपण द्वारा उन्हें स्वस्थ बनानेका होना चाहिये. ऐसा हेतु न हो तो निरर्थक हिंसा क्रूर अपराध है. ट्रेन या मोटर के अकस्मात्में घायल लावारिस गरीबके ऊपर नौसिखुवे जुनियर डॉक्टर्स् कई मर्तबा सरकारी हस्पतालोंमें उसके शरीरकी चीरफाड़ करनेको टूट पड़ते हैं. ज्ञान पानेकी उनकी भूखको मिटानेको दूसरेके साथ बरती जाती ऐसी क्रूर छलना करनेकी मनोवृत्तिमें रसदृष्टिका सर्वथा ह्रास प्रकट हो जाता है. यद्यपि मेंढकके विच्छेदनमें भी ऐसी ही क्रूरता रही है इसका अस्वीकार सम्भव नहीं. फिरभी रसनिष्पत्तिमें साधारणीकरणकी महत्ता कितनी अधिक है यह हम देख चुके हैं. एक मेंढक खुद कभी कितना भी भूखा क्यों न हो किसी दूसरे मेंढकको मार कर खा नहीं जाता. यद्यपि वह भी कीट-पतंगोंको तो खाता ही है. वह भूखा नहीं रहता. प्रकृतिमें एक मेंढकके भीतर दुसरे मेंढकके प्रति साधारणीकरणका बोध इतना तो स्वतःसिद्ध होता है; परन्तु, मनुष्य जातिके प्राणीने इस स्वतःसिद्ध बोधको स्वयंके कृत्रिम विज्ञानके वश आज दबा दिया है. अतः मनुष्य मनुष्य के बीच रहा साधारणीकरण खतम सा हो गया है. एकदूजेसे परिचित हो पानेके वैज्ञानिक साधनोंके प्रचुर विकास होनेके बावजूद नया कुछ जान लेनेकी भागदौड़में रसदृष्टिके कुचला जानेकी हकीकत इस अकस्मात्के रूपमें प्रकट हुयी है.

अपना दर्शन तो इस जगत्के कणकणके साथ रसदृष्टि विकसित करनेके प्रयोजनार्थ साधारणीकरणकी प्रेरणा देना चाहता है **''सर्वं खलु इदं ब्रह्म''** (छान्दो.उप.३।१४।१). इस ब्रह्मदृष्टिको विकसित करना प्रारम्भिक दशामें शक्य न हो पानेके कारण अपना धर्म अनेकविध प्राणिओंको अनेकविध पूजनीय देवताओंके वाहन अथवा अन्य भी किसी प्रकारके सम्बन्धोपदेशद्वारा उनकी हिंसासे हमें विरत करना चाहता है. सिंह

अम्बाका वाहन, बैल शिवका वाहन, मूषक गणपतिका वाहन, गरुड विष्णुका वाहन, सर्प महादेवके आभूषण, मयूरपिच्छ कृष्णका आभूषण आदि. देवपूजा अथवा वैसे प्रयोजन के बिना किसी भी वृक्षके पत्र या पुष्प को तोड़ने भी ''अल्पीयसी हिंसा''(भाग.सुबो.३।२९।१५) मानी गयी है.

मनुष्येतर प्राणिओंमें आत्मा न होनेके कारण उनका भक्षण किया जा सकता है इसमें कोई क्रूरता या पाप नहीं, ऐसा विधान हमारे धर्मोंमें नहीं. प्रत्येक प्राणीमें आत्मा होती है, अतः किसी भी प्राणीकी हिंसा मूलमें है तो पाप ही. वैसे साथ ही साथ यह भी तथ्य अवधेय है कि प्राणधारण करनेवाले जीवनकी संरचनामें ही अन्योन्यनिर्भर भक्ष्य-भक्षकभाव एक अपरिहार्य नियतिके रूपमें कार्यान्वित हुवा है. फिरभी ब्रह्मदृष्टिवश भक्ष्य और भक्षक के बीच रहे अद्वैतको कदापि भूलना नहीं चाहिये : ''अहस्तानि सहस्तानां अपदानि चतुष्पदां फल्गूनि तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनं, तदिदं भगवान् राजन् एक आत्मा आत्मनां स्वदृक् अन्तरो अनन्तरो भाति पश्य तं मायया उरुधाम्'' (भाग.पुरा.१।१४।४६-४७). अतएव तैत्तिरीयोपनिषद्में भी अन्न और अन्नाद में ब्रह्मदृष्टि या अभेददृष्टि का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है : ''अधीहि भगवो ब्रह्म इति...अन्नं प्राणं... इति. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति... तद् ब्रह्म इति. अन्नं ब्रह्म इति व्यजानात्. अन्नाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते... प्राणो अन्नं शरीरम् अनन्नादम्... आपो वा अन्नम् ज्योतिः अन्नादम्... पृथिवी वा अन्नम् आकाशो अन्नादः... तदेतद् अन्नम् अन्ने प्रतिष्ठितम्... अहम् अन्नम्, अन्नम् अदन्तम्, माम् अद्धि'' (तैत्ति.उप.३।१-६). तत्त्वयाथार्थ्यके बारेमें उपनिषदादि शास्त्रोंकी यह एक विलक्षण कालातिगामिनी दृष्टि है कि यह सृष्टि चक्रवत् आवर्तित होती रहती है. जिसमें मूलतत्त्व अपने-आपको उत्पन्न पालित और संहृत करता रहता है. अतः महाप्रलयको महामृत्यु अथवा महाकालकवलन

के रूपमें भी देखा गया है और नवसृजनको पुनः आत्मवत्ताके प्रकटीकरणके रूपमें : ''नैव इह किञ्चन अग्रे आसीद् मृत्युनैव इदम् आवृतम् आसीत्. अशनायया, अशनाया हि मृत्युः, तद् मनो अकुरुत 'आत्मन्वी स्याम्' इति'' (बृह.उप.१।२।१).

अतः जैसे आत्मैक्यमें अरतिवश रमणार्थ द्वितीयकामना एक पारमात्मिकी आत्मानन्दकी दृष्टि है वैसी ही दूसरी दृष्टि 'अशनाया'=मृत्युको भी जीवनकी संरचनाके मूलमन्त्रमें निहारनेकी दृष्टि है. फिरभी वह अशनाया, क्योंकि प्रकट हुयी है, अशनातीत आत्मैक्यमें ही अतः, हिंसाका अतिरेक अथवा आत्यन्तिकी अहिंसा दोनों जीवनविरोधी दृष्टिकोण हैं. अतएव जो स्मृतिकार कहते हैं '''न मांसभक्षणे दोषो न निद्रायां न मैथुने प्रवृत्तिः एषा भूतानाम्'' (मनुस्मृ.५।५६) कहते हैं वही ऐसा भी कहते हैं ''स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुम् इच्छति अनभ्यर्च्य पितॄन् देवान् ततो अन्यो नास्ति अपुण्यकृत्... मां स खादयिता अमुत्र यस्य मांसम् इह अद्मि अहम् एतद् मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः'' (मनुस्मृ.५।५२,५५). सर्वप्रथम स्मृतिकार यह कहते हैं कि जैसे निद्रा या मैथुन जैसे देहनिर्वाहार्थ स्वाभाविक हैं, वैसे ही, मांसभक्षण भी स्वाभाविक है, अतः मांसभक्षणमें दोष नहीं. वही स्मृतिकार दूसरे वचनमें यह भी कहना भूलते नहीं हैं कि पितृ-देवार्चनके प्रयोजनके बिना केवल अपने मांसके अभिवर्धनार्थ अथवा जिह्वालौल्यवश जिसका मांस आज तुम खा रहे हो आनेवाले कालमें तुम्हारा मांस खायेगा. 'मां'-मुझे + 'स'-वह खायेगा अतः मांसको 'मांस' कहा जाता है. दूसरे प्राणीको अपना खुराक बनानेमें प्रकट होते भयंकर रसके साधारणीकरणका ही यह उपदेश है. दूसरेकी भयंकरता जैसे हमारे जीवनको करुण बना देती है, ऐसे ही, हमारी भयंकरता दूसरोंके लिये भी करुण घटना ही होगी.

कर्मशृंखलाकी कड़ीके रूपमें मानवेतर प्राणिओंके रूपमें मानवदेहमें

जनमनेवाला जीवात्मा प्रकट हो सकता है ऐसा कह कर अपना धर्म सभी प्राणिओंके बारेमें हमारे भीतर साधारणीकरणके भाव जगाना चाहता है. उसी तरह, आधुनिक विज्ञान उस कर्ममूलक चौरासी लाख योनिके चक्रकी जगह डार्विनके विकासवादी सिद्धान्तके आधारपर विकास-शृंखलाकी एक कड़ीके रूपमें मानव और मानवेतर प्राणिओं के बीच साधारणीकरणके प्रयोजनको सिद्ध कर सकता था...

प्रोटोप्लाज़्म या अमीबा से ले कर मनुष्याकार शरीरकी जटिलतम संरचनामें एक सूक्ष्म समष्टिका अद्वैत-सम्बन्ध अवगत होनेपर "Man is rational animal" और "Reason is the seat of soul" में बहुप्रशस्त 'रेशनालिटी' और 'सोल' की दुविधा आज मर मिटी है. अब तो आधुनिक विज्ञानको भी 'नेचरल बेलेन्स'की महत्ता कुछ समझमें आने लगी है. पर हमारी धर्मदृष्टि जैसा सन्तुलन बनाये रखनेमें समर्थ थी, उस महत्ताको पुनः स्वीकार करनेमें थोड़ा समय वैज्ञानिक मनोवृत्तिको लगेगा ही. क्रमबद्ध विकासशृंखलामें जुड़नेवाली एक कड़ीसे अधिक अनुचित महत्त्वाकांक्षाके वश वानरमें आत्मा नहीं होती परन्तु स्वयंको एकमात्र बुद्धिमान मान लेनेकी भ्रमणाके वश जब नरमें आत्माका होना स्वीकार लेते हैं तब एक असाधारण भेददृष्टिकी भ्रान्तिसे वानर नहीं प्रत्युत नर ही दिग्भ्रान्त जाता है! अपनी तथाकथित बुद्धिमत्ताके कारण मानव या नर ने पर्यावरणको कितना प्रदूषित किया कि उसमें उसकी स्थूल बुद्धिमत्ताके भीतर भरी सूक्ष्म मूर्खता आज उघाड़ी पड़ गयी है! ऐसी मूर्खता न तो वानर न गधे और न उल्लु ही कर पाये! उनकी स्थूल बुद्धिरहिततामें एक स्वयंसञ्चालित सूक्ष्म बुद्धिमत्ता काम कर रही थी!

इस देहकी चीरफाड़ करनेवाले आधुनिक सर्जन=शल्यचिकित्सकको उस महान सर्जक द्वारा देहमें प्रतिष्ठापित आत्मा मिलती नहीं! अतः वैज्ञानिक चिन्तन अनात्मवादी होना चाहता है.

रशियाने जब अवकाशमें पहला स्पुतनिक यान उछाला तब उसमें सवार यात्रीको अवकाशमें कहीं भी परमेश्वर दिखलायी नहीं दिया, अतः आधुनिक ब्रह्माण्डविज्ञानके आधारपर कितने ही लोग अनीश्वरवादी विचारधाराको अभिनन्दित करना चाहते हैं.

अपनी मानवनिर्मित संसद्में अनेक तरहके छलकपटसे निर्वाचित मनुष्योंकी पार्टीके आदेशका अनुसरण करनेवाली मुण्डगणनाकी रीतिमें वैधानिक सच्चे-झूंठेका निर्धारण शक्य है अतः हमने मान लिया कि बिना वोट्के निर्धारित किये जानेवाले शास्त्रोंके आदेशोंद्वारा निर्धारित पापपुण्यके भेद खोटे ही होंगे. अतः सच्चे-खोटेके निर्णयमें आज बिनधार्मिक विचारसरणीके गुणगान अधिक गाये जाते हैं.

शास्त्रोंने इस सृष्टिको पाञ्चभौतिक — पृथ्वी जल तेज वायु और आकाश — निर्मित मानी है. रसायनविज्ञानने जलके एक ''Molecule में H_2O के रूपमें हाइड्रोजन् और ऑक्सिजन् के परमाणु खोज निकाले. तब लोग शास्त्रकारोंको अज्ञानी मानने लगे! तबसे रसायनविज्ञानके वैज्ञानिक जगत्के मूल तत्त्वोंकी संख्या ८० परसे ९६ पर; और, ९६ परसे बढ़ाते-बढ़ाते १०९ से भी अधिक होने जा रही थी तब भौतिकविज्ञानने रसायनविज्ञानद्वारा प्रचारित भ्रान्ति निरस्त कर दी. तथाकथित मूल रासायनिक तत्त्वोंका ''(p+n)e'' के रूपमें प्रोटोन् न्युट्रोन् और इलेक्ट्रोन् परमाणुओमें विभाजन या विश्लेषण शक्य बन गया! एतावता क्या हाइड्रोजन्की वास्तविकताको नकारा जा सकता है? नहीं. तब जो कितने उत्साही शास्त्रोंमें श्रद्धारहित लोग कहने लगे कि पाञ्चभौतिक तत्त्व जैसा कुछ भी होता नहीं है, इसे तो ऐसा युक्तिवाद कहा जा सकता है कि मानों किसी चित्रकलाका विश्लेषण उसके रंगों और चित्रपट में सम्भव होनेसे हम चित्र जैसी वास्तविकताको ही नकारने लग जायें!

एक अणुरूप एकका कुछ परमाणुओंमें विश्लेषण हो सकता होनेसे यदि उस अणुका स्वरूप अवास्तविक हो जाता हो तो जिसे हमने परमाणु माना है उसका भी उसकी अपेक्षा सूक्ष्मतम परमपरमाणुओंमें विभाजन शक्य हो ही सकता है. मनोविज्ञानका गेस्टाल्ट नामक सिद्धान्त है कि एक वर्गाकृतिका चार रेखाओंमें विभाजन हो सकता होनेसे वर्गाकृति अवास्तविक नहीं बन जाती है. क्योंकि उन रेखाओंका भी पुनः बिन्दुओंमें विभाजन शक्य होता ही है. जैसे किसी पुस्तकका उसके पृष्ठोंमें, पृष्ठोंका अनुच्छेदोंमें, अनुच्छेदोंका पंक्तिओंमें, पंक्तिओंका वाक्योंमें, वाक्योंका शब्दोंमें, शब्दोंका अक्षरोंमें और अक्षरोंका स्वर और व्यंजनों के संकेतोंमें विभाजन कर देने या उन स्वरसंकेतों या व्यंजनसंकेतों का भी पुनः स्याहीके बिन्दुओंमें विभाजन शक्य होनेसे, इसी तरह स्याहीका भी पुनः रासायनिक विश्लेषण करना हो तो वह भी शक्य होता ही है. ऐसे विश्लेषणोंके कारण क्या किसी ग्रन्थको अवास्तविक माना जा सकता है क्या! ऐसे ही, सर्जन् अर्थात् शल्यचिकित्सकद्वारा किये गये शारीरिक विश्लेषणके आधारपर आत्माको अवास्तविक मान लेनेसे अधिक विचारशून्यता और क्या हो सकती है? ब्रह्माण्डविज्ञानके विश्लेषणसे, अतएव, ब्रह्म भी अवास्तविक हो नहीं जाता है. ब्रह्माण्डविज्ञानकी जो सूक्ष्म समष्टि है, उसे भगवद्गीता और भागवतपुराण में 'अक्षरब्रह्म' कहा गया है :

''क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थो अक्षरम् उच्यते.''
''आण्डकोशो बहिर् अयं पञ्चाशत्कोटिविस्तृतः ॥
दशोत्तराधिको यत्र प्रविष्टः परमाणुवत् ॥
लक्ष्यते अन्तर्गताश्च अन्ये कोटिशो ह्यण्डराशयः ।
तद् आहुर् 'अक्षरं ब्रह्म' सर्वकारणकारणम् ॥''
(भग.गीता.१५।१६, भाग.पुरा.३।११।३९).

एक अक्षरब्रह्ममें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड माने गये हैं, जिनका विश्लेषण

ब्रह्माण्ड-विज्ञान(Galactical Science)में भविष्यमें विकसित होगा. उन प्रत्येक ब्रह्माण्डोंमें, पुनः आधुनिक ज्योतिर्विज्ञान (Astronomy) के अनुसार, पुनः अरबों-खरबों तारे होते हैं. जैसे एक ब्रह्माण्ड अक्षरब्रह्ममें परमाणु जितनी बिसात रखता है, वैसे ही किसी भी एक ब्रह्माण्डमें हमारे सूर्य जैसे विशाल तारापिण्डोंकी भी नन्हें परमाणुसे अधिक बिसात नहीं होती. ज्योतिर्विज्ञान या खगोलविज्ञान में एक ब्रह्माण्डका विश्लेषण उसके घटक अनेक अणूपम तारोंमें किया जाता होनेसे ब्रह्माण्ड अवास्तविक नहीं बन जाता. ऐसे ही एक विशाल तारेके अनेक ग्रह होते हैं. अपने ही सूर्यके इर्दगिर्द बुध शुक्र पृथ्वी मंगल गुरु शनि युरेनस नेप्च्युन और प्लुटो जैसे ग्रह चक्कर काटते रहते हैं. यों खगोलविज्ञानका विषय तारों और उनके ग्रहोंमें, ग्रहविज्ञानमें (Solar Astronomy) विश्लेषण कर दिखाया जाता है. इन ग्रहोंमें से किसी एक ग्रहके वैविध्यको जानना हो तो उस ग्रहके भूविज्ञानमें (Geology) विश्लेषण सम्भव है.

पर उस ग्रहपर यदि जीवन टिकाये रखनेवाला पर्यावरण मौजूद हो तो उस ग्रहका भी पुनः जड और जीव में पृथक्करण हो सकता है. जीवविज्ञान (Biology) के विविध शास्त्रीय विभागों जैसे कि वनस्पतिविज्ञान (Botany), प्राणिविज्ञान (Zoology), नृतत्त्वविज्ञान (Anthropology), शरीरविज्ञान (Physiology) आदिमें सजीव वस्तुकी विवेचना सम्भव है. इसी तरह जड़वस्तुके विज्ञानके विविध शास्त्रीय विभाग जैसे कि रसायनविज्ञान (Chemistry), भौतिकविज्ञान (Physics), यन्त्रविज्ञान (Engineering Technology) में निर्जीव जड़वस्तुके स्वरूप और नियमों की विवेचना भी हो पाती है.

अब कोई कल्पनावादी (Idealist) विचारक सजीव वस्तुमें व्यक्त होती चेतनाकी पूँछ पकड़ कर जड़वस्तुको भ्रान्तिकल्पित, मायिक या Mental Construct मान कर बैठ जाये, तो वैसा दृष्टिकोण एकांगी

ही कहा जायेगा. ऐसे ही कोईक भौतिकवादी (Materialist) विचारक भी भौतिक द्रव्य (Matter)की पूंछ पकड़ कर आत्मा (Mind)की वास्तविकताका भौतिक विश्लेषण द्वारा अस्वीकार करे अथवा उसे अन्धश्रद्धा माने तो वह भी एकांगी दृष्टिकोण है. क्योंकि चेतनाके छोरसे देखनेपर प्रत्येक भौतिक वस्तुका कल्पनारूप (Mental Construction) लगना तो स्वाभाविक ही होता है. इसी तरह भौतिक वस्तुके छोरसे देखनेपर प्रत्येक वस्तुका भौतिक तत्त्वोंसे घटित (Material Construction) लगना भी स्वाभाविक ही होता है.

सजीव वस्तुके व्यवहारमें अन्नग्रहण मलविसर्जन जिजीविषा आदि जो गुणधर्म दिखलायी देते हैं, उन गुणधर्मोंका प्रयोगशालामें किये गये प्रोटीन् या न्युक्लीइक् एसिड्के विविध संयोजनोमें विश्लेषण शक्य होनेके कारण चेतनाका तथ्य मिथ्या नहीं सिद्ध हो जाता. इसी तरह भौतिक द्रव्योंकी इन्द्रियजन्य स्फुरणा (Sensation) या उससे घटित मानसिक प्रत्ययों (Conception)में विश्लेषण शक्य होने मात्रसे भौतिक द्रव्यकी वास्तविकता नकारी नहीं जा सकती. चेतनाका भौतिक द्रव्यमें और भौतिक द्रव्यका चेतनाके मानसिक प्रत्ययोंमें विश्लेषण शक्य होनेसे या तो दोनोंका अनस्तित्व मान लेना चाहिये अथवा तो दोनोंका अस्तित्व है ऐसे मानना ही पड़ेगा. अभौतिक अचेतन अद्वैतवाद (Neutral Monism)के समर्थक बर्ट्रेन्ड् रसेल् एक दार्शनिक चुटकुले जैसा विधान करते हैं : "What is mind? No matter! What is matter? Never mind." अर्थात्, चेतना क्या है? यह तो कुछ विचारणीय वस्तु नहीं है. वस्तु क्या है? वह कुछ विचारयोग्य नहीं.

यह तो निषेधात्मक दृष्टिकोण है परन्तु जो विधायक दृष्टिकोण विकसित करना हो तो ऐसे भी कहा जा सकता है : what is matter? It is mental. what is mind? It is material. अर्थात् चेतना भौतिक है और भौतिक वस्तु चेतनात्मक है. अतएव

उपनिषदोंने कहा है : ''सर्वं सर्वमयं सर्वे जीवा सर्वमया'' (नृसिंहो.उप.९). यदि कोई पूछना चाहे कि दोनों क्या हैं? तो उपनिषद् उसका जवाब देता है :

''द्वै वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैव अमूर्तं च।
मर्त्यं च अमृतं च, स्थितं च यत् च, सत् च त्यं च॥''
(यथापूर्व).

भूतलपर जनमनेवाला विचारक प्रथम प्रकट हुवे जड़-चेतनके इन दो रूपोंको न स्वीकारे तो वह भूतलपर खड़ा भी रह न पायेगा! ऐसी थी अपनी असली रसदृष्टि जिसकी विज्ञानको भी आज अत्यन्त अपेक्षा है.

'अणु'पदका अर्थ होता है अविभाज्य. अणुके लिये अंग्रेज़ीमें शब्द है Atom (a-toman). अतः 'एटम्'पदका भी अर्थ वही होता है. कोई वस्तु अविभाज्य है या विभाज्य इसे कैसे समझा जाये?

वास्तविकता यह है कि वस्तु विभाज्य भी होती है और अविभाज्य भी. अणुकी परिकल्पनामें आपने यहां मुख्य हेतु यही सोचा गया था कि जो एक राईके दानेके अनन्त विभाजन शक्य हों और उसी तरह एक पर्वतके भी अनन्त विभाजन शक्य हों तो दोनोंका परिमाणमें भी भेद नहीं होना चाहिये; परन्तु, भेद तो रहता ही है. अतः सिद्ध होता है कि कहीं न कहीं राईके एक दानेके अविभाज्य अणुओंकी तुलनामें पर्वतके अविभाज्य अणु संख्यामें अधिक होने चाहिये.

यह तर्क ग़लत नहीं लगता; पर, 'अविभाज्य' शब्दका सच्चा अर्थ समझ लेना आवश्यक है. उदाहरणतया समाजविज्ञानमें एक मानव

व्यक्तिको (Individual) कहा जाता है. इसका भी अर्थ पुनः वही होता है कि जिसका विभाजन-डिविज़न सम्भव न हो. यह सर्वथा सत्य है, क्योंकि, यदि समाजशास्त्र एक मानवका विभाजन कर देगा तो समाज टिक ही नहीं पायेगा. अतः समाजशास्त्रके लिये एक मानव व्यक्ति अणु (Individual) होता है. फिरभी शरीरविज्ञान यदि एक मानवव्यक्तिको अविभाज्य एकक मान कर बैठा रहे तो शरीरकी बारेमें कुछ भी ज्ञान प्राप्त नहीं कर पायेगा. ऐसे शरीरविज्ञानसे किसी जातका लाभ मानवको मिल नहीं पायेगा. अतः शरीरविज्ञान, समाजविज्ञानमें जिसे अविभाज्य माना गया ऐसे, व्यक्तिका विभाजन-विश्लेषण उसके अंग-प्रत्यंगोंमें, उनके नौ या दस नाड़ीसंस्थान रक्तसञ्चालन आदि क्रिया-कलापोंमें, शरीरके विविध प्रकारकी संरचना आदिमें करता होता है. अतः शरीरविज्ञानके अपने अलग अविभाज्य अणु या एकक होते हैं, जिनसे शरीरकी समष्टि घटित होती है. समाजविज्ञानकी व्यष्टि शरीरविज्ञानमें समष्टि बन जाती है. समाजविज्ञानके अविभाज्य अणु (molecule)का शरीरविज्ञानमें अनेक परमाणुओं (atoms)के रूपमें विभाजन हो सकता है.

फिरभी एतावता शरीरविज्ञान एक मानव या व्यक्ति की एक व्यष्टिरूप हैसियतको नकार नहीं सकता है. क्योंकि शरीरविज्ञानमें अविभाज्य एककके रूपमें मान्य करनेमें आये अंग-प्रत्यंगोंकी संरचनाका पुनः जैविकरसायनविज्ञानमें रासायनिक विश्लेषण या विभाजन तो शक्य है ही इसी तरह उस जैविकरासायनिक अविभाज्य अंगरूप तत्त्वोंका या अणुओंका भी पुनः भौतिकविज्ञानमें मान्य किये गये तत्त्वोंके परमाणुओंमें विभाजन शक्य है ही.

अतः जलके जिस एक अणुके विभाजन करनेपर जब जल जल न रह कर हाइड्रोजन् और ऑक्सीजन् वायुके रूपोंमे प्रकट हो जाता है तब जलके वैसे नन्हें अंशको जलका अविभाज्य अणु समझना

चाहिये. उस अणुकी तुलनामें जो हाइड्रोजन्के दो अणु और ऑक्सीजन्का एक अणु हैं उन्हें परमाणु मानना पड़ेगा. जलके परमाणु जैसे हाइड्रोजन् और ऑक्सीजन् के अविभाज्य अणुओंका भी पुनः इलेक्ट्रॉन् न्युट्रॉन् और प्रोटॉन् के परमाणुओमें विभाजन शक्य है. अतः अविभाज्य और विभाज्य दोनों ही विभाज्य और अविभाज्य भी होते हैं!

अतः उपनिषदोंने अविभाज्य अणुसे अणियान् परमाणुकी बात हमें समझायी है. एकमेव अद्वितीय ब्रह्मके अनेक नामरूपोंमें विभाजनकी शक्यताको भी उपनिषदोंने स्वीकारा है. उसमें नामरूपको केवल सत्य मानना और ब्रह्मको मिथ्या मानना अथवा तो ब्रह्मको सत्य मान कर नामरूपको मिथ्या मानना ये दोनों ही दृष्टिकोण एकांगी हैं. उनमें समग्र सत्यका निरूपण नदारद रहता है.

ब्रह्मका विश्लेषण नामरूपोंमें शक्य होनेसे या तो ब्रह्मको अथवा या फिर नामरूपको या दोमेंसे किसी एकको भी मिथ्या माननेकी आवश्यकता नहीं है. ब्रह्मके, क्योंकि, अद्वैतमें नामरूपके द्वैतको विकार या मायिक मानना तो निरा वाणी-विलास है. नामरूपके द्वैतका वास्तविक नामधेय तो ब्रह्माद्वैत ही होता है. जैसे मिट्टीके घड़ेको 'मिट्टीका विकार' कहना एक वाणीविलास है. वास्तविकतया मिट्टीके घड़ेका नामधेय 'मिट्टी' ही होता है **''वाचारम्भणं 'विकारो' नामधेयं 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्''** (छान्दो.उप.६।१।४).

बहुधा इस श्रुतिका खोटा अर्थ निकाला जाता है कि इस वचनमें ''ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या'' सिद्धान्त प्रतिपादित हुवा है. नामरूपात्मक जगत्को मिथ्या माननेकी विचारसरणीको वस्तुतः यहां जितने सशक्त रूपमें नकारा गया है उतना सशक्त निरसन श्रुतिके अन्य वचनोमें सुलभ नहीं! क्योंकि अग्रिम **''वाचारम्भणं 'विकारो' नामधेयं त्रीणि रूपाणि इत्येव सत्यम्''** (**छान्दो.उप.६।४।१,२,३,४**) वचनोंमें नामरूप

द्वैतको 'विकार' कहना तो निरा वाणीविलास-वाचारम्भण ही कहा गया है. अतः नामरूपके द्वैतका सच्चा नाम तो ब्रह्माद्वैत ही है ''सर्वं खल्वु इदं ब्रह्म'' (छान्दो.उप.३।१४।१) वचनके अनुसार पृथ्वी जल तेज से घटित जगतके पदार्थोंको पृथ्वी आदिके 'विकार' कहना भी निरा वाणीविलास ही है. क्योंकि उनका सच्चा नामधेय तो 'पृथ्वी' 'जल' और 'तेज' की रूपत्रयी है. अतः तैत्तिरीयोपनिषद् तो डिंडिमघोषके साथ कहता है कि दृश्यमान जो कुछ है वह सभी सत्य ही है ''यदिदं किञ्च तत् 'सत्यम्' इति आचक्षते'' (तैत्ति.उप.२।६).

अतः विज्ञानकी एक एक शाखा यदि दूसरी शाखाके प्रमेयका विश्लेषण करने समर्थ हो एतावता उस प्रमेयको मिथ्या मानने लगना तो सुंद-उपसुंद राक्षसोंकी तरह दोनोंके अजेय होनेपर भी परस्पर कलहवश दोनोंके मर मिटनेका बचकानापन होगा! विश्लेषणद्वारा किसी पदार्थकी संरचना समझमें आ पाती है; पर, उस पदार्थके विशिष्ट स्वरूप या रस को केवल विश्लेषण द्वारा समझ पाना कठिन बात है.

एक प्रोषितभर्तृका नायिकाके नयनोंसे झरते अश्रुबिन्दुओंका कोई रसायनशास्त्री रासायनिक विश्लेषण कर भी दिखाये तो उसे हस्तगत क्या होगा? उस विश्लेषणमें अश्रुप्रवाहमें बहनेवाली विरहवेदनाकी अन्तर्धाराका एक बिन्दु भी हस्तगत नहीं हो पायेगा! अतः उन-उन वस्तुओंके विभाजन और अविभाजन के बारेमें जब तक वैचारिक सन्तुलन प्राप्त नहीं होता तब तक विज्ञानमें रसदृष्टि प्रकट हो न पायेगी.

आज हम देख सकते हैं कि आधुनिक समाजशास्त्रीय, अर्थशास्त्रीय, शरीरशास्त्रीय या मानसशास्त्रीय विश्लेषणोंके अनावश्यक महत्त्वकी भ्रान्तिके कारण विज्ञान अपनी कलात्मिका अनुभूति और अभिव्यक्ति में बाधक बनता जा रहा है. अतः कलाके क्षेत्रमें रसदृष्टिकी जो पुनः प्रतिष्ठा करनी हो तो हमें कलामें रसदृष्टिकी आवश्यकताको स्वीकारना पड़ेगा.

:: कलामें अपनी रसदृष्टि ::

हृदयको सुहाते साँचोंमें सूक्ष्म या स्थूल को ढालनेवाले स्रष्टाको 'कलाकार' कहा जाता है.

बाह्य जगत्के प्रभाव एक कलाकारके संवेदनशील हृदयमें जैसे भलीभांति पड़ते हैं वैसे संवेदनाहीन सामान्य मानवके हृदयमें नहीं पड़ते हैं. अतः उन प्रभावोंके यथार्थ चित्रणको क्या 'कलासृजन' कहना? क्या बाह्य जगत्की तनिक भी परवाह किये बिना स्वयंकी आन्तरिक प्रेरणाको अनुसरनेवाले स्रष्टाके सृजनको 'कलासृजन' कहा नहीं जा सकता?

चित्र मूर्ति काव्य नृत्य गीत अभिनय या वाद्यवादन आदि कलाओंमें क्या अभिव्यक्तिकी ही महत्ता होती है? क्या एक रसात्मक भावसौन्दर्यको अभिव्यक्त करनेको जो अनुभाव, जिनके कारण रसभावका सम्प्रेषण (Communication) शक्य बनता है उसकी महत्ता नहीं होती? क्या कलाकी विविध विधाओंका उद्देश्य केवल कलात्मक सौन्दर्यको व्यक्त करने जितना सीमित ही होता है? क्या सौन्दर्येतर उद्देश्य जैसेकि असुन्दर शुभको या असत्य शुभको अथवा तो असुन्दर सत्यको या अशुभ सत्यको कलाकी वाणीमें मुखरित किया नहीं जाना चाहिये?

ऐसे अनेक प्रश्न आज हमें उन-उन कलाकृतिओंके सच्चे मूल्यांकनमें मतिभ्रम पैदा करते हैं.

कभी केवल-द्वैतवादी अथवा तो कभी केवल-अद्वैतवादी हठाग्रहके कारण बाह्य और आन्तर के बीच वस्तुतः जितना अन्तर होता है उससे कहीं अधिक अन्तर मान कर आत्मपीड़ा बढ़ाते रहते हैं. अतः अन्तस्में पड़ते बाह्य वस्तुके कलात्मक प्रभाव और आन्तरिक

प्रेरणाका अनुसरण कर प्रकट की गयी कलात्मिका अभिव्यक्तिकी जो द्विविध क्रिया हैं उनके बीच भी अनपेक्षित विरोधाभासकी भ्रान्ति हमें सताती रहती है.

जड़जगत् और चेतनजगत् के बीच एकको पराश्रित-प्रयोजनशाली (en soi) और दूजेको स्वाश्रित-प्रयोजनशाली (pour soi) मान कर मिथ्या भेद घड़ कर कलासृजनके प्रयोजनके बारेमें झगड़ पड़े! कलासृजन सोद्देश्य होता है या निरुद्देश्य? हमारा वेदान्त-चिंतन जड़ और जीवात्मा रूपी सृष्टिको सप्रयोजन या निष्प्रयोजन स्वीकारने समुद्यत नहीं. वेदान्तके अनुसार तो यह सृष्टि परमात्माकी लीला है.

सोद्देश्यता या निरुद्देश्यता ये दोनों ही अधूरे पक्ष हैं. लीला न तो सोद्देश्य कही जा सकती है और न सर्वथा निरुद्देश्य ही. उदाहरणतया मकानकी भींतपर तीन लकीरें खींच कर उनमें विकेटकी भावना कर कई किशोर गलीमें क्रिकेट् खेलने लग जाते हैं. उस क्रिकेट्द्वारा उन्हें हीरो बननेकी या नाम या धन कमानेकी या किसीको अपना कौशल दिखानेकी कोई कामना नहीं होती. ऐसी क्रिकेट्में टेस्ट् मेच्के जैसे नियम नहीं होते. टेस्ट् मेच्की मर्यादा या प्रयोजन भी नहीं होते. फिरभी निरुद्देश्य काम करनेवालेको मूर्ख मान लेनेकी युक्ति इन किशोरोंपर लागू नहीं की जा सकती. ऐसी क्रिकेट् खेली जाती है लीलाके रूपमें, जिसके बारेमें वह सोद्देश्य है या निरुद्देश्य, ऐसे सवाल एक बचकानी बात लगते हैं. खेलनेवाले किशोरोंकी क्रीड़ा बचकानी नहीं; परन्तु, उसमें सोद्देश्यता या निरुद्देश्यता के सवाल उठानेवाले दार्शनिकका चिन्तन वस्तुतः बचकाना चिन्तन लगता है. उसी तरह इस जगत् रूपी काव्यके कविने भी इस मनोहर काव्यको केवल लीलाके रूपमें ही प्रकट किया है. इस सृष्टिकाव्यके भीतर कविके चरित्रका अभिनय करनेवाला कोई पात्र इस काव्यकी रचना सोद्देश्य है या निरुद्देश्य ऐसी मीमांसा करने लगे तो इस सृष्टिकाव्यके

कविको भी क्या ऐसे नहीं लगेगा कि "अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं शिरसि मा लिख! मा लिख!"

इसी तरह कलामें तटस्थ अभिव्यक्तिकी प्रमुखता है या रसिकजन-संवेद्य अनुभावोंकी भी प्रमुखता है? इस प्रश्नके बारेमें कुछ विचारणीय लगता है.

पहले बाह्य जगत्की सर्वांगपूर्ण अनुकृति प्रस्तुत करनेमें कलाके उत्कर्षकी भ्रान्तिमें भटकनेवालोंने अनुकृतिमें परिपूर्णता लानेके अपने पुरुषार्थमें एक दिन 'केमेरा' नामक ऐसा यन्त्र खोज निकाला कि चित्रकलाकी कलात्मिका महत्ता घट कर ऐतिहासिक महत्तामें सीमित रहनेके मोड़पर जा पहुंची! बहोत सारे चित्रोंका कलात्मक मूल्य पुरातत्त्वमूल्य (Antique value)में विकृत होने लग गया! ऐसे ही लोग तब दौड़ कर दूसरे छोरपर अमूर्त कलामें ही कलाके चरमोत्कर्षकी भ्रमणामें भटकते हो गये! ये दोनों अतिवादी दृष्टिकोण थे. पहले जो स्थूल-बाह्य जगत्की नीरस अनुकृतिको सर्वस्व मान बैठे थे वे इसके बाद अमूर्त आन्तर जगत्की नीरस अनुकृतिको सर्वस्व मान कर अमूर्तकलाके गुणगायक बन गये! तथ्य, किन्तु, यह है कि नवसृजन-विहीन अनुकृति बाह्यकी हो या आन्तरकी, स्थूल तथ्यकी हो या सूक्ष्मकी, मूर्तकी हो या अमूर्तकी जो अनुकृति होती है वह तो अनुकृति ही होती है, कलाकृति नहीं!

रसशास्त्रके प्रसिद्ध विद्वान् मम्मटने कलासृष्टिकी निर्मितिके बारेमें एक सुन्दर बात कही है :

"नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीम् अनन्यपरतन्त्राम्।।
नवरसरुचिरां निर्मितिम् आदधती भारती कवेः जयति।।"
(काव्यप्रका.१।१).

भावार्थ : कलास्रष्टा (कवि)की कलासृष्टि घड़ पानेकी कलाकी

अधिष्ठात्री देवी भारतीका उत्कर्ष अद्‌भुत है! विधाताकी सृष्टिके नियमोंसे यह कलासृष्टि घड़ी नहीं जाती. विधाताकी कलासृष्टि कदाचित् सुख-दुःखात्मिका हो सकती है; पर, यह कलासृष्टि केवल आह्लादमयी ही होती है. विधाताकी सृष्टि काल कर्म स्वभाव प्रकृति के नियमोंके आधीन हो सकती है; परन्तु, कलासृष्टिमें ऐसी कोई पराधीनता नहीं होती. विधाताकी सृष्टिमें रति रोष हास शोक उत्साह भय घृणा विस्मय उदासीनता आदि मानसिक अवस्थाओंमें कोई सुहाती सुखप्रद होती है और कोई न सुहानेवाली अरुचिकर भी हो सकती है. जबकि कलासृष्टिमें रौद्र हास्य करुण वीर भयानक बीभत्स अद्‌भुत और शान्त रसोंके रूपमें वह सर्वदा रुचिर ही होती है. शृंगाररसमें प्रगट होनेवाली रतिकी तरह रौद्ररसमें प्रगट होते रोषमें भी रुचिरता बनी रहती है. हास्यरसमें रहनेवाले हासकी तरह करुणरसमें प्रगट होते शोकमें भी रुचिरता होती है. वीररसमें झलकते उत्साहकी तरह भयानक रसमें मनको झकझोर देनेवाली भीतिमें भी रुचिरता रहती है. अद्‌भुत रसमें प्रगट होते विस्मयकी तरह बीभत्स रसमें प्रगट होती घृणामें भी रुचिरता निभ पाती है! कलासृष्टि ऐसी नवरसरुचिरा होती है!

इस कलासौन्दर्यकी विवेचनामें हम देख सकते हैं कि विधाताकी सृष्टिकी नीरस अनुकृतिमें कलासौन्दर्यका प्राकट्य स्वीकारा नहीं गया है. इसी तरह वस्तुतः काव्यात्मक होनेपर भी इस विधाताकी सृष्टिका केवल निर्वेदपूर्ण साक्षिभाव रख कर नैष्कर्म्यके अवलम्बनमें भी कलासौन्दर्य प्रकट होना माना नहीं गया है.

उस परम कविकी काव्योपम इस सृष्टिकी केवल रसानुभूति ही प्राप्त करनी हो तो धर्म एक समर्थ और पर्याप्त विद्याकौशल है. अतः बाह्य या आन्तर जगत् में अनुभूत होनेवाले सौन्दर्यको जो वह अमूर्त हो तो एक उत्तम केमेराकी तरह लेशमात्र भी बदले बिना उसे जसका तस प्रस्तुत कर देनेके दावेमें कलासृजन सिद्ध

नहीं होता. एक नन्हा बालक यदि बड़े विद्वानोंकी तरह प्रत्येक स्वर और प्रत्येक व्यञ्जनकी ध्वनिओंका एकदम शुद्ध उच्चारण करने लगे तो उसमें हमें अहोभाव तो अवश्य जगता है; परन्तु, ऐसे बालकके प्रति वात्सल्यभाव प्रकट होना थोड़ा कठिन हो जाता है! अब यदि बालक सर्वथा गूंगा हो तो भी उसके साथ हमें बहुत आनन्द आ नहीं पाता. अपनी तुतलाती वाणीमें कुछ अटपटे उच्चारण करनेका प्रयास करनेवाला एक नन्हा बालक हमें अतिशय प्यारा लगता है, यह अन्यथा सम्भव नहीं.

प्रसिद्ध सितारवादक श्रीरविशंकरने शास्त्रीय संगीतका आनन्द लेनेकी बहुप्रचलित प्रणाली *वाह! वाह!!* और *आहा!* में रहे सूक्ष्म तारतम्य समझानेको एक अतीव सरस बात कही है. वे कहते हैं कि किसी कलाकारने वर्षोंसे रियाज़ कर-करके जो कठिन तानपलटे साध रखे हों उनकी सफल प्रस्तुतिको गायन या वादन में *वाह! वाह!!* द्वारा अभिनन्दित करना चाहिये. *वाह! वाह!!* यान्त्रिकी पुनरावृत्तिमें मिलनेवाली सफलताकी बधाई जैसी होती है. परन्तु कभी गायक या वादक के स्वयंके खयालमें न आनेवाले चमत्कारी मधुर स्वर अनजाने निकल जाते होते हैं तब उस स्वरनावीन्य या स्वरमाधुर्य की बधाई *अहा! आहा!!* की ध्वनिद्वारा देनी चाहिये. उसे *वाह! वाह!!* कहना उन स्वरोंमें रही मधुरता या नूतनता का अनादर है.

जैसे किसी सुन्दर षोडशीको 'दादी-मां' कह कर आदर देना उस षोडशीके यौवन और लावण्य का वास्तविकतया तो अनादर ही होता है! अतः यान्त्रिकी पुनरावृत्ति और नवसृजन के बीच रहे तारतम्यको पहचान पाना किसी भी कलाकृतिके वास्तविक मूल्यांकनमें अतीव उपकारक होता है. अल्पसंवेदनशील या अरसिकजनों द्वारा सफल पुनरावृत्तिकी *वाह! वाह!!* की बधाईके कोलाहलमें कोई अल्पसफल; परन्तु, सर्वथा नूतननिर्मिति अथवा तो पुनर्निर्मिति रसिकजनकी *आहा!!*

के अभावमें कहीं आहें न भरने लग जाये इसकी सावधानी रखनी आवश्यक होती है!

रसशास्त्रकारोंने नाट्यकलाके सन्दर्भमें किन्तु सभी कलाविधाओंके बारेमें सामान्यरीत्या स्वीकारी जा सके ऐसी रसपरिभाषा यों दी है :

> ''विभावानुभावसञ्चारिभावसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः...नाना-भावोपहिताअपि स्थायिनो भावाः रसत्वम् आप्नुवन्ति...नाना-भावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावान् आस्वादयन्ति सुमनसः...''
>
> (भर.नाट्य.६।३१)

भावार्थ : विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावोंके इतरेतरसंयोगवश रस निष्पन्न होता है... नानाभावोपहित होनेपर स्थायी भाव ही रसतया प्रकट हो जाता है... नाना भावोंके वाचिक आङ्गिक सात्त्विक (और आहार्य भी) अभिनय द्वारा अभिव्यक्त होनेपर रसिकजनोंके लिये वे भाव आस्वाद्य बन जाते हैं.

इसमें विभावके दो भेद गिनाये गये हैं : १.आलम्बनविभाव और २.उद्दीपनविभाव. 'आलम्बनविभाव' का मतलब जिस व्यक्तिपर अवलम्बित हो कर अपने हृदयमें रति रोष हास शोक उत्साह भय विस्मय या घृणा आदिके मनोभाव जगते हों उसे आलम्बनविभाव माना जाता है. ऐसे विविध भावोंको उद्दीप्त करनेवाली व्यक्तिकी चेष्टा या आसपासके वातावरण को 'उद्दीपनविभाव' कहा जाता है. जिनके द्वारा रति रोष आदि भाव उद्दीपित होते हैं. नाटकमें जिन कायिक वाचिक सात्त्विक (या आहार्य भी) सामग्रियोंके कारण रसिकजनोंको स्थायिभावात्मक रसका अनुभव होने लगे उन्हें 'अनुभाव' कहा जाता है. रति या रोष आदिके भावोंके स्थायी रहनेपर भी उनके बीच-बीच अस्थायिरूपेण

जो दूसरे भावोंका अन्तःसञ्चरण होता है उन्हें 'सञ्चारिभाव' कहा जाता है. उदाहरणतया रशियाके महान् लेखक एन्टॉन् चेखोवकी करुणरससे परिपूरित बहोत सारी कहानियां हास्यरसके सञ्चारिभावकी भाषामें कही गयी हैं. अतएव करुणरसके अन्तर्भूत हो कर प्रकट होते हासमें करुणरस अधिक करुण बन छलक जाता है. अथवा बहुप्रचलित प्रिया-प्रियतमके प्रणयके उदाहरणमें रतिरूप स्थायी भावकी विद्यमानतामें ही कभी मान, कभी उदासीनता, कभी शंका, कभी लज्जा, कभी गर्व, या कभी विषाद आदि सञ्चारी भावोंका सञ्चरण रतिके भावको प्रगाढ बनाता है.

एतावता हम देख सकते हैं कि उपनिषद्में ब्रह्मके बारेमें जैसी विरुद्धधर्माश्रयता स्वीकारी गयी वैसी ही विरुद्धधर्माश्रयता रसशास्त्रीय रसके बारेमें भी कही-सोची जा सकती है.

क्योंकि विभाव प्रायः बाह्य और स्थूल होता है. सञ्चारी भाव कभी आन्तर तो कभी बाह्य भी होते हैं. स्थायी भाव सूक्ष्म और आन्तर ही होते हैं. अनुभाव स्थूल और/अथवा बाह्य होते हैं. कलात्मिका अभिव्यक्तिके हेतु हृदयको सुहाते सांचोंमें ढालनेकी चहलकदमीमें स्थूल और सूक्ष्म की महत्ता परस्पर सदृश ही होती है. अतएव स्थायी भाव सूक्ष्म अमूर्त होता है तो आलम्बनविभाव स्थूल मूर्त. स्थायी भाव स्थायी होता है पर सञ्चारी भाव अस्थायी होते हैं. अनुभाव (expressions/acting) व्यक्त-सत् होते हैं तो स्थायी भाव अव्यक्त-त्यत्. कलासर्जक मर्त्य होता है पर कलासौन्दर्य अमृत होता है! अतएव उसे ब्रह्मानन्दसहोदर माना जाता है. इससे सिद्ध होता है कि उपनिषदोंकी रसदृष्टि कलाक्षेत्रमें भी अपनायी जा सकती है :

''द्वे वा ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैव अमूर्तं च, मर्त्यं

च अमृतं च, स्थितं च यत् च सत् च त्यं च'' (यथापूर्व).

यह दृश्यकाव्य अर्थात् नाटकके सन्दर्भमें प्रस्तुत परिभाषा है. वैसे अन्य भी कलाविधाओंके उपलक्षणतया स्वीकार लेनेपर यथायथ अन्यान्य अनुभावोंको भी रसानुभावकतया मान्य किया जा सकता है. अतएव भरतमुनि कहते हैं ''यो अर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिव अग्निना'' (भर.नाट्य.७।७). यह हृदयसंवादी रसोद्भव केवल नाटकमें ही होता हो और कलाकी अन्य विधाओंमें नहीं, ऐसे सोचनेका कोई भी हेतु नहीं. उन-उन कलाओंके अनुभाव अलग-अलग हो सकते हैं : नाट्यकलामें रसका अनुभव पैदा करनेवाले अभिनेताके आंगिक वाचिक सात्त्विक और आहार्य अभिनय होते हैं. इन चतुर्विध अभिनयोंका स्थान संगीतमें स्वर राग लय और ताल ले लेते हैं. चित्रकलामें रंग और रेखाकृति ले लेती हैं. यों अन्य भी अनुभावक बन सकते हैं. अतएव मम्मट कहते हैं :

> ''[१]''रामएव अयम्', 'अयमेव रामः' इति, [२]''न रामो अयम्' इति औत्तरकालिके बाधे... [३]''रामः स्याद्वा नवा अयम्' इति, [४]''रामसदृशो अयम्' इति [१]सम्यग्- [२]मिथ्या- [३]संशय- [४]सादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादिन्यायेन 'रामो अयम्' इति प्रतिपत्त्या...''
>
> (काव्यप्रका.४।२८)

कलाओंकी अनेकविधाओंमें भाषा बदल जाती है परन्तु रसोद्बोधनका भाव नहीं बदलता है. जो कलाभाषा प्रयुक्त हो रही हो और उसके द्वारा जो बात कही जा रही हो उन दोनोंके बीच तादात्म्यभाव सहज या तात्कालिक अथवा कमसे कम आरोपित तो अवश्य ही वैसे वस्तुतया तो भावित तादात्म्यभाव ही रसानुभूतिका प्राणप्रद तथ्य होता है. सहज या तात्कालिक तादात्म्य तो विषयगत तादात्म्य होते हैं. मुखमात्रके दर्शनद्वारा ''यह वही व्यक्ति है'' सकल शरीरमें अभेदप्रत्यभिज्ञा

सहजतादात्म्यपर अवलम्बित होती है. प्रमुखतया यह अंशांशिभाव उपादेयोपादानभाव धर्मधर्मिभाव आदि उदाहरणोंमें परखा जा सकता है. तात्कालिक तादात्म्य, जैसे, विद्यालय डाकघर आदि संस्थाओंमें व्यक्ति या गृह मोहल्ला आदिका किसी निश्चित संख्यासे तादात्म्यीकरण सम्पन्न कर दिया जाता है. वैसे इसे आरोपित तादात्म्यसे पृथक्तया माननेका प्रमुख हेतु यही है कि निश्चित संस्था या समुदाय में निश्चित कालावधिमें वैयक्तिक आरोपतया मान्य न हो कर सामुदायिक प्रत्यभिज्ञाका जनक बनता देखा जाता है. इसके विपरीत आरोपित तादात्म्य, उदाहरणतया, बीजगणितके सिद्धान्तोंको जैसे किसी अनिश्चित संख्याके लिये अनियततया 'अ' 'ब' 'क' आदि अक्षरोंके साथ तादात्म्यारोप द्वारा समझा दिया जाता है. आरोपित और भावित तादात्म्योंकी परस्पर तुलनार्थ यह अवधेय है कि आरोपित तादात्म्य बोधोपयोगी तादात्म्य होता है जबकि भावित तादात्म्यारोप रसभावके उद्‌बोधनार्थ ही होनेसे रसात्मकता अधिगृहीत कर लेता है. इसे देवमूर्तिमें देवतादात्म्यभाव या स्त्री-पुरुषके बीच प्रिया-प्रियतमभाव या वरवधूभाव आदिके उदाहरणोंद्वारा समझा जा सकता है.

ऐसी भावना जगा पानेको सक्षम कलासर्जककी विचक्षणताके कारण क्रोध भय शोक या जुगुप्सा के मनोभाव भी कलासृष्टिमें रसात्मक बन जाते हैं.

वैसे कलासृजनमें सुन्दरता ही प्रकट होनी चाहिये असुन्दरता नहीं. सत्यको ही व्यक्त करना चाहिये असत्यको नहीं, शुभका ही निर्माण होना चाहिये अशुभका नहीं, ऐसा हठवाद रसदृष्टिके बारेमें हमारे अज्ञानका ही द्योतन है. हम जानते हैं कि जुगुप्साकी भी अनुभूति कलासृष्टिमें बीभत्सरसकी गौरवमयी पदवीपर बिराजती है. अशुभकी अभिव्यक्ति भी करुणरसतया बिरदायी गयी है. अतिशयोक्तिपूर्ण असत्य बातोंसे हँसनेकी हल्की मनोवृत्तिको हास्यरस होनेका गौरव प्रदान किया

गया है. ऐसी स्थितिमें कलासृजनके अन्तर्गत ''सत्यं शिवं सुन्दरम्'' का बंधन पालना ही चाहिये ऐसा हठाग्रह रखना तो कलासर्जककी नवरसरुचिरा भारती देवीका अनादर है!

तैत्तिरीयोपनिषद्में अतएव एक बड़ी मजेदार सुन्दर बात कही गयी है :

> ''सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय! इति. स तपो अतप्यत. स तपः तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत. यदिदं किं च तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्. तद् अनुप्रविश्य. सत् च त्यत् च अभवत्. निरुक्तं च अनिरुक्तं च. विज्ञानं च अविज्ञानं च. सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत्. यदिदं किञ्च तत् 'सत्यम्' इति आचक्षते... असद् वा इदम् अग्रे आसीत्. ततो वै सद् अजायत. तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत. तस्मात् तत्सुकृतम् उच्यते इति. यद् वै तत् सुकृतं, रसो वै सः. रसं ह्येव लब्ध्वा आनन्दी भवति.''
>
> (तैत्ति.उप.२।६-७).

भावार्थ : उसे अनेकधा अनेक रूपोंमें प्रकट होनेकी कामना हुयी. स्वयं उसने अनेकताका चिन्तन किया. और ऐसे चिन्तनद्वारा उसने यह जो कुछ है उसका सृजन किया. जो कुछ दिखलायी देता है उसे रच कर वह उसमें प्रविष्ट हो गया. इस सृष्टिमें प्रविष्ट हो कर उसने अनेक रूप धारण किये : व्यक्त-अव्यक्त, निर्वचनीय-अनिर्वचनीय, साधार-निराधार, विज्ञान-अविज्ञान, सत्य-अनृत आदि. अतः जो कुछ दिखलायी देता है उसे 'सत्य' कहा जाता है. कदाचित् दिखलायी देती वस्तु पहले न भी हों पर जो कुछ प्रकट हुवा वह तो सत् ही है. क्योंकि उसने अपने-आपको ही तो इस तरह

प्रकट किया है. अतः यह सृष्टि उसकी सुकृति है. इस सृष्टिमें जो कुछ सरजा गया वह परमात्माकी सुकृति ही है. इसमें कारण यही है कि वह परमात्मा वस्तुतः रस है! इसी रसको पानेपर कोई आनन्दको पा सकता है.

रसरूपेण जो कुछ प्रकट होता है वह सब आनन्दात्मक ही होता है. रसरूपेण प्रकट शोक हो या मोह, क्रोध हो या भय हो, विस्मय हो या जुगुप्सा हो—सभी कुछ आह्लादक रसरूप ही होता है!

आन्तर या बाह्य, सूक्ष्म या स्थूल को अपने [illegible]को सुहाते साँचेमें ढालनेको एक कलासर्जक स्वतन्त्र होता है. इस पुनस्सृजनमें सत्यको असत्य और असत्यको सत्य बनाया जा सकता है, शुभको अशुभ और अशुभको शुभ इसी तरह सुन्दरको असुन्दर और असुन्दरको सुन्दर बनानेको भी कलासर्जक स्वतन्त्र होता है. एक कलाकृतिमें सत्य-असत्य, शिव-अशिव या सुन्दर-असुन्दर की रसविवेचना हो उसमें कोई आपत्तिजनक बात नहीं लगती पर कलासर्जकके स्वातन्त्र्यको नकारना निश्चय ही आपत्तिजनक होता है. अतएव अपने यहां प्राचीन ग्रन्थोंमें कलासृजनकी शर्तके रूपमें कहीं भी *''सत्यं शिवं सुन्दरम्''* वचन आदर्शतया उद्धृत हुवा पाया नहीं जाता. यह सहज सम्भव है कि किसी संस्कृतभाषाभिज्ञने अंग्रेज़ीके ''Truth, good and Beauty''का संस्कृतीकृत रूप प्रस्तावित करना चाहा हो.

मुंबईके समीप एलीफेंटा गुफाकी प्रसिद्ध त्रिमूर्तिके तीन मुखोंमें एक मुख शान्तरसको व्यक्त करते शिवका है, दूसरा शृंगाररसको व्यक्त करती पार्वतीका है. अतः शिव और सुन्दर तो मिले पर सत्य इन तीन मुखोंमें प्रकटरूपेण निरूपित नहीं. त्रिमूर्तिके अर्न्तगत तीसरा रूप सत्यका नहीं परन्तु रौद्ररसको व्यक्त करते भैरवका मुख है.

अब सत्य प्रायः भयंकर ही होता है, ऐसा कह कर यदि उसे सत्यके मुखतया प्रतिपादित कोई करना चाहे तो यह भी स्वीकारना ही पड़ेगा कि प्रत्येक उदाहरणमें सत्य शुभ या सुन्दर नहीं होता.

अतएव किसी कविने महादेवकी नेत्रत्रयीमें तीन रसोंकी उद्‌भावना करते हुवे कहा है :

''एकं ध्याननिमीलनाद् मुकुलितप्रायं द्वितीयं पुनः
पार्वत्या वदनाम्बुजस्तनभरे सम्भोभोगभावालसम्।
अन्यद् दूरविकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपितं
शम्भोर् भिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु वः ॥''

भावार्थ : भगवान् शम्भुद्वारा लगायी गयी समाधि साधारण योगिओंकी समाधि जैसी एकरसात्मिका या Monotony भरी नहीं होती भिन्नरसात्मिका अर्थात् विविध रसभावोंसे भरपूर होती है! समाधि-अवस्थामें ही शम्भुका एक दक्षिण नेत्र शान्त रसात्मक ध्यानमें अर्धनिमीलित होता है. दूसरा वाम नेत्र वाम पार्श्वमें स्थित पार्वतीके मुखकमल और उर्वरित शृंगाररसोपम उरोजपर रसमत्त मधुपकी तरह मन्थर गतिसे मंडराता रहता है. तीसरा नेत्र दूरसे कामबाण छोड़नेवाले उस कामदेवपर क्रोधित हो कर प्रज्वलित क्रोधाग्नि जैसा उद्दीप्त दिखलायी देता है. ऐसी निर्विकल्प समाधिके शिखरावस्थामें भी महादेव शृंगार शान्त और रौद्र रसोंकी लहरियोंमें लहराते रहते हैं.

महादेवको तो समाधिमें भी विविधताके प्रति विरोधी भाव नहीं रखते, तब समाधिविहीन कई-एक केवलाद्वैतवादी अनेकदा व्यवहारमें भी विविधताके प्रति सहिष्णुता निभा नहीं पाते! अतः *सत्यं शिवं* और *सुन्दरं* के द्वैतकी या अद्वैतकी भर्त्सना करनेवाले केवल-अद्वैतवादी या केवल-द्वैतवादी चिन्तकोंकी हठ एक वैचारिक संकीर्णता ही लगती

है. महादेवकी वास्तविकता तो त्रिनेत्र (अर्थात् एक ही देवताके त्रिमूर्ति) होनेकी है. शैव सम्प्रदाय अतएव महादेवको 'नटराज' कहता है. महादेव सभी रसोंके नाटन करनेमें समर्थ देव हैं, अतएव वे महादेव हैं. साथ ही साथ केवल त्रिनेत्र होनेके कारण या त्रिमूर्ति होने कारण महादेवको केवल रौद्र, शान्त और शृंगार रूपी रसत्रैतमें सीमित नहीं मान लेना चाहिये. इन तीन रसोंके साथ, क्योंकि, दूसरे छहों रस कार्यकारणभावात्मना शृंखलित माने जा सकते हैं.

यथा एक ओर कामदेवको भस्मसात् कर देनेके बावजूद दूसरी ओर पार्वतीको शृंगाररसात्मिका दृष्टिसे अनिमेष निहारते महादेवको देख कर हास्यरस प्रकट हो जाये तो उसे किसका अपराध कहना!

दूसरी ओर महादेवकी रौद्र रसात्मिका तीसरी दृष्टिसे भस्मसात् होनेवाले अपने पतिको देख कर रतिमें शोक और भय पैदा हो जायें तो महादेवके स्वरूपमें करुणरस और भयानकरस को स्थान मिला ही है यह भी स्वीकारना पड़ेगा.

शान्त रसकी समाधि लगा कर बैठे महादेवपर कामबाण चला कर उन्हें कामपीड़ावश अशान्त बनाना चाहते कामदेवको दृष्टिमात्रसे भस्म करनेवालेके शौर्यमें वीररस भी प्रकट होता ही है. रति तो कामको वर चुकी है, अतः रतिपति कामको खतम करनेके बाद अशक्य बन जानेवाली रतिक्रीड़ामें पार्वतीको प्रणयदान तो महादेव जैसे दानवीर ही कर सकते हैं! दूसरे दृष्टिकोणसे निहारनेपर तो कामके वध करनेपर विधवा हो जानेवाली रतिको रोती रख कर स्वयं पार्वतीके साथ रतिरसका लाभ लेते महादेव और पार्वती के प्रणयमें किसी लौकिक कामुकको जुगुप्साका भाव जग जाये तो उसे अस्वाभाविक कैसे माना जा सकता है? अतः महादेवकी लीलाका कामभावके आधारपर मूल्यांकन करने जायें तो बीभत्स रस प्रकट हो पाता है.

तत्त्वदृष्टिसे, किन्तु, देखनेपर निष्काम रमण विस्मयजनक ही होता है! इससे कहीं अधिक विस्मयकारी विविध रसभावोंके परस्पर विरोधाभासी गुणधर्मोंको शिवरूपेण शान्तरसको व्यक्त करनेवाले महादेवकी अद्भुतरसात्मकतापर कहो किसे विस्मय न होगा!

फिरभी केवल अघोर "शान्तं शिवम् अद्वैतम्" माननेकी हठमें हम शिवके नटराज होनेकी वास्तविकताको नकारते होते हैं. वैसे हम स्वीकारें या न स्वीकारें, एतावता, रुद्र कहीं अपने घोर-घोरतर-द्वैतका ताण्डवनृत्य बंद थोड़े ही कर देंगे! "अघोरेभ्यो अथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः सर्वतः शर्व सर्वेभ्यो नमस्ते अस्तु रुद्ररूपेभ्यः" (महाना.उप.१०।६). अतः वेद तो रुद्ररूप परमात्माके तीनों ही रूपों — १.अघोर २.घोर और ३.घोरसे भी घोरतर को वन्दनीय ही मानता है. अतः "शान्तं शिवं अद्वैतम्" की समाधिकी तरह "अशान्तम् अशिवं द्वैतम्" के ताण्डवको जो स्वीकार नहीं पाते वे शंकरके सच्चे किंकर होने लायक नहीं होते.

भागवतकार, इसी तरह, श्रीकृष्णको 'नटवर' कहते हैं. मथुरामें कंसके दरबारी मंचपर भगवानका अवतरण तो मानों विविध रसभावोंकी विलक्षण बाढ़ ही थी! उस समय भगवान्ने नवरसके सिद्धान्तको अपूर्ण सिद्ध करनेको ही एककालावच्छेदेन अपने दसविध रूप प्रकट कर दिखाये. इस प्रसंगका निरूपण हमें अधोनिर्दिष्ट श्लोकमें भागवतकार देते हैं :

[१]मल्लानाम् अशनिः [२]नृणां नरवरः [३]स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
[४]गोपानां स्वजनो [५]असतां क्षितिभुजां शास्ता [६]स्वपित्रोः शिशुः।
[७]मृत्युर् भोजपतेः [८]विराड् अविदुषां [९]तत्त्वं परं योगिनां
[१०]वृष्णीनां परदेवता इति विदितो रंगं गतः साग्रजः॥

(भाग.पुरा.१०।४०।१७)

भगवान् जब तक हमारे सम्मुख प्रकट नहीं होते तब तक उनकी उपेक्षा की जा सकती है. प्रकट होनेपर तो भगवान्के स्वरूपके साथ कोई उदासीन रह ही नहीं सकता.

भगवान्के प्रकट स्वरूपको जो स्नेहदृष्टिसे निहार पाना शक्य न हो तो द्वेषदृष्टिसे निहारना पड़ेगा. जो भगवान्के प्रकट स्वरूपके दर्शन पा कर प्रसन्न नहीं हो पाता उसे शोकव्याकुल होना पड़ेगा. जिसे भगवान्के दर्शन विस्मयजनक नहीं होते उसमें जुगुप्साका भाव जाग उठेगा. शूर वीर होनेके अहंकारसे भरे पुरुषोंमें वीर्यवान् भगवान्को देख कर युद्धका उत्साह उभरता न हो तो उसे भगवान्के सम्मुख सर्वथा भीरु बन जाना पड़ेगा. भगवान्के प्रकट रूपकी उपेक्षा कोई कर नहीं सकता. अतः योगिमुनिजनोंको अपने अन्तरमें ही परमात्माके शान्तरसपूर्ण स्वरूपपर एकाग्रताके साथ ध्यान लगा पानेकी सिद्धि भगवत्प्राकट्यकालमें अकिञ्चित्कर बन जाती है. अतः उन्हें हृदयसे बाहर पूर्वोक्तरीत्या आठ अशान्त रसोंके विभावतया किसी एक रसात्मिका वृत्तिसे अधीर बन कर भगवान्को निहारना पड़ेगा. अप्रकट भगवान्से विमुख रहना किसकेलिये अशक्य होता है? इसी तरह प्रकट भगवान्के अभिमुख न हो पाना किसीके लिये नहीं शक्य?

कंसके दरबारमें, अतएव, श्रीकृष्णसे विमुख रह पानेकी सारी सम्भावनायें खतम हो गयी थी. नटवरके अनेकविध रसनाटनमें कौनसे रसका प्रवाह बह नहीं रहा! किसी भी तरहके स्थायी भावमें स्थिर हुवा मन भी उस रसप्रवाहके वेगमें बह ही जाता है! फिरभी दूसरे प्रवाह अपने उद्गमकी दिशामें प्रवाहपतित वस्तुको बहा नहीं सकते; परन्तु, जिस रसप्रवाहका उद्गम कृष्ण हो वहां तो उलटी गंगा ही बहती है! कंसके दरबारमें उपस्थित प्रत्येक दर्शकने अतः अपने-अपने मनोगत भावोंके अनुसार भगवान्के दर्शन पाये. उन-उन दर्शकोंकी चाहको अनुसरते यह नटवर श्रीकृष्ण अनेक रूप धारण करनेमें समर्थ है.

जगत्की अभिनेत्री या अभिनेता भी अनेक रूप धारण करते ही हैं. एतदर्थ उन्हें अपना आहार्य (make up) बदलना पड़ता है. परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण परन्तु सामान्य नट या अभिनेता नहीं वह तो नटवर हैं. उन्हें अद्भुत या प्रतिदर्शकदर्शनीय नित्यनूतन रूप धारण करनेको कभी ग्रीनरूममें मेकअप बदलने जानेकी अपेक्षा नहीं रहती. वह तो हमारे हृदयको ही ग्रीनरूम बना कर वहां उपलब्ध हमारे भावोंका अपने मेकअपके रूपमें उपयोग ले लेने सर्वथा कुशल हैं. यदि अनेक दर्शक एक साथ अनेक भावोंके विवश नटवर श्रीकृष्णको निहारते हों तो उनके अनेकविध भावोंको अनुसरने यह नटवर भी एककालावच्छेदेन समर्थ हो पाता है! कहो कि ऐसा और कौन हो सकता है? श्रीकृष्ण सचमुचमें नटवर हैं!

[१]जो मल्ल थे वे भगवान्को मार डालनेके तामस भाववाले थे. उनके आधिभौतिक स्वभावके अनुरूप मल्लोंको मानों आकाशमेंसे रौद्र रूप धारण कर गिरती बिजली जैसे श्रीकृष्ण लगे.

[२]अनेक सामान्य जन भी वहां उपस्थित थे, उनके भाव मूलमें तामस होनेपर भी कुछ राजसताका रंग लिये हुवे थे, अतः उनके ऐसे आधिभौतिक स्वभावके अनुरूप उन्हें भगवान्के दर्शन विस्मयजनक असामान्य पुरुषके रूपमें हुवे. पुरुषोत्तमको पुरुष माना यह तामस स्वभाव था परन्तु राजस भावसे चित्तके चञ्चल होनेके कारण वह असामान्य नटवर लगे. वस्तुतः तो यह नटवर भगवान्का ही एक अद्भुत नाटन था!

[३]वहां आधिभौतिक स्वभाववाली अनेक स्त्रियाँ भी दर्शनोत्कण्ठा हृदयमें संजोये एकत्रित हुयीं थी. वे तामसोंमें कुछ श्रेष्ठ ऐसे तामस-सात्त्विक स्वभाववाली थी. अतः उनके सात्त्विक अंशके कारण उन्हें भगवान्में स्नेह जागा परन्तु तामस अंशके कारण वह स्नेह पुनः कामभावसे

उपरक्त बन गया, निष्काम न रह पाया! ऐसी स्त्रियोंको उनके स्वभावके अनुरूप भगवान् कामभावके अधिष्ठाता कामदेव जैसे दिखलायी दिये. शंकरके द्वारा भस्मसात् किये जानेपर कामदेव तो अनंग बन गये पर भगवान तो सर्वांगसुन्दर कामदेवसे भी अधिक कमनीय लगे, अतः कामभावात्मिका रतिरूप स्थायी भाववाला शृंगाररस प्रकट हो गया.

[४]जो भगवान्के साथ उनके सखा गोपबालक भी व्रजसे मथुरा आये थे. भगवन्मैत्रीवश उनके स्वभाव आध्यात्मिक बन गये थे. भगवान्के बारेमें उनका सख्यभाव वैसे तो राजस था; पर, साथ-साथ कुछ तामसता भी वहां झलकती थी, अतः विचित्र वेशमें एक अद्भुत छटाके साथ अपने सखाको दरबारी रंगभूमिमें प्रवेश करते निरख कर गोपबालक भगवान्के बारेमें परस्पर उपहास करने लगे. अतः भगवान्की हास्यरसात्मकता उनके मित्रोंके बीच प्रकट हो गयी!

[५]जो राजपुरुष वहां एकत्रित हुवे थे उनके स्वभाव आध्यात्मिक थे; पर, उनके भगवान्के बारेमें भाव राजस-राजस थे, अतः अपने स्वभावके अनुरूप भगवान्को देख कर उनके भीतर वीरजनोचित युद्धोत्साह उभरा. यदि वे राजस-सात्त्विक भाववाले होते तो उनके भीतर भगवान्का पक्ष ले कर लड़-भिड़नेका उत्साह प्रकट हो जाता; पर, दुष्ट राजस-राजसभावके कारण उन्हें भगवान्के साथ युद्ध करनेका उत्साह बढ़ गया. उन्होंने जब थोड़े-बहोत सावधान हो कर भगवान्को निहारा तब दुष्टदमन करनेवाले एक सम्राट जैसे भगवान् दिखलायी दिये सो अन्तमें उनका उत्साह ठंडा पड़ गया. एतावता भगवान्की वीररसात्मकता सिद्ध हुई.

[६]भगवानके माता-पिता देवकी-वसुदेवके हृदयमें करुणरसका सागर छलकनेके कगार तक पहुंच गया. वेभी आध्यात्मिक स्वभाववाले थे; पर, भगवान्के बारेमें उनका भाव राजस-सात्त्विक था. सात्त्विकताके कारण उनमें वात्सल्यभाव उभरा और राजसताके कारण चित्तके चञ्चल

बन जानेसे चिन्तामग्न हो जाते थे कि इस सुकोमल बालकके साथ कहीं कुछ अघटित न घट जाये! स्नेहमें अनिष्टकी आशंका प्रतिपद होनी सहज बात होती है. अतः अनिष्टकी आशंकासे भगवान्में करुण रसात्मकताकी झलक प्रकट हो गयी.

७कंसका स्वभाव मुक्ति पाने योग्य आधिदैविक था, तो भी तामस आसुरावेशके कारण भगवान्से डरते रहनेकी उसकी वृत्ति मूलमें सात्त्विकभावके कारण योगिजनोचित चित्तकी भगवान्में एकतानता ले पायी! अतः उसके स्वभावके अनुरूप उसे भगवान् साक्षात् काल जैसे लगे. अतः कंसद्वारा कल्पित भयानकता भगवत्स्वरूपमें एकदम साकार हो गयी.

८भगवान्में स्नेहभाव रखनेवाले अज्ञानी होनेपर भी भोले-भाले हृदयके नागरिक भी वहां उपस्थित थे. उनका भी स्वभाव आधिदैविक था. भगवान्के बारेमें उनका स्वभाव सात्त्विक-राजसके मिश्रणका था. अतः सात्त्विक अंशके कारण भगवान्में स्नेह होनेपर भी राजस अंशके कारण कुवलयापीडके वधके कारण जो भगवान्के वस्त्रोंपर छंटे हुवे रक्तके दाग-धब्बोंको देख कर उनका चित्त ग्लानिसे भर गया. उन्हें लगा कि जो अवसर मिले तो भगवान्को अपने घर पधरा कर भलीभांति निर्मल जलसे स्नान करा कर सुन्दर नये अच्छे वस्त्र धरा देने चाहिंये. ये रक्तरञ्जित वस्त्र ऐसे नयनाभिराम बालकके तनपर अशोभनीय लगते हैं? कैसी विलक्षण रीतिसे भगवान् नटवरने बीभत्स रसको प्रकट कर दिखाया?

९कुछ योगी जन भी वहां पहुंच गये थे. उनका भी स्वभाव आधिदैविक था. भगवान्में उनके भाव सात्त्विक-सात्त्विक कोटिके थे, अतः अपने स्वभावके अनुरूप ही भगवान्के दर्शन हुवे. एक विद्यार्थीकी तरह निरन्तर वे अपने ध्यान-धारणा द्वारा हृदयमें घड़ी भगवान्की

मूर्तिपर यौगिक समाधिका अभ्यास कर चित्तको एकाग्र बनानेको निरन्तर उद्यमशील रहते थे. वह मूर्ति आज मानों हृदयसे बाहर ही न प्रकट हो गयी, ऐसा योगिओंको लगा. अतः योगसाधनाके यम-नियमोंके उपायोंसे उन्हें बाह्यजगत्की प्रत्येक वस्तुमें विरक्ति दृढ़ हो गयी थी. आज, परन्तु, इस मूर्तिमें शान्तरसके साक्षात्कारद्वारा पुनः बाह्यविषयमें अनुरक्ति स्पन्दित होने लगी!

[९]राजपुरुषोंमें जो वृष्णिवंशीय थे, जिनके कुलमें भगवान् अवतीर्ण हुवे, वे तो गुणातीत स्वभावके थे, अर्थात्, वे तामस राजस या सात्त्विक न होनेके कारण इन गुणोंसे अतीत भाववाले थे, अतः उनके स्वभावके अनुरूप भगवान्के दर्शन करनेपर निर्गुणा भक्तिका उनके हृदयमें आविर्भाव हुवा. उन्हें भगवान् केवल परदेवता ही लगे!

[१०]भक्तिको, महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य प्रस्तुत प्रतिपादनमें, १०वां रस मानते हैं. वह लौकिक या प्राकृत गुणोंसे प्रकट होनेवाला रस नहीं. आठ रस—शृंगारसे बीभत्स तकके—लौकिक और प्रकृति में रहे सात्त्विक, राजस और तामस भावोंके विविध मिश्रणवश प्रकट होनेवाले रस होते हैं. सभी प्राकृत भावोंको अद्वय वस्तुके ज्ञानयोगसे दग्ध कर देनेपर वे भाव अभावमें पर्यवसित हो जाते हैं. फलतः शान्तरसका आविर्भाव होता है. भक्ति न तो सर्व लौकिक रसोंका अभाव यानि कि शान्तरस होती है और न लौकिक रसोंके अन्तर्गत कोई एक रस होती है. जिस हृदयमें प्राकृत गुणोंका उपद्रव शान्त हो जाता है, फिरभी आत्मा और परमात्मा के बीच रही निरुपाधिक प्रीति निभ पाती हो वही हृदय भक्तिरसकी यमुनाके तटपर विचरण कर पाता है. भक्ति गुणातीत हृदयमें अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होती है. वह स्नेह, आसक्ति, व्यसन और सर्वात्मभावकी क्रमिक अवस्थाओंमें दृढ़से दृढ़तम होती मानी गयी है. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके मतमें भक्तिरस सच्चिदानन्दरूप परब्रह्म परमात्मा भगवान्के स्वाभाविक

अद्वैतस्वरूपमें सर्वभवनसामर्थ्य और सत्यसंकल्प के कारण प्रकट होनेवाले लीलात्मक द्वैतका रसात्मक अनुसन्धान है. इसे केवल ब्रह्मके तत्त्वज्ञान या ब्रह्माद्वैतकी अपरोक्षानुभूति के रूपमें स्वीकारा नहीं जाता है. उस ब्रह्माद्वैतानुभूतिको तो शान्तरसरूप ब्रह्मज्ञानकी पराकाष्ठा मानी जाती है. अद्वैतरूप सच्चिदानन्द ब्रह्मकी अपने आत्मैक्यमें अरतिजन्य आत्मद्वैधापादनरूपा लीलाके प्रति भी संवेदनशीलताके सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेहात्मक प्रकर्षको भक्तितया मान्य किया गया है :

> ''भक्तिस्वरूपम् आह 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः स्नेहो भक्तिः इति प्रोक्तः तया मुक्तिः नच अन्यथा' स्नेहो भक्तिः, 'रतिः देवादिविषयिणी भावः इति अभिधीयते'. रतिः=स्नेहो देवत्वं=माहात्म्यं तद् आत्मत्वेन ज्ञाते भवति. तेन भजनार्थमेव आत्मत्वेन तन्निरूपणं माहात्म्यं च उच्यते... अज्ञानादिदोषाभावाय माहात्म्यञ्च सुदृढस्नेहाय आत्मत्वञ्च आह.''
>
> (त.दी.नि.प्र.४२).

प्रियतम और प्रेमी के द्वैतपर अवलम्बित होनेवाली लौकिक रति स्वमूलक अभेदानुसन्धानरूप होती है. अतएव अवतारवादावलीकार गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं :

> ''भक्त्यर्थमेव भागवतसंहिताप्रणयनकथानात् तत्र प्रतिपाद्यमानस्य भागवतरसस्य भक्तिरूपतायाएव सिद्धेरिति. अतएव शृंगाराद् भिन्नतया अनुभूयतएव रसिकैः. यत्तु शृंगारस्यैव द्वावपि अवस्थाभेदौ संयोगो विप्रलम्भः च इति सर्वैः उच्यते तत्तु अविचारितरमणीयमेव, मात्रादिष्वपि अनिषिद्धसंयोगसुख-विप्रलम्भयोः उपलब्धेः. वस्तुतस्तु रतिरपि स्नेहविशेषएव. एवं सति शृंगारस्यैव रसत्वं न केवलं स्नेहस्य इत्यत्र

विनिगमकाभावात् तदुभयोः पार्थक्येन रसत्वं स्वीकार्यम्. तथाच नायिकायां नायकस्य तस्मिन् च तस्याः या रतिः सा शृंगारः. मात्रादीनां पुत्रादौ तेषां च तेषु या रतिः स केवल स्नेहरसः इति सिद्धम्. भगवद्विषयिकायाः निरुपाधिकायाः द्विविधायाअपि रतेः अलौकिकत्वेन मुख्यरस-रूपत्वं, 'रसो वै सः' इति श्रुतेः भगवतो रसरूपत्वात्. लौकिकस्यतु उपाधिजन्यत्वाद् आभासत्वं ज्ञेयम्. तेन भक्तिरसस्य तेभ्यो अतिरिक्तत्वं निष्प्रत्यूहम्."

(भक्तिरसत्ववाद).

भावार्थ : भक्त्यर्थ ही भागवतसंहिताका प्रणयन मान्य होनेके कारण तथा भागवतरसके भक्तिरूप होनेके कारण भक्ति शृंगारादिसे भिन्न रस है. संयोग और वियोग भी केवल शृंगाररसके ही दो दल हों ऐसा नहीं. वस्तुतः तो ये स्नेहके दो दल हैं. मूलमें तो शृंगारात्मिका रति भी स्नेहका ही एक अन्यतम रूप होती है. अर्थात् नायक-नायिकाके बीच स्नेह शृंगारात्मिका रति कहलाती है परन्तु माता-पिता आदिकी पुत्रादिमें रति अशृंगारात्मिका रति होती है. भगवद्विषयिणी शृंगारात्मिका वात्सल्यात्मिका या आत्मपरमात्मभावात्मिका रति निरुपाधिक होनेके कारण अलौकिक होती है. अर्थात् परमात्माके बारेमें प्राणिमात्रका स्नेह या रति अज्ञानवश सोपाधिक होनेपर भी तत्त्वतः निरुपाधिक ही होती है. लौकिक विषय या व्यक्तिओं के बारेमें स्नेह अज्ञानवश निरुपाधिक लगता होनेपर भी तत्त्वतः त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके गुणोंकी उपाधिसे प्रयुक्त ही होता है. भगवद्रति भगवदनुग्रहजन्य होनेपर भगवान्की आत्मरतिका ही लीलाविस्तार होनेसे प्राकृतगुणोंकी उपाधिसे रहित मानी गयी है.

भूमिके ऊर्वरा होनेपर भी यदि बीजावापन न किया जाये तो धान्य या फल उग नहीं पाते. इसी तरह, गुणातीत हृदयमें भी जो भगवान् स्वयंके अनुग्रहके बीजका वापन न करें तो भक्तिरस भगवत्स्नेहके

रूपमें अंकुरित नहीं हो पाता है. केवल शान्तरसयुक्त हृदय प्रायः बिन बोये खेत जैसा होता है. अतः जहां शान्तरसकी सीमा समाप्त होती है वहांसे भक्तिरसकी सीमाका प्रारम्भ होता है!

एतदर्थ हमें विविध रसोंका प्राथमिक वर्गीकरण समझ लेना उपकारक होगा :

शान्त रस ←—→ अशान्त रस

इसमें जो अशान्तरसका वर्ग है उसके पुनः उपभेदरूप रस पूर्वोक्त आठ यों हो जाते हैं : [१]शृंगार [२]हास्य [३]बीभत्स [४]भयानक [५]रौद्र [६]करुण [७]अद्‌भुत और [८]वीर. इन विविध रसोंके स्थायी भावोंपर दृष्टि करनेपर हम समझ सकते हैं कि आठोंके आठ रस एकदूजेसे विपरीत स्वभाववाले हैं :

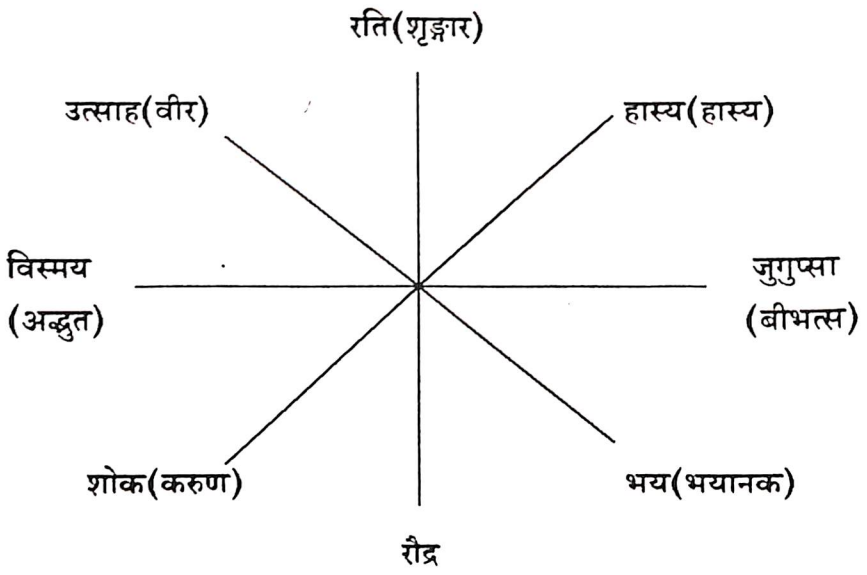

आठों रसोंके स्थायी भाव परस्पर विपरीत होनेपर भी अशान्तरूप होना उन सभीका एक सामान्य स्वभाव है. शृंगार वीर हास्य और अद्‌भुत रसोंसे पैदा होती अशान्ति सुखरूपा अशान्ति होती हैं, अतः वे सुखप्रद हो जाती हैं. करुण रौद्र भयानक और बीभत्स रसोंके कारण होती अशान्ति दुःखप्रद होती हैं. शान्तरसमें इन आठों रसोंमें के कोई भी अशान्त भावोंसे पैदा होती विषमता मनमें रह नहीं जाती. करुणरसका दुःखद शोक, अद्‌भुत और हास्य रसोंके सुखद विस्मय या हास, भयानकरसमें अनुभूत होता चिन्ताजनक भय, रौद्ररसमें प्रकट होते रोष या द्वेष, शृंगाररसमें अनुभूत होता अनुराग और वीररसमें शत्रुको पराजित करनेकी दुर्दम कामनासे उद्‌भूत उत्साह, शान्तरसमें रह नहीं पाते. अतः 'शान्तरस' शब्द विधानात्मक होनेपर भी लोकदृष्ट्या उसका स्थायी भाव निर्वेद नकारात्मक होता है. इसी तरह आठ रसोंको 'अशान्त' कहनेपर 'अशान्त' शब्द नकारात्मक होनेपर भी उसका भाव विधानात्मक होता है.

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ नच काचिद् इच्छा।
रसः सः शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमः प्रधानः॥
(साहि.दर्प.३।२३०)

अर्थात् साधारण लौकिक दृष्टिसे देखनेपर शान्तरसके रसिक और अरसिक के बीच अन्तर समझना जरा कठिन काम है. आत्मज्ञानीको मिलते निजानन्द, अक्षरब्रह्म-ज्ञानीको मिलते ब्रह्मानन्दसे अपरिचित मनुष्य वास्तविकतया कभी शान्त रसका पूर्ण आनन्द ले नहीं पाता. शान्त रसमें रहनेवाली मस्ती अतिशय सूक्ष्म, अमूर्त, अमृत, स्थायी और अव्यक्त होती है. जबकि दूसरे आठ रसोंमें रहनेवाली मस्ती स्थूल, मूर्त, मर्त्य, यायी और व्यक्त होती है : **''द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैव अमूर्तं च, मर्त्यं च अमृतं च, स्थितं च यत् च, सत् च त्यं च''** (यथापूर्व). अतः शान्तरसमें अद्वैतभावकी प्रमुखता होती

है, जबकि अन्य आठ रसोंमें द्वैतभावकी प्रमुखता होती है. सागरके तलमें रहती स्थिरता जैसी स्थिरता शान्तरसमें रहती है. जबकि सागरके ऊपरी सतहपर उठती चञ्चल लहेरोंकी जैसी अस्थिरता दूसरे आठ रसोंमें रहती है. आधुनिक ज्योतिर्विज्ञान (Solar Astronomy) में सूर्यके जैसी केन्द्रीय स्थिति शान्तरसकी मान्य करनी चाहिये. शान्तरस सभी रसोंके केन्द्रमें अवस्थित है. जैसे सूर्यपिण्डके चतुर्दिक् नवग्रह परिभ्रमण करते हैं. ऐसे ही अवशिष्ट सभी रस शान्तरसके चतुर्दिक् भ्रमण करते हैं. अतएव किसी भी रसके चरमोत्कर्ष (Climax) में एक अव्यक्त शान्ति मिलती है. सौरमंडलकी शान्त रसको केन्द्रमें रख कर परिक्रमा करनेवाले नव रसोंको अधश्चित्रित आकृति द्वारा समझा जा सकता है :

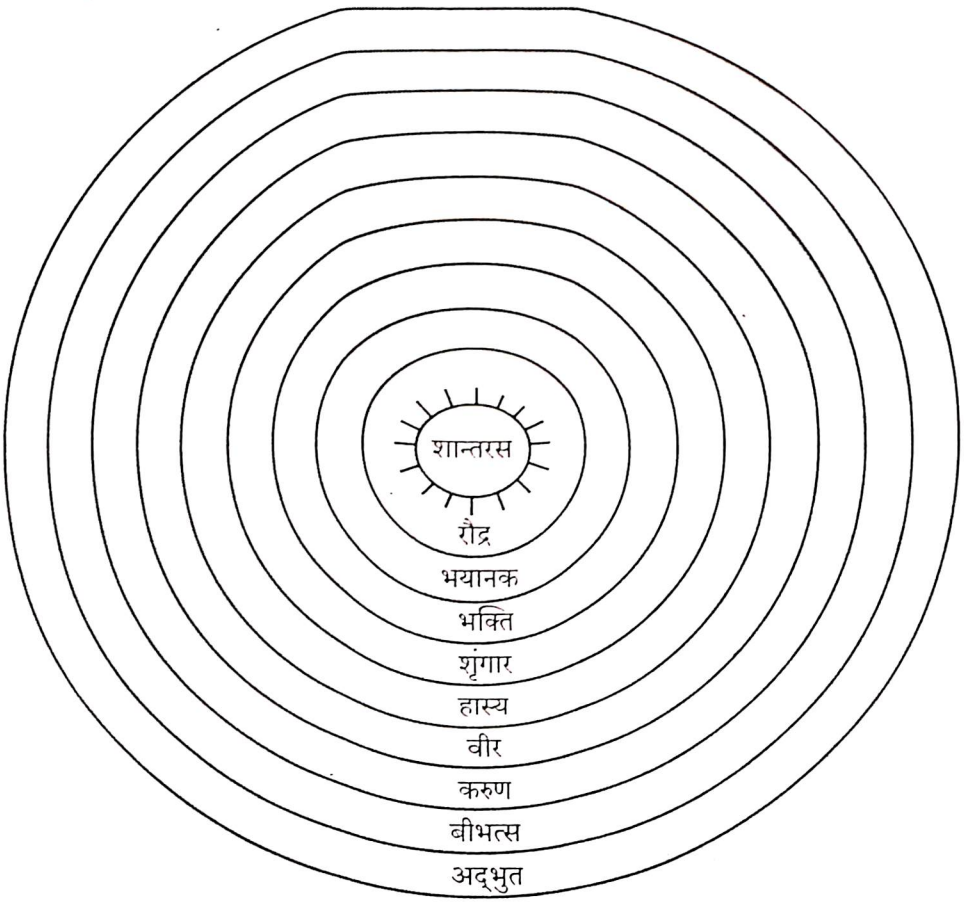

नव ग्रहोंके अन्तर्गत अपने सौर परिवारको जान पाये और उनका आनन्द ले पाये ऐसी जीवसृष्टि केवल पृथ्वीपर सम्भव है. कारण उसका यही है कि जो ग्रह पृथ्वीकी तुलनामें सूर्यके अधिक निकट हैं, जैसेकि बुध और शुक्र उनकी सतहपर तापमान इतना अधिक होता है कि जीवनकी सम्भावना जल-बल जाती है. इसी तरह जो ग्रह पृथ्वीकी तुलनामें सूर्यसे अधिक दूर होते हैं उन ग्रहोंपर पृथ्वी जैसे जीवनकी सम्भावना ठिठुर जाती है.

इस चित्रोदाहरणके आधारपर समझा जा सकता है कि भक्तिरसद्वारा रस परिवारके प्रत्येक भावोंकी ऊर्मिओंको जाना और उनका आनन्द लिया जा सकता है. भक्तिभावोचित ऐच्छिक द्वैतसे ओर आगे बढ़नेकी लालसामें अशान्तरसोंकी परिधिकी ओर बाहर मनके फिंकते जानेपर तो अन्तमें उन अशान्तरसोंसे भी आनन्द ले पानेकी मनःशान्ति नष्ट हो कर द्वैतके किसी ठिठुरा देनेवाले छोरपर मनको जड़ीभूत बना देती हैं. इसी तरह पृथ्वीसदृश भक्तिरसमें मिलते शान्तरससे अधिक शान्तिकी कामनाके वश केन्द्रोन्मुखी मनोवृत्तिके प्रबल होनेपर भी रसानुभूति अशक्य बन जाती है. क्योंकि जीवनोचित द्वैतकी सम्भावनाओंको अपने तापसे गरमाते-गरमाते अन्तमें पूर्ण केन्द्रोन्मुखिता सूर्यके तापमानमें तद्भावापन्न बना कर तद्विलीन बना देती हैं. अन्तमें शान्तरसात्मक हो कर शान्तरसका भी आनन्द उठा पानेमें जीवको असमर्थ बना देती हैं. अतः सिद्ध होता है कि भक्तिरसके द्वारा सभी रसभावोंका आनन्द लिया जा सकता है. फिरभी भक्तिरस शान्त और अशान्त, नौके नौं रसोंसे विलक्षण और एकमात्र जीवंत रस है. अतः उसकी तुलना सौरमण्डलमें की पृथ्वी साथ की जा सकती है. वह न अति-उष्ण है और न अति-शीतल है, या न अतिद्वैतघटित है या न अति-अद्वैतघटित.

भागवतकारके मतके अनुसार ऐसा भक्तिरस वृष्णिवंशके राजपुरुषोंको श्रीकृष्णके अवतारकालमें अनुभूत हुवा था ''**वृष्णीनां परदेवतेति विदितो**

रङ्गंगतः साग्रजः'' (यथापूर्व). परमदेवको रुष्ट किया जा सकता है, परमदेवसे डरा जा सकता है, परमदेवको भजा जा सकता है, परमदेवके कान्तरूपमें प्रकट होनेपर कामात्मिका रति निभायी जा सकती है, परमदेवका सख्यभाववश उपहास किया जा सकता है, परमदेवको युद्धमें हराया भी जा सकता है कि वह रणछोड़राय बन कर भाग खड़ा हो, उसके साथ लड़े बिना पराजित भी हुवा जा सकता है, परमदेवको अपनेद्वारा लालित-पालित असहाय बालक भी माना जा सकता है, इस तरह कि निरन्तर उसकी रक्षा कैसे कर पायें ऐसे मनोभावसे सदा उद्वेगवशात् करुणाशील बना जा सकता है, यदि वह परमदेव अपना मलीन अशुचिरूप प्रकट करे तो निश्छल प्रेमभावविवश हो कर स्वच्छ-शुद्ध बनाया जा सकता है, परमदेवके ऐसे परम माहात्म्यको जान या देख कर विस्मित हुवा जा सकता है, परमदेवको अपनी आत्मामें निवास करनेवाला परमात्मा मान कर अन्तरात्मामें शान्त-एकान्त भाववश ध्यान लगाया जा सकता है! ऐसी होती है परमदेवकी परमता. अतः सभी रसभावोंका आलम्बन बनने वह समर्थ है; परन्तु, यदि उस परमदेवको भूल कर कोई निज आत्मामें ही शान्त रसभावका आनन्द लेना चाहे तो अनात्माके साथ प्रकट होते शृंगार आदि रसोंकी बातोंसे हृदय समझ ही न पाये ऐसे लौकिक रसोंमें तल्लीन बना मन शान्तरसका आनन्द भी ले नहीं पाता. अतएव शान्तरसके रसिक लोकमें अरसिक जैसे लगते हैं. और लौकिक रसोंके रसिक ज्ञानियोंको पामर लागते होते हैं. इसमें कौन सच्चा और कौन खोटा?

उपनिषद्के ''एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति'' (बृह.उप.४।३२) सूत्रका भाष्य सा करते हुवे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं :

१.''अतः स्नेहः पदार्थान्तरम्. स भगवन्निष्ठएव भगवद्विषयको ज्ञानवद् ऐश्वर्यवद् वा भगवत्सम्बन्धात्

तन्नैकट्याद् अन्यत्रापि भासते. उष्णस्पर्शवद् यथा-यथा भगवन्नैकट्यं तथा-तथा स्नेहातिशयः. शारीरेऽपि आत्मनि तेन सह अतिनैकट्यात् परमस्नेहवत्त्वम्. एवम् अध्यासेनैं अन्यत्र.''

२.''प्रीतिस्तु भगवद्धर्मो भगवान् सर्वेभ्यो जीवेभ्यः तं खण्डशं दत्तवान् सुखार्थम्. अतः यत्रैव प्रीणाति तत्सुखं भवति. ततः स्वसुखमेव स्वस्य भवति इति उक्तं भवति.''

(१.सुबो.१।१९।१६ २.सुबो.२।२।७).

व्याख्या : १.सारे रसभावोंका मूल हमारी स्नेहमयी वृत्तियोंमें निहित है. और वह स्नेह तो आनन्दरूप परमात्मामें ही आत्मरतिरूप धर्मतया अवस्थित होता है. ऐश्वर्य वीर्य श्री ज्ञान आदि भगवद्गुणोंकी तरह ही वह भगवान्के आत्मानन्दके लीलाविस्तारके रूपमें हमारे भीतर भी भगवत्सम्बन्धवशात् भगवान्के निकट हम कितने पहुंच पाते हैं उस अनुपातमें हमारे भीतर भी प्रकट होता है. जितना कोई अग्निके निकट जाये उतना ताप अधिकाधिक बढ़ता जाता है. ऐसे ही भगवान्के साथ हमारी उत्तरोत्तर अधिक निकटताके कारण हमारे भीतर भी स्नेहभाव वृद्धिंगत होता जाता है. अर्थात् केवल निजदेहमें स्नेहभावसे अधिक निजपरिवारमें, उससे अधिक निजकुल या निजबन्धुसखाओंमें, उससे अधिक निजनगर या निजदेश के मनुष्योंमें, उससे अधिक सर्वमनुजोंके प्रति, उससे अधिक सर्वप्राणिओंके प्रति, उससे अधिक सर्वजड़चेतनात्मक जगत्के प्रति, उससे अधिक समग्र ब्रह्माण्डके प्रति, उससे भी अधिक ब्रह्मके प्रति प्रकट होते स्नेहमें भगवान्के साथ अत्यधिक निकटता ही हेतुभूत होती है. निजात्मामें स्नेह जैसे निरुपाधिक होता है वह पुनः परब्रह्मके प्रति स्नेहके प्रकट होनेपर निरुपाधिक हो जाता है. मध्यवर्ती सभी विषयोंके प्रति स्नेहभाव आत्मसम्बन्धोपाधिक अध्यासहेतुक होता है निरुपाधिक नहीं. २.''प्रीति तो एक ऐसा भगवद्धर्म है जिसका दान भगवान्ने सभी जीवोंको खण्डशः किया है. इस प्रीतिरूप भगवद्धर्मके कारण

ही जीवात्माको सुखानुभूति सम्भव है. क्योंकि जो जीव जिसे चाहने लगता है उसे वहांसे सुख मिलने लग जाता है. वस्तुतः भगवत्सुख ही अन्यान्य क्षुद्र परिमाणोंमें सभीको मिल रहा है.

मूल मुद्देकी बात यहां यही है कि उपनिषद् ''ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'' (तैत्ति.उप.२।५) जो प्रतिपादन कर रहा है उसे सुन कर शान्तरसके रसिक ब्रह्मको परिपूर्णताके साथ पहचाने विना ही अमूर्त अमृत कूटस्थ अव्यक्त नामरूपकर्म-विहीन अद्वैत निर्गुण निर्विशेष अक्षरब्रह्मरूप पूंछको पकड़ कर बैठ जाते हैं. अन्धहस्तिन्यायेन ब्रह्मके दूसरे पहलुओंको नकारना चाहते हैं! ब्रह्महस्तिकी विशालताको भलीभांति देख पानेको वे समर्थ नहीं हो पाते. वे जिसे ब्रह्म मानते हैं वह मिथ्या नहीं है परन्तु साथ ही साथ वे ब्रह्मके जिस पहलुको मिथ्या मानते हैं वह वस्तुतः मिथ्यादृष्टि है.

इस जगत्के नाटकके अभिनेताने जगत्में आठ प्रमुख रस व्यक्त किये एतावता ''अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः'' (भर.नाट्य.६।१५) की अनुश्रुति चल पड़ी. क्योंकि परमनटने इस सृष्टिके मूर्त मर्त्य अस्थिर व्यक्त रंगमंचपर आठ रसोंके प्रति मनुष्यके हृदयमें यत्किञ्चित् प्रबल स्नेहभाव प्रकट किया है, अतः ब्रह्मको न जाननेवाले लौकिक पामर रसिक अन्धहस्तिन्यायेन अमूर्त अमृत कूटस्थ अव्यक्त पहलुओंमें अनुभूत होते रसको रसके रूपमें स्वीकारनें विरत हो जाते हैं! ब्रह्मास्ति या हस्ति के किसी भी पहलुका अस्वीकार करना एक नहीं तो दूसरी रीतिसे वैचारिक अन्धताका ही लक्षण है. अतएव उपनिषद् कहता है : ''आनन्दरूप ब्रह्मके शीर्षस्थानीय प्रियता होती है, मोद दक्षिण पक्षोपम होता है, प्रमोद उत्तर पक्षोपम होता है, सुख-दुःख ज्ञानाज्ञान व्यक्ताव्यक्त सत्यानृत विरुद्धधर्मोंका आश्रय आनन्द आत्मस्थानीय होता है, ब्रह्मता=देशकालस्वरूपगत अपरिच्छिन्नता पुच्छोपम प्रतिष्ठा होती है'(तैत्ति.उप.२।५।). इस वाक्यसे उपनिषद् नटवर भगवान्की समग्रताको

ही बिरदाना चाहता है : ''सर्वकर्माः सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वम् इदम्'' (छान्दो.उप.३।१४।४) भक्तिरसमें माहात्म्य ज्ञानके अंशमें शान्त, रौद्र, भयानक आदि रसोंका संनिवेश शक्य है. इसी तरह सुदृढ सर्वतोधिक स्नेहके अंशमें शृंगार, हास्य, करुण, वीर, बीभत्स और अद्‌भुत रसोंका संनिवेश शक्य है.

भक्तिके सिवा दूसरी धार्मिक मनोवृत्तिओंमें स्थूलमें सूक्ष्मका आनन्द लिया जा सकता है; पर, भक्ति तो सूक्ष्मके आनन्द ले पानेकी केवल धर्मसाधना नहीं प्रत्युत आधिदैविक कला भी है. सूक्ष्म अव्यक्त अमूर्त सर्वव्यापी अनादि अनन्त परमात्माको अपने भावोंकी छेनीसे स्थूल व्यक्त मूर्त रूपेण देशकालमें घड़नेकी एक कला ही भक्ति है.

ब्रह्मको उपनिषद् रसरूपेण निरूपित करता है, अतः भक्ति एक ऐसी कला है कि जिसके द्वारा ब्रह्म रसरूपेण आविर्भूत होता है.

भक्तिरसकी मनोवृत्तिसे ब्रह्मका आनन्द ले पाना, उसे जान पाना, उस ब्राह्मिक विस्तारमें विचरण कर पाना, उस अव्यक्तको पहचान कर मनपसंद सांचेमें ढाल पाना भी शक्य बन जाता है : ''जैसी-जैसी बुद्धिसे उसकी विभावना करते हैं वैसा-वैसा स्वरूप वह प्रकट करता है'' (भाग.पुरा.३।९।११).

भक्तिरसके वैशिष्ट्यका सर्वातिशायी पक्ष तो यह है कि इस रसके आलम्बनविभाव और स्थायी भाव दोनों समेकित रूपमें कार्यान्वित होते हैं! भक्तीतर रसोंमें स्थायिभाव और आलम्बनविभाव के बीच इतरेतरप्रयुक्त स्वरूपवत्ता एकतः जन्य-जनकभावात्मना अपरतः भावुक-भाव्यात्मना प्रकट होती है. अतः इसे हम भावित तादात्म्यतया अवधारित कर सकते हैं. भक्तिरसके स्थायिभाव, माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ-

सर्वतोधिकस्नेहरूप; और आलम्बनविभाव भगवत्स्वरूप के बीच तत्त्वदृष्ट्या सहज तादात्म्य होता है. भगवद्दृष्ट्या भावित तादात्म्य होता है परन्तु भक्तदृष्ट्या भगवदनुग्रहोपाधिक तादात्म्य भी होता है.

अतः 'भगवान्' 'भक्ति' और 'भक्त' तीनों पदोंके मूलमें विद्यमान 'भज'धातुवाच्य सेवनक्रियाके महत्त्वको समझना आवश्यक है. यास्क मुनि कहते हैं ''भगो भजतेः'' (निरु.निघ.१।३।७). अर्थात् जो सेवनीय हो भजनीय हो ऐसे धन आदिको 'भग' कहा जाता है. तन्त्रों और पुराणों में ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य आदि सेवनीय गुणोंके कारण आराध्य परमात्माके देवरूपको 'भगवान्' कहा गया है. इसी तरह इस सेवनार्थक 'भज'धातुके साथ 'क्तिन्'प्रत्यय जोड़नेपर 'भक्ति'पद बनता है. यों जो भक्तिमान् हो उसे 'भक्त' कहा जाता है.

यहां यह नितान्त अवधेय है कि 'सच्चिदानन्द' पदका अर्थ है : जो सत् हो, जिसे अपने होनेका भान हो और उस भानमें आनन्दरूपता हो अर्थात् देश-काल-स्वरूपकृत परिच्छिन्नताजन्य शोक-मोहसे जो अतीत हो. परमतत्त्वको सच्चिदानन्द और ब्रह्म माननेका अभिप्राय यही है. अतएव अपने इस रूपमें उस परमतत्त्वको स्वेतरनिरपेक्ष समझा जाता है. उसी परमतत्त्वको अनन्त शारीरात्माओंके भी आत्मरूप होनेके कारण 'परमात्मा' भी कहा जाता है. अतः शारीरात्मसापेक्ष परमात्मा होता है. यह परमत्व शारीरात्माओंकी परमात्मस्वीकृतिकी अपेक्षा नहीं रखता. अतः यह तथाविध तत्त्वापेक्षा है नकि तथाविध बोधापेक्षा. अतः अनीश्वरवादी या मनुष्येतर प्राणियोंकी भी शारीरात्माके अपेक्षया वह परमात्मा हो सकता है. उस परमतत्त्वको, परन्तु, भगवान् होनेको किसी भक्तके द्वारा भगवद्गुणोंके सेवनीय होनेके बोध और स्वीकृति की अपेक्षा रहती है.

अतएव भक्ति ही आलम्बनविभावको भगवान् बनाती है और

स्थायिभाववान् पुरुषको भक्त!

वह भक्ति पुनः पूर्वोक्त आनन्दके शिरस्स्थानीय प्रियत्वकी विभावना होनेके कारण प्रेमभावरूपा होती है. अतः निष्कर्षतया परब्रह्म परमात्मा भगवान्के आराध्य देवके लोकमें साक्षात् प्रकट होनेपर आलम्बनविभावजन्य स्थायिभावरूपा होती है. अन्यथा परब्रह्म परमात्मा भगवान् आराध्य देवरूपके माहात्म्यज्ञानोत्तर प्रकट होनेवाले प्रेमभाववश अपने आराध्यकी पूर्वनिरूपित अनेकविध भौतिकाभौतिक मूर्तिके प्रति भक्तिरसभाववश आलम्बनविभावात्मना भावित या उसे प्राप्त कर प्रकट होनेवाले स्थायिभावरूपा होती है.

माहात्म्यज्ञानकी दृष्टिसे प्राणवायुकी तरह भगवान् तो सर्वत्र विद्यमान होते ही हैं. अतएव श्वासोच्छ्वासकी तरह स्वयञ्चालित प्रक्रियावत् जीवनाधार होते हैं. अतः तद्वत् होनेपर भी ससंकल्प प्राणायामव्यापारकी तरह भक्त्यात्मक संकल्पपूर्वक विद्यमानके प्रति सभान होना भक्तिरस है. अतएव सहज और भावित उभयविध तादात्म्य यहां अनुसन्धेय बन जाता है.

अतएव भागवतकार दूसरे रसोंकी सर्वमान्य सूचिमें भक्तिरसको साग्रह जोड़ना चाहते हैं. इसमें निगूढ़ हेतु हमारे जीवनको भक्तिरससे भरपूर बनानेका है!

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीद्वारा सम्पादित-पुनर्मुद्रित

शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्ति सम्प्रदायके मूल संस्कृत ग्रन्थ

प्रकाशित :

१. सव्याख्यषोडशग्रन्थ[संयुक्तप्रकाशन, दुर्लभ]

- खंड १. श्रीयमुनाष्टकम् से सिद्धान्तरहस्यम्
- खंड २. नवरत्नम् से भक्तिवर्धिनी
- खंड ३. जलभेदः से सेवाफलम्

२. सव्याख्यषड्ग्रन्थाः[संयुक्तप्रकाशन, दुर्लभ]

३. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध

- खंड १. शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण
- खंड २. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध १-५
- खंड ३. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध ६-१२

४. प्रकाश-रश्मि व्याख्या सहित ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्

- खंड १. प्रथमाध्याय[नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ]
- खंड २. प्रथमाध्याय[नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ]
- खंड ३. द्वितीयाध्याय
- खंड ४. तृतीयाध्याय
- खंड ५. चतुर्थाध्याय

५. श्रीमद्भागवतसुबोधिनी

- खंड १. प्रथम-द्वितीयस्कन्ध
- खंड ४. जन्मप्रकरण
- खंड ५. तामसप्रमाणप्रकरण
- खंड ६. तामसप्रमेय-साधनप्रकरण
- खंड ७. तामसफलप्रकरण
- खंड ८. राजसप्रमाण-प्रमेयप्रकरण

६. वेदान्ताधिकरणमाला-भावप्रकाशिका

७. विविधविवरणोपेत पत्रावलम्बनम्

८. प्रस्थानरत्नाकर

९. विद्वन्मण्डनम्

१०. श्रीबालकृष्णग्रन्थावली

११. अवतारवादावली

खंड २. भेदाभेदवाद, सृष्टिभेदवाद, आविर्भावतिरोभाववाद,
ख्यातिवाद, प्रतिबिम्बवाद, अन्धकारवाद

१२. श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारः

१३. पुष्टिविधानम् गुजराती, व्रज तथा संस्कृत संस्करण

१४. सव्याख्यश्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम्

क्र.१, २ तथा ४/१, ४/२ को छोड कर सभी ग्रन्थ ''श्रीवल्लविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेश्वरप्रभुचरण आ.हो.ट्रस्ट'' (कोल्हापुर) द्वारा प्रकाशित एवं उपलब्ध.

प्रकाश्य :

श्रीमद्भागवतसुबोधिनी

तृतीयस्कन्ध

राजस साधन-फल प्रकरण

सात्त्विक प्रमेय-साधन-फल प्रकरण

गुण प्रकरण

एकादशस्कन्ध

वादावली

खंड १

खंड ३

श्रीपुरुषोत्तमचरण विरचित

गीता टीका

उपनिषद् टीका

उत्सवप्रतान-अपराधनिरूपणम् आदि.

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीकी हिन्दी-गुजराती पुस्तकें एवं आपके प्रवचनोंकी एम्.पी.श्री सी.डी.

हिन्दी-गुजराती पुस्तकें :

धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी पुष्टिमार्गीय विवेचना[हिन्दी-गुजराती]
विवेक
श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप
विशोधनिका[तीन खंड]
पुरुषोत्तमयोग[गुजराती-हिन्दी]
गृहसेवा और व्रजलीला[गुजराती-हिन्दी]
नवरत्नम्[गुजराती-हिन्दी]
नवरत्नोपदेशका मानसविश्लेषण
श्रीयमुनाष्टकम्
અમૃતનું આચમન
ભગવત્સેવાનો સિદ્ધાન્તશુદ્ધ પ્રકાર : એક પ્રશ્નોત્તરી
સિદ્ધાન્તસૂક્તિ
રસદૃષ્ટિની તરફેણમાં
પુષ્ટિપ્રવાહમર્યાદાભેદ

एम्.पी.श्री सी.डी

सर्वोत्तमस्तोत्रम्[वर्ष ९५ से २००६ पर्यन्त, कुल २९ सी.डी.]
साधनप्रकरणम्[९८ से २००६ पर्यन्त, कुल १९ सी.डी.]
पुष्टिविधानम्[९६, ४ सी.डी.]
पञ्चश्लोकी[गुजराती ९७, २ सी.डी.]
वल्लभवचनामृत[९८-२००१, २००३/४; कुल ११]
पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद[गुजराती ९४, १ सी.डी.]
सिद्धान्तरहस्यम्[२०००, कुल २ सी.डी.१]

नवरत्नम्[९६, १ सी.डी.]

भक्तिवर्धिनी[गुजराती ९२, १ सी.डी.]

अन्तःकरणप्रबोध[१ सी.डी.]

सेवाफलम्[७५]

पत्रावलम्बनम्[गुजराती, ९४, २ सी.डी.]

सिद्धान्तवचनावली[गुजराती ९२, ३ सी.डी.]

गोपीगीत[२ सी.डी.]

प्रश्नोत्तरी(मुम्बई)[१]

भगवद्गीता[गुजराती अध्याय ४, ९, १२, १५; कुल ७ सी.डी.]

पुष्टिअस्मिता[गुजराती, १ सी.डी.]

गृहसेवा और व्रजलीला[९८, १ सी.डी.]

सेवाकौमुदी[गुजराती ९२, २ सी.डी.]

सी.डी. प्राप्त करनेके स्थान :

श्रीमती कल्पनाबेन काणकीया,
काणकीया हाउस्, स्वस्तिक सोसायटी,
जुहु क्रोस् रोड़ नं. ४, विलेपार्ले (पश्चिम), मुम्बई-५६,
फोन : (०२२) २६१३४९४२

श्रीबालकृष्ण पुस्तकालय[सायं ६-८]
दरबारगढ, राजकोट, गुजरात.

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट,
कंसारा बजार, मांडवी - कच्छ,
गुजरात, ३७० ४६५.
फोन : ०२८३४ - २३१४६३

पुस्तक प्राप्तिस्थान

पोस्टद्वारा तथा प्रत्यक्ष (पोस्टेज अतिरिक्त)

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट,
कंसारा बजार, मांडवी - कच्छ, गुजरात, ३७० ४६५.
फोन : ०२८३४ - २३१४६३

(इन स्थानोंसे स्वयं जाकर प्राप्त करें)

श्रीबालकृष्ण पुस्तकालय सायं ६-८,
दरबारगढ, राजकोट, गुजरात.

पुष्टिसाहित्य विक्रय केन्द्र,
नन्दचौक, गोकुल, जि. मथुरा, उत्तरप्रदेश.

पुष्टिसाहित्य विक्रय केन्द्र,
श्रीवल्लभसुखधाम, ठठाई भाटीया होल,
एस्. वी. रोड़, कान्दीवली (पश्चिम), मुम्बई.

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी,
'व्रजकमल', ६३ स्वस्तिक सोसायटी,
४ था रास्ता, जुहु स्कीम,
विलेपार्ले (पश्चिम), मुम्बई
फोन : (०२२) २६१४४३२६